इलाहाबाद यूनिवर्सिटी की डी० फ़िल० उपाधि के लिये प्रस्तुत शोधप्रबन्ध

आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन

निर्देशक

डा० आद्या प्रसाद मिश्र

अध्यक्ष

संस्कृत, पालि, प्राकृत एवम् प्राच्यभाषा विभाग

इलाहाबाद यूनिवर्सिटी

प्रस्तुतकर्त्री

राजलक्ष्मी वर्मा

इलाहाबाद

१९७३

विषयानुक्रमणिका

पृष्टसंख्या

अष्टम परिच्छेद

नवम परिच्छेद

परिशिष्ट

संकेत सुची

ऐ०	--	ऐतरेय ब्राह्मण
तैति०	--	तैत्तिरीयोपनिषद्
बृ०	--	बृहदारण्यकोपनिषद्
प्र०	--	प्रश्नोपनिषद्
मुं०	--	मुण्डकोपनिषद्
कठ०	--	कठोपनिषद्
श्वेता०	--	श्वेताश्वतरोपनिषद्
छां०	--	छांदोग्योपनिषद्
शां०भा०	--	शांकरभाष्य
अणु भा०	--	अणु भाष्यम्
श्रीभा०	--	श्रीभाष्यम्
भा०भा०	--	भास्करभाष्यम्
त०दी०नि०	--	तत्वदीपनिबन्ध
सि०मु०	--	सिद्धान्त मुक्तावली
प्र०र०	--	प्रमेयरत्नार्णव:
पुष्टिप्रवाह	--	पुष्टिप्रवाह मर्यादाभेद:
सि०र०	--	सिद्धान्तरहस्यम्
भ०व०	--	भक्तिवर्द्धिनी
सि०मु०	--	सिद्धान्तमुक्तावली
संनि०	--	सन्यासनिर्णय:
सुबो०	--	सुबोधिनी
भा०प्र०	--	भाष्यप्रकाश:
वि०मं०	--	विद्वन्मण्डनम्
श्रीमद्भा०	--	श्रीमद्भागवतम्
वे०सू०	--	वेदान्तसूत्रम्
आ०भं०	--	आवरणभंग:
शु०मा०	--	शुद्धाद्वैतमार्तण्ड
गीता	--	श्रीमद्भगवद्गीता
अध्या०भा०	--	अध्यासभाष्यम्

वाचिकम्

दर्शन संसार की सबसे बड़ी कला है : जीवन जीने की कला । इस कला का अनोखापन यह है कि कलाकार को न दृश्य-बिम्बों की आवश्यकता होती है, न स्वर-लहरियों की ; न ही इस कला की अभिव्यक्ति के लिये तूलिका, रंगों और चित्रफलक की ही अपेक्षा है । इस कला की अभिव्यक्ति तो जीवन के चित्रफलक पर होती है, अनुभूति का रंग लेकर, भावनाओं की तूलिका से । व्यक्ति प्रतिदाण अपने-आपको अधिक पूर्ण, अधिक संस्कृत बनाने के प्रयत्नों में लगा रहता है । यह कला उसे भौतिकता की स्थूल और श्लथ भावभूमि से उठाकर आध्यात्मिकता के उस उच्च धरातल पर पहुंचा देती है, जहां उसे अपने अस्तित्व का, अपने जीवन का एक नया ही अर्थ समझ में आता है ।

दर्शन जीवन को उसके सही सन्दर्भों में, उसके उचित परिप्रेक्ष्य में देखना सिखलाता है; भौतिकता की अश्लील शब्दावली में छुपी अध्यात्म की संकेत-भाषा का अर्थ समझाता है, और यह बतलाता है कि किस प्रकार दाण-दाण की सम्भावनाओं को पकड़ कर कालजयी हुआ जा सकता है । इसीलिये दर्शन का अर्थ कोई सम्प्रदाय-विशेष या ग्रन्थ-विशेष नहीं है : दर्शन तो जीवन की एक विधा है; सत्य को पहिचानने वाली अन्तर्दृष्टि है । दर्शन भारत की सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपलब्धि है; सत्य के प्रयोग भारत के हृदय का स्पन्दन बनकर जिये हैं, उसकी मिट्टी में गन्ध की तरह रचे-बसे हैं । युगों के संघर्ष और दुर्दिनों के प्रहार को झेलकर भी भारत जो अभी तक बिखरा नहीं, वह इसी दर्शन के कारण ।

और आज, आज तो शायद हमें दर्शन की आवश्यकता हर युग से अधिक है । आज हम जीवन का अर्थ ही भूल चुके हैं । व्यक्ति एकसाथ कई स्तरों पर, कई टुकड़ों में बंटकर जीता है; अपनी चेतना में स्वयं उसने ही जगह-जगह गाठें डाल रखी हैं और अब वे उससे सुलझती भी नहीं । बात सुनने में विचित्र भले ही लगे, पर यह एक वास्तविकता है कि भौतिकवाद से अभिशप्त और भोगों से डसे गये मानव की निष्कृति अब दर्शन से ही सम्भव है ।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी थाती -- इस दर्शन के प्रति मेरी प्रारम्भ से ही आस्था रही है । कुछ संस्कारों के कारण, और कुछ, जिज्ञासा, कुतूहल और विस्मय-विमुग्ध प्रशंसा-भावना के कारण । इसलिये जब मुझे दर्शन पर शोधकार्य करने का अवसर मिला, तो मैं उसे छोड़ नहीं सकी । प्रस्तुत शोधप्रबन्ध दर्शन के प्रति मेरी आस्था और आसक्ति का ही परिणाम है ।

इस शोधप्रबन्ध का विषय है--`आचार्य वल्लभ के विशुद्धाद्वैत दर्शन का आलोचनात्मक अध्ययन`-- आचार्य वल्लभ वैष्णव-दर्शन के प्रमुख आचार्यों में से हैं । वैष्णवधर्म और दर्शन भारतीय चिन्तन का यह कहना उचित होगा कि भारतीयसंस्कृति की कल्याणी चेतना की सबसे सुन्दर उपलब्धि है । इस विषय पर मैं कैसा काम कर सकी हूं, अथवा क्या इससे उपयुक्त ही [illegible]

शोध के क्षेत्र में किसी अभाव की पूर्ति हो सकेगी ? -- इत्यादि प्रश्नों का मैं कोई उत्तर नहीं दे सकती ; केवल इतना ही कह सकती हूं कि जो कुछ भी किया गया है, पूरी ईमानदारी से किया गया है, और 'ज्ञान' के प्रति मेरी आस्था का प्रतीक है ।
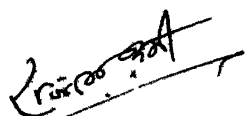
अपने इस शोध-प्रबन्ध के सन्दर्भ में मैं कुछ व्यक्तियों के प्रति विशेष आभारी हूं ।उनकी प्रेरणा और सहयोग के बिना मेरे लिये यह कार्य सम्पन्न करपाना बहुत कठिन था ।

सबसे पहिला नाम मेरे शोधनिर्देशक डा० आद्याप्रसाद मिश्र (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग) का है । शब्दों में उनके प्रति आभार प्रकट करना उसके महत्व को कम करना है । उनका विद्वत्तापूर्ण निर्देशन प्रतिक्षण मेरे कार्य का दिशा-नियमन करता रहा, इसके लिए तो मैं आभारी हूं ही; किन्तु इससे भी अधिक कृतज्ञ हूं, उस आश्वासनमय प्रोत्साहन और नैतिक बल के लिये, जो मुझे उनसे मिला और जिसने उद्विग्नता और हताशा की मन:स्थिति से मुझे बार-बार उबारा है । अन्त में इतना ही कह सकती हूं कि उन्हें देखकर मैंने जाना कि 'गुरु' किसे कहते हैं ।

धन्यवाद के इस क्रम में दूसरा नाम है, श्री रामहित त्रिपाठी का । उन्होंने बहुत ही थोड़े समय में इस प्रबन्ध का टंकण-कार्य पूरा किया है, और यह सच है कि यदि मुझे उनका सहृदय सहयोग न मिलता तो यह प्रबन्ध इस रूप में आपके सामने न होता । उनके प्रति मैं हृदय से आभारी हूं । इसके अतिरिक्त स्वामी धर्मानन्द सरस्वती, अध्यक्ष, दैवीसम्पद्मण्डल, के प्रति भी मैं विशेषरूप से कृतज्ञ हूं । उनकी कृपा से ही मुझे आचार्य वल्लभ के कई दुर्लभ ग्रन्थ सुलभ हो सके । इलाहाबाद लायब्रेरी के अधिकारीगण भी अपने सहयोग और सद्व्यवहार के लिये मेरे हार्दिक धन्यवाद के पात्र हैं । अन्त में, लाजरनल प्रेस के अधिकारियों के सहयोग की चर्चा किये बिना मेरे इस शोध-प्रबन्ध की आत्म-कथा अधूरी ही रह जायेगी । प्रेस के अधिकारियों, विशेषरूप से श्री जीवनकृष्ण शर्मा, श्री केदारनाथसिंह और श्री प्रमोदनारायण का ने बहुत रुचि के साथ इस प्रबन्ध के मुद्रण और रूप-सज्जा का कार्य पूरा किया है । उनकी सहृदयता और कार्यकुशलता से मैं अत्यधिक प्रभावित हूं और उनके प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं ।

यह शोध-प्रबन्ध दर्शनसम्बन्धी लेखन के क्षेत्र में मेरा पहिला प्रयास है; आशा करती हूं कि विद्वज्जन अपने अमूल्य सुझावों और प्रौढ़ निर्देशन से मुझे प्रेरणा और प्रोत्साहन देंगे ।

नवरात्रारम्भ,
२७ सितम्बर, १९७१ ई०

राजलक्ष्मी
(राजलक्ष्मी वर्मा)

विषय-प्रवेश

(शोध की दिशा और आयाम)

मानव व्यक्तित्व के विकास की जैसी सम्यक् प्रस्तावना भारतीय संस्कृति ने प्रस्तुत की है, वैसी अन्य किसी संस्कृति ने नहीं की । भारतीय संस्कृति की तत्वान्वेषिणी दृष्टि ने मानवीय व्यक्तित्व के प्रत्येक पार्श्व के अन्तराल में फांककर उत्कर्ष की सम्भावनाएं पहचानीं और साथ ही उन सम्भावनाओं के सर्वांगीण विकास की एक सुनिश्चित रूप-रेखा भी तैयार की ।

भारतीय संस्कृति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि उसने इस सत्य को पहचाना कि मनुष्य के अन्तर और बाह्य में एक गहरा सम्बन्ध है, और जब तक उसके व्यक्तित्व के आन्तरिक पक्ष का विकास और संस्कार नहीं होता, बाह्य क्षेत्र में उसकी उपलब्धियां अपूर्ण और अपर्याप्त ही रहती हैं । यह जीवन की एक महत्वपूर्ण सच्चाई है कि जब तक व्यक्ति की जड़ें उसकी अन्तरात्मा में गहरे नहीं पैठी रहतीं, तब तक उसके बाह्य व्यक्तित्व का विकसन और पल्लवन समुचितरूप से और सही दिशा में नहीं होता । व्यक्त और अव्यक्त के इस सम्बन्ध का अभिज्ञान ही भारतीय संस्कृति का मेरुदण्ड है ।(इस अभिज्ञान के लिए आवश्यकता होती है तत्व का साक्षात्कार करने में सक्षम उस अन्तर्भेदिनी दृष्टि की, जो अनृत और अवास्तविकताओं के आवरण में छुपे उस सत्य को अनावृत कर सके जिसके व्यक्त और अव्यक्त, अन्तर और बाह्य दो पार्श्व हैं, और जिनके समन्वय के बिना जीवन में सत्य की अनुभूति सम्भव नहीं है । सत्य का यह अन्वेषण ही भारतीय संस्कृति का प्रमुख ध्येय रहा है ।

भारतीय मनीषा का सत्य के प्रति यह आकुल आग्रह उसकी एक विशिष्ट प्रवृत्ति है । यह प्रवृत्ति किसी परवर्ती प्रभाव का प्रतिफलन नहीं, अपितु इतनी अधिक मौलिक है कि उसे सहजात कहा जा सकता है । अपने जीवन के प्रत्यूष में जिस क्षण आर्य संस्कृति ने अपनी आंखें खोलीं, उसी क्षण से उसकी आंखों में अव्यक्त सत्य का एक धुंधला-सा प्रतिबिम्ब था, जिसे स्पष्ट और साकार करने के उसके प्रयत्न ऋग्वेद की आदि ऋचाओं से वेदान्त तक के दीर्घ इतिहास में संकलित हैं ।

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भारतीय मनीषा अपने प्रयत्नों के फलस्वरूप उस मूल सत्य का साक्षात्कार करने में सफल हुई है, जो सृष्टि का रहस्य तथा मानव जीवन की प्रत्येक समस्या का समाधान है । इसके लिए इसने-जिन माध्यमों का सहारा लिया है, वे हैं-- धर्म और दर्शन । धर्म और दर्शन की परिभाषाओं से परिभाषित होकर ही वह अव्यक्त और असीम सत्य मानवीय संवेदना की परिधि में आ सका है । यहां धर्म और दर्शन की धारणा से परिचित होना आवश्यक है । जब से मानव ने यह जाना कि जीवन का अर्थ केवल शारीरिक स्तर पर ही जीना नहीं है, अपितु दैहिक-प्रत्यय के बहुत ऊपर सत्य-चेतना से अनुप्राणित भाव भूमि पर अपने अस्तित्व का अर्थ खोजना है, तभी से वह दर्शन, धर्म, और नैतिक मूल्यों के स्वरूप और परिभाषा को लेकर व्यस्त हो उठा (दर्शन के माध्यम से इसने जीवन के रहस्यों को सुलझाया, उसका अर्थ खोजा और धर्म के माध्यम से इस अर्थ की

अनुभूति प्राप्त करने की चेष्टा की ।

मुण्डकोपनिषद् में एक श्लोक आया है--

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया

समानं वृक्षं परिषस्वजाते

तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्य-

नश्ननन्यो अभिचाकशीति' -- "यह मानव के व्यक्तित्व के दो पार्श्वों अथवा उसके द्विविध स्वभाव का परिचय है । मानव की स्थूल चेतना उसे सांसारिक तथा दैहिक अनुभूतियों से बांधे रखती है और आध्यात्मिक चेतना उसे शारीरिक स्तर से ऊपर उठाकर अनुभूति के सत्य-स्फूर्त स्तर पर खींचने का प्रयत्न करती हैं । इन द्विविध प्रवृत्तियों के बीच सन्तुलन स्थापित करना मानव के लिए सबसे बड़ी समस्या है । चेतना के विभिन्न स्तरों में जिस सन्तुलन और सामंजस्य की अपेक्षा है, वह उससे स्थापित करते नहीं बनता ।

यहीं धर्म की आवश्यकता पड़ती है । अनुभूतियों और प्रवृत्तियों में सन्तुलन और स्वारस्य स्थापित करना किसी शुष्क और औपचारिक सिद्धान्त का काम नहीं है । इसके लिए एक ऐसे भावनात्मक आधार की आवश्यकता है, जिसपर उसकी विविध वृत्तियों का केन्द्रीकरण हो सके । धर्म व्यक्ति के समक्ष एक आदर्श प्रस्तुत करता है, एक लक्ष्य रखता है और इस लक्ष्य के प्रति व्यक्ति का उत्साह, व्यक्ति की आस्था ही उसकी वृत्तियों का संस्कार कर उन्हें इस महत्तर लक्ष्य की ओर प्रेरित करती है और इस तरह उनमें एकसूत्रता स्थापित करती है । यह लक्ष्य ईश्वर भी हो सकता है, मानवता सम्बन्धी कोई आदर्श भी हो सकता है, और स्वयं जीव की ही अपनी कोई उदात्त स्थिति भी हो सकती है । भारत में धर्म का आदर्श प्राय: ईश्वर ही रहा है, क्योंकि वह किसी भावना या अमूर्त आदर्श की अपेक्षा अधिक प्राणवान और मूर्त होता है, और उसमें मानवीय मनोभावनाओं और अपेक्षाओं को पूर्ण आत्मसंतोष और तृप्ति मिलती है । व्यक्ति के समक्ष अनुकरणीय आदर्श रखने के साथ-साथ धर्म का यह भी कार्य है कि वह व्यक्ति को उसके विकृत तथा अभावग्रस्त जीवन की तुलना में अधिक पूर्ण और सुखी जीवन का आश्वासन दे । यह आश्वासन केवल कल्पना नहीं होना चाहिए, अपितु उसका इतना सजीव और शक्तिमान् होना आवश्यक है कि वह व्यक्ति को प्रेरित और प्रवर्तित कर सके । धर्म का अर्थ केवल किसी उच्चतर लक्ष्य या आदर्श में विश्वास रखना ही नहीं है, धर्म का तात्पर्य है भावनात्मक स्तर पर व्यक्ति की सत्य से घनिष्ठ आत्मीयता । धर्म सत्य को बहुत आकर्षक और सु-संवेद्य रूप में रखता है, फलस्वरूप व्यक्ति का सारा जीवन सत्य की सम्वेदना से अनुप्राणित होकर तदनुरूप ही हो जाता है । 'धर्म' शब्द की निष्पत्ति 'धृ' धातु हुई है, 'धृ' धातु धारण करने के अर्थ में होती है । इस प्रकार धर्म का अर्थ है-- "वह विश्वास जो व्यक्ति के सम्पूर्ण

जीवन या व्यक्तित्व को धारण करे, उसका 'सत्वभूत' हो।'

दर्शन की दृष्टि धर्म से भिन्न है। दर्शन धर्म की भांति आदर्शों और भावनाओं का सहारा नहीं लेता, वह तथ्यों का आकलन बौद्धिक स्तर पर करता है और उसके निष्कर्ष तथ्यों के निरपेक्ष विश्लेषण पर आधारित होते हैं। यह सच है कि इस प्रकार की वैचारिक उपलब्धियां व्यक्ति को दैहिक भाव भूमि से ऊपर उठाती हैं और बौद्धिक स्तर पर उसे आत्मसंतोष देती हैं, किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि सत्य का यह बौद्धिक अभिज्ञान उसे व्यवहार में भी सत्य की अनुभूति करा सके। सत्य की वैचारिक गवेषणा व्यक्ति की बौद्धिक क्षमताओं का विकास तो निश्चितरूप से करती है, किन्तु उसकी समस्त वृत्तियों का वैसा संस्कार नहीं कर पाती, जैसा धर्म के भाव-संवेग करते हैं।

वस्तुत: धर्म और दर्शन चिन्तन के दो पक्ष हैं-- पहला भावप्रवण है और दूसरा बुद्धिप्रवण है। सत्य के पूर्ण अभिज्ञान और अनुभूति के लिए आवश्यक है कि इन दोनों पक्षोंका समन्वय हो। भारतीय चिन्तकों ने इस समन्वय का महत्व समझा है और यही कारण है कि भारत में धर्म और दर्शन एक-दूसरे से बकाटकर नहीं देखे जा सकते। यहां धर्म और दर्शन दोनों एक-दूसरे के पूरक और संशोधक हैं। 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है 'देखना', इस प्रकार दर्शन का अर्थ है-- 'सत्ता अथवा सत्य के रहस्यों को गहराई से देखना, पहचानना'। भारत में सत्य का अभिज्ञान सत्य की अनुभूति में परिणत हो गया है। सत्य को उसकी सम्पूर्णता में देखने का अर्थ है -- उसपर पूर्णरूप से विश्वास करना और सत्य पर पूर्णरूपे से विश्वास करने का अर्थ है-- उसे आत्मसात् कर लेना, उसके अनुरूप हो जाना। इस प्रकार दर्शन स्वयं ही धर्म का रूप ले लेता है। दर्शन व्यक्ति के मन में सत्य के प्रति श्रद्धा और आस्था जगाता है और यही आस्था जब जीवन में प्रकट होती है तो धर्म कहलाती है। भारत में प्रत्येक दार्शनिक मतवाद का व्यावहारिक जीवन पर गहरा प्रभाव पड़ा है। इसी प्रकार धर्म भी अपनी पूर्णता के लिए दर्शन की अपेक्षा रखता है। भारत में जितने भी धार्मिक आन्दोलन हुए हैं, उन सब के पीछे कोई-न-कोई दार्शनिक प्रेरणा अवश्य रही है। यहां धर्म किसी रूढ़िबद्ध संस्था के रूप में नहीं रहा; आवश्यकता पड़ने पर उसमें निरन्तर संशोधन और परिवर्धन होता रहा है।

धर्म के साथ जीवन के व्यावहारिक और नैतिक मूल्यों का गहरा सम्बन्ध है। हमारे यहां नैतिकता धर्म का एक अविभाज्य अंग है। नैतिक मूल्यों का तात्पर्य है-- धर्म-विशेष के अनुसार अथवा उसके परिप्रेक्ष्य में आचार-व्यवहार सम्बन्धी निश्चित नियम और मान्यताएं। यह एक सत्य है कि नैतिक मूल्यों को यदि धर्म का आधार न मिले तो उनका व्यक्ति के चरित्र-निर्माण में कोई स्थायी योगदान नहीं होता, वे बौद्धिक भूमिका के विधि-निषेध ही रहते हैं, आत्मिक-स्पृहा नहीं

बन पाते । धर्म से सम्बद्ध होकर नैतिकता आरोपित मन:स्थिति न रहकर अन्त:स्फूर्ति बन जाती है और एक अत्यन्त समर्थ माध्यम ब का रूप ग्रहण कर व्यक्ति की सत्यानुभूति को व्यावहारिक स्तर पर भी अभिव्यक्त करती । इस तरह भारतीय चिन्तन की यह विशेषता है कि उसके द्वारा बौद्धिक,भावात्मक और व्यावहारिक धरातल पर एकसाथ सत्य की सर्वांगीण और अविकल अभिव्यक्ति होती ।

भारतीय चिन्तन का व्यवहार से जो घनिष्ठ सम्बन्ध है, उससे यह स्पष्ट है कि यहां सत्य की खोज या तत्वानुभूति बौद्धिक विलास नहीं है,अपितु जीवन के यथार्थ से उसका अटूट सम्बन्ध है । भारतीय दर्शन का जन्म ही जीवन की कटुता और दु:ख की प्रतिक्रिया में हुआ है । यही कारण है कि यहां दर्शन का लक्ष्य रहा है-- व्यक्ति को ऐसी स्थिति पर पहुंचा देना,जहां कोई दु:ख नहीं है, भय नहीं है, मृत्यु नहीं है-- यही `कैवल्य` है और इसे ही `मोक्ष` कहते हैं । वेदान्त के द्वारा इस स्थिति के साथ `आनन्द` की भावना भी संयुक्त कर दी गई है । इस भांति दर्शन व्यक्ति को उस स्थिति तक पहुंचाने का आश्वासन देता है, जो न केवल दु:ख से रहित है, अपितु आनन्दरूप है ।

चिन्तन के जीवन के साथ इस घनिष्ठ साहचर्य ने उसे मानवीय समस्याओं के प्रति अत्यन्त सजग और सहानुभूतिपूर्ण बना दिया है । भारतीय दर्शन की विविधता इसमें सहायक है। भारतीय दर्शन में इतने विभिन्न सिद्धान्त हैं, इतनी साधन-प्रक्रियाएं हैं कि प्रत्येक रुचि और क्षमता के व्यक्ति को आत्मिक उन्नति के अनुकूल अवसर प्राप्त हैं । हिन्दू दर्शन की अनेक विशेषताएं हैं, और उनके विषय में बहुत कुछ कहा जा सकता है,किन्तु उस सब के लिए यहां अवकाश नहीं है । हिन्दू दर्शन के विभिन्न मतवादों में से प्रत्येक स्वतन्त्र अध्ययन और शोध का विषय है और उन सब का अलग-अलग विवरण देना यहां सम्भव नहीं ।

इस शोध-प्रबन्ध में वल्लभाचार्य के विशुद्धाद्वैत मत का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है । आचार्य वल्लभ मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन से सम्बद्ध आचार्य हैं । मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन भारतीय चिन्तन के इतिहास की एक युगान्तरकारी घटना है और उसकी सारी विशेषताएं अपने-आप में समेटे हुए है । ऊपर भारतीय दर्शन की जिन विशेषताओं की चर्चा की गई है, उनमें उसके मानव और उसकी समस्याओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण होने की बात कही गई है । यह विशेषता मध्ययुगीन भक्तिपरक दर्शन में बहुत उभर कर सामने आई है ।

एक सामान्य व्यक्ति की सबसे बड़ी समस्या है कि वह आध्यात्मिक चेतना के इतने स्थूल स्तर पर रहता है कि सत्य का साक्षात्कार उसके लिए बहुत कठिन हो जाता है । उसे न तो तत्व के बौद्धिक-विश्लेषण से कोई सान्त्वना मिलती है, न नैतिक नियम ही उसे सन्तोष दे पाते

हैं। सत्य का ज्ञान आत्मस्वरूप के ज्ञान से भिन्न नहीं है, परन्तु प्रत्येक व्यक्ति के लिए इतना आत्मनिष्ठ और अन्तर्मुख होना सम्भव नहीं है। इसके लिए उसे एक माध्यम की आवश्यकता होती है, जो उसकी अन्तश्चेतना और सत्य की परा-चेतना के टूटे हुए सम्बन्ध को पुन: जोड़ सके तथा देह, मन आदि की विभिन्न चेतना-भूमियों में बंटे हुए उसके व्यक्तित्व को एकरूपता प्रदान कर सके। ईश्वर ही वह माध्यम है; ईश्वर परमतत्त्व का वह रूप है, जो स्वयं मानवीय न होते हुए भी मानवीय संवेदनाओं और परिभाषाओं की परिधि में रहता है। हिन्दू दर्शन में तो ईश्वर का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण है, क्योंकि यहां ईश्वर मानवीय-चेतना और परा-चेतना को जोड़ने वाला सम्बन्ध-सेतु ही नहीं, अपितु स्वयं सत्यस्वरूप है। हिन्दू दर्शन की ईश्वर-भावना अत्यन्त समृद्ध और गरिमामयी है। एक ओर जहां वह विश्व का मूल सत्य, अव्याख्येय और अतीन्द्रिय तत्त्व है, वहीं दूसरी ओर विश्व का स्रष्टा, पालक और संहारक है; भक्तवत्सल है, प्रभु है। उपनिषदों में परमतत्व का व्याख्यान दो प्रकार से किया गया है -- निर्विशेष रूप से भी और सविशेषरूप से भी। इन सविशेष और निर्विशेषपरक वाक्यों में संगति बैठाना तथा उनका समुचित अर्थान्वयन करना वेदान्त-दार्शनिकों के लिए सदैव से एक कठिन समस्या रही है।

उपनिषदों के सविशेष-वस्तुपरक वाक्यों के आधार पर ही ईश्वर-भावना का विकास हुआ है, वैसे परवर्तीकाल में पुराणों ने इसे समृद्ध करने में बड़ा योगदान दिया। सामान्य रूप से निर्विशेष, निराकार ब्रह्म को दर्शन तथा सविशेष, साकार ईश्वर को धर्म का चरमसत्य मानने की प्रवृत्ति है। ऐसा स्वीकार करने वाले मानवीय संवेदनाओं और मनोरागों के आधार-- ईश्वर को बौद्धिक गवेषणा अथवा परानुभूति का सत्य स्वीकार नहीं करते; उनके अनुसार ईश्वर धर्म के द्वारा उपस्थापित एक आदर्श है, जो मानव की आध्यात्मिक उन्नति के लिए आवश्यक होता हुआ भी चरमसत्य नहीं है। यह चिन्तन का एक पक्ष है; दूसरा पक्ष यह है कि जो ईश्वर धर्म का आदर्श है, वही दर्शन का सत्य है। मध्ययुगीन दर्शन में ईश्वर का यही रूप स्वीकार किया गया है। वेदान्तदर्शन के अनेक आचार्यों ने विश्व के मूल सत्य को सविशेष और साकार रूप में ही स्वीकार किया। इस मत की आचार्य रामानुज ने पहली बार अत्यन्त प्रमाणपुरस्सर विवेचना की, और भारतीय चिंतन की दर्शन तथा धर्म को अन्योन्यसापेक्ष और अविभाज्य मानने वाली प्रवृत्ति की पुष्टि की।

अपने इस ईश्वररूप में परमतत्व निर्गुण सर्वातीत और सर्वनिरपेक्ष सत्ता ही नहीं है, अपितु सर्वशक्तिमान् "भगवान्" है, जो अपनी सृष्टि के प्रति स्नेहशील है। स्वयं असीम होते हुए भी जो जीव की सीमित क्षमताओं की अपेक्षा से ससीम होने को प्रस्तुत है और जो अपनी सहज करुणा के कारण जीवमात्र के उद्धार के लिए सतत् उद्यत हैं। ईश्वर के इस स्वभाव ने भक्ति के लिए अवकाश

प्रस्तुत किया है । भक्ति आत्मसमर्पित प्रेम का विज्ञान है--जीव का ब्रह्म के प्रति, खण्ड का पूर्ण के प्रति साग्रह, सानुराग अनुधावन ।

मध्ययुगीन दर्शन में भक्ति का स्थान और उसकी महत्ता सर्वोच्च है । इस भक्ति के आश्रय हैं-- भगवान् राम और भगवान् कृष्ण । श्रीराम और श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा विष्णु के अवतारों के रूप में भी है, किन्तु मध्ययुगीन दर्शन में वे विष्णु के अवतारों के रूप में नहीं, अपितु विश्व के अनादि सत्य साक्षात् श्री विष्णु के रूप में ही मान्य हैं । भारतीय दर्शन की ईश्वर-भावना वैष्णवदर्शन में अपने चरम विकास पर है, अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य और गरिमा के साथ ! वैष्णवदर्शन में भक्ति को ही तत्त्व साक्षात्कार का अन्यतम साधन स्वीकार किया गया है । वैष्णव दार्शनिकों के अनुसार भक्ति साधनावस्था में भी अन्य सभी साधनों और लौकिक-अलौकिक भोगों से श्रेष्ठ और वरीय है । परिपक्व होने पर यह भक्ति स्वयं साध्यस्वरूपा हो जाती है । इस तरह भक्ति मध्ययुगीन वैष्णवदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है, सबसे बड़ी उपलब्धि है ।

वैष्णवदर्शन की परम्परा में चार दार्शनिक मतवाद प्रमुख हैं-- रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत, मध्वाचार्य का द्वैत, विष्णुस्वामी का विशुद्धाद्वैत(?), और निम्बार्काचार्य का द्वैताद्वैत । ये ही अपने आचार्य पदों सहित क्रमश: श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय तथा सनकादिसम्प्रदाय कहलाते हैं । इन्हें 'चतु:सम्प्रदाय' के नाम से भी जाना जाता है । ये चारों संप्रदाय परमवस्तु को साकार और सविशेष स्वीकार करते हैं और भक्ति को उसकी प्राप्ति का सर्वाधिक समर्थ साधन मानते हैं । इनमें से प्रथम अर्थात् श्रीसम्प्रदाय के आराध्य नारायण हैं । इसी परम्परा में आगे चलकर रामानन्द ने नारायण के स्थान पर श्रीराम की प्रतिष्ठा कर दी । शेष तीन सम्प्रदायों में आराध्य श्रीकृष्ण हैं, तथा उन्हें ही विश्व का मूल सत्य स्वीकार किया गया है ।

वस्तुत: कृष्णभक्तिपरक दर्शनों का एक विशिष्ट वर्ग ही है, जिनमें मौलिक भेद होते हुए भी बहुत-सी प्रवृत्तियाँ और विशेषताएं समान हैं । वैष्णववेदान्त के कृष्णभक्तिपरक दार्शनिक मतवादों और सम्प्रदायों पर श्रीमद्भागवत का विशेष प्रभाव है । इनकी आराध्य भावना श्रीमद्भागवत से ही गृहीत है और इन सम्प्रदायों की भक्ति भी भागवत में वर्णित भक्ति ही है । यह अनुराग-लक्षणा भावरूपा भक्ति है और रामानुजाचार्य के द्वारा प्रतिपादित उस भक्ति से बहुत अलग है, जो अपने स्वरूप में उपनिषदों में कही गई उपासना के बहुत समीप है । कृष्णभक्तिसम्प्रदायों ने भक्ति को भी नये आयाम और विस्तार दिए हैं तथा भक्ति की शास्त्रीय सजगता व धीरे-धीरे आत्मविस्मृत भाव-विह्वलता में परिणत होती गई है । इन कृष्णपरक दर्शनों के द्वारा एक व्यापक 'कृष्ण-धर्म' की कल्पना हुई, जिसमें श्रीकृष्ण दर्शन और धर्म के सर्वोच्च और एकमात्र सत्य के रूप में सामने आये । यह 'कृष्णधर्म' मध्ययुग की समस्याओं का अत्यन्त आश्वासनमय समाधान सिद्ध हुआ । राजनैतिक, धार्मिक

और सामाजिक सभी प्रकार की विषमताओं से त्रस्त, जीवन के उदात्त मूल्यों के ह्रास से दिशाभ्रष्ट और लक्ष्यहीन युगचेतना को इस महान कृष्ण-धर्म ने भौतिकता के पंक से निकाल कर आध्यात्मिकता की उच्च भावभूमि पर प्रतिष्ठित किया ।

वल्लभाचार्य इस विशाल कृष्ण-धर्म की एक इकाई हैं । वैष्णवदार्शनिकों की परंपरा में वे अन्तिम आचार्य हैं । यद्यपि चैतन्यमहाप्रभु भी उनके समकालीन थे तथापि उन्हें भक्त कहना अधिक उचित है, आचार्य नहीं । वैसे यदि देखा जाय तो सभी वैष्णवदार्शनिक मूलत: भक्त ही हैं, किन्तु उनमें आचार्यत्व भी है । आचार्यत्व होने का तात्पर्य है कि वे सभी अपनी मान्यताओं के लिए एक शास्त्रीय आधार रखते हैं । प्रत्येक ने अपने भक्तिसम्प्रदाय के पूरक रूप में एक दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रस्तुत किया है और उसके परिप्रेक्ष्य में ही आचारपक्ष सम्बन्धी मान्यताएं निश्चित की हैं। चैतन्य ने ऐसा कोई दार्शनिक सिद्धान्त सामने नहीं रखा, न ही अपनी भक्ति सम्बन्धी मान्यताओं का कोई शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत किया है अत: उन्हें आचार्य-कोटि में रखना उचित प्रतीत नहीं होता । `अचिन्त्यभेदाभेद` के नाम से जो अद्वैत सिद्धान्त चैतन्य के द्वारा मान्य घोषित किया जाता है, उसका संयोजन और सम्पादन भी स्वयं उनके द्वारा नहीं, अपितु उनके शिष्यों के द्वारा हुआ है । ब्रजमण्डल के राधावल्लभीय, हरिदासी आदि जो कृष्णभक्तिसम्प्रदाय हैं, वे सब भी व्यवहारपक्ष पर ही अधिक बल देते हैं, तत्त्व की शास्त्रीय गवेषणा में इनकी कोई रुचि नहीं है । इन सम्प्रदायों ने स्वतन्त्ररूप से अपना कोई दर्शन प्रस्तुत नहीं किया, अपितु आवश्यकतानुसार निम्बार्क और वल्लभ की ही दार्शनिक मान्यताओं को स्वीकार कर लिया । इस प्रकार वल्लभ वैष्णव आचार्यों की परम्परा में अन्तिम हैं, जिन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर भाष्य की रचना कर `विशुद्धाद्वैत` सिद्धांत का प्रतिपादन किया और उसके आचारपक्ष के रूप में `पुष्टिमार्ग` नामक भक्तिसम्प्रदाय की भी स्थापना की । वल्लभ ने अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन अत्यन्त सुसम्बद्ध और शास्त्रीय शैली में किया है । यों तो उन्होंने छोटे-बड़े अनेक ग्रन्थों की रचना की है, किन्तु सिद्धान्त प्रतिपादन की दृष्टि से तीन ग्रन्थ सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं-- अणुभाष्य, भागवतसुबोधिनी तथा तत्त्वदीपनिबन्ध ।

वल्लभ ने रामानुज, मध्व, निम्बार्क आदि आचार्यों की परम्परा का अनुसरण करते हुए ब्रह्मसूत्रों पर एक भाष्य की रचना की है, जिसका नाम `अणुभाष्यम्` है । उन्होंने सूत्रों की अन्य आचार्यों से स्वतन्त्र स्वाभिमत व्याख्या की है तथा विशुद्धाद्वैत के नाम से अपने मौलिक अद्वैत सिद्धांत की स्थापना की है । वल्लभ का दर्शन श्रीमद्भागवत पुराण के धर्म और दर्शन से प्रभावित है । वस्तुत: वाल्लभमत का उपजीव्य ग्रन्थ श्रीमद्भागवत ही है । भागवत के प्रथम, द्वितीय, तृतीय, दशम और एकादश स्कन्धों पर वल्लभ की `सुबोधिनी` नामक विस्तृत व्याख्या मिलती है । इसके द्वारा उनके सिद्धान्तों का स्वरूप समझने में बहुत आसानी होती है । सिद्धान्तप्रतिपादन की दृष्टि से

तीसरा महत्वपूर्ण ग्रन्थ है,`तत्वदीपनिबन्ध`। इसपर वल्लभ ने `प्रकाश` नाम की टीका भी लिखी है। इस ग्रन्थ में तीन प्रकरण हैं-- शास्त्रार्थ प्रकरण, सर्वनिर्णयप्रकरण तथा भागवतार्थ प्रकरण। इनके अन्तर्गत उन्होंने अपने सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन प्रस्तुत किया है। अणुभाष्य और सुबोधिनी तो क्रमश: ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भागवत की व्याख्याएं हैं,किन्तु `निबन्ध` वल्लभ का स्वतंत्र ग्रन्थ है। इनके अतिरिक्त उन्होंने सोलह प्रकरण-ग्रन्थों की भी रचना की है, जो सिद्धान्त-विवेचन की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। अपने सफल कृतित्व के माध्यम से वल्लभ ने अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं को बहुत स्पष्ट ढंग से सामने रखा है। उनके द्वारा प्रतिपादित विशुद्धाद्वैत वैष्णव-वेदान्त की परम्परा में एक महत्वपूर्ण कड़ी है, तथा उनके द्वारा स्थापित पुष्टिभक्तिसम्प्रदाय श्रीमद्भागवत से प्रेरित भक्तिसम्प्रदायों में सर्वश्रेष्ठ और सर्वाधिक लोकप्रिय है।

वल्लभ का समय सोलहवीं (पन्द्र) शताब्दी है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे सोलहवीं (पन्द्र) शती के भक्तिआन्दोलन के नेता थे तथा कृष्णभक्ति के आधारस्तम्भ थे। अपने पुष्टिमार्ग के माध्यम से उन्होंने सुदूर प्रान्तों को भी भावात्मक एकता के सूत्र में बांध दिया था। अपने मानवतावादी दृष्टिकोण तथा सहज स्वभाव के कारण पुष्टिमार्ग ने अत्यधिक लोकप्रियता तथा ख्याति अर्जित की। सम्पूर्ण उत्तरभारत,गुजरात और मारवाड़ क्षेत्र में इसका प्रचार हुआ; सहस्त्रों व्यक्तियों की आध्यात्मिक उन्नति का यह माध्यम बना। वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्तों के माध्यम से व अपने समसामयिक और परवर्ती दर्शन, धर्म तथा साहित्य को बहुत अधिक प्रभावित किया। मध्ययुग के दार्शनिक और धार्मिक इतिहास में वल्लभाचार्य -- एक बड़ा नाम है।

आश्चर्य और खेद का विषय है कि आधुनिक गवेषणा में व वल्लभ को उतनी और वैसी मान्यता नहीं मिली, जैसी कि मिलनी चाहिए थी। रामानुजाचार्य से चैतन्य तक लगभग सभी वैष्णवदार्शनिकों पर पर्याप्त शोधकार्य हुआ है, अकेले वल्लभ ही हैं, जिनपर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। और तो और, प्राय: विद्वान् इन्हें दार्शनिकों की कोटि में रखना भी स्वीकार नहीं करते। दर्शन के इतिहासकारों और विद्वानों में भी साधारणतया वल्लभ के प्रति एक उपेक्षा की भावना है। डा० राधाकृष्णन् इनकापरिचय तीन पृष्ठों में देते हैं और प्रोफेसर हिरयण्णा चर्चा ही नहीं करते। एस०एन०दास गुप्त ने अवश्य वल्लभ के सिद्धान्त पर कुछ विस्तार से विचार किया है,फिर भी अन्य दार्शनिकों की तुलना में वल्लभ पर जो शोधकार्य हुआ है, वह नगण्य ही है। इसका एक सम्भावित कारण यह हो सकता है कि वल्लभ का जो व्यक्तित्व उभरा है, वह दार्शनिक वल्लभ का उतना नहीं है,जितना पुष्टिमार्ग के संस्थापक वल्लभ का। यों भी दार्शनिक सिद्धान्त एक वर्ग-विशेष में ही अधिक लोकप्रिय होते हैं और विद्वज्जन ही उनकी बारीकियों की प्रशंसा कर सकते हैं। सामान्य जनता में इतनी सामर्थ्य नहीं होती कि वह बौद्धिक गवेषणा

की उपलब्धियों अथवा आध्यात्मिक अनुभूति की गहराइयों का समुचित मूल्यांकन कर सके। मध्ययुग की परिस्थितियां बड़ी विषम और विडम्बनापूर्ण थीं, व्यक्ति और समाज दोनों ही दिशाभ्रांत होकर भटक रहे थे। उस समय उन्हें सत्य की तात्त्विक मीमांसा से युक्त किसी महिमामण्डित दार्शनिक सिद्धान्त की आवश्यकता नहीं थी; उन्हें अपेक्षा थी एक सहृदय ईश्वर और सहानुभूतिपूर्ण धर्म की, जो उनकी ग्लानि दूर कर उनका मार्गनिर्देशन कर सके। पुष्टिमार्ग ने लोगों को वह सब कुछ दिया, जिसकी उन्हें आवश्यकता थी और यही पुष्टिमार्ग की असाधारण सफलता का कारण है। यद्यपि पुष्टिमार्ग का आधार विशुद्धाद्वैत ही था और पुष्टिमार्ग की मान्यताएं तत्सापेक्ष ही थीं, तथापि आचारपक्ष के प्रश्न प्रधान हो जाने से वाल्लभमत का दार्शनिक या सिद्धान्तपक्ष गौण हो गया।

एक धारणा यह भी है कि वल्लभ सही अर्थों में दार्शनिक नहीं हैं, क्योंकि वे भक्ति के भावुक आग्रहों से बंधे हैं। पहली बात तो यह कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि तथ्यों का गुणा-भाग करने वाला, भावनाशून्य बुद्धिवादी ही दार्शनिक होता है। दर्शन तो अनुभूति का विज्ञान है, कोरी अनुमान-प्रक्रिया नहीं है; और यदि ऐसा है भी, तो फिर भावुकता या भक्तिप्रवणता का लांछन प्रत्येक वैष्णव-दार्शनिक पर लगाया जा सकता है; इसलिए वल्लभ को दर्शन की राज्यसीमा से बिलकुल ही निष्कासित कर देना उनके प्रति बहुत बड़ा अन्याय होगा। इस वस्तुस्थिति को देखते हुए यह आवश्यकता समझी गई कि एक दार्शनिक के रूप में भी वल्लभ का मूल्यांकन होना चाहिए।

यह बात नहीं है कि इस दिशा में यह शोध-प्रबन्ध पहला प्रयास है। इस शताब्दी में भी वाल्लभ मत के प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में पर्याप्त गतिविधि रही है। बम्बई के श्री मूलचन्द्र तुलसीदास तेलीवाला ने इस क्षेत्र में प्रशंसनीय कार्य किया है। वल्लभाचार्य तथा उनके सम्प्रदाय के विद्वानों के लगभग सभी महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ उन्होंने अधिकारी विद्वानों के द्वारा संशोधित और सम्पादित करवाकर 'पुष्टिमार्ग कार्यालय' के तत्वावधान में प्रकाशित किए हैं। साथ ही उनकी विद्वत्तापूर्ण भूमिकाएं भी लिखी हैं। उन्होंने वल्लभ की सभी उपलब्ध कृतियों को लोगों के लिए सुलभ कर वाल्लभ मत के प्रचार और प्रसार में महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है।

वल्लभाचार्य की पुष्टिमार्ग पर प्रो० जी०एच० भट्ट ने विशेष कार्य किया है। वल्लभ सम्बन्धी शोध को गति देने का श्रेय उन्हें भी है। पुष्टिमार्ग के सिद्धांतों का गहरा अध्ययन कर उन्होंने उसका अत्यन्त विशद विवेचन प्रस्तुत किया है। यों समय-समय पर पुष्टिमार्ग पर थोड़ा-बहुत काम होता ही रहा है। वल्लभ के सिद्धान्तों पर लेख भी लिखे जाते रहे हैं और अखिलभारतीय धर्म-सम्मेलनों में उनपर शोध-पत्र भी पढ़े जाते रहे हैं; किन्तु एक कमी जो बार-बार खटकती है, वह यह है कि चर्चा और शोध का विषय पुष्टिमार्ग ही है, विशुद्धाद्वैत नहीं। वल्लभ का मूल्यांकन

दार्शनिक या चिन्तक के रूप में न होकर एक साम्प्रदायिक आचार्य के रूप में ही हुआ है । गुजराती में ऐसे अनेक शोध-पत्र, लेख और पुस्तिकाएं प्रकाशित हुई हैं, जिनमें वल्लभ के सिद्धान्तों का व्याख्यान किया गया है, किन्तु साम्प्रदायिक आस्थाओं और वल्लभ के प्रति अगाध श्रद्धा से भरपूर होने के कारण इनमें भी वाल्लभदर्शन का विश्लेषण और निष्पक्ष आलोचना सम्भव नहीं हो सकी ।

हिन्दी में भी `अष्टछाप` के कवियों के सन्दर्भ में वल्लभाचार्य के सम्प्रदाय पर कार्य हुआ है । अष्टछाप के सभी कवि पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे; इनमें से चार वल्लभाचार्य के शिष्य थे और चार उनके पुत्र विट्ठलनाथ के । इन्होंने अपने काव्य में अनेकश: पुष्टिमार्ग की दार्शनिक मान्यताओं का परिचय दिया है इसलिए अष्टछाप की पूर्वपीठिका के रूप में पुष्टिमार्गीय सिद्धांतों का अध्ययन आवश्यक हो जाता है । अष्टछाप के कवियों का प्रेरणास्रोत होने के कारण हिन्दी में भी वाल्लभ मत पर कार्य हुआ है । इस विषय में डा० दीनदयाल गुप्त का ग्रन्थ `अष्टछाप और वल्लभ-सम्प्रदाय` विशेष महत्त्वपूर्ण है । इस ग्रन्थ में वल्लभाचार्य के दार्शनिक सिद्धान्त बहुत स्पष्टता के साथ अविकल रूप में रखे गए हैं और उनके सन्दर्भ में अष्टछाप के कवियों की दार्शनिक मान्यताओं का विवेचन किया गया है । इस तरह जहां तक वाल्लभ मत के आचारपक्ष अर्थात् पुष्टिमार्ग का प्रश्न है, इसपर पर्याप्त कार्य हो चुका है । पुष्टिमार्ग की साधनापद्धति और आचारपरक मान्यताओं पर विद्वानों ने विस्तार से विचार किया है । इसकी आधारभूत दार्शनिक सिद्धान्त विशुद्धाद्वैत की भी विवेचना की गई है, किन्तु यह विवेचना आलोचनात्मक न होकर परिचयात्मक अधिक है । वल्लभ की दार्शनिक मान्यताओं की तालिकामात्र प्रस्तुत की गई है, उनका विश्लेषण और मूल्यांकन नहीं किया गया ।

धर्म और दर्शन परस्पर घनिष्ठरूप से सम्बद्ध हैं, किन्तु इनके मूल्यांकन की कसौटियां भिन्न हैं । किसी भी दर्शन की संश्लिष्टता उसमें स्वीकृत सिद्धान्तों की परस्पर संगति, उपपत्ति और एक विशिष्ट धारणा के निर्माण में उनकी अर्थवत्ता पर निर्भर रहती है । दार्शनिक सिद्धान्त में धार्मिक सम्प्रदाय की अपेक्षा तर्कप्रवणता, बौद्धिक विचारणा, तथ्यसंकलन तथा प्रमेयसिद्धि की शैली की सुसम्बद्धता अधिक महत्त्वपूर्ण होती है । जब तक किसी दार्शनिक मत को इन कसौटियों पर नहीं कसा जाता, तब तक उसका सम्यक् मूल्यांकन असम्भव है । वल्लभाचार्य के विशुद्धाद्वैत का मूल्यांकन इस दृष्टि से अभी तक नहीं हुआ था । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में विशुद्धाद्वैत का मूल्यांकन पुष्टिमार्ग की पृष्ठ-भूमि या आधार के रूप में न कर एक स्वतन्त्र दार्शनिक मत के रूप में किया गया है; यह आवश्यक भी था, क्योंकि वाल्लभदर्शन को समझे बिना हिन्दू-संस्कृति और धर्म पर वेदान्तदर्शन के प्रभाव का सही आकलन नहीं किया जा सकता ।

वल्लभाचार्य के दर्शन पर बम्बई विश्वविद्यालय से एक शोध-प्रबन्ध प्रस्तुत हुआ है, तथा

दिल्ली से उसका प्रकाशन भी पुस्तक रूप में हो चुका है । पुस्तक का नाम है --`द फ़िलॉसफ़ी ऑफ वल्लभाचार्य, लेखिका हैं डा० श्रीमती मृदुला मारफ़तिया । यह पहला ग्रन्थ है, जिसमें वल्लभाचार्य के दर्शन की समालोचना प्रस्तुत की गई है । इस दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है । श्रीमती मारफ़तिया ने वल्लभ के सिद्धान्तों का अच्छा विश्लेषण किया है, किन्तु किस सिद्धांत की क्या उपयोगिता है और उसकी स्वीकृति अथवा अस्वीकृति का मत के स्वरूप पर क्या प्रभाव पड़ता है, इसपर विचार नहीं किया गया है । इसके अतिरिक्त वल्लभ के साथ एक विशेष बात यह है कि वे चिन्तन की एक विशिष्ट धारा का प्रतिनिधित्व करते हैं और उनका समग्र सिद्धान्त उस चिन्तन-धारा के परिप्रेक्ष्य में ही देखा जाना चाहिए । श्रीमती मारफ़तिया ने कृष्णभक्ति धारा तथा वाल्लभदर्शन की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि पर विचार नहीं किया है, फलत: कई बार वे किसी सिद्धान्तविशेष का मनोविज्ञान न समझ पाने के कारण उसके विषय में शंकाएं उठाती हैं । ये शंकाएं अधिकांशत: ऐसी हैं,जिनका समाधान वल्लभ की पृष्ठभूमि और उनके मनोविज्ञान में आसानी से खोजा जा सकता है ।

कई स्थलों पर वे शंकराचार्य से इस सीमा तक प्रभावित लगती हैं कि वल्लभ का मूल्यांकन करने वाली उनकी स्वतन्त्र दृष्टि शंकर के प्रभाव से आक्रान्त हो उठती हैं । शंकर की विचारधारा की कसौटी पर वल्लभ के दर्शन को कसना उचित नहीं है,क्योंकि दोनों की दृष्टि और वातावरण में बहुत अन्तर है । श्रीमती मारफ़तिया ने सिद्धान्त-विश्लेषण को भी दो खण्डों में बांट दिया है । पहले खण्ड में वल्लभ की ब्रह्म, जीव, जगत आदि सम्बन्धी मान्यताओं का संक्षिप्त परिचय दिया गया है और दूसरे खण्ड में उनके महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों और उनके ग्रन्थों के विशिष्ट स्थलों की आलोचना की गई है । इस प्रकार सिद्धान्त अलग हैं, सिद्धान्तों का विश्लेषण अलग हैं । मेरे विचार से यदि एक ही स्थान पर सिद्धान्तों की आलोचनापूर्वक निष्कर्ष प्रस्तुत किए जाते तो विषय-विवेचन अधिक संश्लिष्ट होता । और फिर सबसे बड़ी बात यह है कि यह ग्रन्थ अंग्रेज़ी में है, हिन्दी के माध्यम से अभी तक वल्लभाचार्य के मत का कोई दार्शनिक विवेचन प्रस्तुत नहीं हो सका है : इसी अभाव की यथासम्भव पूर्ति के लिए इस विषय पर शोधकार्य करने का निर्णय लिया गया ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का प्रयोजन है-- वल्लभ की दार्शनिक मान्यताओं को उचित परिप्रेक्ष्य और सही सन्दर्भ में यथासम्भव सुलझे हुए रूप में प्रस्तुत करना । वल्लभ के जितने प्रमुख ग्रन्थ हैं, जिनमें इन्होंने स्पष्ट और सुसम्बद्धरूप से अपने मत का प्रतिपादन किया है, उनके आधार पर विशुद्धाद्वैत की धारणा स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है । विषय का प्रतिपादन सर्वत्र मूलानुसारी ही रहा है । विषय-विवेचन को स्पष्ट और प्रामाणिक बनाने के लिए सभी महत्त्वपूर्ण

सिद्धान्तों के सन्दर्भ में वल्लभ की मूल संस्कृत कृतियों से उद्धरण दिए गए हैं । जहां कहीं उनके सिद्धान्तों की समीक्षा की गई है, वहां भी उनकी विचारधारा में हस्तक्षेप न करते हुए पहले उनके मत को यथातथ्य रूप में सप्रमाण प्रस्तुत करने के पश्चात् ही आलोचना की गई है । उनके सिद्धान्तों को कहीं भी किसी अन्य दार्शनिक और विद्वान् की अथवा अपनी दृष्टि से रंजित करने का प्रयास नहीं किया गया । इस कार्य में उनके शिष्यों द्वारा रचित कुछ ग्रन्थों की भी सहायता ली गई है । इससे सिद्धान्त में कोई विसंगति उत्पन्न नहीं होती, क्योंकि वल्लभ के शिष्यों ने सर्वत्र उनका ही अनुसरण किया है । वल्लभ के शिष्यों का जो भी कृतित्व है, वह वल्लभ के ही सिद्धान्तों का अनुव्याख्यान है; उन्होंने अपनी ओर से कोई नई बात, कोई नया सिद्धान्त विशुद्धाद्वैत में नहीं जोड़ा है । जहां कहीं वल्लभ ने कोई बात संक्षेप में कह दी है अथवा कोई सिद्धान्त अस्पष्ट रह गया है, उसे उनके सम्प्रदायानुवर्तियों ने यथासम्भव स्पष्ट किया । इस दृष्टि से वल्लभ के सुयोग्य पुत्र और शिष्य विट्ठलनाथ का योगदान बहुत महत्त्वपूर्ण है । उन्होंने वल्लभ के सिद्धान्तों को तार्किक उपपत्ति के द्वारा दृढ़ किया है । स्वयं वल्लभ ने सिद्धान्त-प्रतिपादन में ही अधिक रुचि ली है, पूर्वपक्षियों को निरस्त करने वाली शास्त्रार्थ-प्रक्रिया में उनका विशेष अभिनिवेश नहीं है । विट्ठल ने अपने ग्रन्थ `विद्वन्मंडनम्` में विशुद्धाद्वैत की यह कमी पूरी की है । वल्लभ के व्याख्याकारों में पुरुषोत्तम महाराज अन्यतम हैं । उन्होंने वल्लभाचार्य और विट्ठलनाथ के सभी प्रमुख ग्रन्थों पर पाण्डित्यपूर्ण व्याख्याओं की रचना की है । `अणुभाष्य` पर `सुवर्णसूत्रम्` तथा `तत्त्वदीपनिबन्ध` पर `आवरणभंग` नामक उनकी टीकाएं बहुत ही सुन्दर हैं और उन्होंने आचार्य का अभिप्राय बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया । सम्प्रदाय के अन्य विद्वानों के भी कुछ ग्रन्थ हैं, जिनकी सहायता विषय-प्रतिपादन में ली गई है । इन ग्रन्थों की तालिका प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में दी गई है । सामान्यत: विषय-प्रतिपादन सर्वत्र वल्लभ के ग्रन्थों के ही आधार पर किया गया है और अन्य ग्रन्थों की सहायता वहीं ली गई है, जहां वे वल्लभ के अपेक्षाकृत अस्पष्ट सिद्धान्तों को स्पष्ट करने में सहायक होते हैं अथवा वल्लभ के किसी सिद्धान्त की असाधारण रूप से अच्छी और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या करते हैं ।

इस शोध-प्रबन्ध का विषय है-- `आचार्य वल्लभ के दर्शन का एक आलोचनात्मक अध्ययन`-- जैसा कि शब्दावली से ही स्पष्ट है, विषय तुलनात्मक नहीं है, किन्तु वल्लभ का सिद्धांत स्पष्ट करने के लिए महत्त्वपूर्ण स्थलों पर उनकी शंकराचार्य, भास्कराचार्य और रामानुजाचार्य से तुलना भी की गई है । इन तीनों से ही क्यों, इसका भी कारण है । ये तीनों आचार्य तीन विशिष्ट विचारधाराओं के प्रतिनिधि हैं । शंकराचार्य वल्लभ की लगभग विपरीत विचारधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं । सभी वैष्णव-आचार्यों के सर्वाधिक प्रबल प्रतिपक्षी शंकराचार्य ही हैं । वल्लभ के सिद्धांतों का प्रतिपादन करते हुए कई बार शंकर के सिद्धान्तों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है, क्योंकि

वल्लभ के कई सिद्धान्तों का रूपाकार शंकर की प्रतिक्रिया में ही निश्चित हुआ है, और फिर वल्लभ प्रतिपदियों में केवल शंकर का ही अनेकश: उल्लेख करते हैं,अन्य किसी का नहीं । इन सब कारणों से शंकर के साथ, कम-से-कम, महत्त्वपूर्ण विषयों पर उनकी तुलना आवश्यक थी ।

भास्कराचार्य भेदाभेदवाद के प्रतिनिधि आचार्य हैं । शंकर के मायावाद का खण्डन सर्वप्रथम उन्होंने ही किया था । वे शंकर और रामानुज के बीच की कड़ी हैं; अपनी कुछ मान्यताओं में वे शंकर के समीप हैं और कुछ मान्यताओं में रामानुज के । इस प्रकार एक विशिष्ट विचारधारा के चिन्तक होने के कारण भास्कर के साथ भी वल्लभ का संवाद और विसंवाद मुख्य-मुख्य स्थलों पर दिखाया गया है ।

रामानुजाचार्य के साथ तो वल्लभ की तुलना अपरिहार्य ही थी । रामानुज का वैष्णवदर्शन में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है । वैष्णव-आचार्यों की परम्परा ही उनसे प्रारम्भ होती है । सर्वप्रथम उन्होंने ही भक्ति को ब्रह्मसूत्रों में प्रवेश दिलाया और उसका मोक्ष-साधकत्व प्रतिपादित किया । वैष्णव-आचार्यों की विशेषता यह है कि उनकी मान्यताओं में गहरी समानता होते हुए भी परस्पर सूक्ष्म अन्तर हैं, जो उन्हें एक-दूसरे से अलग कर देते हैं । वल्लभ का रामानुज से अन्तर स्पष्ट करने के लिए विशिष्ट सिद्धान्तों के विषय में दोनों का परस्पर स्वारस्य और वैरस्य दिखाना आवश्यक था ।

निम्बार्क और मध्व से वल्लभ की तुलना नहीं की गई है । निम्बार्क द्वैताद्वैत के प्रतिपादक हैं और मध्व द्वैत के । द्वैताद्वैत के विशिष्ट प्रतिनिधि आचार्य भास्कर से तुलना की ही गई है, ऐसी स्थिति में निम्बार्क से भी तुलना करना विशेष आवश्यक नहीं था । मध्व का द्वैत वल्लभ के के मत से बहुत अधिक भिन्न है । कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर वल्लभ और मध्व के विचार परस्पर विपरीत ही हैं । ऐसी स्थिति में मध्व और निम्बार्क से उनकी तुलना ग्रन्थ का आकार और विस्तार ही बढ़ाती, विशेषरूप से तब जब कि विषय तुलनात्मक नहीं था ।

इस तरह इस शोध-प्रबन्ध में वल्लभ के सिद्धान्तों को उनकी सम्पूर्णता में रखने का भरसक प्रयत्न किया गया है । वाल्लभ-मत पर कार्य करते हुए कुछ बातों का विशेष ध्यान रखा गया है । प्रत्येक मतवाद अपने युग के वातावरण और प्रवृत्तियों से थोड़ी-बहुत मात्रा में प्रभावित अवश्य होता है । यदि दर्शन सृष्टि-निरपेक्ष, मानव-निरपेक्ष नहीं है तो वह मानव की समस्याओं से सर्वथा अप्रभावित और असम्पृक्त रहे, यह कैसे सम्भव है ? और फिर वैष्णववेदान्त के लिए तो वह निरपेक्ष भाव ओढ़ लेना और भी कठिन है,क्योंकि वह सृष्टि की सत्यता और मानव की वैयक्तिकता का समर्थक है । वल्लभ के सिद्धान्त की रूप-रेखा निश्चित करने में मध्ययुग की परिस्थितियों और वातावरण का बहुत हाथ रहा है, इसलिए वल्लभ के सिद्धांतों पर विचार करने के पूर्व मध्ययुग

की धार्मिक, राजनैतिक और सामाजिक परिस्थितियों पर विचार किया गया है। वल्लभ के सिद्धांत की वैचारिक पृष्ठभूमि पर भी विस्तृत आलोचना प्रस्तुत की गई है।

यद्यपि वल्लभाचार्य पर कुछ ग्रन्थ प्रकाशित हुए हैं, किन्तु वे विशुद्धाद्वैत मत को उसकी समग्रता में प्रस्तुत नहीं करते। अब तक जो आलोचनाएं लोगों के द्वारा प्रस्तुत की गई हैं,उनमें वाल्लभ मत के आचारपक्ष तथा सिद्धान्तपक्ष की परस्पर संगति नहीं दिखलाई गई है, जब कि वस्तुस्थिति यह है कि जिस प्रकार सिद्धान्तपक्ष ने आचारपक्ष को प्रभावित किया है, उसी प्रकार आचारपक्ष ने सिद्धांतपक्ष को भी समन्वित किया है। इस बात को ध्यान में रखते हुए विशुद्धाद्वैत और पुष्टि-मार्ग के सापेक्ष सम्बन्ध की भी विवेचना की गई है। न केवल सिद्धान्तपक्ष और व्यवहारपक्ष,अपितु सभी सिद्धान्तों में परस्पर जो संगति और संवाद हैं, उसे सामने लाने का प्रयत्न किया गया है। सिद्धान्तों में जहां विसंगति और असन्तुलन है, उसका भी निर्देश कर दिया गया है।

विशुद्धाद्वैतदर्शन को प्राचीन वैष्णव-आचार्य विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय से सम्बद्ध करने की एक परम्परा है। इस परम्परा को लेकर विद्वानों और सम्प्रदायविदों में मतभेद है : कुछ वल्लभ को विष्णुस्वामी की परम्परा में मानते हैं और कुछ नहीं मानते। उपलब्ध सामग्री और सूचना के आधार पर इस विषय का निर्णय करने की चेष्टा की गई है।

विषय-विवेचन का क्रम इस प्रकार है:-

प्रथम परिच्छेद में विशुद्धाद्वैत की सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया गया है। वैदिककाल से वैष्णव-आन्दोलन तक भारत की दार्शनिक चेतना के विकास-क्रम और प्रवृत्तियों का निर्देश किया गया है। वैष्णव-भक्ति और दर्शन के मूल स्रोतों का भी विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् वैष्णव-दार्शनिकों का संक्षिप्त परिचय देते हुए कृष्णभक्तिपरक दर्शन की विशिष्ट प्रवृत्तियों की एक तालिका दी गई है। मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि के अन्तर्गत मध्ययुगीन परिस्थितियों और उस वातावरण का अध्ययन किया गया है,जिसमें वल्लभ का मनोविज्ञान पोषित हुआ। इसके पश्चात् कृष्णभक्ति की युगसापेक्षता, मनोविज्ञान और आध्यात्मिक चेतना के समुन्नयन में उसके योग-दान की चर्चा की गई है। यह परिच्छेद वाल्लभमत की भूमिका प्रस्तुत करता है।

द्वितीय परिच्छेद में वल्लभाचार्य के विशुद्धाद्वैत और विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय के तथाकथित सम्बन्ध पर विचार किया गया है। उपलब्ध सामग्री, ऐतिहासिक साक्ष्यों और संभावनाओं के आधार पर इस समस्या का समाधान प्रस्तुत करने की चेष्टा की गई हैकि शुद्धाद्वैतवाद वल्लभाचार्य का स्वतन्त्र सिद्धान्त है अथवा विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय का ही पल्लवन है।

तृतीय परिच्छेद में विशुद्धाद्वैत मत में परमवस्तु अर्थात् ब्रह्म की धारणा पर विचार किया गया है। ब्रह्म के स्वरूप की विस्तृत आलोचना की गई है और माया,जीव और जगत से ब्रह्म के सापेक्ष

सम्बन्ध की भी समीक्षा की गई है । शंकर,रामानुज और भास्कर के साथ तुलनापूर्वक वल्लभ को स्वीकृत अखण्ड ब्रह्माद्वैत का स्वरूप भी स्पष्ट किया गया है ।

चतुर्थ परिच्छेद में वल्लभ के माया सम्बन्धी सिद्धांतों का संकलन है । माया के स्वरूप तथा माया और ब्रह्म के परस्पर सम्बन्ध पर विचार किया गया है । जीव और जगत के सन्दर्भ में भी माया की स्थिति की समीक्षा की गई है ।

पंचम परिच्छेद में विशुद्धाद्वैत में जीव के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत है । जीव के कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि विषयों पर भी सामग्री दी गई है । जीव-ब्रह्म-सम्बन्ध तथा महावाक्यार्थ पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गई है ।

षष्ठ परिच्छेद में वल्लभ की सृष्टि सम्बन्धी मान्यताओं का विवेचन है ।सृष्टि के स्वरूप तथा ब्रह्म के साथ उसके सम्बन्ध पर विचार किया गया है । वल्लभ के सृष्टि सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों की समीक्षा भी की गई है ।

सप्तम परिच्छेद में विशुद्धाद्वैत मत में साधना का स्वरूप स्पष्ट किया गया है ।इस परिच्छेद के अन्तर्गत साधन-भक्ति का विवेचन विशेषरूप से हुआ है । भक्ति के मनोविज्ञान की विस्तृत समीक्षा और `भक्ति` शब्द की अर्थमीमांसा भी प्रस्तुत की गई है । भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधनों की स्थिति और फलवत्ता पर भी प्रकाश डाला गया है । अन्त में पुष्टिमार्ग के मुख्य तत्त्वों तथा साधना-पद्धति की विवेचना की गई है ।

अष्टम परिच्छेद में विशुद्धाद्वैत मत में `साध्य` के स्वरूप का विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है । इस परिच्छेद में साध्य भक्ति या निर्गुण भक्तियोग की विस्तृत व्याख्या की गई है । इसके अतिरिक्त वल्लभ ने ज्ञानियों तथा मर्यादा एवं पुष्टिमार्गीय भक्तों की अपेक्षा से जो फलभेद कहे हैं, उनपर भी प्रकाश डाला गया है । जीव की क्रममुक्ति, सद्योमुक्ति तथा उत्क्रमण-प्रकार पर भी विचार किया गया है । मुक्तावस्था में जीव की स्वरूप-स्थिति तथा ब्रह्म से उसके सम्बन्ध की विस्तृत समीक्षा की गई है ।

नवम और अन्तिम परिच्छेदमें निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं । सम्पूर्ण वाल्लभदर्शन के अनुशीलन के पश्चात् उसकी जो प्रवृत्तियां और विशेषताएं सामने आती हैं, उनका समीक्षात्मक निर्देश इस परिच्छेद में किया गया है । एक स्वतन्त्र चिन्तक और दार्शनिक के रूप में वल्लभाचार्य के स्थान, तथा दर्शन के क्षेत्र में उनके योगदान का निर्धारण और मुल्यांकन प्रस्तुत है । समकालीन और परवर्ती धर्म,दर्शन और साहित्य पर इनके प्रभाव का भी आकलन किया गया है ।

यह संक्षेप में पूरे प्रबन्ध की रूप-रेखा है । मुल्यांकन की सुविधा के लिए प्रत्येक परिच्छेद के अन्त में विवेचित विषय का सार-संक्षेप दिया गया है और सार-संक्षेप के पश्चात् परिच्छेद में

वर्णित महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का विश्लेषण और आलोचना भी की गई है ।

वाल्लभदर्शन के मूल्यांकन की दृष्टि किसी भी अन्य दार्शनिक या दर्शन के प्रभाव से सर्वथा मुक्त और स्वतन्त्र है । वल्लभ के सिद्धान्तों को उचित परिप्रेक्ष्य और सही सन्दर्भों में ही देखा गया है । जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, वल्लभ कृष्ण-भक्ति-दर्शन की परम्परा में हैं अत: उनके सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण कृष्णभक्ति और वैष्णव-चिन्तनधारा में ही खोजा गया है, निर्गुण विचारधारा में नहीं । इसके अतिरिक्त स्वीकृत सिद्धान्तों की अन्योन्य सापेक्षता, संगति और सिद्धान्त में उनके महत्त्व पर भी विचार किया गया है । संदिग्ध अथवा विवादास्पद स्थलों के स्पष्टीकरण का भी यथासम्भव प्रयत्न किया गया है । वल्लभाचार्य के दर्शन की पृष्ठभूमि, मनोविज्ञान और दृष्टि को समझकर आस्था के साथ, सहानुभूतिपूर्वक उसका मूल्यांकन हुआ है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि वल्लभ के सिद्धान्तों और विचारों को बिना सोचे-समझे ही यथातथ्य स्वीकार कर लिया गया है । जहां कहीं सिद्धान्त बिखरने लगते हैं; साम्प्रदायिक आग्रह दर्शन की संश्लिष्टता और सन्तुलन नष्ट करने लगते हैं; अथवा वल्लभ किसी प्रयोजन-विशेष की सिद्धि के लिए अनावश्यक कल्पना-गौरव का आश्रय लेते हैं; वहां इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है और प्राय: आलोचना भी की गई है । तात्पर्य यह है कि सिद्धान्त-समीक्षा के समय निष्पक्ष ही रहने की चेष्टा की गई है ।

शोध-प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में वल्लभाचार्य का जीवन-परिचय और उनकी कृतियों का विवरण प्रस्तुत किया गया है ।

• • • • • • •

प्रथम परिच्छेद

आचार्य वल्लभ के दर्शन की सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

मानवीय सभ्यता का इतिहास प्रश्नोत्तर की धारावाहिक सत्यकथा का एक लम्बा क्रम है । अनादिकाल से आज तक मानव की जिज्ञासा ने स्थूल शारीरिक-बोध से लेकर सूक्ष्म आध्यात्मिक सत्यों की रहस्यानुभूति के अति-मानवीय धरातल तक सहस्र-सहस्र प्रश्न किए हैं और स्वयं उसके ही चेतन, अवचेतन और अति-चेतन ने उनके उत्तर भी दिए हैं ।

मानवीय जिज्ञासा को जितना विस्तृत क्षेत्र और निर्बन्ध संचरण का अवकाश भारतीय दर्शन में मिला है, उतना अन्य किसी संस्कृति के दर्शन में सम्भवत: नहीं मिला । जो कुछ भी अति-मानवीय, अतीन्द्रिय और अभौतिक था, उसका भी यथासम्भव ज्ञान प्राप्त करने की चेष्टा की गई । भारतीय मनीषियों ने तत्त्व-साक्षात्कार की श्रवण, मनन और निदिध्यासन --ये जो तीन स्थिति-यां बतलाई हैं, उनमें से `मनन` मानसिक ऊहापोह, उत्तर-प्रत्युत्तर तथा जिज्ञासा और समाधान की ही स्थिति है । इस विश्लेषण के पश्चात् जो निष्कर्ष निकलता है, वही निदिध्यासन का विषय बनता है । भारत में सत्य के प्रयोग निरन्तर चलते रहे और इनका लक्ष्य था-- सत्य का निष्पक्ष और सभी पूर्वाग्रहों से मुक्त अभिज्ञान । भले ही कुछ आलोचक भारतीय चिन्तन को परम्परावादी या रूढ़िवादी कहें, किन्तु सच तो यह है कि विचार-स्वातन्त्र्य की दृष्टि यहां असाधारण रूप से प्रखर रही है । जब कभी कोई सिद्धान्त समस्या का सही हल प्रस्तुत न कर सका; या गर्व-गरिमा से भ्रान्त होकर लक्ष्य से भटक गया; अथवा बाह्याचार के अनावश्यक सम्भार से तत्त्व को पहिचानने वाली उसकी दृष्टि का पैनापन कम होने लगा; तो तुरन्त ही उसकी जगह लेने के लिए एक दूसरे सिद्धान्त का निर्माण हो गया । लगभग सभी दार्शनिक मतवादों का जन्म इस सैद्धान्तिक प्रतिक्रिया का परिणाम है ।

यह भी एक महत्त्वपूर्ण तथ्य है कि सभी सिद्धान्त और मतवाद निरन्तर समृद्ध होते रहे तथा युग की आवश्यकताओं और सत्य की नवीन गवेषणाओं के सन्दर्भ में उनमें परिवर्धन और संशो-धन होता रहा । यही कारण है कि प्राय: अधिकांश दर्शनों में दृष्टि-भेद से अनेक अवान्तर सम्प्रदाय या `प्रस्थान` मिलते हैं । इन दार्शनिक सिद्धान्तों की वैयक्तिक दृष्टियां भले ही परस्पर भिन्न हों, किन्तु वे एक-दूसरे से समन्वित और प्रभावित होते रहे हैं । कुछ एक-दूसरे की प्रतिक्रिया में जन्मे और विकसित हुए तथा कुछ साथ-ही-साथ पोषित होते रहे ; और इस तरह उनमें प्रभावों का आदान-प्रदान चलता रहा ।

किसी भी सिद्धान्त को समझने के लिए पहले उसे प्रस्तुत करने वाले विचारक का मनो-विज्ञान समझना पड़ता है और उसके मनोविज्ञान को समझने के लिए उन समस्त परिस्थितियों और

सन्दर्भों का अध्ययन और आकलन करना होता है,जिसमें उसका चिन्तन पोषित हुआ है । किसी भी सिद्धान्त का सर्वांगीण अध्ययन करने के लिए तीन बातों पर विचार करना आवश्यक हो जाता है-- पहली सामयिक परिस्थितियां, दूसरी परम्पराएं और तीसरी दार्शनिक की अपनी मौलिकता।

प्रत्येक दर्शन किसी युग-विशेष की परिस्थितियों तथा उनमें रहने वाले लोगों की नैतिक और आध्यात्मिक आवश्यकताओं की पूर्ति है । युग की परिस्थितियां तथा सन्दर्भ हर विचारक को प्रभावित करते हैं और उसके सिद्धान्तों का रूपाकार उनके परिप्रेक्ष्य में ही निश्चित होता है । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए किसी सिद्धान्त की समालोचना करने के लिए उन सभी विचारधाराओं और प्रभावों का मूल्यांकन करना होता है, जो उस वातावरण-विशेष का निर्माण करते हैं जिसमें वह सिद्धान्त-विशेष जन्म ले सका । तत्कालीन परिस्थितियों के अतिरिक्त परम्पराप्राप्त निष्ठाएं तथा कुछ स्थापित-विश्वास जो विचारक को अपने पूर्ववर्तियों से मिलते हैं, उसके सिद्धांत के निर्माण में सहयोग देते हैं । इन दो बातों के अतिरिक्त सिद्धान्त का तीसरा परिप्रेक्ष्य है-- दार्शनिक की अपनी मौलिकता । सिद्धान्त की गरिमा और उपयोगिता इसी बात पर निर्भर होती है । स्वयं उसकी अनुभूति में कितनी गहराई है और सत्य का साक्षात्कार वह किस सीमा तक और किस रूप में कर सका है, यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है । यह मौलिकता ही चिन्तन को जीवन देती है और इसके अभाव में वह क्षण-जीवी ही होता है । आध्यात्मिक क्षेत्र में युगान्तरकारी परिवर्तन लाने वाले महात्मा बुद्ध,शंकराचार्य और रामानुजाचार्य आदि ऐसी ही मौलिक प्रतिभा के धनी थे,जिन्होंने अपनी पारदर्शी दृष्टि तथा युग-बोध के बल पर भारतीय दर्शन को नई दिशा;नये विस्तार दिए ।ये तीनों बातें मिलकर किसी सिद्धान्त की पृष्ठभूमि का निर्माण करती हैं ।

इस परिच्छेद का प्रयोजन आचार्य वल्लभ के दर्शन की सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर विचार करना है । आचार्य वल्लभ मध्ययुगीन कृष्णभक्तिदर्शन के अन्तिम प्रमुख आचार्य हैं, जिन्होंने `विशुद्धाद्वैत` नामक अद्वैतसिद्धान्त तथा `पुष्टिमार्ग` नामक भक्तिसम्प्रदाय की स्थापना की। भक्ति को शास्त्रीयता तथा दार्शनिक स्वरूप प्रदान करने वाले वैष्णव आचार्यों की परम्परा में वे अन्तिम कहे जा सकते हैं ।

आचार्य वल्लभ के पीछे यों तो हजारों वर्षों की दार्शनिक परम्परा का आधार है, परन्तु यदि दृष्टि को अनावश्यक विस्तार न भी दें तो भी लगभग हजार वर्षों का इतिहास तो है ही । यदि हम छठी- सातवीं शताब्दी के दक्षिण के भक्तकवि आलवारों से भी प्रारम्भ करें,तो वल्लभ के समय अर्थात् सोलहवीं (पन्द्र) शताब्दी तक विष्णु अथवा कृष्णप्रधान भक्तिपरक दर्शन की एकहजार वर्ष प्राचीन अखण्ड परम्परा के दर्शन होते हैं । इस परिच्छेद में उन सभी परम्पराओं और प्रवृत्तियों की संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गई है तथा उन सभी तत्त्वों के स्वरूप पर विचार किया गया है,

जिन्होंने वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों का स्वरूप स्थिर करने में सहयोग दिया है। भारतीय दर्शन का विकास और स्वरूप अपने-आपमें शोध का विषय है तथा उसका विस्तृत विवेचन यहां सम्भव नहीं है, अत: दार्शनिक प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विकास-क्रम और सामान्य स्वरूप ही दिया गया है। विस्तार वहीं किया गया है,जहां विषय का आग्रह है और जिससे वाल्लभदर्शन का स्वरूप स्पष्ट होता है।

आर्य संस्कृति की ऊर्ध्वगामी चेतना का इतिहास बड़ा लम्बा है। सुदूर अतीत के वैदिककाल में ही हमें इसका उन्मेष प्राप्त होता है। इस दार्शनिक गवेषणा का प्रारम्भ प्राकृतिक शक्तियों की पूजा-भावना से हुआ। प्रारम्भ से ही मानव प्रकृति के विविध व्यापारों को देखकर कभी आश्चर्य,कभी भय तो कभी प्रसन्नता से भर उठता रहा है। उसकी यह प्रतिक्रियाएं ही ऋग्वेद के विभिन्न मन्त्रों में अभिव्यक्त हुई हैं। अपने अनुभव के आधार पर वह इन प्राकृतिक क्रिया-कलापों के पीछे चेतन शक्तियों की परिकल्पना करता है, जो अदृश्य रहकर कार्य करती हैं। यह कहा जा सकता है कि उसने इन प्राकृतिक शक्तियों का मानवीकरण कर दिया और अपनी असाधारण शक्ति और सामर्थ्य के कारण ये मानवीकृत शक्तियां उसके आदर का पात्र बन गईं। संकटकाल में जीवन के संघर्षों में विजयी होने के लिए उसने इन महत्तर शक्तियों का आश्रय लिया : मानव - चेतना के द्वारा देव-चेतना का यह आह्वान मन्त्रों का रूप लेकर वैदिक साहित्य का सर्जक बना।

यह विश्वास बहुत सरल और सामान्य प्रतीत होता है, पर इसका एक दार्शनिक आधार भी है। यह विश्वास यह तथ्य ध्वनित करता है कि यह दृश्यजगत् अपने-आपमें पूर्ण और अंतिम सत्ता नहीं है;इसके पीछे एक महान सत्य छुपा हुआ है,जो इसका आधार और मूल तत्त्व है।

यद्यपि ऋग्वेद में प्राय: देवताओं को माता,पिता तथा मित्र के रूप में सम्बोधित किया गया है तथापि ये सम्बोधन औपचारिक अधिक हैं, क्योंकि इनमें सम्बोधित देवताओं के प्रति स्नेह अथवा भक्ति की भावना नहीं होती : तो भी कुछ देवताओं,विशेषरूप से अग्नि को सम्बोधित कर कहे गए मन्त्रों में हार्दिक सौमनस्य के भी दर्शन होते हैं। स्वयं वैदिक धर्म में भक्ति का कहीं प्रतिपादन नहीं है, तो भी देव और मानव-चेतना के बीच स्थापित ये सम्बन्ध भक्ति की पूर्वपीठिका का निर्माण करते हैं। इन सम्बन्धों में प्रेम अथवा अनुराग भले ही न हो, उसकी भूमिका अर्थात् आकर्षण तो है ही।

प्रारम्भिक वैदिकचिन्तन अपने स्वरूप में बहुत सरल और स्थूल है। गहन तात्त्विक विश्लेषण तथा वैराग्य और मोक्ष की भावना का इसमें स्पर्श भी नहीं है। देवता प्रकृति की परिचित शक्तियां हैं तथा सामान्य भौतिक जीवन की सुविधाएं और सम्पदाएं ही काम्य हैं। प्रारंभिक वैदिक कर्मकाण्ड भी इसी प्रकार अपने स्वरूप और उद्देश्य में बहुत सहज और सामान्य था। कभी

इष्ट की अपेक्षा मेंऔर कभी इष्टप्राप्ति की कृतज्ञता में यज्ञादि पूजाविधियों के द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट किया जाता था । इस काल में कर्मकाण्ड अपनी सीमाओं के भीतर ही था : उसने विधि-निषेधों में जकड़े सुनियोजित धार्मिक कर्मकाण्ड का रूप नहीं लिया था ।

ब्राह्मणकाल में मन्त्रकाल के उन्मुक्त और शिशु-सरल धर्म को विधि-निषेध की शृंखलाओं में कस दिया गया । कर्मकाण्ड इतना अधिक विस्तृत और जटिल हो गया कि वैदिक धर्म इसके भार से बोझिल होने लगा । यह प्रवृत्ति धीरे-धीरे इतनी बढ़ गई कि ब्राह्मण धर्म प्रकृति के अन्तराल में छुपी चेतनशक्ति की गवेषणा से विमुख होकर सांसारिक कामनाओं के उपायभूत यज्ञों के स्वरूप-विश्लेषण में ही अपनी सार्थकता समझने लगा । क्रमश: इस कर्मकाण्ड ने एक जटिल सम्प्रदाय का रूप ले लिया, जिसकी बागडोर पूरी तरह से पुरोहित-वर्ग के हाथों में थी । योग- क्षेम की साधिका ये यज्ञ-विधियां इतनी व्ययसाध्य हो गईं कि सामान्य व्यक्ति के लिए इनका अनुष्ठान वश के बाहर की बात हो गई । इसके अतिरिक्त पहले यज्ञों के पीछे जो भावना रहा करती थी, उसमें भी परिवर्तन हो गया । पहले यज्ञ मानव और देव-चेतना के बीच सौहार्द्र और सौमनस्यपूर्ण संबन्धों के प्रतीक थे, किन्तु परवर्तीकाल में देवता यज्ञों के द्वारा यजमान की इच्छित वस्तुएं प्रदान करने के लिए बाध्य किए जाने लगे । देवताओं का महत्त्व और गरिमा धीरे-धीरे इतनी कम हो गई कि परवर्तीकाल में पूर्व मीमांसा दर्शन में उनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया । कर्मकाण्ड की यह अतिशयता वैदिक धर्म की एक प्रमुख विशेषता बन गई, किन्तु इसके कारण धर्म इतना जटिल और कृत्रिम हो गया कि स्वभावत: उसकी प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई ।

यह प्रतिक्रिया हुई उपनिषदों के गहन अन्तर्मुखी तत्त्व-विश्लेषण के रूप में । जैसाकि प्रारम्भ में कहा गया है, कि भारतीय दर्शन की यह विशेषता रही है कि जब कभी कोई सिद्धान्त अनावश्यक बाह्य-सम्भार से आक्रान्त हो निष्प्राण हो गया, तो तुरन्त ही उसका स्थान लेने के लिए एक नए सिद्धान्त का जन्म हो गया । उपनिषदों का चिन्तन इसी प्रवृत्ति का परिचायक है। वास्तविक अर्थ में जिसे सत्य की गवेषणा या दार्शनिक चिन्तन कहा जा सकता है, वह उपनिषदों में ही विकसित हुआ है ।

वैदिक साहित्य का अन्तिम भाग होने के कारण उपनिषदों को `वेदान्त` की संज्ञा दी गई है । इस नाम से इस बात की भी व्यंजना होती है कि उपनिषदों में वैदिक चिन्तन का सर्वाधिक परिष्कृत रूप संकलित है । भारतीय दर्शन में उपनिषदों का महत्व अतुलनीय है : उनके द्वार आगामी अनेक शताब्दियों की दार्शनिक गति-विधियों का दिशा-निर्धारण हुआ तथा दार्शनिक चेतना के विकास और समृद्धि में उनका योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण और निर्णायक रहा ।

यद्यपि उपनिषद् भी मन्त्र,ब्राह्मण और आरण्यकों की भांति वैदिक साहित्य का ही

एक अंश है, तथापि जीवन की समस्याओं के विषय में, व्यक्ति के इष्ट और लक्ष्य के विषय में,इनकी दृष्टि और निष्कर्ष कर्मकाण्ड प्रधान वैदिक धर्म से अत्यन्त भिन्न हैं : अत: अपने लक्ष्य की विशिष्टता के कारण उपनिषद् वैदिक साहित्य का एक भाग होते हुए भी अपने-आप में एक विशिष्ट वर्ग का निर्माण करते हैं ।

वैदिक धर्म के द्वैतपरक कर्मकाण्ड के बीच भी कहीं-कहीं 'एकत्व' के सिद्धान्त की झलक मिलती है । उपनिषदों में उसे एक सुस्पष्ट रूपाकार प्रदान किया गया है । समस्त सृष्टि के एक और अद्वितीय स्रोत में विश्वास रखने वाले अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन ही उपनिषदों का मुख्य ध्येय है । तत्त्व की इस एकता में व्यक्ति-चेतना और देव-चेतना के बीच का अन्तर समाप्त हो गया, इस सीमा तक कि 'आत्मन्' और 'ब्रह्मन्' एक-दूसरे का पर्याय बन गए । 'तत्त्वमसि' तथा 'ब्रह्मण: -कोशोऽसि' जैसे उपदेशों से यह स्पष्ट उद्घोषणा की गई कि वैयक्तिक चेतना विराट् विश्व-चेतना की ही विशिष्ट अभिव्यक्ति है और दोनों में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है ।

उपनिषदों ने न केवल वैचारिक क्रान्ति की वरन् धर्म के स्वरूप का भी संस्कार किया। धार्मिक औपचारिकताओं में जकड़े युग की आवश्यकता थी-- आध्यात्मिकता की स्थापना, और वही उपनिषदों ने की । धर्म के स्वरूप को यथावत् रखकर भी उसकी दृष्टि को परिष्कृत और आध्यात्मिक बनाने का प्रयत्न किया गया। उपनिषदों में यज्ञों को भी प्रतीकात्मक रूप दिया गया । बृहदारण्यक में अश्वमेध यज्ञ पर 'धारणा' करने की बात कही गई है । यह भी कहा गया है कि इस ध्यान से ही अश्वमेध का सही अर्थ समझ में आ सकता है और यह भी उतना ही पुण्यकारी है,जितना यज्ञ का अनुष्ठान । छान्दोग्य में मानव जीवन को ही सबसे श्रेष्ठ यज्ञ माना गया है, जीवन की भौतिक क्रियाएं ही यज्ञ की औपचारिकताएं बन जाती हैं । उपनिषदों के रचनाकाल के शताब्दियों बाद कबीर ने यही बात कही --" जंह जंह धावौं सो परिक्रमा, जो कछु करौं सो पूजा । जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं देव न दूजा ।"-- यह उपनिषदों का ही कालजयी सिद्धान्त है, जो कबीर की वाणी में गूंजा । उपनिषदों के अनुसार सभी यज्ञ-अनुष्ठान आत्मस्वरूप का साक्षात्कार करने के साधन मात्र हैं ।

इस प्रकार उपनिषदों ने कर्मकाण्ड के स्वरूप को यथावत् स्वीकार करते हुए भी उसके पीछे कार्य करने वाली भावना में परिवर्तन प्रस्तावित किया । अब तक धर्म का लक्ष्य भोग था : उपनिषदों ने इसे मोक्ष की ओर प्रेरित किया । धर्म और दर्शन का लक्ष्य-निर्धारण तथा केन्द्र-परिवर्तन उपनिषदों की भारतीय दर्शन को सबसे बड़ी देन है । उपनिषदों के मनोविज्ञान पर कुछ विस्तार से इसलिए विचार किया गया,क्योंकि परवर्ती अधिकांश दार्शनिक सिद्धांतों का उपजीव्य ये उपनिषद् ही हैं । जैसा कि प्रसिद्ध विद्वान् ब्लूमफ़ील्ड ने कहा है कि " हिन्दू दर्शन का कोई भी

महत्वपूर्ण सिद्धान्त ऐसा नहीं है जो उपनिषदों पर न आधारित हो; यहां तक कि बौद्धधर्म भी, जो स्पष्टरूप से वेदों का प्रामाण्य अस्वीकार करता है, उपनिषदों की आध्यात्मिकता से ही प्रेरित है[1]।

वस्तुत: उपनिषदों का मन्तव्य ब्राह्मणों की भांति किसी विशिष्ट दार्शनिक संप्रदाय की स्थापना करना उतना नहीं है, जितना उस आध्यात्मिक सत्य से मानव चेतना का परिचय कराना है, जिसका सम्पर्क उसके कल्याण के लिए आवश्यक है। इसीलिए उनमें सत्य के इतने रूप हैं, ईश्वर की इतनी परिभाषाएं हैं, कि परवर्ती प्रत्येक दार्शनिक को उनमें अपने सिद्धान्तों के लिए अवकाश मिल गया। उपनिषदों का कथ्य इतना रहस्यमय और भाषा इतनी लचीली है कि दार्शनिकों के लिए अपना वांछित अर्थ निकाल लेना बहुत सरल था। प्रत्येक ने उनमें अपना विशिष्ट सिद्धान्त पढ़ने का प्रयत्न किया और यह गर्वोक्ति भी की कि उसके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त ही उपनिषदों का अभीष्ट सिद्धान्त है।

उपनिषदों के सिद्धान्तों को आचार्य बादरायण ने अपने वेदान्तसूत्रों में एक क्रमबद्ध और संहत रूप में प्रस्तुत किया। वेदान्तसूत्रों ने उपनिषदों के प्रतिपाद्य विषय को एक सुसम्बद्ध और सुनियोजित दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में सामने रखा। हिन्दूदर्शन में उपनिषद्, वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भगवद्गीता-- ये तीनों 'प्रस्थानत्रयी' कहलाते हैं: परवर्ती लगभग सभी वेदान्त-दार्शनिकों ने अपने विशिष्ट मतों का प्रस्थापन करने के लिए इनपर भाष्यों की रचना की है।

उपनिषदों के पश्चात् हमें आध्यात्मिक क्षेत्र में असाधारण गतिविधियों के दर्शन होते हैं। वस्तुत: ब्राह्मणधर्म का स्पष्ट विरोध न करते हुए भी उपनिषदों ने असाधारण आध्यात्मिक क्रान्ति की भूमिका प्रस्तुत कर दी थी। जटिल ब्राह्मणधर्म की प्रतिक्रिया तथा उपनिषदों की आध्यात्मिक परम्परा में अनेक धर्म उभरे, जिनमें बौद्धधर्म और भागवत धर्म प्रमुख थे। सर्वप्रथम चारवाक, बौद्ध तथा जैनधर्म उभरे; इनका जन्म ब्राह्मण धर्म के तीव्र विरोध में हुआ था। प्रतिक्रिया के आवेग में इन्होंने कर्मकाण्डप्रधान वैदिक धर्म का विरोध तो हुआ, किन्तु महत्तर आध्यात्मिक मूल्यों तथा धर्म के दार्शनिक और भावात्मक पक्ष पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया। जैन और बौद्ध दोनों ही केवल आचारप्रणाली सुधारते रहे; मानव-मन की उस जिज्ञासा को शान्त नहीं कर पाए, जो भौतिकता-नैतिकता से परे, आचार के विधिक्षेत्र से भी परे, सारे अवगुंठन हटाकर किसी प्रशांत सत्य के दर्शन करना चाहती थी। जनमानस की भावनात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति न कर पाने के कारण इनकी भी प्रतिक्रिया आरम्भ हो गई।

---

१ 'द रिलीजन आफ द वेद', पृ० ५१।

दुरूह वैदिक कर्मकाण्ड, उपनिषदों के रहस्यमय गूढ़ संकेतों, तथा जैन और बौद्ध धर्मों के महिमामण्डित नैतिक मूल्यों के बिल्कुल ही विपरीत एक ऐसे धर्म की रूपरेखा स्पष्ट होने लगी, जिसने विश्व के अद्वितीय सत्य अथवा उपनिषदों के ब्रह्म को मानवीय संवेदना के अधिकाधिक निकट लाते हुए उसे एक सविशेष और सहृदय ईश्वर का रूप दे दिया। महाभारत ने इसमें बड़ा योगदान दिया। निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म उपासना का विषय नहीं बन सकता,अत: महाभारत ने उसे सगुण और सविशेष ईश्वर के रूप में प्रस्तुत किया। यद्यपि महाभारत में निर्गुण और निराकार ब्रह्म की सत्ता भी स्वीकार की गई है,तथापि महत्व वासुदेव का ही है। इस साकारेश्वरवाद को भी उपनिषदों का पूर्ण समर्थन प्राप्त था। महाभारत में तत्कालीन अनेक धर्मों और विश्वासों का संकलन है। महाभारत में हम ब्राह्मणधर्म को क्रमश: हिन्दू धर्म में परिवर्तित होते देखते हैं। शाक्त, शैव और पांचरात्रधर्म, जो मूलत: वैदिक नहीं थे, वे भी हिन्दू धर्म का अंग बन गए : बाद के हिन्दू धर्म का इतिहास तो मुख्यत: इन धर्मों का ही इतिहास है। ब्राह्मण धर्म की प्रतिक्रिया में जो धर्म उभरे, उनमें जैन,बौद्ध और भागवतधर्म सर्वाधिक प्रमुख और प्रभावशाली रहे। विशेष बात यह है कि ये तीनों ही मूलत: जनआन्दोलन थे। यहां बौद्ध धर्म के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है,क्योंकि बौद्धधर्म भारत के सर्वाधिक प्रभविष्णु धर्मों में रहा है, दर्शन के क्षेत्र में भी इसकी उपलब्धियां कम नहीं हैं। बौद्धधर्म ने समग्र हिन्दूधर्म के मनोविज्ञान को प्रभावित किया है और परवर्ती धर्म और दर्शन का स्वरूप स्थिर करने में इसका प्रभाव निर्णायक रहा है। यद्यपि महाभारत के नारायणीयोपाख्यान तथा श्रीमद्भगवद्गीता में प्रतिपादित भागवतधर्म ने भी असाधारण लोकप्रियता और प्रभाव अर्जित किया, किन्तु उसका शासनकाल बौद्धधर्म के विघटन के पश्चात् ही आया।

बौद्धधर्म के संस्थापक महात्माबुद्ध भारतीय इतिहास के महानधर्मप्रवर्तक और सुधारक थे। बौद्धधर्म जैन धर्म की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और सफल हुआ। बुद्ध की इस असाधारण सफलता का रहस्य यह था कि उन्होंने समय की मांग और युग की आवश्यकता को बहुत सही पहचाना। ब्राह्मण-धर्म को शासन करते लगभग हजार वर्ष हो चुके थे : जैसा कि प्राय: होता है, समय के व्यवधान ने उसे उसके मूलरूप से बहुत दूर कर दिया था। जटिल और कृत्रिम ब्राह्मणधर्म न तो व्यक्ति की भावात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति कर सका था और न ही उसके समक्ष किसी अनुकरणीय आदर्श की स्थापना कर सका था। लक्ष्यहीन व्यक्ति के सामने ऐसा कोई मार्ग नहीं था, जिसपर चलकर उसका संस्कार हो सके : उसके सभी प्रश्न अनुत्तरित थे और मूल्य अस्पष्ट।

बौद्धधर्म ने किंकर्तव्यविमूढ़ समाज के सामने अहिंसा और प्रेम का मार्ग प्रशस्त किया। इस धर्म में न जाति का कोई बन्धन था न सम्पन्नता का कोई आग्रह। प्राणिमात्र के प्रति दया और अहिंसा इस धर्म की पहली अपेक्षा थी और भौतिक कामनाओं का त्याग तथा जीवन का शुद्धीकरण

इसका लक्ष्य था। बौद्धधर्म ने उस समय प्राणिमात्र के प्रति दया और अहिंसा का प्रतिपादन किया, जिस समय 'वैदिकी हिंसा' पर्याप्त प्रभाव में थी। यह असाधारण साहस की बात थी। महात्मा बुद्ध ने समाज के समक्ष नैतिकता के स्थिर मूल्य प्रस्तुत किए और आचार की पवित्रता को सर्वोच्च महत्त्व दिया। उन्होंने तत्त्व का कोई दार्शनिक विश्लेषण सामने नहीं रखा, क्योंकि उनकी दृष्टि में सामान्य व्यक्ति के लिए उसका कोई महत्त्व नहीं होता : गूढ़ तात्त्विक विश्लेषण और जटिल विवाद उसके लिए उलझाव ही पैदा करते हैं। इसलिए बौद्ध धर्म अपने मूल रूप में सिद्धान्तपरक न होकर व्यवहारपरक है। अपने सहज स्वरूप के कारण अपने उद्भव के थोड़े ही समय बाद बौद्धधर्म भारतवर्ष का सर्वाधिक लोकप्रिय और लोकमान्य धर्म बन गया और लगभग छठी शताब्दी ईसापूर्व से लेकर ईसा की पांचवीं-छठी शताब्दी तक भारत के दार्शनिक और बौद्धिक गतिविधियों के क्षेत्र पर छाया रहा।

बौद्धधर्म के मनोविज्ञान ने समस्त हिन्दूधर्म के मनोविज्ञान को प्रभावित किया। भागवत-धर्म भी उसकी सुधारवादी प्रवृत्तियों से प्रभावित और समन्वित हुआ है। जिस 'सहज-धर्म' की स्थापना सर्वप्रथम बौद्धधर्म ने की थी, उसकी ही परम्परा का निर्वाह आगे चलकर भागवतधर्म और उसके परवर्ती रूप वैष्णवधर्म में हुआ। भागवतधर्म ने यद्यपि वैदिक कर्मकाण्ड का वैसा उग्र और आवेशमय प्रतीकार नहीं किया, जैसा बौद्धधर्म ने किया था, तथापि उसने भी धर्म के सहज और आडम्बरहीन स्वरूप को ही महत्त्व दिया। भागवतधर्म ने भी हिंसापरक कर्मकाण्ड का विरोध किया : महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में आई वसुउपरिचर की कथा इस प्रवृत्ति की साक्षी है। देवाधिदेव नारायण की कृपा प्राप्त करने वाले वसुउपरिचर ने यज्ञ में जीवों की बलि न देकर अन्न की ही आहुति दी थी। भागवतधर्म में भी जाति और वर्ग का आग्रह शिथिल हो गया। भागवत और वैष्णव धर्मों में भी प्रत्येक व्यक्ति का, चाहे वह धनी हो अथवा निर्धन, द्विज हो चाहे अन्त्यज, राजा हो अथवा रंक, ईश्वर पर एक-सा अधिकार माना।

इस प्रकार बहुत बड़ी सीमा तक बौद्धधर्म ने अपने समकालीन और परवर्ती मतवादों को प्रभावित किया साथ ही हिन्दू धर्म का मनोविज्ञान ढालने में इसका बहुत बड़ा हाथ रहा। पांचवीं, छठी और सातवीं शती में बौद्धदर्शन की दार्शनिक उपलब्धियों के असाधारण ऐश्वर्य के दर्शन होते हैं। बौद्धधर्म के समक्ष ब्राह्मणधर्म की गरिमा सुबह के तारों की तरह फीकी पड़ गई थी। बौद्धधर्म के प्रबल झंझावात में ब्राह्मणधर्म की ज्योति बुझने-बुझने को हो रही थी कि उसे दो महान दार्शनिकों का सहारा मिल गया। इन आचार्यों के नाम थे -- कुमारिल और शंकर। ब्राह्मण धर्म के पुनरुज्जीवन का सर्वाधिक श्रेय शंकराचार्य को है, किन्तु प्रयत्न कुमारिल ने भी किए थे। बौद्धधर्म के निरन्तर प्रहारों से ब्राह्मणधर्म बहुत क्षत-विक्षत और विकेन्द्रित हो चुका था। मीमांसकों ने, जिनमें कुमारिलभट्ट सर्व-प्रमुख थे, पुनः उसकी स्थापना के लिए प्रयत्न किए। मीमांसकों ने वैदिकधर्म की प्रतिष्ठा की की,

किन्तु उपनिषदों के तत्त्वग्राही चिन्तन की नहीं, अपितु ब्राह्मणों के शुष्क कर्मकाण्ड की । फलतः परिस्थितियों में कोई सन्तुलन नहीं आया । उधर दक्षिण में बौद्धधर्म का ह्रास हो रहा था और जैनधर्म उत्कर्ष की चरम सीमा पर था । वैदिक कर्मकाण्ड का आदर भी समाप्त हो रहा था । दक्षिण के भक्तकवि और साधक, जिनमें शैवभक्त `अड्यार` तथा वैष्णवभक्त `आलवार` दोनों ही थे, भक्ति का प्रचार और प्रसार कर रहे थे । इनके प्रयत्नों से भक्तिसम्प्रदाय बहुत तीव्रता से प्रभाव में आ रहा था । पुराणों के प्रभाव से मूर्तिपूजा तथा व्रतोत्सव आदि भी जनजीवन में अपना स्थान बना चुके थे । यह सत्य है कि पुराणदर्शन तथा भक्तकवियों के प्रयत्नों के फलस्वरूप उपनिषदों का अचिन्त्य सत्य बहुत बड़ी सीमा तक मानवीय चिन्तन की परिधि में आ गया, किन्तु यह भी सत्य है कि इस प्रक्रिया में उसपर भावनाओं के अनेक आवरण भी चढ़ गए । जो भी हो, उपनिषदों की बहुमूल्य आध्यात्मिक सम्पत्ति अभी तक जननिधि नहीं बन सकी थी और न ही वैदिक धर्म अपनी पूर्व गरिमा को पा सका था ।

वैदिक धर्म को सही अर्थ में प्रतिष्ठा दिलाई आचार्य शंकर ने । शंकर भारत के सर्वाधिक चर्चित दार्शनिक रहे हैं; बहु-प्रशंसित भी और बहु-आलोचित भी । शंकर के बाद का भारतीय दर्शन उनके प्रभाव से आक्रान्त दिखाई देता है; विशेषरूप से वेदांत का तो सम्भवतः ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं है, जिसमें शंकर के `मायावाद` का उल्लेख न हो । लोगों ने चाहे उनका समर्थन किया हो, चाहे विरोध, वे उनकी असाधारण प्रतिभा और साहसी व्यक्तित्व से आंखें नहीं चुरा सके ।

शंकर में परम्परा के प्रति अगाध आस्था थी, साथ ही मौलिकता के प्रति वह आग्रह भी था, जो सत्य की गवेषणा में सर्वाधिक सहायक होता है । उन्होंने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य-रचना कर अद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की, जिसमें व्यक्ति-चेतना तथा परा-चेतना की एकता प्रतिपादित की गई है । उनके अनुसार ज्ञान से ही व्यक्ति का मोक्ष सम्भव है, किन्तु इस ज्ञान का अर्थ वाणी का विलास या तथ्यों का गणित नहीं है, इसका अर्थ है-- व्यष्टि-चेतना और समष्टि-चेतना के अखण्ड ऐक्य की अनुभूति । चेतना के इस अद्वितीयत्व या `कैवल्य` का प्रतिपादन करने के कारण शंकर का अद्वैत सिद्धान्त `केवलाद्वैत` के नाम से प्रसिद्ध है । शंकर के इस केवलाद्वैत का स्वरूप सर्वविदित है तो भी इसका संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक है, क्योंकि परवर्ती वेदान्त सम्प्रदायों का स्वरूप इसके परिप्रेक्ष्य में ही निश्चित होता है ।

शंकराचार्य के अनुसार विश्व का मूल सत्य निर्विशेष ब्रह्म है : यह सभी विशेषों से रहित सर्वथा अनिर्देश्य और अचिन्त्य तत्त्व है । श्रुति भी इसका व्याख्यान नहीं करती, अपितु इसके अव्याख्येय होने का ही कथन करती है । ब्रह्म अविकारी है, किन्तु यह विश्व उसका ही कार्य है । यह कार्य परिणामरूप नहीं, अपितु आभास रूप है : विश्व ब्रह्म में माया के द्वारा कल्पित एक

विकल्प मात्र है । यही निर्विशेष निरवस्थ ब्रह्म जीव का प्रत्यगात्मभूत है, तथा जीव का `जीवत्व` वास्तविकता नहीं, वरन् मायाजनित भ्रम है । यह निर्विशेष ब्रह्म दर्शन का चरमसत्य है, किन्तु जब तक व्यवहार की परिधि में नहीं आता, इसके द्वारा मानव का कल्याण असम्भव है । इस तथ्य से शंकर भली भांति परिचित थे, अत: उपनिषदों के सविशेष वस्तुपरक वाक्यों के आधार पर उन्होंने सगुण ईश्वर की स्थापना की । यह ईश्वर धर्म का सर्वोच्च सत्य है; यही उपासना और आराधना का विषय है । यह ईश्वर ही मायापति तथा विश्व का कर्ता, नियन्ता तथा संहर्ता है । ईश्वर, किन्तु, अन्तिम सत्य नहीं है । अन्तिम सत्य तो निर्विशेष ब्रह्म ही है । ईश्वर विश्व का सत्य होने से उतना ही मायिक है, जितना स्वयं विश्व । इस तरह पारमार्थिक सत्य निर्विशेष ब्रह्म है तथा व्यावहारिक सत्य सविशेष ईश्वर । इस सिद्धान्त में माया की इतनी प्रमुख भूमिका होने से ही यह `मायावाद` के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।

इस भांति शंकर ने अपने अद्वैत सिद्धान्त में उपनिषदों के गूढ़ और आत्मनिष्ठ चिंतन को दर्शन की आत्मपरक बाह्य निरपेक्ष शैली में प्रस्तुत किया, किन्तु जीवन की नैतिक आवश्यकताओं और व्यवहार के आग्रह को अस्वीकार नहीं किया । जहां एक और उन्होंने निर्विशेष ब्रह्म के द्वारा दार्शनिकों और रहस्यवादियों की तत्त्वान्वेषिणी चेतना को तुष्ट किया, वहीं दूसरी ओर सविशेष ईश्वर के माध्यम से जन-मानस की अनुरागात्मिका भावनाओं की भी तृप्ति की । शंकराचार्य का अद्वैत असाधारण रूप से लोकप्रिय हुआ और उसने सही अर्थों में युग का दिशा-निर्देश किया । शंकर के भगीरथ प्रयत्नों से ब्राह्मण धर्म फिर से अपनी खोई हुई प्रतिष्ठा प्राप्त कर सका । शंकर के अनुभूति-समृद्ध सिद्धान्त तथा समर्थ तर्कबल ने अन्तत: बौद्ध प्रभाव को अपदस्थ कर ही दिया ।

शंकर का दृष्टिकोण यद्यपि अत्यन्त विस्तृत और उदार था, तथापि उनका सिद्धांत अपनी बाह्य-निरपेक्ष आत्मप्रवणता के कारण इतना सूक्ष्म और अमूर्त हो गया कि दार्शनिक गवेषणा की चरम उपलब्धि होने पर भी वह जीवन का स्पन्दन नहीं बन सका । वह एक ऐसी ऊंचाई थी, जिसपर सामान्य व्यक्ति पहुंच ही नहीं सकता । यों भी शांकर अद्वैत मानवीय मूल्यों पर एक बड़ा प्रश्नचिन्ह था । उसमें वैयक्तिकता के लिए कोई अवकाश नहीं था; खुद को पाने के लिए खुद को खोना पड़ता था । मानव का अस्तित्व और उसकी अपेक्षाएं सब कुछ आविद्यक घोषित कर दी गईं । उसके भावनात्मक मूल्य; उसकी भक्ति और समर्पण; ईश्वर के साथ उसकी घनिष्ठ और प्राणवान आत्मीयता, निराकार निर्विशेष ब्रह्म के समक्ष अर्थहीन आत्म-प्रवंचनाएं बनकर रह गईं ।

इस अवास्तविकता की प्रतिक्रिया में शैव, शाक्त और वैष्णव धर्मों का उत्थान प्रारम्भ हुआ । ये सभी ईश्वरवादी धर्म थे और इनका अपना दर्शन भी था । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि इनकी दृष्टि बहुत सम्यक और उपयोगी थी । इन्होंने मानव की वैयक्तिकता अस्वीकार नहीं की,

मानव-मुल्यों को भी अस्वीकार नहीं किया, किन्तु इस तरह संस्कृत कर उन्हें ग्रहण किया कि वे अति-मानवीय हो गए। इन धर्मों में भक्ति और प्रपत्ति को ज्ञान और कर्म की अपेक्षा अधिक महत्त्व दिया गया। ईश्वर में सर्वातिशायी प्रेम और उसके प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण-- बस ये ही इनकी प्रथम और अन्तिम अपेक्षाएं हैं। जाति,वर्ग और सामाजिक स्तर को अपेक्षाकृत बहुत कम महत्त्व मिला : विश्व प्रभु की रचना,हम सब उसकी सन्तान हैं और पिता की दृष्टि में द्वैत नहीं होता।

शाक्त,शैव और वैष्णव अथवा भागवतधर्मों में से भागवत धर्म सर्वाधिक लोकमान्य हुआ,क्योंकि शाक्त धर्म धीरे-धीरे अपनी तान्त्रिक प्रक्रियाओं में फंस गया, और शैव धर्म दक्षिण तक ही सीमित रहा। केवल भागवत धर्म ही ऐसा था, जो दक्षिण से उठकर समस्त उत्तरांचल में फैल गया और जिसने विविध विचारधाराओं से समन्वित होकर उस व्यापक वैष्णवधर्म का रूप ले लिया, जिसे हम आज हिन्दू धर्म के रूप में जानते हैं। विश्व के सभी महान धर्मों की तरह वैष्णवधर्म भी अपने स्वरूप में समन्वयात्मक और अनेक विश्वासों का मिलन-स्थल है। इस वैष्णवधर्म में अनेक संप्रदाय हुए,जिनमें से चार प्रमुख हैं। ये हैं -- रामानुजाचार्य का श्रीसम्प्रदाय, मध्व का ब्रह्मसम्प्रदाय, विष्णुस्वामी का रुद्रसम्प्रदाय तथा निम्बार्क का सनकादिसम्प्रदाय। सिद्धान्तों में कुछ विशिष्ट अन्तर होते हुए भी इनकी मुलभुत मान्यताएं एक-सी ही हैं-- सभी ब्रह्म को सविशेष और साकार स्वीकार करते हैं; जीव की वैयक्तिक सत्ता को मान्यता देते हैं;तथा मोक्ष अथवा चरम पुरुषार्थ का स्वरूप जीव का ब्रह्म में लय नहीं, अपितु जीव और ब्रह्म का नित्य सान्निध्य स्वीकार करते हैं। आगे चलकर वैष्णवधर्म की दो प्रमुख शाखाएं हो गईं-- रामभक्ति-शाखा और कृष्णभक्ति-शाखा। इनके अन्तर्गत,विशेषत: कृष्णभक्ति-शाखा के अन्तर्गत विपुल साहित्य की रचना हुई,जो कृष्ण-भक्तिपरक दर्शन से प्रेरित और प्रभावित रहा।

वैष्णवधर्म और दर्शन के क्षेत्र में सबसे बड़ा नाम है आचार्य रामानुज का। यों तो रामानुजाचार्य के पूर्व श्रीनाथमुनि तथा यामुनाचार्य वैष्णवधर्म के प्रचार प्रसार के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कार्य कर चुके थे, किन्तु दर्शन के क्षेत्र में इसे मान्यता और प्रतिष्ठा रामानुजाचार्य ने ही दिलाई। रामानुज ने जो सबसे महत्त्वपूर्ण कार्य किया है, वह है दर्शन और धर्म का समन्वय। शंकर की भांति उन्होंने दर्शन और धर्म के आदर्श भिन्न-भिन्न नहीं रखे, ब्रह्म और ईश्वर में कोई भेद नहीं किया। जो दर्शन का सत्य है, वही धर्म का आदर्श है। भक्ति-सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिष्ठा दिलाने वाले ये सर्वप्रथम आचार्य हैं। वैष्णव-आचार्यों में रामानुज की स्थिति विशेष महत्त्वपूर्ण है, उन्होंने सभी वैष्णव-आचार्यों और दार्शनिकों, यहां तक कि रामानन्द,कबीर और नानक के आंदोलनों पर भी गहरा प्रभाव छोड़ा। विशेषरूप से उनकी धार्मिक मान्यताएं वैष्णवदृष्टिकोण को इतनी

समग्रता के साथ प्रस्तुत करती हैं कि बाद के वैष्णव-दार्शनिकों ने बहुत बड़ी सीमा तक उनका ही अनुसरण किया है । रामानुजाचार्य की विशेषता यह है कि भक्त होते हुए भी उन्होंने दार्शनिक के उत्तरदायित्व का निर्वाह बहुत अच्छी तरह किया है ।

रामानुज के साथ उस महान धर्म-प्रवण दार्शनिक परम्परा का प्रारम्भ होता है, जिसने शताब्दियों तक व्यक्ति और समाज का संस्कार किया । यह शक्तिशाली परम्परा है, वैष्णव धर्म और दर्शन की । हिन्दू दर्शन के विकासक्रम और प्रवृत्तियों की इस समीक्षा के पश्चात् हम वैष्णवदर्शन और धर्म के स्वरूप पर विचार करने की स्थिति में आ जाते हैं । हमारे सामने वे सारे सैद्धान्तिक मूल्य और मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ स्पष्ट हैं, जिनके परिप्रेक्ष्य में इसे देखा जाना चाहिए।

वैष्णव-धर्म का स्वरूप जन-आन्दोलन का था । इस धर्म में भक्ति का सर्वातिशायी महत्त्व होने के कारण इसे `भक्ति-आन्दोलन` का नाम भी दिया गया । नवीं शताब्दी से लेकर सोलहवीं शताब्दी तक का धार्मिक इतिहास भक्ति-आन्दोलन का ही इतिहास है । जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वैष्णव-धर्म स्वरूप में प्राचीन बौद्धधर्म की भांति सुधारवादी और मानवता-प्रिय रहा है । इस सहृदय और भावुक धर्म ने मानवमात्र के कल्याण के लिए प्रयत्न किया और व्यक्ति तथा समाज का जितना अधिक संस्कार इसके द्वारा हुआ, उतना अन्य किसी धर्म के माध्यम से सम्भव न हो सका । मध्ययुग में हमें जिस परिनिष्ठित वैष्णवधर्म के दर्शन होते हैं,वह भागवतधर्म, पुराण-दर्शन और आलवार-भावना का एक समीकरण है । ये तीनों वैष्णव-धर्म के प्रमुख घटकावयव हैं । भागवतधर्म ने आराध्य श्रीकृष्ण दिए, पुराणों ने उनका शृंगार किया और आलवारों ने उन्हें देखने की भक्ति-विह्वल दृष्टि दी । वैष्णव-धर्म के स्वरूप और प्रवृत्तियों को समझने के लिए उसके इन तीन स्रोतों पर विचार करना आवश्यक है, अत: यहां उनका संक्षिप्त परिचय दिया जा रहा है ।

(क) भागवत धर्म

भागवत धर्म का उल्लेख ४००-५०० ई०पू० से बहुत स्पष्टरूप में मिलना प्रारम्भ हो जाता है । पाणिनि की `अष्टाध्यायी` के ४-३-९८ सूत्र पर व्याख्या करते हुए पतंजलि सूत्र में आए `वासुदेव` नाम का अर्थ `पूजनीय` अर्थात् ईश्वर करते हैं । इस आधार पर यह सिद्ध होता है कि वासुदेव की उपासना पाणिनि के समय में भी प्रचलित थी । नानघाट के शिला-लेख से पता चलता है कि ईसा की प्रथम शती के पूर्व ही दक्षिण भारत में भागवत धर्म का पर्याप्त प्रचार और प्रसार हो चुका था । वेसनगर के ई०पू० द्वितीय शती के पूर्वार्द्ध के एक शिला-लेख में हेलियोडोर नामक एक ग्रीक राजदूत ने स्वयं को `भागवत` कहा है, इस बात का भी उल्लेख किया है कि उसने

वासुदेव के सम्मान में `गरुड़ध्वज` का निर्माण कराया है। वासुदेव की उपासना का उल्लेख मेगस्थनीज़ ने भी किया है,जो प्रथम मौर्य-सम्राट चन्द्रगुप्त के यहां मकदुनिया का राजदूत था। इन साक्षियों के आधार पर यह निश्चित है कि ई०पू० तीसरी या चौथी शताब्दी में एक ऐसे धर्म की पूर्ण स्थापना हो चुकी थी, जिसके आराध्य वासुदेव थे और जिसके मानने वाले स्वयं को `भागवत` कहते थे।

इस धर्म की आराध्य-भावना का विकास अपने-आप में अत्यन्त रोचक है। पहले इस धर्म में परमसत्ता का निर्देश करने वाला एक ही नाम था-- वासुदेव,किन्तु बाद में नारायण,हरि, कृष्ण आदि अन्य नाम भी आ जुड़े। परवर्तीकाल में तो कृष्ण ही सर्वाधिक लोकप्रिय नाम हो गया। भागवत धर्म के साहित्य के आधार पर कहा जा सकता है कि वासुदेव वृष्णिवंशीय क्षत्रिय थे: अभिलेखों में उनके नाम के साथ बलदेव तथा संकर्षण के नामों का संयुक्त होना इस तथ्य की पुष्टि करता है। सर भण्डारकर का मत है कि वासुदेव वृष्णिवंश के महापुरुष थे और इनका समय लगभग छः सौ ई०पू० था। इन्होंने ईश्वर के एकत्व का प्रचार किया। इनकी मृत्यु के पश्चात् इनके वंशजों अथवा इस धर्म के अनुयायियों ने इन्हें ही ब्रह्म स्वीकार कर लिया। भगवद्गीता इसी कुल का ग्रन्थ है[1]। महाभारत के नारायणीयोपाख्यान में इस भागवत या `एकान्तिक` धर्म का विशद व्याख्यान किया गया है। वहां इस धर्म को सात्वतों का धर्म कहा गया है। सात्वत वृष्णि जाति का ही नाम था: वासुदेव,संकर्षण, अनिरुद्ध और प्रद्युम्न इसके सदस्य थे। अत: यह धर्म `सात्वत धर्म` भी कहलाता है। नारायणीय में वासुदेव और नारायण की एकता प्रतिपादित की गई है।नारायण की धारणा वासुदेव से प्राचीन है। वेदों में नारायण अन्तरिक्षीय देवता हैं। नारायण के स्वरूप का विकास परवर्ती ब्राह्मणों और आरण्यकों में विशेष रूप से हुआ। तैत्तिरीय आरण्यक में उनके विषय में वे सभी विशेषण प्रयुक्त किए गए हैं, जो उपनिषदों में ब्रह्म के साथ संयुक्त हैं। महाभारत एवं पुराणों में वे परमेश्वर के रूप में सामने आते हैं। जब वासुदेव ईश्वरत्व के पद पर अधीष्ठित हुए तो नारायण की भावना को भी उनसे संयुक्त कर दिया गया। नारायण के सम्बन्ध से यह धर्म `नारायणी` धर्म भी कहलाया। शतपथब्राह्मण में इस बात का उल्लेख है कि नारायण ने पांच दिनों तक चलने वाले`पंचरात्र`यज्ञ का अनुष्ठान किया था, इसलिए इस धर्म का एक नाम`पांचरात्र धर्म` भी है।

इसी प्रकार विष्णु की धारणा भी वासुदेव से संयुक्त हो गई। गीता में नारायण तथा वासुदेव एवं विष्णु तथा वासुदेव की एकता विशेष स्फुट नहीं है,किन्तु महाभारत के नारायणीय अंश तथा भीष्म और शान्तिपर्व में बहुत स्पष्ट है। विष्णु ऋग्वेद में अपेक्षाकृत गौण देवता हैं,किन्तु ब्राह्मणकाल में अधिक महत्वपूर्ण हो गए हैं। महाभारत- पुराण-काल में विष्णु प्रत्येक अर्थ

---

१ सर आर०जी० भण्डारकर : `वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स`। पृ०११

में सर्वोच्च सत्ता और ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित हो गए और उनका तथा वासुदेव का एकत्व स्वीकार कर लिया गया ।

इन सब के साथ-साथ ईश्वर का एक बहु-प्रयुक्त नाम श्रीकृष्ण भी मिलता है । मध्ययुगीन वैष्णवधर्म में तो भगवान का सर्वाधिक लोकप्रिय रूप कृष्ण का ही है । श्रीकृष्ण की भावना के विकास का इतिहास भी अत्यन्त रोचक है । कृष्ण एक वैदिक ऋषि का नाम था, जिसने ऋग्वेद के अष्टम मण्डल में कतिपय सूक्तों की रचना की थी । `अनुक्रमणी` का लेखक उसे `आंगिरस` का नाम देता है । इसके पश्चात् कृष्ण छान्दोग्य में `देवकीपुत्र` के रूप में उपस्थित होते हैं, जो घोर आंगिरस के शिष्य हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि ऋग्वेद के समय से छान्दोग्य के समय तक कृष्ण के विषय में एक किंवदन्ती चली आती रही होगी, जब वासुदेव देवत्व के पद पर अधीष्ठित हुए तो कृष्ण से उनका साम्य स्थापित हो गया । कृष्ण और वासुदेव के एकत्व का कारण वह भी हो सकता है, जो गाथाओं के टीकाकार ने दिया है । कृष्ण अथवा कार्ष्णायिन एक गोत्र-नाम था और कृष्ण इसके आदिपुरुष थे । यद्यपि यह एक ब्राह्मण-गोत्र था, तथापि यज्ञ करते समय क्षत्रियों द्वारा भी धारण किया जा सकता था । वृष्णिवंशीय वासुदेव का गोत्र भी कार्ष्णायिन रहा होगा, अत: वे भी `कृष्ण` कहलाते रहे होंगे । कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध होने के कारण वैदिक ऋषि का समस्त ज्ञान तथा छांदोग्य के कृष्ण का देवकीपुत्रत्व भी उनपर आरोपित हो गया । यही कारण है कि सभापर्व में श्रीकृष्ण को सर्वोच्च सम्मान देने का कारण बतलाते हुए भीष्म कहते हैं कि कृष्ण वेद-वेदांगों के ज्ञाता होने के साथ `ऋत्विक्` भी हैं ।

अब तक जिन साक्ष्यों की चर्चा की गई है, उनमें गोपालकृष्ण का कोई उल्लेख नहीं है । नारायणीय और गीता में ऐसे किसी देव की चर्चा तक नहीं है, इसके विपरीत हरिवंशपुराण, वायुपुराण तथा भागवतपुराण में कंसवध के साथ गोकुल में किए गए विभिन्न दैत्यों के वध को भी कृष्णावतार का प्रयोजन बताया गया है । इन पुराणों के रचना-काल के पूर्व हीगोपालकृष्ण की कथाएं प्रचलित हो गई रही होंगी तथा वासुदेवकृष्ण से गोपालकृष्ण का साम्य भी स्थापित हो गया रहा होगा । गोपालकृष्ण की भावना का विकास करने में हरिवंशपुराण का विशेष योगदान रहा । यह पुराण ईसा की तीसरी शती में लिखा गया है, अत: गोपालकृष्ण की जनश्रुतियां ईसा की पहली या दूसरी शती में ही प्रचलित हुई होंगी । सर भण्डारकर के अनुसार ब्रज और वृन्दावन केन्द्र में दूसरी और तीसरी शती में आभीर जाति रहा करती थी । गोपाल इसी आभीर जाति के देवता थे । आभीर जाति ने महाराष्ट्र के उत्तर में स्वतन्त्र राज्य की भी स्थापना की थी । यह जाति अपने साथ गोपालकृष्ण को ईश्वर के रूप में लाई थी: इन्हीं कृष्ण को आभीर जाति ने अपने महत्त्व से उपनिषद् और महाभारत के वासुदेवकृष्ण से सम्बद्ध कर दिया । इस प्रकार वासुदेवकृष्ण जो अब तक ब्रह्म या ब्रह्म के

अवतार थे, वे गोपाल के रूप में परिवर्तित हो गए और गोकुल के कृष्ण की बाल-लीलाएं वासुदेव-कृष्ण की बाल-लीलाएं बन गईं[१]। इस प्रकार विभिन्न देव-धारणाओं से संयुक्त, सभी की विशेषताओं से समन्वित श्रीकृष्ण का जो व्यक्तित्व उभरा, उसका पूर्ण निदर्शन श्रीमद्भागवतपुराण में मिलता है। मध्ययुगीन वैष्णवधर्म में ये पूर्ण-पुरुष परब्रह्म श्रीकृष्ण ही आराध्य के रूप में सामने आते हैं।

नारायणीयोपाख्यान में आए नारद तथा वसुउपरिचर के आख्यान, भगवद्गीता तथा भागवतधर्म के अन्यान्य ग्रन्थों के आधार पर इस धर्म की प्रमुख मान्यताएं इस प्रकार हैं-- विश्व का सर्वोच्च सत्य देवाधिदेव वासुदेव हैं। इनकी कृपा ही परमसाध्य है। भगवान् वासुदेव की कृपा न तो शुष्क कर्मकाण्ड से प्राप्त हो सकती है न ही भावहीन तपस्या से : सर्वात्मना आत्मसमर्पणपूर्वक इनकी जो भक्ति है, वही इनका अनुग्रह प्राप्त कराने में समर्थ है। भक्ति के इस एकांतिक रूप की प्रतिष्ठा भगवद्गीता में हुई है।

यद्यपि इस धर्म में वैदिक कर्मकाण्ड का विशेष पोषण नहीं हुआ है, तथापि उसे अस्वीकार भी नहीं किया गया है, इतना अवश्य है कि पशु-हिंसा को मान्यता नहीं मिली है। यह प्रवृत्ति बौद्ध धर्म के बहुत समीप है, किन्तु बौद्धधर्म से सबसे बड़ी भिन्नता यह है कि बौद्धधर्म में ईश्वर को स्वीकार नहीं किया गया है, जब कि भागवतधर्म में ईश्वर ही सबसे बड़ा नैतिक और धार्मिक आदर्श है। बौद्धधर्म के विपरीत इसमें वेदों तथा आरण्यकों आदि की प्रामाण्यवत्ता भी स्वीकार की गई है। मूल वैदिक धर्म तथा जैन और बौद्ध धर्म से भागवतधर्म का सबसे बड़ा अन्तर यह है कि भागवतधर्म में मूर्तिपूजा की मान्यता है। महाभारत में सात्वत कर्मकाण्ड का उल्लेख है, जिसके अनुसार विष्णु की पूजा होती थी। इस धर्म का विपुल धार्मिक साहित्य भी है, जो पांचरात्र-आगमों के नाम से जाना जाता है।

इस धर्म में जाति का विशेष बन्धन नहीं है, यह पहले ही कहा जा चुका है। इन सब बातों की चर्चा करना यहां इसलिए आवश्यक समझा गया, क्योंकि मध्ययुगीन वैष्णवधर्म में ये सारी प्रवृत्तियां अविकल रूप में दिखाई पड़ती हैं। उसकी मान्यताएं और मनोविज्ञान भागवतधर्म के ही द्वारा प्रेरित हैं।

(ख) आलवार साहित्य

उत्तरभारत की भक्ति-परम्परा को आलवारों की काव्य-परम्परा ने भी बहुत अधिक प्रभावित किया है। आलवार दक्षिण भारत के भक्त-कवि थे। ये भागवतधर्म के

१ सर आर०जी० भण्डारकर : "वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स", पृ०३५-३६।

अनुयायी थे। दक्षिणभारत में और परम्परया उत्तरभारत में भी भागवतधर्म के प्रचार और प्रसार का बहुत अधिक श्रेय इन्हें ही है। इन्होंने भक्ति को दर्शन के रूक्ष कलेवर या धार्मिक सम्प्रदाय की निश्चित सीमाओं में प्रस्तुत नहीं किया, अपितु काव्य की सरसता और कल्पनाशीलता के साथ लोगों के सामने रखा, और इसीलिए भक्ति-आन्दोलन इतना सफल और लोकप्रिय रहा कि जन-आंदोलन बन गया।

आलवारों का समय थोड़ा विवादास्पद है। इनकी परम्परा के अनुसार इनका समय ईसापूर्व चौथी शताब्दी से दूसरी शताब्दी तक का है, किन्तु आधुनिक शोध के परिप्रेक्ष्य में ये तिथियां भ्रामक सिद्ध हो गई हैं। विभिन्न विद्वान् इनका समय ईसा की चौथी शती से प्रारम्भ कर ईसा की नवीं शती के मध्य मानते हैं। जो हो, सामान्यरूप से इनका समय ईसा की चौथी-पांचवीं शती ही स्वीकार किया जाता है।

आलवारों की रचनाएं तमिल भाषा में लिखी गई हैं। इन रचनाओं का संकलन श्रीनाथमुनि ने 'नालायिरदिव्यप्रबन्धम्' के नाम से किया है। तमिल देश में यह अत्यन्त समादृत धार्मिक ग्रन्थ है तथा इसे भी उतनी ही मान्यता प्राप्त है, जितनी वेदों को। आलवारों की रचनाएं श्रीविष्णु के प्रति अनन्य और समर्पित प्रेम से ओत-प्रोत हैं। यही आत्मार्पित प्रेम परवर्ती प्रपत्ति-भावना का आधार और मूल तत्त्व है। आलवारों की रचनाएं भक्ति की आत्मविस्मृत तन्मयता लिए हुए हैं, उनमें तत्त्व के दार्शनिक विश्लेषण के लिए स्थान नहीं है : तब भी कहीं-कहीं स्वरूपानुभूति के वर्णन में स्फुट दार्शनिक उक्तियां मिल जाती हैं। स्वयं रूढ़ अर्थ में दार्शनिक न होते हुए भी आलवारों ने परवर्ती कृष्णभक्ति धारा के दर्शन को प्रभावित किया है।

इन आलवार-भक्तों ने भगवान को अपने प्रेमी तथा स्वयं को उनकी प्रेमिका के रूप में स्वीकार कर उनकी भक्ति की है। भगवान के प्रति इनका प्रेम उतना ही उद्दाम, समर्पित, और व्याकुल है, जितना किसी प्रेमिका का अपने प्रेमी के प्रति होता है। नाम्म अलवार के अनुसार जो भक्ति के आवेगपूर्ण आत्मसमर्पण से युक्त होते हैं, वे ईश्वर को अत्यन्त सरलता से प्राप्त कर लेते हैं। भगवत्कृपा ही मुक्ति का एकमात्र साधन है तथा इसके लिए जीवकृत किसीसाधन की अपेक्षा नहीं है, आत्मसमर्पण ही पर्याप्त है। आलवारों के अनुसार ईश्वर की कृपा का एकमात्र नियामक भगवान का अनुग्रह है : यह भगवदनुग्रह सर्वातिशायी भक्ति के रूप में ही अभिव्यक्त होता है। आगे चलकर हम देखेंगे कि यह सिद्धान्त वैष्णवदर्शन में अविकल रूप से वर्तमानम है। धर्म के बाह्य आडम्बर का विरोध करते हुए इन्होंने कहा कि दास्य भावना की अनुभूति अथवा अभिव्यक्ति के लिए विभिन्न सामग्रियों तथा उपकरणों से युक्त विस्तृत पूजा-विधियों की आवश्यकता नहीं है, केवल आस्था और भक्ति की ही अपेक्षा है। विरह की जो भावना कृष्णभक्तिधारा में इतनी महत्त्वपूर्ण है,

उसका भी अस्तित्व आलवारों की भक्ति में है । प्रेम की भावना कभी मिलन के संतोष तो कभी विरह की वेदना के रूप में अभिव्यक्त होती है । आलवारों के काव्य में कांतासक्ति की भावना सर्वाधिक प्रमुख है ।

आलवारों की भक्ति-रचनाएं कृष्ण-कथा के विभिन्न प्रसंगों से घनिष्ठरूप से संबद्ध हैं । कृष्ण को समर्पित उनके काव्य में वात्सल्य, सख्य, दास्य और माधुर्यभाव की सुन्दर व्यंजना हुई है । आलवारों की सबसे बड़ी विशेषता है--साधारणीकरण की प्रवृत्ति : वे कृष्णकथा के चरित्रों से भावात्मक ऐकात्म्य स्थापित कर उन चरित्रों के मनोविज्ञान को अपने मनोविज्ञान के रूप में स्वीकार कर लेते हैं । भागवत के एकादश और द्वादश स्कन्ध में भावतीव्रताजन्य उन्मत्तता का वर्णन है, किन्तु किसी भी भक्त का कृष्ण-कथा के चरित्रों से साधारणीकरण तथा उसके माध्यम से प्रेम की अभिव्यक्ति की बात नहीं है । विष्णु ,हरिवंश तथा भागवतपुराणमें वर्णित प्रेमकथाएं श्रीकृष्ण के जीवन की घटनाएं मात्र हैं, जो भक्तों के प्रेम-भाव को अधिकाधिक दृढ़ और पुष्ट करती हैं : किन्तु श्रीकृष्ण की कथा का भक्तों पर इतना प्रभाव पड़े कि वे कथा-चरित्रों के साथ एकात्म हो जायें, उनका मनोविज्ञान बदल कर उन पात्रों का मनोविज्ञान हो जाय और उन विशिष्ट पात्रों की प्रेमाभिव्यक्ति स्वयं उनकी प्रेमाभिव्यक्ति बन जाय-- यह आध्यात्मिक अनुभूति के इतिहास में अभूतपूर्व घटना थी । आलवार काव्य में हम पहली बार उस भावात्मक रूपान्तरण की प्रवृत्ति देखते हैं, जो बंगाल के गौडीय सम्प्रदाय में अपनी पूर्णता पर पहुंची । आलवारों की प्रेम-भावना हमें भौतिक प्रेम की शब्दावली में आध्यात्मिक प्रेम की अर्थाभिव्यक्ति मिलती है[१]।

इस भांति आलवार काव्य में सामान्यत: उन सभी प्रवृत्तियों के दर्शन होते हैं,जो मध्ययुगीन वैष्णव भक्तिधारा की विशेषताएं हैं । विष्णु अथवा श्रीकृष्ण के प्रति अनन्य आसक्ति, निस्साधन निर्हेतुकभक्ति , पूर्ण आत्मसमर्पण तथा मानवीय सम्बन्धों के रूप में अभिव्यक्त होने वाला प्रेमानुराग -- मध्ययुग की वैष्णव भक्तिधारा के ये सभी तत्त्व आलवार दर्शन में विद्यमान हैं । उत्तर-भारत का भक्ति-आन्दोलन अपने विश्वासों और निष्ठाओं के लिए बहुत बड़ी सीमा तक आलवारों का ऋणी है ।

(ग) पुराण

न केवल उत्तर भारत के भक्ति-आन्दोलन को,अपितु समस्त हिन्दू धर्म को पुराणों की विचारधारा ने बहुत अधिक प्रभावित किया है । आज हिन्दू धर्म की जो आराध्य भावना है, उसके निर्माण में पुराणों का योगदान अत्यन्त महत्वपूर्ण और निर्णायक रहा है ।

डा० एस०एन०दास गुप्त :"ए हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी",भाग२, पृ०६९-८४ ।

पुराणों ने उपनिषदों के अमूर्त तत्त्ववाद को एक विशिष्ट रूपाकार देकर उसे जन-सामान्य के लिए ग्राह्य बना दिया । गुणातीत ब्रह्म की अविकल अनुभूति देह,मन,प्राण की अवर चेतनाओं में बंधे सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव थी, उसे तो ऐसे आराध्य की आवश्यकता थी,जो उसकी सीमित क्षमताओं की परिधि में आ सके और उसके पंकिल जीवन को अपने दिव्य स्पर्श सेपापमुक्त कर सके । पुराणों के अवतारवाद ने उसे ऐसा ही आराध्य प्रदान किया, जो स्वयं असीम होकर भी उसके कल्याण के लिए ससीम बनने को प्रस्तुत है ।

पुराणों ने प्रतीकों और कथाओं के माध्यम से ईश्वर,जीव,सृष्टि और व्यवहार सम्बन्धी सिद्धान्त लोगों के सामने रखे । पुराणों में सांख्य और वेदान्त दर्शनों की मान्यताओं का प्रतिपादन विशेषरूप से हुआ है । पुराणों का प्रयोजन था तत्कालीन नास्तिक प्रभावों का यथासंभव उन्मूलन करना, अत: सभी पुराण ईश्वरवादी हैं तथा ईश्वर,चित् और अचित् का भेद स्वीकार करते हैं । जगत की सत्यता में उनका विश्वास है और वे उसके मायिकत्व का उल्लेख खण्डन करने के लिए ही करते हैं । पुराणों ने स्पष्टरूप से वैदिक कर्मकाण्ड की उपेक्षा कर मूर्तिपूजा और भक्ति की स्थापना की है ।

सामान्यरूप से हिन्दू-पुराणों की `ब्राह्म`,`शैव`,`शाक्त`, और `वैष्णव` -- ये चार कोटियां निर्धारित की जा सकती हैं । यह वर्गीकरण आराध्य-भेद से है । अन्यथा मनोविज्ञान दृष्टि और शैली सभी की लगभग एक-सी ही है । मध्ययुग में सर्वाधिक महत्त्व भागवतधर्म को ही मिला है । अत: अधिकांश पुराणों में वैष्णव धर्म की प्रतिष्ठा हुई है । भागवत धर्म वैष्णव धर्म का ही पूर्व-नाम है, जिसका मूल तत्त्व भक्ति और आराध्य श्रीविष्णु हैं । भगवान् विष्णु तथा उनके अवतारों की चर्चा ही वैष्णव-पुराणों का विषय रहा है । श्री विष्णु के अवतारों में कृष्णावतार ने सर्वाधिक लोकप्रियता अर्जित की तथा मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन में कृष्णावतार की ही विशेष प्रतिष्ठा हुई। लगभग सभी वैष्णव पुराणों में कृष्णचरित का वर्णन है ।

जिस पुराण में मध्ययुगीन भक्ति-आन्दोलन को सर्वाधिक प्रभावित किया, वह है श्रीमद्भागवतपुराण । भागवत के अतिरिक्त विष्णु,हरिवंश आदि पुराणों का भी यथेष्ठ प्रभाव है । सर भण्डारकर के अनुसार गोपालकृष्ण की भावना का विकास करने में हरिवंशपुराण का विशेष योगदान है । इस पुराण में श्रीकृष्ण की व्रजलीलाओं का बड़ा मनमोहक वर्णन है । इसके अतिरिक्त अग्निपुराण, ब्रह्मवैवर्त पुराण, कूर्म पुराण आदि में भी कृष्ण-कथा का वर्णन है,किन्तु इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है भागवतपुराण । यह पूरा-का-पूरा श्रीकृष्ण-रस में ओत-प्रोत है तथा कृष्णभक्ति धारा के दार्शनिक मतवादों तथा धार्मिक मान्यताओं का प्रमुख उपजीव्य ग्रन्थ है । वल्लभाचार्य ने भागवत को प्रस्थानत्रयी में जोड़कर `प्रमाण-चतुष्टय` स्वीकार किया है, उनके अनुसार

तो श्रीमद्भागवत ही परम प्रमाण हैं। यहां श्रीमद्भागवत पर कुछ विस्तार से विचार करना अनुचित नहीं होगा, क्योंकि उसकी विचारधारा से परिचित हुए बिना मध्ययुग के भक्ति-सम्प्रदायों का मनोविज्ञान और दर्शन समझ पाना असम्भव है।

अधिकांश विद्वानों का मत है कि श्रीमद्भागवत नवीं शताब्दी की रचना है। तमिल वैष्णवों के उल्लेख[1] तथा हूण आदि जातियों के वैष्णवधर्म स्वीकार करने के संकेतों[2] से ज्ञात होता है कि भागवत का रचनाकाल पांचवीं शती से पूर्व का नहीं है। ६०० ई० को इसके रचनाकाल की निम्न सीमा-रेखा माना जा सकता है।[3] इस विषय में सन्देह नहीं है कि इसका परिनिष्ठित रूप नवीं शती के उत्तरार्द्ध तक प्रस्तुत हो चुका था।

भागवत सही अर्थों में एक वैष्णव-पुराण है। भागवतधर्म का विशिष्ट तत्त्व भक्ति इसका मेरुदण्ड है और श्रीकृष्ण इसके परम आराध्य हैं। दर्शन, धर्म और साहित्य तीनों ही क्षेत्रों में इसका प्रभाव और योगदान अभूतपूर्व और अतुलनीय है। महत्त्व और लोकप्रियता की दृष्टि से इसे श्रीमद्भगवद्गीता के समकक्ष रखा जा सकता है। यहां कृष्णभक्ति-दर्शन के सन्दर्भ में उसकी दार्शनिक मान्यताओं पर विशेषरूप से विचार किया जा रहा है।

पुराण-शैली के इतिवृत्तात्मक विस्तार और साहित्यिक सरस शैली के बीच भी जो भागवतकार दार्शनिक सन्दर्भों से विरत नहीं हो सके हैं, उसका सबसे बड़ा कारण यह है कि उनके आराध्य श्रीकृष्ण केवल गोपीनायक ही नहीं, अपितु सृष्टि का एक और अद्वितीय आदि तत्त्व भी हैं। उनका प्रयोजन श्रीकृष्ण के चरित्र का वर्णन करना उतना नहीं है, जितना उसके द्वारा श्रीकृष्ण का 'परब्रह्मत्व' सिद्ध करना, यही कारण है कि श्रीकृष्ण की लौकिक लीलाएं भी अलौकिक हैं।

भागवत की सबसे बड़ी विशेषता है-- उसकी समन्वयात्मक प्रवृत्ति। उसे किसी विशिष्ट दार्शनिक मतवाद के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि उसमें अनेक दार्शनिक सिद्धांतों का समन्वय है। पांचरात्र मत तो भागवत का प्रधान सिद्धान्त है ही, इसके अतिरिक्त सांख्य- योग और वेदांत के सिद्धांतों का भी ग्रहण किया गया है: फिर भी भागवत में दो सिद्धांत सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं और अन्य सभी सिद्धांत इनके अनुकूल हैं। ये दो सिद्धांत हैं, अद्वैत और भक्ति के। भागवत को भक्तिसमन्वित अद्वैत का ग्रन्थ कहा जा सकता है, उसमें अद्वैत और भक्ति दोनों की ही अपेक्षाएं पूरी की गई हैं।

----

१ श्रीमद्भागवत--११-५-३८-४०।

२ "किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुल्कसा
आभीरकंकायवना: खसादय: ।
येऽन्येऽत्र पापा: यदुपाश्रयाश्रया:
शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम:।। -- श्रीमद्० २|४|१८

३ (क) डा० एस०एन० दास गुप्त : 'ए हिस्ट्री आफ़ इण्डियन फ़िलासफ़ी', भाग४, पृ०१।
(ख) डा० हरवंशलाल शर्मा : 'भागवत-दर्शन', पृ०८५।

एक और अद्वितीय तत्त्व की स्थापना कर अद्वैत की प्रतिष्ठा तो की ही गई है, साथ ही उस एक और अद्वितीय तत्त्व का स्वरूप ऐसा स्वीकार किया गया है, जिसमें भक्ति की सुकुमार और कोमल भावनाओं के लिए पूरा अवकाश है। भागवत का चरम प्रतिपाद्य अद्वैतपर्यवसायी तत्त्वज्ञान ही है : शुकदेव ने राजा परीक्षित को यही उपदेश दिया है--

`अहं ब्रह्म परं धाम ब्रह्माहं परमं पदम् ।
एवं समीक्षन्नात्मानमात्मन्याधाय निष्कले ।।
दशन्तं तक्षकं पादे लेलिहानं विषाननैः ।
न द्रक्ष्यसि शरीरं च विश्वं च पृथगात्मनः।।`

(श्रीमद्भा० १२-५-११-१२)

विशेष बात यह है कि इस अद्वैत ज्ञान का सर्वोत्कृष्ट साधन प्रेमलक्षणा भगवद्भक्ति ही है।वस्तुतः भागवत में सभी सिद्धान्तों का पर्यवसान भगवान की अहैतुकी भक्ति में ही किया गया है। वह साधन भी है और साध्य भी : साधन के रूप में वह सर्वाधिक सक्षम साधन है और साध्य के रूप में मुक्ति से भी श्रेष्ठ है -- `अनिमित्ता भागवतीभक्तिः सिद्धेर्गरीयसी ।
जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो तथा ।।` (श्रीमद्भा०३-२५-३३)

सभी एषणाओं और आसक्तियों से रहित चित्त का श्रीकृष्ण की ओर `अविरल-प्रवाह` ही भक्ति है। अविद्या से रहित होते ही भक्त को आत्मस्वरूप तथा भगवत्स्वरूप का ज्ञान हो जाता है। भगवान् के आनन्दरूप होने के कारण उन्हें विषय बनाने वाली यह भक्ति मनुष्य को लोकोत्तर आनंद की प्राप्ति कराती है। वैदिक प्रचोदनाओं के द्वारा धर्म का जो स्वरूप स्थिर किया गया है, वह क्षणिक भौतिक सुखों की ओर ले जाता है : वास्तविक धर्म तो वही है, जो ईश्वर-भक्ति के माध्यम से अन्ततः आत्मज्ञान की प्राप्ति करा सके और ऐसे धर्म को एषणाओं की पूर्ति से परिभाषित नहीं किया जा सकता। इस प्रकार भागवतकार के अनुसार 'अहैतुकी' और 'अप्रतिहता' भक्ति ही सर्वोच्च धर्म है -- ` स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।
अहैतुक्यप्रतिहता ययाऽत्मा सम्प्रसीदति ।।`(श्रीमद्भा०१-२-६)

जिनके प्रति इस भक्ति का विधान किया गया है, वे श्रीकृष्ण ही विश्व का मूल सत्य हैं। भागवत के प्रथम श्लोक में ` सत्यं परम धीमहि` कहकर सत्य-स्वरूप परमात्मा का ध्यान किया गया है।यह परमात्मा सभी सद्रूप पदार्थों में अनुगत है और असत् से पृथक है : चेतन और स्वयम्प्रकाश है।

अपनी माया-शक्ति से यह ब्रह्म स्वयं से ही इस सृष्टि की सर्जना करता है, विश्व की सृष्टि, स्थिति और प्रलय इसके ही द्वारा होते हैं। भागवत में अनेकशः इस बात की पुनरावृत्ति की गई है कि ब्रह्म अपने स्वरूप में विशुद्ध चिन्मय, अखण्ड और सर्वद्वैतरहित है। यह विश्व का अन्तिम सत्य

है, साथ ही विश्व से अतीत भी है। अपनी चित्-शक्ति से यह जीवों को अभिव्यक्ति देता है और अचित्-शक्ति से उनके भोग के लिए इस नामरूपात्मक सृष्टि का विस्तार करता है। इस प्रकार जीव और जड़ दोनों उसकी ही अभिव्यक्तियां हैं, क्योंकि उसके अतिरिक्त विश्व में अन्य कोई तत्त्व नहीं है-- 'अनन्ताव्यक्तरूपेण येनेदमखिलं ततम्।

चिदचिच्छक्तियुक्ताय तस्मै भगवते नमः ।।' (श्रीमद्भा० ७-३-३४)

भागवतकार के अनुसार तत्त्ववेत्ता ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान के भेद से रहित इस अखण्ड और अद्वय ज्ञान को ही 'तत्त्व' कहते हैं, और यही तत्त्व 'ब्रह्म', 'परमात्मा' और 'भगवान्' के भी नामों से जाना जाता है। तत्त्व की इस एकता का प्रतिपादन ही भागवत का एकमात्र उद्देश्य है। 'षट्सन्दर्भ' के अनुसार जब इस एक और अद्वितीय तत्त्व का ग्रहण अमूर्त और अविशिष्ट रूप में होता है, तो यह 'ब्रह्म' कहलाता है और यही तत्त्व जब[1] समस्त शक्ति-वैचित्र्य से युक्त सम्बन्ध-विशिष्ट रूप में गृहीत होता है, तब 'भगवान्' कहलाता है। यद्यपि भागवत में तत्त्व के 'निर्गुण' और 'सगुण' दोनों ही रूपों को स्वीकार किया गया है, तथापि साकार सविशेष रूप अर्थात् 'भगवान्' की ही विशेष प्रतिष्ठा हुई है। इसप्रकार भागवत का 'ब्रह्म' उस अर्थ में निर्विशेष नहीं है, जो अर्थ शंकराचार्य को अभिप्रेत है। जीव भी आविद्यक भ्रम नहीं, अपितु ब्रह्म की अभिव्यक्ति-विशेष है : वह ब्रह्मात्मक है, पर ब्रह्म नहीं है। ऐसी स्थिति में भागवतकार के अनुसार 'अद्वयता' का यही अर्थ है कि परब्रह्म स्वतः सिद्ध सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र है और उसके सदृश अथवा विसदृश अन्य कोई तत्त्व नहीं है। जीव और प्रकृति वास्तविक हैं, किन्तु ब्रह्म की ही अभिव्यक्ति-विशेष होने के कारण तत्त्वान्तर नहीं हैं। इस प्रकार अन्ततः परमवस्तु के प्रति भागवतकार का दृष्टिकोण यही निश्चित किया जा सकता है--

'सगुणो निर्गुणो भावः शून्याशून्यात्मकस्तथा।
लीलाविलासो यस्यैव तं वन्दे बालवत्सपम् ।।

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं : वे दिव्यगुणों से युक्त और अचिन्त्य-अनन्त-शक्तियों के स्वामी हैं। उनका विग्रह दिव्य है और वे दिव्य-वैकुण्ठ में निवास करते हैं। श्रीकृष्ण के गुण, विग्रह, धाम आदि अप्राकृत और भगवदात्मक हैं, अतः उनसे उनके स्वरूप में किसी द्वैतापत्ति की सम्भावना नहीं करनी चाहिए। श्रीकृष्ण अनन्तसुखस्वरूप और परमपुरुषार्थरूप हैं।

भागवतपुराण दशलक्षणात्मक है। श्रीशुकदेव के अनुसार भागवत में दश विषयों का विवेचन है। ये दश विषय हैं-- सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मन्वन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय। 'आश्रय' और 'पोषण' का अर्थ है क्रमशः श्रीकृष्ण और उनका अनुग्रह। श्रीकृष्ण की

1

एकमात्र तत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा अद्वैत की भूमिका प्रस्तुत करती है और अनुग्रह भक्ति की ।

श्रीकृष्ण की भावना का विकास क्रमशः किस प्रकार हुआ, यह भागवतधर्म के संदर्भ में देखा जा चुका है । भागवतपुराण में श्रीकृष्ण का अत्यन्त व्यापक रूप ग्रहण किया गया है । महाभारत में श्रीकृष्ण के राजनीतिक और वीरत्वविधायक स्वरूप की प्रतिष्ठा हुई है : गीता में वे भक्ति, ज्ञान और कर्म का समन्वय करते हुए निष्काम कर्मयोगी के रूप में सामने आते हैं । भागवत में उनका रसिकेश्वर रूप प्रधान है, किन्तु अन्य रूपों की भी प्रतिष्ठा हुई है । वस्तुतः भागवत में महाभारत, गीता, पुराणों तथा कृष्ण सम्बन्धी अन्यान्य ग्रन्थों में प्राप्त कृष्णभावना का समन्वय है । रासलीला-प्रकरण में कृष्ण के योगेश्वर रूप की विशेष प्रतिष्ठा हुई है : उनकी शृंगारिक चेष्टाओं को कामचेष्टायें न मानकर योगमयी पवित्र लीला माना गया है । श्रीकृष्ण का चरित्र प्रायः सभी स्थलों पर अतिमानवीय और अलौकिक है । संक्षेप में यही भागवत की विचारधारा है।

मध्ययुगीन भक्तिदर्शन का सारा मनोविज्ञान भागवत के मनोविज्ञान का अनुसरण करता है । भागवत में जिन व्यापक सिद्धान्तों का विवेचन हुआ है, उन्हें किसी-न-किसी रूप में सभी वैष्णवमतों ने ग्रहण किया है । यही कारण है कि दक्षिण और उत्तरभारत के सभी वैष्णव सम्प्रदायों, विशेषरूप से कृष्णभक्तिसम्प्रदायों के लिए श्रीमद्भागवत एक अपारप्रेरणास्रोत रहा ।

भागवतधर्म, आलवार तथा पुराणों, विशेषरूप से श्रीमद्भागवत की भक्ति-भावना से स्फूर्त और स्पन्दित इस वातावरण में वैष्णवधर्म के अन्तर्गत चतुःसम्प्रदाय तथा उसके बाद रामानन्द, वल्लभाचार्य तथा चैतन्यमहाप्रभु के सम्प्रदायों का जन्म और विकास हुआ । भक्ति-आन्दोलन को प्रभावित करने में चतुःसम्प्रदाय प्रमुख हैं । वैष्णवधर्म का प्रचार-प्रसार करने में तथा उसे लोकप्रिय बनाने में चार महान आचार्यों ने सहयोग दिया । ये चार आचार्य हैं-- रामानुजाचार्य, मध्वाचार्य, विष्णुस्वामी तथा निम्बार्क । इन्होंने क्रमशः श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्र सम्प्रदाय और सनकादि सम्प्रदाय की स्थापना की । इन सभी सम्प्रदायों की अपनी स्वतन्त्र आचारपद्धति तो थी ही, अपने विशिष्ट दार्शनिक सिद्धान्त भी थे । इन आचार्यों के दार्शनिक मत 'वैष्णववेदान्त' के नाम से जाने जाते हैं । यह एक रोचक तथ्य है कि शंकर की भांति ये चारों आचार्य भी दाक्षिणात्य थे । इन चारों सम्प्रदायों का जन्म भी मूलतः दक्षिण में ही हुआ था, किन्तु रामानुजाचार्य के श्रीसम्प्रदाय को छोड़कर अन्य तीनों सम्प्रदायों के क्रिया-कलाप तथा प्रभाव का क्षेत्र प्रमुखतः उत्तरभारत ही रहा। इन चार सम्प्रदायों में से श्रीसम्प्रदाय रामभक्ति तथा अन्य तीन सम्प्रदाय कृष्णभक्ति का आधार बने । अब इन चारों सम्प्रदायों की विचारधारा का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है ।

(१) श्रीसम्प्रदाय : रामानुजाचार्य

इस सम्प्रदाय कीस्थापना आचार्य रामानुज के द्वारा हुई । रामानुज दक्षिण के उन आचार्यों की परम्परा में हैं,जिन्होंने उपनिषद्-दर्शन तथा पांचरात्रधर्म और आलवारों की मान्यताओं का समन्वय किया है । इन्होंने आलवारों की भावविह्वल शब्दावली को शास्त्रीय अर्थ दिए हैं ।

रामानुजाचार्य का जन्म संवत् १०७४ में दक्षिण में परमवट्टूर में हुआ । इन्होंने कांचीवरम् में शंकरमतानुयायी यादवप्रकाश से शिक्षा प्राप्त की, किन्तु उनसे सहमत न हो सके और अन्ततः यामुनाचार्य का शिष्यत्व ग्रहण कर स्वतन्त्र सिद्धान्त का प्रतिपादन किया । नाथमुनि तथा यामुनाचार्य के पश्चात् ये ही अपने सम्प्रदाय के आचार्य हुए ।

रामानुज के दर्शन पर भक्तिप्रधान उपनिषदों,महाभारत,भगवद्गीता,विष्णुपुराण, वैष्णवआगमों तथा आलवारों का प्रभाव स्पष्टरूप से देखा जा सकता है । रामानुजाचार्य ने अपने सिद्धान्तों में उपनिषदों की विचारधारा के साथ वैष्णवभक्तों के भक्त्यनुप्राणित विश्वासों का अद्भुत समन्वय किया है । उपनिषदों के साथ-साथ पांचरात्रआगमों,आलवारों तथा आचार्यों की रचनाओं का भी प्रामाण्य स्वीकार करने के कारण रामानुज 'उभय-वेदान्ती' कहे जाते हैं । इनके अनेक ग्रन्थ हैं,जिनमें से 'वेदार्थसंग्रह', 'श्रीभाष्य', 'गीताभाष्य' विशेष प्रसिद्ध हैं ।

रामानुज के सिद्धान्त की संक्षिप्त रूप-रेखा इस प्रकार है-- रामानुज 'पदार्थत्रितयम्' की स्थिति स्वीकार करते हैं । वे परमवस्तु अथवा ब्रह्म को चित्, अचित् और अन्तर्यामी ईश्वर की अवियोज्य संश्लिष्टता के रूप का स्वीकार करते हैं । तीनों ही तत्त्व अविनाशी हैं,किन्तु चित् और अचित् ब्रह्म पर आश्रित हैं, जब कि ब्रह्म उनसे सर्वथा स्वतन्त्र है । चित् और अचित् ब्रह्मात्मक हैं तथा ब्रह्म के प्रकार और विशेषणभूत हैं । ब्रह्म प्रकारी और विशेष्य है । इस प्रकार ब्रह्म तथा चिदचित् का अद्वैत विशेष्य- विशेषणभाव से विशिष्ट होने के कारण 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है । रामानुज के अनुसार ब्रह्म सविशेष ही है और उसे निर्गुण केवल इसी अर्थ में कहा जा सकता है कि उसके गुण,उसके धर्म सर्वथा अप्राकृत हैं । विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त में जीव-भाव असत्य और मायिक नहीं है ; जीव भी उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म । रामानुज के अनुसार मोक्ष का अर्थ ब्रह्म और जीव का सर्वथा ऐक्य नहीं, अपितु 'अपृथग्सिद्धि' है । ईश्वर और जीव में अंशांशि भाव है । अतः दोनों का सम्बन्ध स्वामी और सेवक का है । रामानुज ने ईश्वर और जीव के मध्य सेव्य-सेवकभाव स्वीकार कर प्रेम और प्रपत्ति से युक्त भक्ति का प्रतिपादन किया है ।

रामानुज के उपास्य नारायण अथवा श्रीविष्णु हैं । इनके मत में विष्णु की शक्ति लक्ष्मी की भी मान्यता है । रामानुज ब्रह्म अथवा नारायण की पांच अभिव्यक्तियां स्वीकार करते हैं ये अभिव्यक्तियां हैं-- पर, व्यूह, विभव, अन्तर्यामी और अर्चावतार । पंचअभिव्यक्तियों अथवा व्यूह-

भेद की मान्यता पांचरात्र अथवा प्राचीन भागवतधर्म की विशिष्टता रही है ।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत शंकर के मायावाद का सर्वाधिक सुन्दर और समर्थ खण्डन है । उनकी सबसे बड़ी सफलता इस बात में है कि उन्होंने उपनिषदों के आधार पर सविशेष ईश्वर की सिद्धि उतनी ही सफलता से की, जितनी सफलता से शंकर ने निर्विशेष ब्रह्म की सिद्धि की थी । भक्ति-सिद्धान्त को शास्त्रीय प्रतिष्ठा और दर्शन के क्षेत्र में मान्यता दिलाने वाले रामानुज पहले आचार्य हैं ।

(२) ब्रह्मसम्प्रदाय : मध्वाचार्य

चतु:सम्प्रदाय की परम्परा में दूसरा उल्लेखनीय सम्प्रदाय ब्रह्म या माध्वसम्प्रदाय है । इसकी स्थापना मध्वाचार्य के द्वारा हुई । मध्वाचार्य का समय सामान्यरूप से तेरहवीं शती स्वीकार किया जाता है ।

मध्व के सम्प्रदाय के द्वारा भक्ति को विशेष बल मिला । व्यवहार में यह सम्प्रदाय भक्तिवादी है तथा सिद्धान्त में द्वैतवादी । मध्वाचार्य ने श्रीमद्भागवत को विशेष महत्व दिया है और अपने अधिकांश सिद्धान्तों की प्रेरणा भागवत से ही ली है । मध्व ने अद्वैत को अस्वीकार कर द्वैत का प्रतिपादन किया । ब्रह्म और जीव में अभेद सम्बन्ध नहीं है : जीव, ब्रह्म से ही अपना जीवन पाता है; उसकी ही अभिव्यक्ति है, किन्तु ब्रह्म स्वतन्त्र है और जीव परतन्त्र । ब्रह्म सर्वदोष-विनिर्मुक्त है और जीव अविद्या आदि दोषों का विषय है, फिर जीव ब्रह्म से अभिन्न हो ही कैसे सकता है ? ब्रह्म और जीव में जो वैषम्य और स्थिति की असमानता है, उसके व कारण जीव और ब्रह्म में अभेद सम्बन्ध सम्भव नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति भी ब्रह्म से भिन्न तत्व है । मध्व ब्रह्म को जगत का उपादान-कारण नहीं मानते : उपादान तो प्रकृति है । ब्रह्म सृष्टि का निमित्त-कारण मात्र है । इस तरह कार्य-कारण भाव के जिस आग्रह से रामानुज अद्वैत स्वीकार करते हैं, वैसा कोई आग्रह मध्व के समक्ष नहीं है । शंकर के मायावाद का विरोध करते हुए ये भी जीव और जगत की वास्तविक सत्ता स्वीकार करते हैं ।

मध्व श्रीविष्णु को ब्रह्म स्वीकार करते हैं तथा लक्ष्मी उनकी नित्य सहचरी और शक्ति हैं । श्रीकृष्ण की प्रतिष्ठा व भी मध्वसम्प्रदाय में है, सम्भवत: भागवत के प्रभाव से । मध्व राधा का कोई उल्लेख नहीं करते । मध्व ब्रह्म और जीव के बीच अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं, अत: जीव और ब्रह्म के न्यूनाधिकभाव से प्रेरित दास्यभक्ति उन्हें विशेषरूप से मान्य है । भक्ति की मान्यता इस सम्प्रदाय में बहुत अधिक है : भक्ति को ही मुक्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन स्वीकार किया गया है ।

इस सम्प्रदाय का प्रचार कर्नाटक और महाराष्ट्र प्रदेश में विशेषरूप से हुआ । उत्तर में बंगाल इसका प्रधान केन्द्र रहा : बंगाल का गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय माध्वमत की ही शाखा है ।

(३) रुद्रसम्प्रदाय : विष्णुस्वामी

रुद्रसम्प्रदाय के संस्थापक विष्णुस्वामी के विषय में अधिक कुछ ज्ञात नहीं है। सम्भवत: वे भी दक्षिण के ही निवासी थे। सामान्यरूप से उनका समय बारहवीं या तेरहवीं शती माना जाता है। विष्णुस्वामी का मत क्या था, इसका निश्चय ठीक-ठीक नहीं हो सका है, क्योंकि उनके किसी ग्रन्थ का सन्धान नहीं हो पाया है। ऐसी सामान्य धारणा है कि उन्होंने अद्वैतवाद को माया से रहित मानकर शुद्धाद्वैत का प्रतिपादन किया था, जिसका पल्लवन आगे चलकर वल्लभाचार्य के द्वारा हुआ। वैसे इसका कोई पुष्ट प्रमाण नहीं मिलता। विष्णुस्वामी तथा वल्लभाचार्य की सापेक्ष स्थिति पर अगले परिच्छेद में स्वतन्त्ररूप से विचार किया जायेगा।

इनके द्वारा स्थापित सम्प्रदाय का नाम रुद्रसम्प्रदाय क्यों पड़ा, इस विषय में कोई अनुमान लगाना कठिन है। विष्णुस्वामी श्रीकृष्ण के उपासक हैं और इन्होंने राधा को भी मान्यता दी है। अन्य वैष्णव-आचार्यों की भांति इन्होंने भी भक्ति को बहुत महत्त्व दिया है। इससे अधिक इनके सम्प्रदाय के विषय में और कुछ ज्ञात नहीं है।

(४) सनकादिसम्प्रदाय : निम्बार्काचार्य

कृष्णभक्ति के क्षेत्र में इस सम्प्रदाय का कार्य विशेष महत्वपूर्ण है। इस सम्प्रदाय के संस्थापक निम्बार्क की जन्म और मृत्यु की तिथियां स्पष्ट ज्ञात नहीं हैं, किन्तु इतना निश्चित है कि ये रामानुजाचार्य के परवर्ती हैं। सामान्यरूप से इनका समय बारहवीं शती सर्वमान्य है। निम्बार्क तैलंग ब्राह्मण थे और तैलुगु प्रदेश से आकर वृन्दावन में बस गए थे। ये श्रीविष्णु के सुदर्शन चक्र का अवतार माने जाते हैं।

निम्बार्क ने द्वैताद्वैतमत स्वीकार किया है। ये अपने सिद्धान्तों में रामानुजाचार्य से विशेष प्रभावित हैं। इनके अनुसार जीव और जगत् ब्रह्म से अभिन्न भी हैं और भिन्न भी। अभिन्न इस अर्थ में हैं कि जीव और जगत् की ब्रह्म से भिन्न स्वतन्त्र सत्ता नहीं है, वे अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर आश्रित हैं; भिन्न इस अर्थ में कि ब्रह्म स्वतन्त्र है तथा जीव और जड़ परतन्त्र हैं। जीव अविद्यादि दोषों का विषय है तथा जगत जड़ और परिच्छिन्न है। जीव और जगत ब्रह्म की अभिव्यक्ति हैं, अत: वास्तविक हैं, मायिक नहीं। ब्रह्म जगत का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है।

निम्बार्क ने रामानुज के द्वारा प्रतिपादित शरणागति को बहुत महत्त्व दिया है, किन्तु इन्होंने रामानुज के द्वारा प्रतिपादित ज्ञानात्मिका भक्ति के स्थान पर भागवत की अनुरागात्मिका भक्ति को स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं तथा जीव उनके किंकर हैं। श्रीकृष्ण के

चरणकमल मुक्ति का द्वार हैं और आत्मसमर्पणमयी अनुरागात्मिका भक्ति ही मुक्ति का एकमात्र साधन है। इस मत की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसमें राधा को असाधारण महत्त्व मिला है। राधा कृष्ण की शक्ति और अर्धांगिनी हैं तथा गोलोक में श्रीकृष्ण के साथ नित्य निवास करती हैं। निम्बार्क स्मार्त नहीं हैं, अत: वे राधा-कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी देवी-देवता को नहीं मानते।

उत्तरभारत में राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार करने वाले निम्बार्क प्रथम प्रमुख आचार्य हैं। अन्य आचार्यों के मत दक्षिण तथा अन्यान्य प्रदेशों में अधिक प्रचलित थे। निम्बार्क का भक्ति-सम्प्रदाय ब्रज और मथुरा क्षेत्र में बहुत अधिक लोकप्रिय हुआ। निम्बार्क मत में "युगल-उपासना" का विशेष महत्त्व रहा है : इस सन्दर्भ में राधा का उल्लेख आ ही गया है, इसलिए उसपर भी विचार करना आवश्यक है।

<u>कृष्णभक्ति धारा में राधा का स्वरूप और स्थिति</u>

राधा तत्त्व का कृष्णभक्ति धारा तथा उसके दर्शन में अपना एक विशिष्ट स्थान है। निम्बार्क के द्वारा प्रचारित युगल उपासना के पश्चात् वाल्लभसम्प्रदाय, चैतन्यसम्प्रदाय तथा ब्रजप्रदेश के अन्य कृष्णसम्प्रदायों में राधा की विशेष प्रतिष्ठा दिखाई देती है, किन्तु उन्हें यह प्रतिष्ठा सदैव से ही प्राप्त नहीं थी।

महाभारत और गीता में तो राधा का उल्लेख होने का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि राधा की भावना ब्रज के कृष्ण से ही सम्बद्ध है, द्वारिका और कुरुक्षेत्र के कृष्ण से नहीं। गोपाल-कृष्ण की भावना ईसा की प्रथम शती के लगभग अस्तित्व में आई थी, जब कि महाभारत और गीता ईस्वीपूर्व की रचनाएं हैं। ईसा की नवीं या दसवीं शताब्दी के लगभग भागवतपुराण की रचना हुई। फिर उसके आधार पर नारदभक्तिसूत्र और शाण्डिल्यभक्तिसूत्र का निर्माण हुआ : इन सूत्र-ग्रन्थों में भक्ति का सर्वांग-विवेचन होते हुए भी भक्ति की साकार मूर्ति राधा का उल्लेख नहीं है। श्रीमद्भागवत में भी राधा का वर्णन कहीं नहीं है, कम-से-कम उस रूप में तो नहीं ही है, जिस रूप में वह परवर्तीकाल में सामने आती है। भागवत में राधा के स्वरूप की भूमिका अवश्य मिलती है कृष्ण की सर्वाधिक प्रिय सखी के रूप में। रासलीलाप्रकरण में भागवतकार एक विशेष गोपी की चर्चा करते हैं, जिसका नाम नहीं दिया गया है। श्रीकृष्ण के साथ किसी ब्रजयुवती के चरणचिन्ह देखकर गोपियां कहती हैं कि यह निश्चय ही श्रीकृष्ण के कंधों पर हाथ रखकर चलने वाली किसी भाग्यशीला के चरण हैं। इसने निश्चय ही पूर्वजन्म में श्रीकृष्ण की आराधना की होगी, तभी तो वे इसपर इतने प्रसन्न हैं। इसके पश्चात् भागवतकार गोपियों के द्वारा उस विशेष गोपी का तरह-तरह से वर्णन और प्रशंसा कराते हैं। फिर इस गोपी के प्रसंग में श्रीकृष्ण के अन्तर्धान होने का भी

वर्णन है और उसे विरहिणी की भांति दिखाया गया है[१]। श्रीकृष्ण की आराधिका कहे जाने के कारण ही इस गोपी की धारणा का राधा के नाम से विकास हुआ होगा। `राधा` शब्द संस्कृत की `राध्` धातु से बना है, जिसका अर्थ है `सेवा करना या प्रसन्न करना`। कृष्ण की अनन्य उपासिका इस गोपी का नाम राधा से अच्छा और हो भी क्या सकता है।

किस ग्रन्थ में राधा का नाम पहले-पहल इस अर्थ और सन्दर्भ में आता है, यह कहना कठिन है, किन्तु पहिला ग्रन्थ जिसमें राधा अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य और गरिमा के साथ अवतीर्ण होती हैं वह है, जयदेव का `गीतगोविन्दम्`। इसमें राधा श्रीकृष्ण की प्रियतमा के रूप में सामने आई हैं तथा उनके और श्रीकृष्ण के लीलाविलास का विस्तृत और मनोमुग्धकारी वर्णन कवि ने किया है। `गोपालतापनीयोपनिषद्` में भी राधा का वर्णन कृष्ण की प्रेयसी के रूप में आया है। गोपालतापनी की रचना मध्व के पश्चात् हुई होगी, क्योंकि उन्होंने राधा का कोई उल्लेख नहीं किया है। श्रीकृष्ण को परब्रह्म स्वीकार करने वाले तीन सम्प्रदाय हैं-- मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क के सम्प्रदाय। इनमें से मध्व तो राधा का उल्लेख करते नहीं, विष्णुस्वामी और निम्बार्क के मतों में अवश्य राधा की मान्यता है। निम्बार्क मत में तो राधा की प्रतिष्ठा परब्रह्म श्रीकृष्ण की शक्ति और सहचरी के रूप में हुई है। राधा की कृपा भक्तों को समस्त वांछित फलों की प्राप्ति कराती है और श्रीकृष्ण को प्रसन्न करने के लिए राधा को प्रसन्न करना आवश्यक है। निम्बार्क के सम्प्रदाय में राधा-कृष्ण की स्थिति वैसी ही है, जैसी श्रीसम्प्रदाय में लक्ष्मी-नारायण की है। निम्बार्क के पश्चात् वल्लभाचार्य और चैतन्यमहाप्रभु ने भी अपने मतों में राधा को विशिष्ट स्थान दिया है। निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य के सम्मिलित प्रभाव से व्रजमण्डल में ऐसे अनेक संप्रदायों का जन्म हुआ, जिन्होंने थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ राधा की भक्ति का प्रचार किया। सखीसंप्रदाय और राधावल्लभसम्प्रदाय इस दृष्टि से विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। इन सम्प्रदायों में राधा की ही उपासना विशेषरूप से की गई है और वे कृष्ण से भी महत्त्वपूर्ण हो गई हैं।

इस प्रकार पन्द्रहवीं- सोलहवीं शती की कृष्णभक्ति राधा के प्रभाव से अभिभूत दिखाई देती है। राधा की मान्यता अनेक सम्प्रदायों में है, किन्तु उसकी उत्कट प्रतिष्ठा हुई है गौड़ीय वैष्णवसम्प्रदाय अथवा चैतन्य मत ह में। राधा की भावना इस मत में अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ विराजमान है। निम्बार्क मत में राधा `स्वकीया` हैं, किन्तु चैतन्यमत में उनका स्वकीयात्व बहुत स्पष्ट नहीं है। इसी मत के रूपगोस्वामी ने रस के पोषण के लिए राधा के `परकीयात्व` को मान्यता दी और आगे चलकर `उज्ज्वलनीलमणि` के टीकाकार विश्वनाथ चक्रवर्ती ने भक्तिरस के क्षेत्र में परकीयाभाव की स्वतन्त्र सत्ता भी स्वीकार की। इस मत के साहित्य में राधा-कृष्ण के उन्मत्त

---

१ श्रीमद्भागवत- १०-३०- २६-२८, ४०-४१

प्रेम का प्रवाह सारे बांध तोड़कर बहा है । चैतन्यमत में `राधा-भाव` की प्रतिष्ठा है ।`राधा-भाव` और `गोपी-भाव` में अन्तर है । श्रीमद्भागवत में जिस विशेष गोपी की ओर संकेत है, वह भी गोपी-भाव के ही प्रसंग में है, राधा-भाव के प्रसंग में नहीं । आलवार भक्ति में इस गोपी-भाव के अनेकश: दर्शन होते हैं । वल्लभ भी गोपी-भाव को सर्वोत्कृष्ट बताते हैं,किन्तु यह इतना दुस्साध्य है कि सामान्य व्यक्ति की पहुंच के बाहर है । वल्लभ ने भी`राधा-भाव`का उल्लेख नहीं किया है, वह तो बंगाल की कृष्णभक्ति की अपनी विशेषता है । चैतन्य की विचारधारा से प्रभावित व्रज-सम्प्रदायों में भी इस भाव की स्थिति है ।

राधा की यह महाभाव-दशा ही साधक का चरम प्राप्य है और स्वयं सिद्धिस्वरूपा है । इस प्रकार भागवत से चैतन्य सम्प्रदाय तक की अपनी यात्रा में वह अनामिका कृष्णप्रिया श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति महाभावस्वरूपिणी राधिका का रूप धारण कर लेती है ।

वैष्णवधर्म के इन चार प्रधान आचार्यों के सिद्धान्तों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि सभी विष्णु के ब्रह्मत्व तथा भक्ति की महत्ता के विषय में एकमत हैं, किन्तु विशिष्ट मान्यताओं में कुछ अन्तर अवश्य है । रामानुज के उपास्य श्रीविष्णु अथवा नारायण हैं । जब कि अन्य तीन आचार्य श्रीकृष्ण के उपासक हैं । भक्ति के स्वरूप में भी थोड़ा अन्तर है । रामानुज की भक्ति उपनिषदों के बहुत समीप है; उनकी भक्ति `श्वेताश्वतर` से ली गई जान पड़ती है,जिसका विकसित रूप भगवद्गीता में दिखाई पड़ता है । रामानुज की भक्ति चिन्तनप्रधान है, साथ ही उन्होंने ज्ञान-कर्म-समुच्चय को भी स्थान दिया है । अन्य तीन आचार्यों की भक्ति स्पष्टरूप से भागवत से गृहीत है । इसमें ज्ञान की अपेक्षा प्रेम का आधिक्य है; आत्मचिन्तन की उतनी आवश्यकता नहीं है,जितनी आत्मसमर्पण की । आत्मज्ञान तो भगवत्कृपा होने पर स्वयमेव हो जाता है ।

इन आचार्यों की परम्परा में तीन प्रमुख आचार्य और हुए, जिन्होंने उत्तरभारत में वैष्णवधर्म की सुदृढ़ स्थापना में सहयोग दिया । ये तीन आचार्य थे--रामानन्द, वल्लभाचार्य और चैतन्य । रामानन्द,वल्लभ और चैतन्य के पूर्ववर्ती थे । चौदहवीं शती के प्रारम्भ में इन्होंने रामानुजाचार्य के श्रीसम्प्रदाय को बहुत ही व्यापक और लोकप्रिय रूप दिया । रामानन्द वैष्णवधर्म के महान आचार्यों में से हैं । वे न केवल आचार्य,अपितु एक सजग और सचेष्ट समाज-सुधारक के रूप में भी सामने आते हैं । उन्होंने समय की आवश्यकता और परिस्थितियों के आग्रह को समझते हुए धर्म को यथासम्भव सहज और ग्राह्य बनाकर प्रस्तुत किया । उन्होंने लक्ष्मीनारायण के स्थान पर सीताराम को अपना उपास्य स्वीकार किया । रामानन्द का समय मूल्यों के विघटन और असन्तुलन का था । व्यक्ति और समाज दोनों के ही आदर्श अस्पष्ट और अनिश्चित हो गए थे । ऐसी स्थिति में उन्होंने सत्य,शील और सौन्दर्य से समन्वित मर्यादापुरुषोत्तम श्रीरामचन्द्र की भक्ति का प्रचार कर पथ-भ्रष्ट समाज का

दिशा-निर्देश किया । इसमें कोई सन्देह नहीं कि रामानन्द के द्वारा प्रचारित रामभक्ति ने निश्चित-रूप से व्यक्ति और समाज का संस्कार किया । राम-भक्ति के द्वारा उत्तरभारत में वैष्णवभक्ति की जड़ें बहुत गहरी जम गईं ।

रामानन्द की दृष्टि अत्यन्त उदार और संवेदनशील थी । उन्होंने जातिभेद का बहिष्कार करते हुए अन्त्यजों और समाज के निम्नतम वर्गों के व्यक्तियों के लिए भी भक्ति के द्वार खोल दिए । रामानन्द ने वर्ण-व्यवस्था तथा जाति-भेद का विरोध नहीं किया, उनका अभिप्राय केवल इतना था कि शूद्र होने के ही कारण कोई भगवद्भक्ति के अधिकार से च्युत नहीं हो जाता । उनके शिष्यों में सभी वर्गों तथा सभी जातियों के लोग थे । रामानन्द ने अपने शिष्यों को जनभाषा में धर्मप्रचार करने की आज्ञा दी थी । उनमें परम्पराओं को तोड़ने का साहस था । उनके द्वारा प्रचारित रामभक्ति के अन्तर्गत विपुल साहित्य की रचना हुई : गोस्वामी तुलसीदास इस परम्परा के महान् कवि हैं । रामभक्ति धारा की चर्चा यहां प्रसंगत: की गई है । कृष्णभक्ति-आन्दोलन में इसका योगदान नगण्य ही है ।

मध्व, विष्णुस्वामी और निम्बार्क की कृष्णभक्ति-परम्परा में अब जो दो महान् आचार्य हमारे सामने आते हैं वे हैं--वल्लभाचार्य और चैतन्यमहाप्रभु । इन दोनों आचार्यों ने अपनी विचारधाराओं से कृष्णभक्ति को बहुत समृद्ध किया ; वल्लभाचार्य ने सिद्धान्तगरिमा तथा चैतन्य ने भावसौन्दर्य से इसकी श्रीवृद्धि की । वल्लभाचार्य और चैतन्य समकालीन हैं । दोनों का ही समय सोलहवीं शती का पूर्वार्द्ध है ; वल्लभ का जन्म सम्वत् १५३५ तथा चैतन्य का जन्म सम्वत् १५४२ में हुआ था । इस प्रकार चैतन्य वल्लभ के कनिष्ठ समवर्ती हैं ।

वल्लभाचार्य ने शुद्धाद्वैत नामक दार्शनिक सिद्धान्त तथा पुष्टिमार्ग नामक भक्तिसंप्रदाय का प्रवर्तन किया है । वल्लभ का दर्शन अद्वैतपरक है, किन्तु भक्ति के लिए जितने द्वैत की आवश्यकता होती है, उतने द्वैत का अवकाश उसमें है । ब्रह्म और विष्णु का अद्वैत माया सम्बन्ध से सर्वथा रहित है : माया का संस्पर्श न होने के कारण यह अद्वैत `शुद्ध` है । ब्रह्म अपने सत्, चित् और आनन्द अंशों में से चित् और आनन्द का तिरोभाव कर जगत् तथा आनन्दांश का तिरोभाव कर जीवरूप से अवतीर्ण होता है । जीव और जगत् उसकी ही अभिव्यक्ति-विशेष है ; इस प्रकार तत्वान्तर का अभाव होने से सर्वत्र अद्वैत ही है । वल्लभ ने भी भक्ति को मुक्ति से श्रेष्ठ ठहराया है । श्रीमद्भागवत के आधार पर उन्होंने पुष्टिसम्प्रदाय की स्थापना की है । पुष्टिसम्प्रदाय भाववती भक्ति की सर्वश्रेष्ठ व्याख्या है । वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप बहुत शास्त्रीय और मर्यादावादी है ।

इस प्रबन्ध का विषय ही है वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों का विवेचन । आगे के परिच्छेदों में इनके सिद्धान्तों की सविस्तर व्याख्या हुई है, अत: यहां अत्यन्त संक्षिप्त परिचय ही दिया गया है ।

वल्लभाचार्य के कनिष्ठ समवर्ती चैतन्य का वास्तविक नाम विश्वम्भर मिश्र था । इनका जन्म पूर्वी बंगाल में नादिया जिले में सम्वत् १५४२ में हुआ था । इनके दीक्षा-गुरु मध्वसम्प्रदाय के अनुयायी थे, अत: चैतन्य द्वारा प्रचारित सम्प्रदाय को माध्वसम्प्रदाय की गौड़ीय शाखा कहने की परम्परा चल पड़ी ; किन्तु विचार करने पर ज्ञात होता है कि चैतन्य के विचार मध्व की अपेक्षा निम्बार्क से अधिक प्रभावित हैं ।

स्वयं चैतन्य का मन्तव्य किसी सुनियोजित दार्शनिक मतवाद का प्रचार करना नहीं था, वे तो राधा-कृष्ण की अनुरागमयी प्रेम-लक्षणा भक्ति का ही प्रचार करते थे । उन्होंने अपने मत में नृत्य-गान सहित संकीर्तन को विशेष स्थान दिया । जयदेव, चण्डीदास और बिल्वमंगल की रस-आपूरित पदावली सुनकर वे राधा की `महाभावदशा` में लीन हो जाते थे । चैतन्य ने भक्ति का यह भावात्मक रूप अपनी दक्षिणांचल यात्रा से ही गृहीत किया था, जैसा कि `चैतन्यचरितामृत` में वर्णित है । चैतन्यमहाप्रभु के उपदेशों तथा पदावलियों के आधार पर महाप्रभु के पश्चात् उनके शिष्यों ने एक दार्शनिक मत की भी परिकल्पना की, जिसका नाम `अचिन्त्यभेदाभेद` है । इस क्षेत्र में जीवगोस्वामी तथा बलदेव का महत्त्वपूर्ण योगदान है ।

चैतन्य अपने विचारों में निम्बार्क के द्वैताद्वैत के बहुत समीप हैं । `द्वैताद्वैत` तथा `भेदाभेद` एक ही अर्थ को व्यक्त करने वाले शब्द हैं ; चैतन्यमत में इसमें `अचिन्त्य` शब्द और जोड़ दिया गया, जिसका अर्थ है कि ईश्वर तथा जीव-जगत्; पूर्ण और अंश के बीच जो भेद और अभेद है ; एकता में अनेकता और अनेकता में जो एकता है, वह बुद्धिगम्य नहीं है । बुद्धि की सीमा से परे होने के कारण `अचिन्त्य` है ।

इस मत की सबसे बड़ी विशेषता है, राधा की सर्वोच्च प्रतिष्ठा । इस सम्प्रदाय में पहली बार `गोपीभाव` और `राधाभाव` को इतना महत्त्व मिला है । भक्ति को रस की कोटि तक पहुंचाने का श्रेय भी इसी सम्प्रदाय को है । चैतन्य के शिष्य और सम्प्रदाय के प्रमुख विद्वान् श्री रूपगोस्वामी ने अपने ग्रन्थों `उज्ज्वलनीलमणि` तथा `हरिभक्तिरसामृतसिन्धु` में भक्ति का रस रूप से शास्त्रीय विवेचन किया है, और उसे `रसराज` की संज्ञा से विभूषित किया है । चैतन्य की भक्ति मधुर भाव की भक्ति है । भक्ति तथा अन्य सभी सैद्धान्तिक मान्यताओं के लिए चैतन्य मत में प्रमुखरूप से भागवत का ही आधार ग्रहण किया गया है । चैतन्य का प्रभाव सम्पूर्ण बंगाल को आप्लावित करता हुआ ब्रजमण्डल पर भी छा गया । राधा-कृष्ण के प्रति उनकी प्रेममयी भक्ति तो शताब्दियों तक साहित्य के लिए प्रेरणा का उत्स बनी रही ।

वल्लभ और चैतन्य ने कृष्ण-भक्ति को धर्म, दर्शन और साहित्य के शिखर पर आसीन कर दिया । इन्होंने सम्पूर्ण भारत का भ्रमण कर जन-जन में इस कृष्ण-भक्ति का प्रचार किया और युगों से तृषार्त जनमानस को `कृष्ण`-नाम की संजीवनी-सुधा पिलाकर अवर्णनीय तृप्ति, सुख और

आनन्द दिया । वल्लभसम्प्रदाय सम्पूर्ण गुजरात,सौराष्ट्र, मारवाड़ और व्रजमण्डल में छा गया ; इसी प्रकार चैतन्यमत न केवल व्रज और बंगाल, अपितु उत्कल और सुदूर आसाम क्षेत्र में भी असाधारण रूप से लोकप्रिय हुआ । बंगाल में तांत्रिक प्रभाव का उन्मूलन करने का श्रेय चैतन्य को ही था । आसाम जो शाक्तों का गढ़ था, वहां भी आज चैतन्य के प्रभाव से वैष्णव ही बहुसंख्यक हैं ।

वल्लभ और चैतन्य ने भारत की वैदिक,औपनिषदिक तथा पौराणिक परम्पराओं को ग्रहण अवश्य किया है, किन्तु उनका साक्षात् सम्बन्ध चतु:सम्प्रदाय की परम्परा से ही है । यह विशेषरूप से ज्ञातव्य है कि दोनों ने अपनी मौलिक प्रतिभा से अपने सिद्धान्तों का रूपाकार निश्चित किया है, केवल परम्पराप्राप्त निष्ठाओं पर ही सन्तोष नहीं किया । वैसे वल्लभ को विष्णुस्वामी तथा चैतन्य को माध्व सम्प्रदाय से संयुक्त करने की प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है, किन्तु इससे उनकी मौलिकता पर कोई प्रश्नचिन्ह नहीं लगता । चैतन्य के विचारों तथा मध्व के विचारों में कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर इतना अन्तर है कि उनके मत को माध्वमत की शाखा कहना उचित नहीं प्रतीत होता । भले ही उनके दीक्षा-गुरु माध्वमतानुयायी रहे हों । वल्लभ और विष्णुस्वामी की सापेक्ष स्थिति क्या है और क्या वस्तुत: दोनों के मतों में कोई साम्य है, यह प्रश्न अभी अनिर्णीत ही है ।

यों तो धर्म और साहित्य में कृष्ण-भक्ति और कृष्ण-साहित्य की स्थिति सातवीं-आठवीं शती से स्पष्टरूप में दिखाई पड़ती है,किन्तु श्रीमद्भागवत और फिर चतु:सम्प्रदाय की परम्परा से उसे विशेष बल मिला । इसके पश्चात् वल्लभ और चैतन्य के प्रभाव से पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में उसे उस व्यापक जन-आन्दोलन का रूप मिला, जिसे डा०ग्रियर्सन ने 'बिजली की चमक' कह कर सम्बोधित किया ।प्रमुख सम्प्रदायों के अतिरिक्त सखीसम्प्रदाय,राधावल्लभसम्प्रदाय जैसे कई सम्प्रदायों का जन्म और विकास हुआ, जिन्होंने थोड़े-बहुत अन्तर के साथ राधा-कृष्ण की भक्ति का प्रचार किया । इन सम्प्रदायों की विशिष्ट मान्यताओं में अन्तर होने पर भी इन सब के सहयोग से एक अत्यंत समर्थ 'कृष्ण-धर्म' की व्यापक परिकल्पना हुई,जिसने भारतवर्ष को कृष्ण-रस में डुबो दिया । इस धर्म की असाधारण सफलता का सबसे बड़ा रहस्य यह था कि इसने मोक्ष के साथ-साथ व्यक्ति की भोग भी कृष्णमय कर दिया और जब तृषा ही तृप्ति बन जाय तो और क्या चाहिए ?

आचार्य वल्लभ इस विशाल कृष्णधर्म की एक इकाई हैं और उन्हें इससे अलग करके नहीं देखा जा सकता । उनके दृष्टिकोण को लेकर उठने वाली अनेक समस्याएं स्वयं ही हल हो जाती हैं, जब उनका समाधान कृष्ण-भक्ति के मनोविज्ञान में खोजा जाता है । उनके सिद्धान्तों का ठीक-ठीक मूल्यांकन तभी किया जा सकता है, जब उन्हें कृष्ण-भक्ति-दर्शन के सन्दर्भों में, उसकी ही कसौटी पर कसा जाये ।

वैष्णवधर्म की प्रमुख विशेषताएं और प्रवृत्तियां क्या रही हैं, इसका विवेचन इस

परिच्छेद में कई बार किया जा चुका है। अब उस वैष्णवधर्म की कृष्णभक्ति-शाखा के दर्शन की विशेषताओं और प्रवृत्तियों की एक तालिका प्रस्तुत की जा रही है। तालिका देने का प्रयोजन है-- कृष्णभक्ति-दर्शन के प्रमुख स्वरों का सन्धान करना, क्योंकि अब इस प्रबन्ध-प्रदेश में उनकी ही प्रतिध्वनि बार-बार गूंजेगी। कृष्णभक्ति-दर्शन की मान्यताओं का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है:-

कृष्णभक्ति-दर्शन कई प्रभावों का सम्मिलित रूप है। वस्तुत: सम्पूर्ण मध्ययुगीन दर्शन की ही यह विशेषता है कि उसमें विभिन्न विचारधाराओं का समन्वय है। इसमें वैदिकधर्म तथा पांचरात्रधर्म का सफल समीकरण है; उपनिषदों के चरम आध्यात्मिक सत्य ब्रह्म का भागवत धर्म के ईश्वर वासुदेव से एकीकरण कर दिया गया है। दक्षिण के भक्त-सन्त आलवारों की भक्ति-भावना का भी प्रभूत स्पर्श वैष्णवधर्म को मिला है। मध्ययुगीन भक्तिदर्शन प्रकृति निश्चित करने में पुराणों का बहुत हाथ रहा है। विशेषरूप से आराध्य-भावना पर पौराणिक प्रभाव बहुत स्पष्ट है। इस सन्दर्भ में विष्णु, भागवत और हरिवंशपुराण विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। मध्ययुगीन वैष्णवधर्म अपने विकास में उत्तरोत्तर अधिक भावनाप्रवण होता गया है और शास्त्रीयता घटती गई है। चतु:सम्प्रदाय में भागवतधर्म का चतुर्व्यूहसिद्धान्त अत्यन्त समादृतरूप में वर्तमान है, किन्तु उसके बाद के सिद्धान्तों में वह गौण होता गया है। यद्यपि सिद्धांतरूप में यह परवर्तीसम्प्रदायों में भी स्वीकृत है, परन्तु प्रधानता वृन्दावन के श्रीकृष्ण की ही है। इसीप्रकार भक्ति के क्षेत्र में भी शास्त्रीयता का ह्रास हुआ है और वह अधिकाधिक उन्मुक्त और भावुक होती गई है।

मध्ययुगीन भक्तिदर्शन में सर्वाधिक वैचित्र्यपूर्ण है उसकी आराध्य-भावना। पुराणों ने इसे जी भर कर सजाया है, किन्तु विशेष बात यह है कि सारे रंग जिन रेखाओं में भरे गये हैं, वे रेखाएं उपनिषद्-दर्शन की ही हैं। श्रीकृष्ण केवल गोपीवल्लभ रसिकेश्वर ही नहीं हैं; वे सच्चिदानंदमय परब्रह्म और परमात्मा भी हैं। श्रीकृष्ण को आचार्यों ने परमवस्तु और विश्व के अद्वय सत्य के रूप में स्वीकार किया है। यह एक ही तत्व स्थिति-भेद से ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् रूपसे अनुभूत होता है। ज्ञानी इसे शक्ति-वैचित्र्य से रहित सर्वथा अविशिष्टरूप में सच्चिदानन्द मात्र रूप से अनुभव करते हैं; योगी इसे सर्वभूतात्मा अन्तर्यामी रूप से ग्रहण करते हैं; और भक्त इसे नानाशक्तिसमन्वित, सम्बन्धविशिष्ट, भुवन सुन्दर, भक्तवत्सल श्रीकृष्ण के रूप में स्वीकार करते हैं। इस प्रकार सगुण और निर्गुण परस्पर ओत-प्रोत हैं : जो सगुण है, वही निर्गुण है। शंकर की भांति वैष्णवआचार्य निर्गुण को परमतत्त्व और सगुण को व्यावहारिक सत्य नहीं मानते।

रामानुजाचार्य ने शंकर के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म के निर्विशेषत्व का खण्डन कर ब्रह्म के सविशेषत्व का प्रतिपादन किया है। उनके पश्चात् सभी वैष्णव-दार्शनिकों और आचार्यों ने परब्रह्म को सविशेष ही स्वीकार किया है : अत: श्रीकृष्ण भी सविशेष ही हैं, किन्तु उनके सगुण

होने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि वे एक प्राकृत मानव अथवा परिच्छिन्न सत्ता हैं। इस भ्रम के निवारण के लिए आचार्यों ने श्रीकृष्ण-तत्त्व की प्रचुर व्याख्या की है। परब्रह्म के गुण भी ब्रह्मात्मक हैं, अत: उनसे ब्रह्म के स्वरूप में द्वैतापत्ति नहीं होती। वैष्णवदर्शन के परब्रह्म की एक और विशेषता है-- विरुद्धधर्माश्रयत्व। ब्रह्म का व्यक्तित्त्व इतना विराट् और सार्वभौम है कि व्यक्त-अव्यक्त,चल-अचल, सत्-असत् सभी उसमें समाये हैं। वह सर्वातीत और परात्पर होते हुए भी विश्वरूप और वैश्व हैं। बुद्धि को परस्पर विरुद्ध प्रतीत होने वाले सभी धर्मों का वह आश्रय हैं।

सत्,चित् और आनन्द परब्रह्म श्रीकृष्ण के स्वरूपभूत धर्म हैं। सत् से सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त उनकी सत्ता का बोध होता है; चित् से इस सत्ता का परिज्ञान परिभावित होता है; और सत्ता के इस परिज्ञान का ही नाम आनन्द है। श्रीकृष्ण भगवान् हैं। वे श्री, ऐश्वर्य,यश, वीर्य, ज्ञान और वैराग्य -- इन षड्गुणों से विशिष्ट हैं। कृष्ण-भक्तों को श्रीकृष्ण का यह भगवत्त्व ही अभीष्ट है। श्रीकृष्ण की तीन स्थितियां हैं-- ब्रह्म,परमात्मा और भगवान्। ये ही क्रमश: अक्षरब्रह्म,अन्तर्यामी और पुरुषोत्तम कहे जाते हैं। वैष्णव-दार्शनिकों के अनुसार भगवान् की ही स्थिति सर्वश्रेष्ठ है ; ब्रह्म और अन्तर्यामी उसमें ही अन्तर्भुक्त हो जाते हैं। ब्रह्म शक्ति और गुणों के वैचित्र्यपूर्ण उन्मेष से रहित होने के कारण एकांगी अभिव्यक्ति है ; इसी प्रकार अन्तर्यामी भी श्रीकृष्ण का आंशिक प्रकाशन है,क्योंकि श्रीकृष्ण अपने अंशमात्र से सृष्टि में प्रविष्ट होकर उसका नियमन करते हैं। पुरुषोत्तम या भगवान् की ही स्थिति परमतत्त्व की पूर्णतम अभिव्यक्ति है। श्रीकृष्ण अपने इस पुरुषोत्तमरूप से ही वैष्णवों के आराध्य हैं।

तत्त्वत: जो परब्रह्म पुरुषोत्तम हैं,वही मनुजाकार यशोदा-पुत्र गोपीजनवल्लभ श्रीकृष्ण हैं। उनकी नरदेह सर्वथा अप्राकृत और दिव्य है। श्रीकृष्ण की इस नराकृति की ही विशेष प्रतिष्ठा है। भगवान् का यह मानवरूप मानवीय चेतना के सर्वाधिक निकट है, यही उसकी सम्वेदनशीलता की परिधि में है--यह तथ्य इन भक्त-दार्शनिकों ने नि:संकोच होकर स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण `भुवन-सुन्दर` हैं; उनका आनन्द ही उनकी नराकृति में असीम और अपरूप सौन्दर्य बनकर प्रकट हुआ है। श्रीकृष्ण `रसरूप` हैं। इस रस की अभिव्यक्ति उनकी दिव्य और अप्राकृत लीलाओं में होती है। उनका सौन्दर्य ही इस रस का आलम्बन,उद्दीपक , धारक, प्रकाशक और सम्पोषक है। अपने `रसेश` के रूप में वे व्यावहारिक और बौद्धिक भूमि के विधि-निषेधों का अतिक्रमण कर,उस अभौतिक अतिमानवीय चेतना का प्रतिनिधित्व करते हैं, जो द्वन्द्वातीत अखण्ड-आनन्द की एकान्त-गहन अनुभूति की वाहनी है।

वैष्णव-दर्शन में परब्रह्म को `शक्तिमान्` के रूप में स्वीकार किया गया है। उसकी शक्तिमत्ता उसका स्वभाव है, आगन्तुक और स्थितिसापेक्ष धर्म नहीं। प्रयोजन-भेद से श्रीकृष्ण में अनेक शक्तियों की परिभावना हुई है और उनके स्वरूप में विशुद्ध और विकारी दोनों प्रकार की

शक्तियों की स्थापना की गई है। ये विभिन्न शक्तियां उनकी अन्तरंग शक्ति या आत्म-माया की अभिव्यक्तियां हैं। कृष्णसम्प्रदायों में इस अन्तरंग शक्ति का प्रतिरूप राधा जी हैं : वे उनकी स्वरूप शक्ति हैं और उनके आत्मगोपन तथा आत्मप्रकाशन में करणभूता हैं। शक्ति और शक्तिमान् रूप से युगल- उपासना वैष्णवभक्ति की विशेषता है ; नारायण के साथ लक्ष्मी और श्रीराम के साथ सीता की परिकल्पना इसी प्रवृत्ति की परिचायक है।

जीव कीवास्तविकता और ब्रह्म-पराधीन स्थिति भी वैष्णव विचारधारा की विशेषता है। जीव ब्रह्म की ही वास्तविक अभिव्यक्ति है,अत: जीव में ब्रह्म का स्वभाव निहित है, जैसे लहर में सागर का या स्फुलिंग में अग्नि का: फिर भी दोनों में अन्तर है अणु और विभु का, खण्ड और पूर्ण का। अंशांशि भाव के अन्तर्गत जीव और ब्रह्म में अद्वैत होते हुए भी एक अन्तर सदैव रहता है और यह अन्तर भक्ति के लिए अवकाश देता है।

जीव की भांति जगत् भी ब्रह्म की एक अवस्थाविशेष है। सत्य ब्रह्म की सत्य अभिव्यक्ति होने के कारण यह जगत् मायिक और मिथ्या नहीं है। वैष्णव-दार्शनिक ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्न-निमित्तोपादान-कारण स्वीकार करते हैं; मध्वाचार्य एकमात्र अपवाद हैं,जो ब्रह्म को केवल निमित्तकारण मानते हैं। मध्व को छोड़कर अन्य सभी अविकृत परिणामवाद का सिद्धान्त स्वीकार करते हैं। इस प्रकार ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने से जगत् में असत्यत्व और अचेतनता की प्रतीति भ्रान्ति है। जो मिथ्या है, वह अहंताममतात्मक 'संसार' है। यह संसार अविधाकारी है तथा जीव के अपने वासना-तन्तुओं से बुना हुआ जाल है,जो उसके दिव्यस्वरूप का आच्छादन किए रहता है। जगत् और संसार का यह अन्तर वैष्णवदर्शन में सर्वमान्य है।

सभी वैष्णवसम्प्रदाय चाहे वे राममक्तिपरम्परा के हों चाहे कृष्णभक्तिपरम्परा के,शंकर के मायावाद का खण्डन एक स्वर से करते हैं। अद्वैत का प्रतिपादन भी सभी आचार्य करते हैं। द्वैत का प्रतिपादन करने वाले मध्वाचार्य अकेले हैं। यह अवश्य है कि वैष्णव आचार्यों द्वारा स्वीकृत अद्वैत का रूप शंकर के द्वारा स्वीकृत अद्वैत से भिन्न है।

मध्ययुगीनदर्शन की सबसे बड़ी विशेषता है,उसकी भक्ति। आत्मसमर्पणमयी प्रेमलक्षणा भक्ति। सारे भक्ति-आन्दोलन के मुख्य दो ही तत्त्व हैं-- प्रेम और प्रपत्ति(शरणागति)। लगभग सभी आचार्यों ने दो प्रकार की भक्ति स्वीकार की है-- वैधी और रागानुगा: वैधी भक्ति 'साधन-भक्ति' कहलाती है और रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति 'साध्य-भक्ति' के नाम से अभिहित की जाती है। यह साध्यभक्ति सभी प्रकार की मुक्तियों से श्रेष्ठ तथा भक्तों का परमकाम्य है।

कृष्णसम्प्रदायों की भक्ति श्रीमद्भागवत से गृहीत है। वल्लभाचार्य का पुष्टि-मार्ग भागवत की भक्ति की बड़ी शास्त्रीय व्याख्या करता है। कृष्णसम्प्रदायों की भक्ति भाव-सौन्दर्य की दृष्टि से अत्यन्त सम्पन्न है। विभिन्न भावों का आश्रय ग्रहण करने वाली यह भक्ति

भावना-भेद से कई प्रकार की है। लक्ष्मीनारायण और सीता-राम के व्यक्तित्व में ऐश्वर्यगुण की प्रधानता होने के कारण उनके भक्त दास्यभाव से भक्ति करते हैं, किन्तु श्रीकृष्णविषयिणी भक्ति के कई रूप हैं। निम्बार्कमत में सख्यभाव, वाल्लभमत में वात्सल्य तथा दास्यभाव एवं चैतन्यमत में माधुर्य-भाव की प्रधानता है। वैसे माधुर्यभाव सभी सम्प्रदायों में मान्य है।

भक्ति के अतिरिक्त साधनरूप में ज्ञान, कर्म और योग भी स्वीकार किए गए हैं, किन्तु वे सब अंगरूप में आते हैं और भक्ति अंगीरूप में।

वैष्णवआचार्यों ने कैवल्यस्वरूपा तथा लयात्मक मुक्तियां भी स्वीकार की हैं। भागवत में सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य, सायुज्य आदि मुक्ति-प्रकार वर्णित हैं, किन्तु भक्ति के समक्ष ये सब हेय और तुच्छ हैं। जीव का चरमप्राप्य है भगवान् की निर्हेतुक भक्ति और चरमवांछा है श्रीकृष्ण की अहर्निश सेवा। भक्त तो लीला-रस का पिपासु है, उसे मुक्ति से क्या लाभ ? जीव भगवत्कृपा से, बिना किसी साधन का अनुष्ठान किए ही सद्योमुक्ति पाकर उनकी दिव्य लीला में प्रवेश करता है, जो वैकुण्ठ अथवा गोलोक में अहर्निश गतिमान है। यह लीलाप्रवेश श्रीकृष्ण के अनुग्रह से ही सम्भव है। वैष्णव-सम्प्रदायों और दर्शन में इस भगवदनुग्रह का सर्वातिशायी महत्त्व है। मुक्ति में जीव ब्रह्म में लीन हो जाता है, किन्तु लीला में वैचित्र्यानुभूति और श्रीकृष्ण के दिव्यरस के आस्वादन के लिए उसका परब्रह्म से पृथक् अस्तित्व बना रहता है। इस प्रकार वैष्णवदर्शन के अनुसार जीव और ब्रह्म के निविड़संग और घनिष्ठ आत्मीयता में भी जीव की वैयक्तिक सत्ता सुरक्षित रहती है।

इसके पूर्व कि वैष्णव-विचारधारा की प्रवृत्तियों की चर्चा समाप्त की जाय, साहित्य से उसके घनिष्ठ सम्बन्ध की बात कहे बिना बात अधूरी रह जायेगी। वैष्णवधर्म मध्ययुगीन साहित्य का प्रेरक और संरक्षक रहा है। राममक्ति तथा कृष्णभक्ति-धारा के अन्तर्गत विपुल साहित्य की सर्जना हुई है। न केवल संस्कृत अपितु जनभाषाएं भी उनके प्रसाद से अनुगृहीत हुई हैं। वैष्णवधर्म और दर्शन का प्रचार साहित्य के माध्यम से हुआ : पुष्टिमार्ग तथा चैतन्यसम्प्रदाय के भक्त-कवियों ने अपने सिद्धान्तों का प्रचार मुख्यरूप से अपनी रचनाओं के द्वारा ही किया।

श्रीराम की अपेक्षा श्रीकृष्ण के व्यक्तित्व में लोकरंजकता अधिक होने के कारण और शृंगार और माधुर्य का अधिक अवकाश होने से उनका 'नायकत्व' अधिक प्रखर रहा। यदि यह कहा जाय कि श्रीकृष्ण भारतीय साहित्य के सर्वाधिक लोकप्रिय नायक हैं तो अत्युक्ति नहीं होगी। कृष्ण-काव्य के श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व अत्यन्त विलक्षण है और उसपर बहुत कुछ कहा जा सकता है, किन्तु यहां न उसका अवकाश है, न सन्दर्भ ही। इतना अवश्य कहा जा सकता है कि उनके स्पर्श से लौकिक सन्दर्भ अलौकिक बन जाते हैं। कृष्ण-काव्य में हमें उन सभी मानवीय सम्बन्धों का परिष्कृत और उदात्तीकृत रूप मिलता है, जो सामान्यत: मानव को उदात्त बनने से रोकते हैं।

यह वह सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि है, जिसके परिप्रेक्ष्य में वल्लभ को देखा जाना

चाहिए । जैसा कि प्रारम्भ में कहा गया है, प्रत्येक सिद्धान्त की एक वंशपरम्परा होती है और उसे जाने बिना उसका ठीक-ठीक परिचय प्राप्त नहीं होता; अत: वल्लभ के सिद्धान्त को समझने के लिए इस पृष्ठभूमि का अनुशीलन आवश्यक था ।

मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि

यह सच है कि कृष्णभक्ति-धारा और उसके दर्शन की रूप-रेखा निश्चित करने में दीर्घकालीन चिन्तन-परम्परा का हाथ रहा है, किन्तु यह भी सच है कि उसपर तत्कालीन परिस्थितियों ने भी अपना गहरा प्रभाव डाला । कृष्णभक्ति का मनोविज्ञान तथा कार्यप्रणाली स्थिर करने में मध्ययुग की परिस्थितियों ने निश्चितरूप से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका की है ।कदाचित् मध्ययुग की परिस्थितियां कुछ भिन्न होतीं तो कृष्णभक्ति धारा का मनोविज्ञान भी कुछ और होता, इसमें सन्देह नहीं । यह बात केवल कृष्णभक्ति-धारा के ही साथ नहीं है, अपितु मध्ययुग में पनपने वाली सभी विचारधाराओं के साथ है । चाहे ह वह निर्गुणसन्तसम्प्रदाय हो,चाहे राम-भक्ति और कृष्णभक्तिसम्प्रदाय हों; हैं वे सभी अपने युग की समस्याओं का समाधान । सभी अपने-अपने ढंग से अपने समय की आवश्यकताओं की पूर्ति करते हैं ।

हम मध्ययुग को सामान्यत: वैयक्तिक और सामाजिक ह्रास का युग कह सकते हैं । यह समय पाशविक राजनीति,सामाजिक असुरक्षा और खण्डित विश्वासों का युग था । धार्मिक और नैतिक मूल्यों का विघटन हो रहा था; आदर्शअस्पष्ट और धूमिल थे । तत्कालीन साहित्य से इस बात के स्पष्ट संकेत मिलते हैं । व्यक्ति-चेतना के स्तर पर भी अनास्था और अविश्वास के अनेक विषवृक्ष उगे हुए थे । मानव की सत्यान्वेषिणी कल्याणी चेतना अविवेक के सर्वग्रासी अन्धकार में दृष्टि-शून्य सी भटक रही थी और अपने अस्तित्व की रक्षा करने के निरर्थक से यत्न कर रही थी ।

विनाश के कगार पर खड़ी मध्ययुग की इस चेतना को जीवनदान दिया सन्तों की वाणी ने, राम और कृष्ण के आदर्शों ने । कैसे यह दुस्साध्य कार्य सम्पन्न हो सका, कैसे इन भक्ति-सम्प्रदायों ने समाज और व्यक्ति की विकृतियां और विकलांगताएं ठीक कीं, इस पर विचार

करने के पूर्व मध्ययुग की उन परिस्थितियों का आकलन अनावश्यक नहीं होगा, जिन्होंने इन विकृतियों और विषमताओं को जन्म दिया था । विश्लेषण की सुविधा के लिए मध्ययुग की परिस्थितियों को राजनैतिक ,धार्मिक और सामाजिक -- इन तीन शीर्षकों के अन्तर्गत विभक्त किया गया है । मध्ययुग की राजनीति ही प्रमुखरूप से तत्कालीन सामाजिक और धार्मिक दुर्दशा का कारण थी ।अब हम संक्षेप में मध्ययुग की राजनैतिक,धार्मिक और सामाजिक अवस्थाओं पर विचार करेंगे ।

(क) राजनैतिक अवस्था

मध्ययुग सांस्कृतिक द्वन्द्व और राजनैतिक संघर्ष का युग था । मुस्लिम प्रभुत्त्व तीव्र गति से बढ़ रहा था और जनता उसके आतंक से त्रस्त और भयभीत थी । मध्ययुग के प्रारंभ में मुहम्मद-बिन-तुगलक (सन् १३२५-५१ई०) से इब्राहीम लोदी (सन् १५१८-२६ई०) तक सोलह शासक दिल्ली के सिंहासन पर बैठे । युद्ध और आक्रमण ही इनके कार्य थे । राजनीति धर्मान्धता और नृशंसता की बैसाखियों के सहारे चलती थी और राजकीय घोषणा-पत्र हिन्दुओं के रक्त से लिखे जाते थे । हिन्दू धर्म से तो मुस्लिम-शासकों को विशेष द्वेष था : हिन्दुओं से हठपूर्वक इस्लामधर्म स्वीकार करवाया जाता था और अस्वीकृति का एक ही अर्थ था-- मृत्युदण्ड ! प्रारम्भिक शासकों की अपेक्षा मध्यकालीन शासकों की नीति अधिक उदार थी । अकबर का शासन-काल सर्वाधिक सुख-शान्तिपूर्ण था और उसकी नीतियां पर्याप्त सन्तुलित और सहिष्णु थीं । जहांगीर और शाहजहां ने भी प्राय: अकबर की ही नीतियों का अनुसरण किया । इन तीनों के शासन-काल में केन्द्रीय नीति हिन्दू धर्म और हिन्दुओं के प्रति सहानुभूतिपूर्ण थी , जैसा कि वल्लभाचार्य और उनके वंशजों के नाम शाही फ़रमानों से ज्ञात होता है । इनके पश्चात् औरंगजेब ने पुन: धार्मिक असहिष्णुता और अन्याय की नीति अपनाई । उसकी दृष्टि में हिन्दू होना सबसे बड़ा अपराध था । इस्लाम स्वीकार न करने पर कठोर-से-कठोर दण्ड की व्यवस्था थी । प्राणों के मोह से अधिकांश जनता हिन्दूधर्म छोड़कर इस्लाम स्वीकार करने लगी । औरंगजेब के पश्चात् अन्य शासकों ने भी यही रीति-नीति अपनाई ।

इस राष्ट्रीय संकट में हिन्दूराजाओं की स्थिति भी सुदृढ़ नहीं रही; बहुत से राजाओं ने मुस्लिम-शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया । जो हिन्दूराजा बाकी बचे थे, वे भी अपनी सत्ता बनाए रखने के लिए अनवरत संघर्ष कर रहे थे । जब प्राणों का ही अस्तित्त्व संकटापन्न था तो धर्मरक्षा की कौन सोचता ! हिन्दुओं के साथ सबसे बड़ी विवशता थी कि वे शासित थे और मुसलमान शासक : न तो उनमें मुसलमानों को पराजित करने की शक्ति थी और न ही उनसे अपने धर्म की अवहेलना सहन होती थी । सहायता और साधन के अभाव में ईश्वर पर आश्रित रहने के अतिरिक्त वे और कुछ कर भी नहीं सकते थे। इस दुर्दशा में वे मन की शान्ति ईश्वर के चरणों में ही खोजने लगे ; दुष्टों को दण्ड देने का कार्य उन्होंने भगवान पर ही छोड़ दिया । जीवन की विषमताओं से

त्रस्त होकर हिन्दू लौकिक वस्तुस्थिति से आंखें मूंदकर आध्यात्मिक और पारलौकिक वातावरण में ही विहार करने लगे । हिन्दू राजा और प्रजा दोनों के ही विचार इस प्रकार भक्तिमय हो गए कि वीरगाथाकाल की वीररसमयी प्रवृत्ति शान्त और शृंगार रस में परिणत होने लगी ।

राजनीतिक वातावरण भी धीरे-धीरे शान्त होने लगा । हिन्दुओं को शान्त करने के लिए मुसलमानों ने उन्हें अपनी संस्कृति से दीक्षित करने का प्रयत्न किया । हिन्दू के धर्म पर आघात होते ही यद्यपि जनता विचलित हो उठती थी, तथापि आत्मरक्षा के विचार से किसी सीमा तक हिन्दुओं ने भी इस्लाम को समझने की चेष्टा की । हिन्दू और इस्लाम के सम्मिलित प्रभाव से एक नवीन विचारधारा का जन्म हुआ जो धर्म में `संतसम्प्रदाय` तथा साहित्य में `संतकाव्य`के रूप में प्रवाहित हुई । -

(ख) धार्मिक अवस्था

सम्पूर्ण मध्ययुग अथवा मुस्लिम शासन-काल में कुछ एक बादशाहों को छोड़कर सभी बादशाहों ने हिन्दू धर्म पर घोर अत्याचार किए, फलत: हिन्दू-धर्म में आत्मरक्षण की प्रवृत्ति तीव्रतर होती गई । बाह्य प्रहारों और आघातों से बचने के लिए वह कछुए की तरह अपने-आप में संकुचित होता गया । हिन्दू धर्म के प्रचार-प्रसार और सार्वजनिक पूजा-उपासना पर कठोर बन्धन थे तथा धार्मिक असहिष्णुता शासन की नीति थी : ऐसी स्थिति में धर्म अधिकाधिक आत्मकेन्द्रित और अन्तर्मुख होता जा रहा था और व्यक्ति तथा समाज को उसका वह प्रभूत संस्पर्श नहीं मिल पा रहा था, जो उसके संस्कार के लिए आवश्यक था । फलस्वरूप जीवन के मूल्यों में विकृतियां पैठ रही थीं । धर्म भ्रष्ट न हो जाये इस डर से उसके चारों ओर जातिभेद के ऊंचे प्राचीर खड़े कर दिए गए और वर्ग-भेद की गहरी परिखाएं खोद दी गईं ।

अवमूल्यन के इस युग में धार्मिक मूल्यों और मान्यताओं का भी अवमूल्यन हुआ और उसका स्वरूप उतना शुद्ध और उदात्त नहीं रह सका । धर्म के क्षेत्र में ही पाखण्ड और भ्रष्टाचार घर करने लगा और शीघ्र ही वह स्थिति भी आ गई, जब जीवन का यह अन्तिम सम्बल सबसे विकृत हो गया । राजनैतिक और सामाजिक विषमताओं से त्रस्त होकर व्यक्ति जब धर्म की ओर मुड़ता तो वहां भी यही विष व्याप्त दिखता । वल्लभाचार्य ने `श्रीकृष्णाश्रय` में तत्कालीन धार्मिक दुर्दशा का बहुत स्पष्ट चित्र खींचा है । वे कहते हैं कि दूषित धर्मों वाले इस कलियुग में ज्ञान,कर्म, उपासना आदि सभी साधन-मार्ग लुप्त हो गए हैं और सर्वत्र पाखण्ड का ही साम्राज्य है । सभी पवित्र स्थल म्लेच्छों से आक्रान्त हैं और सज्जनों के कष्ट देखकर धैर्य विचलित हो जाता है । गंगा आदि सभी तीर्थ दुष्ट व्यक्तियों से घिरे हुए हैं और उनके अधिष्ठाता देवता तिरोहित हो गए हैं । लोग अहंकार से मत्त हो उठे हैं तथा व्यक्तिगत लाभ एवं प्रतिष्ठा के लिए बुरा-से-बुरा पापकर्म करने में भी संकोच नहीं

करते । ऐसी दुर्दशा में केवल श्रीकृष्ण ही एकमात्र विश्वसनीय आश्रय हैं[१] ।

तत्कालीन साहित्य में उस समय की धार्मिक और सामाजिक दुर्दशा के अनेक वर्णन मिलते हैं ।

(ग) सामाजिक अवस्था

धर्म और राजनीति के इस संघर्ष का प्रभाव समाज पर बहुत बुरा पड़ा था । चारों ओर अराजकता और असंयम का साम्राज्य था । विभिन्न वर्ग-भेदों से समाज छिन्न-भिन्न हो गया था और जातिवाद के कसाव ने समाज की संश्लिष्टता शिथिल कर दी थी । वर्णाश्रम व्यवस्था ही अस्त-व्यस्त हो रही थी ; सभी जातियों ने अपना धर्म छोड़ दिया था । ब्राह्मणों में दया, शौच , तप आदि का किंचित् भी स्पर्श नहीं था; क्षत्रिय विलास में डूबे थे; वैश्य वर्ग के कपट का ओर छोर न था; और शूद्र घोर मद में किसी को कुछ समझते ही नहीं थे ।

कपटी और पाखण्डियों का ही समाज में सम्मान होता था । व्यक्तियों की प्रवृत्ति वैषयिक सुखों में ही भटका करती थी । व्यक्ति के जीवन पर उपालम्भ करते हुए सूरदास ने लिखा है कि सारा जीवन पशु की भांति बिताया जाता है । हरिस्मरण के बिना ही सारी आयु वृथा कर दी जाती है । वस्त्र मलमल कर धोये जाते हैं, तिलक-छापा धारण कर धार्मिक होने का आडम्बर भी रचा जाता है,किन्तु आन्तरिक प्रक्षालन और वृत्तियों के परिष्कार की ओर किसी का ध्यान नहीं है[२] । इस युग में नैतिक मूल्य बहुत जर्जर हो गए थे और सारे मनोभाव जैसे अपनी शुद्धता खो बैठे थे । आन्तरिक अशान्ति तो थी ही,बाह्य परिस्थितियां और भी प्रतिकूल थीं ।

सामान्यरूप से समाज में दो वर्ग थे-- राजन्यवर्ग तथा सामान्य प्रजावर्ग । राजन्य-वर्ग के ही हाथों में समृद्धि की कुंजियां थीं और वे ही सभी कार्य-व्यापारों का नियमन करते थे ।दर्प और आत्मप्रदर्शन के पारस्परिक संघर्ष में ही इनका समय बीतता था और प्रजा की उन्हें कोई चिन्ता नहीं थी । इस वर्ग में सुल्तान और छोटे-मोटे हिन्दू राजा दोनों ही आते थे : इनकी कामुकता और विलास-बुभुक्षा का कोई अन्त नहीं था और इसके लिए सामग्री जुटाने का भार प्रजा के निर्बल कंधों पर था । राजाओं का प्रजापालन एक दिखावा भर था : प्रजा निर्धन और अभावग्रस्त थी तथा अन्न के लिए द्वार-द्वार घूमती थी । इस वर्ग का बुरी तरह शोषण हो रहा था और इसकी स्थिति बहुत दयनीय हो उठी थी ।

इस प्रकार समाज के सामान्य सदस्य का जीवन प्रत्येक दृष्टि से कुण्ठापूर्ण और

---

१ वल्लभाचार्य : "श्रीकृष्णाश्रय:", श्लोक सं०१-६ ।

२ सूरदास : "सूरसागर के विनय के पद", पद सं०५१ "किते दिन हरि सुमिरन बिनु खोए" ।

अभावग्रस्त था । न उसके पास भौतिक सुख-सुविधा थी न आन्तरिक शान्ति और सन्तुष्टि । जीवन के संघर्षों में धर्म का सहारा बहुत बड़ा होता है, वह व्यक्ति को कम-से-कम अन्दर से टूटने और बिखरने नहीं देता है, किन्तु यहां तो वह भी नहीं था । धर्म अपना वास्तविक अर्थ खो देने के कारण स्वयं असन्तोष और अशान्ति का कारण बना हुआ था ।

जैसे विनाश सर्ग का संकेत होता है, ठीक वैसे ही मध्ययुग की इन ह्रासोन्मुखी परिस्थितियों में व्यक्ति के आध्यात्मिक विकास की उदात्त सम्भावनाएं छिपी हुई थीं । व्यक्ति के मानसिक परिष्करण के क्षेत्र में कृष्णभक्ति-धारा के प्रयास सर्वाधिक सफल और समापक कहे जा सकते हैं,किन्तु अन्य भक्ति-सम्प्रदायों ने भी इस दिशा में महत्त्वपूर्ण कार्य किया । इन्होंने विखण्डित और विस्थापित मानवमूल्यों की फिर से स्थापना की तथा रुग्ण और विकृत जनमानस के असाध्य रोगों का उपचार किया श्रद्धा,प्रेम और विश्वास की अमोघ औषधियों से ।

व्यक्ति के नैतिक परिष्करण और सामाजिक संस्कार की प्रभविष्णु परम्परा का प्रादुर्भाव आचार्य रामानन्द से होता है । रामानन्द ने धर्म को सहज और सर्वजनसुलभ रूप दिया । उन्होंने ईश्वरभक्ति को जातिवर्ग-निरपेक्ष घोषित कर उसपर प्रत्येक व्यक्ति का समान अधिकार माना और इस तरह उत्तरोत्तर जटिल और संकीर्ण होते हुए धर्म को उन्होंने लोकव्यापी विस्तार दिए ।उनकी विचारधारा से दो महत्त्वपूर्ण भक्तिसम्प्रदायों का प्रादुर्भाव हुआ; एक साक्षात् और दूसरा परम्परया । उन्होंने स्वयं रामभक्ति का प्रचार किया और उनके शिष्य कबीर ने सन्तसम्प्रदाय की स्थापना की ।

कबीर ने रामानन्द की उदारवादी दृष्टि अपनाकर उनके सामाजिक उन्नयन के कार्य को आगे बढ़ाया । अपने स्वरूप में बहुत शास्त्रीय न होते हुए भी संत मत ने धर्म की रक्षा में पर्याप्त योगदान दिया । कबीर ने इस्लाम और हिन्दू धर्म की सारभूत बातों को लेकर अपने पंथ की स्थापना की । उनपर रामानन्द और सूफी सन्तों का प्रभाव स्पष्ट है । बाह्याडम्बर के जितने भी रूप हो सकते हैं, उनका बहिष्कार सम्पूर्णरूप से किया गया । यह धर्म का ऐसा रूप था, जो हिन्दू और मुसलमान दोनों को ग्राह्य था; जिन कर्मकाण्डों से दोनों में विरोध हो सकता था, वह इसमें था ही नहीं । सन्त सम्प्रदाय के द्वारा समाज का नैतिक संस्कार हुआ । सन्त मत के कवियों और धर्मप्रचारकों ने आचार-व्यवहार की शुद्धता पर बल दिया । उन्होंने खुलकर धार्मिक पाखण्डों और कुप्रवृत्तियों की भर्त्सना की और आन्तरिक पवित्रता और शुद्धता को ही धर्म का वास्तविक स्वरूप माना उन्होंने विकीर्ण और विकेन्द्रित नैतिक और चारित्रिक मूल्यों की जीवन में फिर से प्रतिष्ठा की और इस प्रकार कुछ सीमा तक समाज को वैषयिक सुखों से हटाकर उच्चतर लक्ष्यों की ओर प्रेरित करने में सफल हुए । सन्तों की तीखी आलोचना से मध्ययुग के ह्रासोन्मुखी समाज का विवेक कुछ जागा और उसने सत्पथ पर अग्रसर होने की चेष्टा भी की । व्यक्ति और समाज के चरित्र का प्रक्षालन हुआ,किंतु उस सीमा तक नहीं हो सका, जिस सीमा तक होना चाहिए था ।

इसका बहुत बड़ा कारण यह था कि समाज के संस्कार के लिए नैतिक उपदेशों से अधिक समर्थ माध्यम की आवश्यकता थी ।जनमानस इतना विकृत और पंगु हो चुका था कि उसे रास्ते पर लाने के लिए पाप-पुण्य का विवेचन ही पर्याप्त नहीं था : उसे किसी ऐसी दिव्य और समर्थ संवेदना की आवश्यकता थी जो उसकी अन्तश्चेतना और बहिश्चेतना के टूटे हुए सम्बन्धसूत्र को फिर से जोड़ सके और उसे उसकी आत्मा का संस्पर्श प्राप्त करा सके । साथ ही इस सम्वेदना का स्वरूप इतना अतीन्द्रिय और अमानवीय भी न हो कि वह व्यक्ति की पकड़ ही में न आये; उसका प्रिय और आत्मीय होना भी आवश्यक है । ऐसी कोई सम्वेदना उसे नैतिक उपदेशों से नहीं मिली । यों भी यह एक निश्चित बात है, कि नैतिक आचरण द्वारा प्राप्त पूर्णता आंशिक ही होती है । नैतिक नियम जीवन की एक व्यावहारिक आवश्यकता अवश्य हैं,क्योंकि इनके द्वारा मानव की स्थूल प्रवृत्तियों का नियन्त्रण होता है । इनसे व्यक्ति की गतिविधियों में सामन्जस्य और जीवन में व्यवस्था स्थापित हो जाती हैं; किन्तु यह दावे के साथ नहीं कहा जा सकता कि इनसे देहेन्द्रिय, मन, प्राण, बुद्धि आदि विभिन्न चेतनाओं में बटे मानव व्यक्तित्व को वह एकरूपता भी मिल जाती है, जिससे उसका वास्तविक संस्कार होता है । व्यक्ति के संस्कार के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि वह अपनी सत्ता के स्थूल स्तरों पर समस्त बाह्य और भौतिक सम्वेदनाओं के साथ रहता हुआ भी अपनी अन्तरात्मा के निविड़ सान्निध्य का अनुभव करे ।

सामान्य व्यक्ति के लिए इतना अन्तर्मुख होना सम्भव नहीं होता, न ही उसमें इतनी शक्ति होती है कि वह अपनी गहराई आप नाप सके । इसके लिए उसे एक सहारे की आवश्यकता होती है,जिसे `ईश्वर' कहते हैं । यह ईश्वर व्यक्ति का अपना ही सुन्दरतम और उदात्त रूप होता है और अपने माध्यम से उसे उसकी ही ओर ले जाता है । यह ईश्वर उसका सर्वोच्च आदर्श और सभी आध्यात्मिक और नैतिक मूल्यों का मूर्तिमान् स्वरूप होता है । यह आध्यात्मिक आदर्श इतने आकर्षक रूप में सन्तसम्प्रदाय व्यक्ति के सामने नहीं रख सका । सन्तसम्प्रदाय में ईश्वर-भावना तो है,पर वह बहुत सूक्ष्म और अमूर्त है । कबीर का ईश्वर सर्वथा निर्गुण और निर्विशेष है, भले ही उन्होंने उसे सगुण शब्दावलियों में पुकारा हो । ईश्वर की यह धारणा उपनिषद्-सम्मत तो थी ही,साथ ही इस्लाम से विरोध बचाने में भी सहायक थी । सन्तमत में सगुण भावना का प्रबल विरोध किया गया है । अत: वह जनता को कोई ऐसा आध्यात्मिक आदर्श नहीं दे सका, जो उसके जीवन में जगह बना सके ।

मध्ययुग का मनोविज्ञान कुंठा और हताशा का मनोविज्ञान है । व्यक्ति की सभी मानसिक विकृतियां और चारित्रिक विकलांगताएं उसकी कुंठाओं, निराशाओं और आदर्शहीनता का प्रतिफलन होती हैं तथा ७ धार्मिक विधि-निषेध या पाप-पुण्य की सैद्धान्तिक समीक्षा इन कुंठाओं को धो नहीं पाती । कुंठाएं अभावों से उत्पन्न होती हैं और जब तक इन अभावों की पूर्ति

नहीं होती, तब तक कुंठाओं और उनसे उत्पन्न विकृतियों का अस्तित्व बना ही रहता है । व्यक्ति के इन अभावों की पूर्ति की राम और कृष्ण के आदर्शों ने : ये आदर्श देवत्व से युक्त होते हुए भी मानव के इतने निकट थे कि उसके जीवन का अभिन्न अंग बन गए । व्यक्ति को जो कुछ भी अपने जीवन में नहीं मिला, वह सब उसने इनमें खोजा और उसे वह सब भरपूर मिला भी; उसने इन्हें पूजा, सराहा और इनसे प्रेम किया । रामभक्ति और कृष्णभक्ति सम्प्रदायों ने लोगों के समक्ष कोई विस्तृत आचारसंहिता और जटिल क्रियाविधान नहीं रखा; उनको तो केवल एक ही अपेक्षा थी-- आत्मसमर्पण, प्रेममय आत्मसमर्पण । व्यक्ति अपनी सभी अपूर्णताओं, सभी अभावों के साथ उनके सामने प्रणत होजाये, प्राणों के समस्त आवेग से उन्हें पुकारे तो फिर कोई कारण नहीं है कि भगवान् उसका उद्धार न करें, उसे स्वीकार न करें ।

व्यक्ति और समाज का नैतिक संस्कार करने की दिशा में रामभक्तिशाखा ने ठोस कार्य किया । चरित्र-भ्रष्ट समाज के समक्ष रघुकुल की मर्यादा का आदर्श रखा गया । एक बार फिर रीति-नीति, आचार-विचार, करणीय-अकरणीय का भेद समझाया गया, किन्तु इस बार उपदेशों से नहीं, श्रीराम के चरित्र के माध्यम से । श्रीराम का चरित्र इतना लोकप्रिय हुआ कि जन-जीवन का अभिन्न अंग बनने लगा । आदर्शों से च्युत समाज के समक्ष राम जीवन के सर्वोच्च आदर्श और सभी श्रेष्ठ मूल्यों के संरक्षक के रूप में उपस्थित हुए । व्यक्ति ने राम को स्वीकार किया, फलत: राम के चरित्र से सम्बद्ध वे सभी नैतिक और आध्यात्मिक मूल्य उसके जीवन में स्वयमेव प्रविष्ट हो गए। रामचरित्र के साथ इस घनिष्ठ आत्मीयता ने मध्ययुगीन समाज के नैतिक और चारित्रिक संस्कार इतनी स्वाभाविकता से सम्पन्न किए कि किसी बाह्य विधि-विधान या सायास-प्रक्रिया की आवश्यकता ही नहीं पड़ी ।

इसप्रकार रामभक्ति का कार्य महत्त्वपूर्ण रहा, किन्तु कृष्णभक्ति का कार्य उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण था । रामभक्ति से व्यक्ति की भावना का एक ही अंश परितृप्त हुआ--श्रद्धा का अंश; किन्तु राग अंश लगभग अतृप्त ही रहा । मानव-मन श्रद्धा और आदर करना चाहता है, परन्तु प्रेम भी तो करना चाहता है । वह असीम प्रेम करता है और इस प्रेम की अभिव्यक्ति अनेक सम्बन्धों में होती है । व्यक्ति की यह प्रेमाकांक्षा कभी दया, कभी मैत्री, कभी विलास है के रूप में अभिव्यक्त होती है । उसके अनुराग की इन विविध अभिव्यक्तियों के लिए श्रीराम के व्यक्तित्व में अवकाश नहीं था; कहां उनका धीरगम्भीर व्यक्तित्व और कहां मानव-मन की उच्छृंखल भावनाएं । उनके मर्यादित और संयमित चरित्र में केवल दास्यभाव का ही अवकाश था ; वे स्वामी हो सकते हैं, पिता हो सकते हैं, गुरु हो सकते हैं, किन्तु प्रेमी, पति और सखा नहीं हो सकते । फिर इन भावनाओं का क्या हो? इन स्थूल शारीरिक वृत्तियों का क्या हो, जो पतन की ओर ले जाती हैं ? दमन--रामभक्ति का यही

उत्तर था । दमन, किन्तु कभी स्वाभाविक नहीं होता, वह एक आरोपित मन:स्थिति है । तृषा का अन्त तृप्ति ही है और कुछ नहीं-- जीवन के इस महत्वपूर्ण सत्य को व कृष्णभक्ति ने पहचाना; नकेवल पहचाना,अपितु स्वीकार भी किया । कृष्णभक्ति ने सभी भौतिक मूल्यों को ग्रहण किया,किन्तु उनको इतना परिष्कृत और उदात्त बना दिया कि वे अति-भौतिक बन गए । कृष्णभक्ति-धारा मर्यादावाद के द्वारा व्यक्ति का उद्धार करने के प्रयत्नों से उदासीन ही रही : जहां तक सदाचार और चरित्र का सम्बन्ध है, उसने उसे किसी बाह्य-व्यवस्था या सामाजिक आग्रह घोषित न कर वृत्तियों के सहज उदात्तीकरण के रूप में स्वीकार किया । मनुष्य की प्रमुख दुर्बलताओं को परम्परागत दृष्टिकोण से दमनपूर्वक दूर करने के स्थान पर उन्हें उनके स्वाभाविक रूप में ही ऊंचा उठाने का प्रयत्न किया ।

कृष्ण-भक्ति में सभी मानवीय सम्बन्धों को स्वीकार किया गया ,किन्तु उनका आलम्बन श्रीकृष्ण हैं । वात्सल्य है तो श्रीकृष्ण के प्रति,प्रेम और विलास है तो वह भी श्रीकृष्ण के ही साथ । आलम्बन बदल जाने से वृत्तियों का स्वरूप यथावत् रहने पर भी उनका स्वभाव बदल गया । कृष्णभक्ति के आराध्य का व्यक्तित्व अत्यन्त अद्भुत है । वे तत्वत: साक्षात् परब्रह्म और परमात्मा हैं,किन्तु साथ ही यशोदा के लाड़ले, गोपियोंका माखन चुराने वाले हैं; वे ग्वालबालों के सखा और राधा के समर्पित प्रेमी हैं । भक्तों ने उन्हें परब्रह्म स्वीकार करते हुए भी अपने-अपने भाव के अनुसार वात्सल्य सख्य और माधुर्य के आलम्बन के रूप में अपने लौकिक जीवन का अंग बनाया है । श्रीकृष्ण के सम्पर्क से सभी मानवीय भाव पवित्र और उदात्त बन गए । परिवार के जो नाते और सम्बन्ध मनुष्य के आध्यात्मिक विकास में सबसे बड़े अवरोध हैं, उन्हीं सम्बन्धों से प्राप्त होकर श्रीकृष्ण अपने भक्तों का राग-द्वेष अपने में समर्पित करा लेते हैं । वे सभी दुर्बलताएं और वासनाएं जो मनुष्य को विषयों में लिप्त किए रहती हैं और पतन की ओर ले जाती हैं, श्रीकृष्ण की ओर अभिमुख होकर उसके सांसारिक बन्धन छुड़ा देती हैं । श्रीकृष्ण को काम,क्रोध,भय,यहां तक कि शत्रुभाव से भी भजा जा सकता है; भागवत में इसकी स्पष्ट स्वीकृति है । इस प्रकार कृष्णभक्ति-धारा ने बहुत सहानुभूतिपूर्वक,बड़ी मनोवैज्ञानिक रीति से व्यक्ति का संस्कार किया । यही दृष्टि रामभक्ति धारा की भी थी,परन्तु उसके आराध्य का व्यक्तित्व कुछ ऐसा था, कि उसमें भावनाओं के निर्बन्ध संचरण का ऐसा अवकाश नहीं था । इसके विपरीत श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व ही कुछ इस प्रकार का है कि उसमें प्रत्येक मनोराग के लिए स्थान है ।

श्रीकृष्ण का स्वरूप इतना ललित,इतना सुन्दर और आकर्षक है, साथ ही कृपालुता और भक्तवत्सलता के आश्वासन से इतना भरपूर है कि उनके सामने आत्मसमर्पण स्वत: ही हो जाता है । आत्मसमर्पण होते ही व्यक्ति पर से अहं का शासन भी समाप्त हो जाता है । इस तरह चित्तपरिशुद्धीकरण की सायास प्रक्रियाएं इतने सहज रूप से और इतने सौल्लास सम्पन्न हुईं कि व्यक्ति ने सब कुछ छोड़ दिया और उसे यह आभास भी नहीं हुआ कि उसने कुछ छोड़ा है । चित्त की

सभी वृत्तियां बदल कर भौतिक से आध्यात्मिक हो गईं और चित्तवृत्तियों के परिष्कार से शरीरवृत्तियां स्वयं ही शान्त और संयत हो गईं। गीता में श्रीकृष्ण ने जिस असंगता का उपदेश दिया है, उसी को कृष्णभक्तों और कवियों ने चित्रित किया है तथा जो प्रेममय आत्मसमर्पणयुक्त भक्तियोग उन्होंने अर्जुन को समझाया है, वही कृष्णभक्ति और कृष्णकाव्य का आदर्श है।

मानव जीवन में यह एक क्रान्तिकारी घटना थी। पहली बार यह हुआ कि भगवान् के संसर्ग से व्यक्ति-चेतना आमूल-चूल परिवर्तित हो जाय और वह भी इतने व्यापक स्तर पर। कृष्णभक्ति ने मानव को ईश्वर का प्रभुत संस्पर्श और निविड़ सान्निध्य दिया ईश्वर तत्त्व को उसे उसकी ही परिभाषाओं, उसके ही बिम्बों में समझाकर। यही कृष्णभक्ति का मनोविज्ञान है; ईश्वर और व्यक्ति-चेतना के पारस्परिक सम्बन्धों को समझाने की यही शैली है उसकी। 'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच: ।।' -- श्रीकृष्ण का यह गीतावाक्य ही कृष्णभक्ति का अमोघ मन्त्र है, तथा संसार में भटकी हुई विकीर्ण और विकेन्द्रित आसक्तियों और वांछाओं का श्रीकृष्ण में एकांत-सम्पुंजन-- यही कृष्णभक्ति की एकमात्र आचारपद्धति है।

कृष्णभक्ति का यह मनोविज्ञान ही सभी कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों का भी मनोविज्ञान है। जिन सम्प्रदायों का अपना विशिष्ट दर्शन है, जैसे मध्व, निम्बार्क, वल्लभ और चैतन्य संप्रदायों का, उनमें शास्त्रीय-विवेचन के समय श्रीकृष्ण को परमवस्तु, परब्रह्म की ही दृष्टि से देखा गया है। वल्लभाचार्य अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को भावना के आग्रहों से बचाने का यथासम्भव प्रयत्न करते हैं, तो भी प्रत्येक सम्प्रदाय में किसी-न-किसी लौकिक सम्बन्ध को आश्रय बनाकर श्रीकृष्ण की भक्ति की गई है। मध्वसम्प्रदाय में दास्यासक्ति का महत्त्व है तो निम्बार्क सम्प्रदाय में सख्यासक्ति का। वाल्लभमत में वात्सल्यासक्ति का प्राधान्य है, क्योंकि वल्लभ के उपास्य बालकृष्ण हैं; चैतन्य मत में युवाकृष्ण को इष्ट स्वीकार कर प्रेमासक्ति या मधुरासक्ति को सर्वोच्च स्थान दिया गया है। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक मत में भक्त और भगवान् के बीच किसी-न-किसी ऐसे सम्बन्ध का विधान है, जो स्वभाव में अलौकिक होता हुआ भी रूप में लौकिक है।

इस मनोविज्ञान को समझ लेने के पश्चात् वल्लभ तथा अन्य कृष्णसम्प्रदायों की आचार-विचार सम्बन्धी मान्यताओं का आधार स्पष्ट हो जाता है। कृष्णभक्ति के आचार्यों ने कहीं भी लौकिकता का अनादर नहीं किया है; अलौकिकता की अनुभूति लौकिकता में ही करना और कराना उनका उद्देश्य था। कृष्णभक्ति ने न केवल समाज को ऊंचा लक्ष्य दिया, अपितु दीर्घकालीन जड़ता और मानसिक विकृतियों से उत्पन्न असुन्दरता और नीरसता को मिटाकर उसे सौन्दर्य, सुषमा और आनन्द से भर दिया।

प्रन्द्रहवीं-सौलहवीं शती में कृष्णभक्ति की जो धारा बही उसने बंगाल से गुजरात तक के प्रान्त को रस-निमग्न कर दिया, उत्तरभारत को तो जैसे नया जीवन ही मिल गया । रीतिकालीन कवियों के हाथ में पड़कर भले ही श्रीकृष्ण केवल एक शृंगारी नायक रह गए हों, किन्तु भक्तिकाल के भक्तों और कवियों के लिए तो वह `पारसमणि` हैं, जिनके स्पर्श से जो कुछ भी अपावन और अवर है-- पावन और श्रेष्ठ हो जाता है ।

------==========------
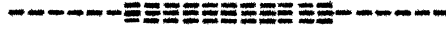
द्वितीय परिच्छेद

विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य

पिछले परिच्छेद में बहुत विस्तार से वल्लभाचार्य के दर्शन की सैद्धान्तिक और मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि पर विचार किया गया है । इसके पूर्व कि वल्लभ के सिद्धान्तों का अनुशीलन प्रारम्भ किया जाय, विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय तथा वल्लभ के विशुद्धाद्वैत मत के पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना आवश्यक है । वल्लभ और विष्णुस्वामी के मतों की सापेक्ष स्थिति क्या है-- यह प्रश्न अभी तक अनिर्णीत ही है ।

यद्यपि वल्लभ पर औपनिषदिक तथा पौराणिक परम्पराओं का प्रभाव पड़ा है, तथापि उनका साक्षात् सम्बन्ध चतु:सम्प्रदाय की परम्परा से ही है । चतु:सम्प्रदाय से तात्पर्य है श्री,ब्रह्म,रुद्र तथा सनकसम्प्रदायों से जिनके प्रवर्त्तक क्रमश: रामानुजाचार्य,मध्वाचार्य,विष्णुस्वामी तथा निम्बार्काचार्य हैं । इनमें से विष्णुस्वामी के रुद्रसम्प्रदाय से वल्लभ को सम्बद्ध करने की परम्परा है । पुष्ट प्रमाणों तथा विष्णुस्वामी से सम्बन्धित तथ्यों के अभाव में इस बात के सत्यासत्य का निर्णय अभी तक नहीं हो सका है; वैसे यह एक सामान्य धारणा है कि विष्णुस्वामी ने अद्वैत को माया-सम्बन्ध से रहित मानकर `शुद्धाद्वैत` का प्रवर्तन किया था, जिसका पल्लवन आगे चलकर वल्लभ के द्वारा हुआ । विष्णुस्वामी का मत क्या था, इस विषय में निश्चितरूप से कुछ कहना कठिन है, क्योंकि विष्णुस्वामी का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है । उनके सिद्धान्त की जो अस्पष्ट-सी रूप-रेखा सामने आती है, वह भी उन कतिपय उद्धरणों और उल्लेखों पर आधारित है, जो अन्य लेखकों द्वारा प्रस्तुत किए गए हैं? ये उल्लेख भी संख्या में गिने-चुने ही हैं ।

सबसे पहले तो विष्णुस्वामी को लेकर मतभेद है कि वाल्लभसम्प्रदाय के आदि-संस्थापक कौन से विष्णुस्वामी हैं, क्योंकि इतिहास में कई विष्णुस्वामियों का उल्लेख मिलता है । विष्णुस्वामी का समय-निर्धारण भी सम्भावना के ही आधार पर किया जाता है । आधुनिक विद्वान् तीन-चार विष्णुस्वामियों की कल्पना करते हैं । पहले विष्णुस्वामी तमिल प्रदेश के पाण्ड्य राजा के राजपुरोहित दैवेश्वरभट्ट के पुत्र थे,`वल्लभदिग्विजय` में दैवेश्वरभट्ट का नाम देवस्वामी बताया गया है । इन विष्णुस्वामी का दूसरा नाम देवतनु भी था । इन्होंने`सर्वज्ञसूक्त` नामक ग्रन्थ रचना भी की थी : यह ग्रन्थ भाष्यरूप था, किन्तु यह भाष्य किस ग्रन्थ अथवा विषय पर था, यह ज्ञात नहीं है ।

दूसरे विष्णुस्वामी कांचीपुरम् के निवासी राजगोपालविष्णुस्वामी थे ।इनका न्म सन् ८३० के लगभग हुआ था । तीसरे विष्णुस्वामी वल्लभसम्प्रदाय के आदि आचार्य माने जाते हैं। रभण्डारकर इनका समय तेरहवीं शताब्दी मानते हैं । प्रोफेसर काणे ने अपने धर्मशास्त्र के इतिहास में क और विष्णुस्वामी का उल्लेख किया है । ये तमिल प्रदेश के ब्राह्मण थे तथा कावेरी नदी के तट पर

रहते थे । इस कारण इन्हें `कावेरी-विष्णुस्वामी` भी कहा जाता था । रात के अंधेरे में जैसे सब वस्तुएं एक रंग की दिखती हैं, वैसे ही अतीत के अंधकार में ये सभी एक हो गए हैं तथा इन सब के व्यक्तित्वों से मिलकर एक विष्णुस्वामी की परिभावना हुई है, जो विशुद्धाद्वैत के संस्थापक माने जाते हैं ।

यदुनाथ जी महाराज द्वारा रचित `वल्लभदिग्विजय` में इन विष्णुस्वामी का परिचय इस प्रकार दिया गया है-- विष्णुस्वामी दक्षिण के पाण्ड्य राजा विजय के राजगुरु देव-स्वामी के पुत्र थे । इन्होंने अपने मत का प्रचार करने के लिए द्वारिका,वृन्दावन और पुरी की यात्रा की । अधिक आयु होने पर इन्होंने अपने द्वारा अभिपूजित भगवद्विग्रह (मूर्तियां) अपने पुत्र को सौंप कर वैष्णव-विधि से सन्यास ग्रहण किया और कांची चले आए । यहां पर इनके अनेक शिष्य बने,जिनमें से देवदर्शन,श्रीकण्ठ,शतधृति और परामुति आदि प्रमुख थे । अपनी मृत्यु के पूर्व इन्होंने अपने मत के प्रचार का भार देवदर्शन को सौंपा । देवदर्शन के सात सौ प्रमुख शिष्य थे, जो इस मत के प्रचार में संलग्न थे । दक्षिण में विष्णुस्वामी सम्प्रदाय के जो मन्दिर और ग्रन्थ थे, उन्हें बौद्धों ने जला दिया था । `श्रीकृष्णकरणामृतम्` के रचयिता लीलाशुक बिल्वमंगल इन विष्णुस्वामी की ही शिष्य-परम्परा में थे। विष्णुस्वामी के सम्प्रदाय के ही एक और प्रसिद्ध आचार्य थे गोविन्दाचार्य; वल्लभाचार्य इनके शिष्य कहे जाते हैं ।

इस विवरण से स्पष्ट ज्ञात होता है कि वल्लभदिग्विजय के रचयिता यदुनाथ महाराज वल्लभाचार्य को निश्चित रूप से विष्णुस्वामी की ही परम्परा में मानते हैं ।

विष्णुस्वामी के समय को लेकर भी विद्वानों में थोड़ा मतभेद है । डा०सुरेन्द्र-नाथदास गुप्त शुद्धाद्वैत के संस्थापक विष्णुस्वामी का समय बारहवीं या तेरहवीं शताब्दी स्वीकार करते हैं[१]। नाभाजी ने `भक्तमाल` में ज्ञानदेव,नामदेव,त्रिलोचन और अन्त में वल्लभ को उनका शिष्य बतलाया है । ये ज्ञानदेव महाराष्ट्र के ज्ञानदेव ही प्रतीत होते हैं, जिन्होंने मराठी में भगवद्गीता पर `ज्ञानेश्वरी` नाम की टीका लिखी है, किन्तु महाराष्ट्र में ज्ञानदेव को विष्णुस्वामी का शिष्य स्वीकार करने की परम्परा नहीं है । जो भी हो, यदि `भक्तमाल` में दी गई परम्परा सत्य है तो भी विष्णुस्वामी का समय बारहवीं या तेरहवीं शती ही सिद्ध होता है । `ज्ञानेश्वरी` का रचना-काल सन् १२९० माना जाता है, यह तेरहवीं का उत्तरार्द्ध हुआ । जे०एन०फर्कुहर के अनुसार विष्णु-स्वामी `ज्ञानेश्वरी` के रचयिता ज्ञानदेव या ज्ञानेश्वर से तीस वर्ष बड़े थे[२] । इस तरह फर्कुहर के मत से विष्णुस्वामी का समय तेरहवीं शती का मध्य ही होना चाहिए । श्रीमद्भागवत के व्याख्याता

---

१ डा०एस०एन०दास गुप्त : `ए हिस्ट्री आफ इण्डियन फिलासफी`,भाग४, पृ०३८३ ।

२ जे०एन० फर्कुहर : `आउटलाइन आफ द रिलीजस लिटरेचर आफ इण्डिया`,पृ०२३४-३५।

श्रीधर का साक्ष्य इसके विरुद्ध है । वस्तुत: विष्णुस्वामी का समय निर्धारण करते समय श्रीधर के समय पर विचार करना अत्यन्त आवश्यक है,क्योंकि श्रीधर ने श्रीमद्भागवत की अपनी टीका`श्रीधरी` में विष्णुस्वामी का एक श्लोक उद्धृत किया है । विष्णुस्वामी की रचनाओं के नाम पर यही एक श्लोक मिलता ही है,अत: `श्रीधरी` का साक्ष्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है ।

श्रीधरस्वामी का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध निश्चितप्राय है । तेरहवीं शती के हेमाद्रि बोपदेव की कृति `मुक्ताफल` की अपनी टीका`कैवल्यदीपिका` में `श्रीधरी` से अनेक उद्धरण देते हैं । बोपदेव और हेमाद्रि इन दोनों का समय तेरहवीं शती निश्चित है : हेमाद्रि देवगिरि के हिन्दू राजा के कोषाध्यक्ष थे और बोपदेव इनके समकालीन थे तथा देवगिरि के ही राजा के यहां राज-पुरोहित थे । इस प्रकार इन दोनों का समय तेरहवीं शती होना एक ऐतिहासिक सत्य है । श्रीधर इनके पूर्ववर्ती हैं अत: श्रीधर का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध है । श्रीधर ने अपनी टीका में विष्णुस्वामी का श्लोक उद्धृत किया है अत: विष्णुस्वामी का समय बारहवीं शती का पूर्वार्द्ध होना चाहिए । यदि श्रीधर को तेरहवीं शती के आरम्भ का मान लें और इनमें और विष्णु-स्वामी में अधिक अन्तर भी न मानें, तो भी विष्णुस्वामी का समय बारहवीं शती का उत्तरार्द्ध ही स्थिर होता है । `वल्लभदिग्विजय` में बिल्वमंगल को विष्णुस्वामी का शिष्य बतलाया गया है । बिल्वमंगल का समय नवीं शती का है अत: वे विशुद्धाद्वैत के संस्थापक विष्णुस्वामी के शिष्य नहीं हो सकते : यदि वे विष्णुस्वामी के शिष्य हैं, तो उन विष्णुस्वामी के होंगे,जिनका समय सन् ८३० के लगभग है । शुद्धाद्वैत के आदि आचार्य विष्णुस्वामी के साथ उन्हें केवल सम्प्रदाय की गरिमा-वृद्धि के लिए ही सम्बद्ध किया गया है ।

विशुद्धाद्वैत से सम्बद्ध विष्णुस्वामी का समय बारहवीं शती ही होना भी चाहिए,क्योंकि उनके सिद्धान्तों के विषय में प्राप्त जानकारी के आधार पर यह निश्चितरूप से कहा जा सकता है कि वे वैष्णव-आचार्यों की ही परम्परा में थे । वैष्णवभक्ति,विशेषरूप से कृष्णभक्ति के सभी प्रमुख तत्त्व उनके सिद्धान्तों में मिलते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि रामानुजाचार्य तथा मध्वा-चार्य के पश्चात् विष्णुस्वामी ने भी एक भक्तिसम्प्रदाय की स्थापना की थी, दुर्भाग्य से जिसका इतिहास बहुतअस्पष्ट और धूमिल हो गया है । बहुत सम्भव है कि विष्णुस्वामी मध्वाचार्य के समका-लीन अथवा पूर्ववर्ती रहे हों ।

विष्णुस्वामी की दार्शनिक मान्यताएं क्या थीं, यह स्पष्टरूप से नहीं कहा जा सकता,क्योंकि उनकी कोई रचना आज हमारे सामने नहीं है । कहा जाता है कि उन्होंने `सर्वज्ञसूक्त` नामक भाष्य की रचना की थी,किन्तु वह भी उपलब्ध नहीं है । श्रीधर ने श्रीमद्भागवत की अपनी टीका में विष्णुस्वामी का उल्लेख किया है; बहुत सम्भव है कि विष्णुस्वामी ने भी भागवतपुराण

पर किसी भाष्य की रचना की हो, जो अब नहीं मिलता। किसी अज्ञात लेखक द्वारा रचित `सकलाचार्यमतसंग्रह` में विष्णुस्वामी के मत का संक्षिप्त परिचय दिया गया है, किन्तु उसे देखकर ऐसा लगता है, जैसे वल्लभ के सिद्धान्तों को ही उठाकर रख दिया गया हो। इस ग्रन्थ में वल्लभ के सिद्धांतों का या स्वयं वल्लभ का कोई उल्लेख नहीं है, जिससे आभास होता है कि इसकी रचना वाल्लभमत के विकास के पूर्व हुई होगी। इसके लेखक ने विष्णुस्वामी के सिद्धान्त या तो चली आती परम्परा से ग्रहण किए होंगे या विष्णुस्वामी की कोई कृति या कृतियां उस समय उपलब्ध रही होंगी। जो भी हो, `सकलाचार्यमतसंग्रह` में दिए गए विष्णुस्वामी के अत्यन्त संक्षिप्त परिचय के आधार पर यह निश्चित करना कठिन है कि क्या विष्णुस्वामी और वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों में कोई भिन्नता है, और यदि है तो क्या है? श्रीधर ने भागवत के प्रथम श्लोक का भाष्य करते हुए विष्णुस्वामी का एक श्लोक अपने मत के समर्थन में उद्धृत किया है। श्रीधर का मत है कि ईश्वर की दो शक्तियां हैं-- विद्याशक्ति और अविद्याशक्ति। अपनी विद्याशक्ति से वह अपनी ही माया का नियन्त्रण करता है। अपने वास्तविक रूप में वह सत्, चित्, आनन्द ; सर्वज्ञ और शक्तिमान् है। भक्ति के द्वारा उसके स्वरूप का वास्तविक ज्ञान प्राप्त कर लेने पर ही जीव मुक्ति का अधिकारी हो सकता है। इसी सन्दर्भ में श्रीधर विष्णुस्वामी को उद्धृत करते हैं --`तदुक्तं विष्णुस्वामिना--

ह्लादिन्या संविदाश्लिष्ट: सच्चिदानन्द ईश्वर: ।
स्वाविद्यासंवृतो जीव: संक्लेशनिकराकर: ।।`[1]

इसके आधार पर विष्णुस्वामी का यह मत निश्चित होता है:-

ईश्वर सत्, चित् और आनन्द-स्वभाव है। `ईश्वर` पद से उसका सविशेषत्व तथा मायापति होना ज्ञापित है। उसकी सर्वशक्तिमत्ता और जगन्नियन्तृत्व का भी बोध होता है। वह निरन्तर अपनी ह्लादिनीशक्ति अर्थात् आनन्दरूपा विद्याशक्ति से युक्त है। वह जीव से इस अर्थ में भिन्न है कि जीव अपनी अविद्या से ग्रस्त है तथा इस कारण नाना प्रकार के कष्ट भोगता है। `सकलाचार्यमतसंग्रह` में विष्णुस्वामी के जो सिद्धान्त दिए गए हैं, उनका उल्लेख सर भण्डारकर ने अपनी पुस्तक `वैष्णविज्म, शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स` में इस प्रकार किया है :-

`विश्व की आदिसत्ता ब्रह्म सृष्टि के पूर्व एकाकी था; उसने एक से अनेक होने की इच्छा की, और स्वयं ही जड़ जगत्, चेतन जीव तथा अन्तर्यामी रूप से अभिव्यक्त हुआ; ये जड़-जीव उससे उसी प्रकार प्रकट हुए, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग प्रकट होते हैं; अपनी अचिन्त्य सामर्थ्य से ब्रह्म ने जगत् में चित् और आनन्द अंश तिरोहित कर केवल सदंश प्रकट किया, जीव में आनन्दांश तिरोहित कर सत् और चित् तथा अन्तर्यामी में सत् चित् और आनन्द तीनों ही अंश प्रकट रखे।`[2]

---

१ श्रीमद्भा० पर `श्रीधरी` १।१।१

२ सर आर०जी०भण्डारकर :`वैष्णविज्म,शैविज्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स`,पृ०७८

विष्णुस्वामी की दार्शनिक मान्यताओं के विषय में इतना ही ज्ञात है ।

विष्णुस्वामी कृष्णोपासक हैं तथा श्रीकृष्ण को विश्व का मूलसत्य और परात्पर ब्रह्म स्वीकार करते हैं । उन्होंने श्रीराधा को भी मान्यता दी है, सम्भवत: ईश्वर श्रीकृष्ण की ह्लादिनी शक्ति के रूप में । अन्य वैष्णव आचार्यों की भांति इन्होंने भी भक्ति को ईश्वर-प्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन तथा साध्यस्वरूपा स्वीकार किया है । इससे अधिक इनके सम्प्रदाय के विषय में कुछ ज्ञात नहीं है । एक मान्यता यह भी है कि ये विष्णु के नृसिंहावतार के उपासक थे, परन्तु इसकी सम्भावना कम ही है । इनके सम्प्रदाय का नाम 'रुद्रसम्प्रदाय' क्यों पड़ा, यह भी एक पहेली है;रुद्र तो एक वैदिक देव है, उसका कृष्णभक्ति के सम्प्रदाय से क्या सम्बन्ध? यह अवश्य हो सकता है कि विष्णुस्वामी का ही कोई अपर नाम या उपनाम'रुद्र' रहा हो, और उन्हीं के नाम पर सम्प्रदाय का नाम'रुद्रसम्प्रदाय'पड़ गया हो ।

यह तो विष्णुस्वामी की स्थिति हुई । अब वल्लभ की स्थिति विचारणीय है। स्वयं वल्लभ कहीं भी विष्णुस्वामी को अपने मत का संस्थापक या प्राचीन आचार्य स्वीकार नहीं करते: उनके अनुसार उनका शुद्धाद्वैतसिद्धान्त या 'ब्रह्मवाद' सर्वथा मौलिक है तथा इसका प्रवर्तन उन्हीं के द्वारा किया गया है । उनके सम्प्रदाय में भी इस विषय में मत-वैभिन्य है । कुछ इस सिद्धान्त को विष्णुस्वामी द्वारा प्रवर्तित मानते हैं, और कुछ वल्लभ के द्वारा । विष्णुस्वामी को संस्थापक स्वीकार करने वालों में 'वल्लभदिग्विजय' के रचयिता यदुनाथ महाराज ही प्रमुख हैं; इस मान्यता को स्वीकार करने वाले विद्वान् कम ही हैं । इसके विपरीत वल्लभ को ही ब्रह्मवाद का संस्थापक स्वीकार करने वालों में विट्ठलेश,पुरुषोत्तम महाराज, गोपेश्वर महाराज, पीताम्बर महाराज, हरिराय तथा लालू भट्ट जैसे उद्भट विद्वान् हैं । वल्लभ विष्णुस्वामी की शिष्य-परम्परा में थे -- यह बात अन्त:साक्ष्य के आधार पर सिद्ध नहीं होती । वल्लभ की रचनाओं में कहीं भी यह परिलक्षित नहीं होता कि वे विष्णुस्वामी के शिष्य हैं । उन्होंने केवल एक बार ही विष्णुस्वामी का उल्लेख किया है-- श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध पर टीका लिखते समय और वहां भी विष्णुस्वामी से अपना मत-पार्थक्य दिखलाया है । वल्लभ ने अनेकश: यह बात दोहरायी है कि यह ब्रह्मवाद वह पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की आज्ञा से ही प्रख्यापित कर रहे हैं । वे श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी का उल्लेख अपने गुरुरूप से नहीं करते; पुष्टिसम्प्रदाय का जो दीक्षा-मन्त्र है, वह भी उन्हें श्रीकृष्ण से ही प्राप्त हुआ है । अपने प्रकरण-ग्रन्थ 'सिद्धान्त-रहस्यम्' में उन्होंने यह बात स्पष्टरूप से कही है :-

'श्रावणस्यामलेपक्षे एकादश्यां महानिशि ।
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।'

उनके जितने जीवनचरित्र प्राप्त हैं, और उन्हें प्रामाणिक ही समझना चाहिए,क्योंकि वल्लभ का समय बहुत प्राचीन नहीं है, उनमें भी उनके किसी दीक्षा-गुरु का उल्लेख नहीं आता । जब उनके जीवनकी

छोटी-से-छोटी घटना का वर्णन है, तब दीक्षा-गुरु का उल्लेख न होना केवल भूल या असावधानी नहीं कही जा सकती । उनकी जीवनियों में इस बात का वर्णन है कि उन्होंने विद्याध्ययन करते समय ही शंकर के मायावाद के विरोध में ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैत की परिभावना कर ली थी । बारह वर्ष की आयु में जब वे अपनी भारतवर्ष की प्रथम परिक्रमा करते हुए दक्षिण में विजयनगर पहुंचे तो राजा कृष्णदेव की सभा में अपने मत की स्थापना की । राजा कृष्णदेव ने उनका शिष्यत्व ग्रहण किया तथा उनका कनकाभिषेक किया । इसी अवसर पर सभी मतवादियों को निरस्त करने के उपलक्ष में उन्हें `महाप्रभु` की उपाधि दी गई । इस समय उनकी आयु अधिक-से-अधिक चौदह वर्ष की थी । उनसे प्रभावित होकर माध्वमतानुयायी व्यासतीर्थ ने उनसे माध्वसम्प्रदाय की गद्दी पर बैठने का अनुरोध किया, जिसे उन्होंने यह कहकर अस्वीकार कर दिया कि भगवान् की आज्ञा है कि वे सम्पूर्ण देश का परिभ्रमण कर अपने मत का प्रचार करें । यह विचारणीय है कि जब उन्होंने माध्वसम्प्रदाय की गद्दी पर बैठना स्वीकार नहीं किया तो वे विष्णुस्वामी की गद्दी पर ही क्यों अभिषिक्त हुए होंगे । इसमें कोई सन्देह नहीं है कि उन्होंने कोई गद्दी स्वीकार नहीं की थी । उन्होंने तीन बार भारत की परिक्रमा कर अपने सिद्धान्त का व्यापक प्रचार किया था तथा पहले मथुरा, तब काशी और सबसे अंत में अरैल को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था । उन्होंने स्वतन्त्ररूप से पुष्टिमार्ग की स्थापना की थी, जो सभी भक्तिसम्प्रदायों से सर्वथा स्वतन्त्र था ।

वल्लभ ने अपने किसी गुरु की बात नहीं कही है, श्रीकृष्ण ही उनके एकमात्र गुरु हैं । उन्होंने किसके पास विद्याध्ययन किया था, यह भी ज्ञात नहीं है । यदुनाथ महाराज ने `वल्लभदिग्विजय` में वल्लभ के गुरु जिन गोविन्दाचार्य का उल्लेख किया है, उनका भी उल्लेख वल्लभ अथवा उनके किसी अन्य सम्प्रदायानुवर्ती ने नहीं किया है । गोविन्दाचार्य नाम के तो एक ही गुरु दर्शन के क्षेत्र में प्रसिद्ध हैं, और वे शंकराचार्य के गुरु हैं । यह परम्परा है कि लेखक अपने ग्रन्थ के प्रत्येक परिच्छेद या अध्याय के अन्त में गुरुसहित अपना नामोल्लेख करता है : वल्लभ ने भी इस परंपरा को निबाहा है, अणुभाष्य के प्रत्येक अध्याय के अन्त में वे `पुष्पिका` देते हैं, किन्तु वे विष्णुस्वामी या गोविन्दाचार्य का उल्लेख न कर लिखते हैं-- `इति श्रीवेदव्याससमवर्तिश्रीवल्लभाचार्यविरचितेऽणुभाष्ये ............` । वाल्लभमत को यथातथ्य प्रस्तुत करने वाले विट्ठलनाथ भी अपने ग्रन्थों में श्रीकृष्ण की स्तुति करने के पश्चात् अपने पिता वल्लभाचार्य की `चरण-रेणु` की ही वन्दना करते हैं, अन्य किसी आचार्य का उल्लेख नहीं करते-- `जयन्ति पितृपादाब्जरेणवो यत्प्रसादतः ।

भक्तिः प्राप्या तदन्याप्यमोशाभावश्च पण्डितैः ।।१।।
(भक्तिहंसः)

वल्लभाचार्य की रचनाओं में उनका जो चित्र उभरता है, वह एक विद्वान् किन्तु निरीह भक्त का चित्र है, जो अत्यन्त विनम्र तथा दर्पशून्य है । जगह-जगह पर उनकी समन्वयवादिता

और सहिष्णुता का परिचय मिलता है। अपने प्रबलतम प्रतिपक्षी शंकराचार्य का उल्लेख भी वे आदरपूर्वक 'अस्मद्गुरु:' कहकर करते हैं। उनका स्वभाव ऐसा प्रतीत नहीं होता कि वे सिद्धान्त के प्रवर्त्तन का श्रेय लेने के लिए सिद्धान्त के वास्तविक प्रतिपादक विष्णुस्वामी का नामोल्लेख तक नहीं करेंगे।

सिद्धान्त की दृष्टि से भी वल्लभाचार्य ने विष्णुस्वामी का प्रतिवाद किया है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में 'भक्तियोग' के सन्दर्भ में वल्लभ विष्णुस्वामी की भक्ति को 'सगुण' तथा अपनी भक्ति को 'निर्गुण' बताकर उनके मत से अपने मत का अन्तर स्पष्ट करते हैं।[1] सगुणभक्ति गुणों से परिच्छिन्न होने के कारण भेदपरक होती है अर्थात् ईश्वर और सृष्टि में भेदबुद्धिपूर्वक होती है: निर्गुणाभक्ति ईश्वर और सृष्टि के अभेद में पर्यवसित होती है। यह निर्गुणाभक्ति ही वल्लभ का प्रतिपाद्य है। इसका अर्थ यह हुआ कि वल्लभ विष्णुस्वामी के मत को द्वैतपरक मानते हैं, जब कि वे स्वयं अद्वैत के प्रतिपादक हैं।

वल्लभ ने उपनिषद् के अद्वैतपरक वाक्यों पर बल देकर ब्रह्म को स्वरूपगत भेद से रहित माना है: ब्रह्म और उसके धर्मों में भी अद्वैत ही है, उसके धर्म व उसमें किसी प्रकार के द्वैत को जन्म नहीं देते। इसके विपरीत विष्णुस्वामी द्वैतबोधक श्रुतियों को ही प्रमुखता देते हैं: निर्भयराम ने अपने 'अधिकरणसंग्रह' में लिखा है कि ब्रह्माद्वैतवाद तथा सेव्य-सेवकभाव, में विरोध मानने के कारण विष्णुस्वामी, मध्व आदि जो व्याख्याकार हैं, वे अभेदबोधक श्रुतियों में भी लक्षणा से भेदपरत्व मानकर (ईश्वर और जीव में) शुद्ध भेद ही स्वीकार करते हैं।[2]

यहां विष्णुस्वामी का उल्लेख मध्वाचार्य के साथ हुआ है। मध्वाचार्य द्वैतवादी हैं; इसका अर्थ यह हुआ कि मध्वाचार्य की भांति विष्णुस्वामी भी भक्तिवादी आचार्य हैं तथा सेव्य-सेवक भाव तथा जीवब्रह्मैक्य में परस्पर विसंगति होने के कारण जीव और ब्रह्म में तात्त्विक भेद स्वीकार करते हैं। वल्लभाचार्य भेद न स्वीकार कर अंशांशिभाव के आधार पर जीव और ब्रह्म में अद्वैत होने पर भी सेव्य-सेवकभाव की उपपत्ति स्वीकार करते हैं। इस प्रकार स्वयं वल्लभ के अनुसार विष्णुस्वामी भेदवादी हैं तथा उनका सिद्धान्त वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त से भिन्न है। ऐसी स्थिति में विष्णुस्वामी को शुद्धाद्वैत का प्रवर्तक मानना समीचीन नहीं ज्ञात होता। इसके अतिरिक्त श्रीधर ने

---

१ "भेद: पारमार्थिक इति शास्त्रं पुरस्कृत्य त्रिविधो भक्तियोग उक्त:। ते च साम्प्रतं विष्णुस्वाम्यनुसारिण:, तत्ववादिन:, रामानुजाश्चेति तमोरज: सत्वैर्भिन्न:। अस्मत्प्रतिपादितं नैर्गुण्यम्"।

—'सुबोधिनी' ३।३२।३७

२ "......तस्यापि दुर्बोधत्वेन व्याख्यानसापेक्षतया व्याख्यातारो विष्णुस्वामिमध्वप्रभृतयो ब्रह्माद्वैतवादस्य सेव्यसेवकभावस्य च विरोधं मन्वाना अभेदबोधकश्रुतिषु लक्षणया भेदपरत्वं शुद्धं भेदमङ्गीचक्रु:"।

—'अधिकरण संग्रह:', पृ० १

विष्णुस्वामी का जो श्लोक उद्धृत किया है, उसमें ब्रह्म की विद्याशक्ति को 'ह्लादिनीसंवित्' के नाम से सम्बोधित किया गया है। वल्लभ कहीं भी विद्याशक्ति को इस नाम से अभिहित नहीं करते; चैतन्य मत में अवश्य ब्रह्म की ह्लादिनीसंवित्, संधिनीसंवित् आदि स्वरूप-शक्तियां स्वीकार की गई हैं।

जहां तक 'सकलाचार्यमतसंग्रह' में दिए गए विष्णुस्वामी के सिद्धान्तों का प्रश्न है, यह भी असम्भव नहीं है कि लेखक ने विष्णुस्वामी के कोई ग्रन्थ न देखे हों और परम्परा के ही आधार पर विष्णुस्वामी को शुद्धाद्वैत का प्रवर्तक मानकर वल्लभाचार्य के ही सिद्धान्त विष्णुस्वामी के सम्भावित सिद्धान्तों के रूप में रख दिए हों। किसी पुष्ट प्रमाण के अभाव में यह निश्चितरूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त ग्रन्थ में दिए गए सिद्धान्त विष्णुस्वामी के ही हैं: डा०सुरेन्द्रनाथदास-गुप्त[1] का भी यही मत है।

फिर भी विष्णुस्वामी को विशुद्धाद्वैत का प्रवर्तक मानने की जो मान्यता चल पड़ी है, उसका भी तो कोई आधार होना ही चाहिए। सम्भवत: इसका आधार दोनों के सिद्धांतों में पाई जाने वाली कतिपय समानताएं हैं। दोनों ही वैष्णव आचार्य हैं तथा मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन के आधारस्तम्भों में से हैं। दोनों ही सविशेषवस्तुवादी हैं तथा श्रीकृष्ण को परब्रह्म स्वीकार करते हैं, साथ ही दोनों कृष्णभक्त भी हैं। विष्णुस्वामी और वल्लभ दोनों भक्ति को भगवत्प्राप्ति का प्रमुख साधन और साथ ही स्वयंपुरुषार्थरूपा स्वीकार करते हैं। सेव्य-सेवकभाव भी दोनों को मान्य है। हो सकता है कि इन्हीं समानताओं के आधार पर वल्लभ को विष्णुस्वामी की परम्परा में मान लिया गया हो, परन्तु कठिनाई तो यह है कि ये समानताएं तो मध्ययुगीन भक्ति-दर्शन, विशेषरूप से कृष्णभक्ति-दर्शन की सर्वसामान्य विशेषताएं हैं और इनके आधार पर कोई महत्त्वपूर्ण निर्णय नहीं लिया जा सकता।

वल्लभ और विष्णुस्वामी की स्थिति लगभग वैसी ही है, जैसी चैतन्य और मध्व की। चैतन्यमत को माध्वमत की एक शाखा माना जाता है, क्योंकि चैतन्य के दीक्षा-गुरु माध्व-मतानुयायी थे। कई महत्त्वपूर्ण विषयों पर चैतन्यमत और माध्वमत में इतना अन्तर है कि उसे माध्व-मत की शाखा कहना सर्वथा अनुचित प्रतीत होता है, भले ही चैतन्य के दीक्षा-गुरु माध्व रहे हों। और फिर वल्लभ के दीक्षा-गुरु विष्णुस्वामीमतानुयायी थे, इसकी सम्भावना तो नहीं के बराबर है। वाल्लभसम्प्रदाय में जो विष्णुस्वामी को इस सिद्धान्त से सम्बद्ध मानते भी हैं, उनके लिए भी विष्णुस्वामी एक नाममात्र हैं। जो सिद्धान्त वे स्वीकार करते हैं; जिस सम्प्रदाय में वे दीक्षित हैं; वह वही है और वैसा ही है, जैसा वल्लभाचार्य ने प्रतिपादित किया है। विष्णुस्वामी केवल इसलिए

---

१ डा०एस०एन०दास गुप्त : 'अ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी', भाग ४, पृ०३८३।

महत्त्वपूर्ण हो उठे हैं, क्योंकि परम्परा ने उनके साथ विशुद्धाद्वैत का प्रवर्तकत्व जोड़ दिया है। साथ ही इस विषय में भी मतभेद होने के कारण इस परम्परा की प्रामाणिकता सन्दिग्ध हो उठी है।

इस विषय का निर्णय अभी तक इसलिए नहीं हो सका, क्योंकि विष्णुस्वामी की कोई कृति उपलब्ध नहीं है, अन्यथा उनके सिद्धान्तों का स्पष्ट और अविकल रूप सामने होने पर कोई कठिनाई ही नहीं होती। 'वल्लभदिग्विजय' में कहा गया है कि विष्णुस्वामी के मन्दिरों और ग्रन्थों को बौद्धों ने जला दिया था। ऐसा ही हुआ होगा, अन्यथा जिस सम्प्रदाय का प्रचार सात सौ शिष्यों द्वारा हुआ हो, वह इस तरह लुप्त हो जाये, यह सम्भव नहीं है। पर्याप्त प्रमाणों के अभाव में ही विद्वान् इस प्रश्न को अनिर्णीत छोड़ देने पर विवश हो गये; अत: पुष्ट प्रमाणों के अभाव में वल्लभाचार्य की मौलिकता पर प्रश्नचिह्न लगाना अनुचित है। किसी बहि:साक्ष्य के न होने के कारण वल्लभ का ही प्रामाण्य मानना उचित है और वल्लभ बहुत स्पष्टता से विष्णुस्वामी के अनुयायियों से अपना मत-पार्थक्य घोषित करते हैं।

प्रत्येक मान्यता जो परम्परा से चली आती हो, उसका तर्कसङ्गत होना आवश्यक नहीं होता। कई बार केवल श्रद्धा या आदरभावना से ही कई कल्पनाएं परिभावित हो जाती हैं और दीर्घकाल तक किसी सिद्धान्त-विशेष या वस्तु-विशेष से सम्बद्ध रहने के कारण उसका एक अविभाज्य अंग बन जाती हैं। कई बार सिद्धान्त की गरिमावृद्धि के लिए भी ऐसी मान्यताओं का समावेश सिद्धान्त में हो जाता है। वल्लभाचार्य ने अपने सिद्धान्त की कोई गुरुपरम्परा नहीं बतलाई है। उनके अनुसार तो श्रीकृष्ण ने ही उन्हें पुष्टिमार्ग का स्वरूप समझाया और उन्हें आज्ञा दी कि तुम जीवों के कल्याण के लिए मेरे अत्यन्त प्रिय इस मार्ग का प्रचार करो; किन्तु बाद में सम्प्रदायानुवर्तियों ने सोचा कि कहीं लोग इस सिद्धान्त को अर्वाचीन न समझें, अत: उन्होंने सिद्धांत की एक गुरुपरम्परा तैयार की, जिसमें नारद, व्यास आदि भक्ति के प्रमुख आचार्यों का उल्लेख है--

'आदौ श्रीपुरुषोत्तमं पुरहरं श्रीनारदाख्यं मुनिम्।
कृष्णव्यासगुरुं शुकं तदनु विष्णुस्वामिनं द्राविडम्।।
तच्छिष्यं किल बिल्वमंगलमहं वन्देमहायोगिनम्।
श्रीमद्वल्लभनामधाम च भजेऽस्मत्सम्प्रदायाधिपम्।।'

यह गुरु परम्परा कोटानन्दग्रामनिवासी किन्हीं विट्ठलनाथाचार्यमहाराज द्वारा सम्पादित की गई है। जैसा कि स्पष्ट है, इसमें नारदादि के जो नाम हैं, वे सम्मानार्थ तथा मत की प्राचीनता ज्ञापित करने के लिए ही हैं; प्रमुखता पुरुषोत्तम अर्थात् श्रीकृष्ण तथा उनके मुखावतार वल्लभ की ही है। इस गुरुपरम्परा के सम्पादक ने स्वयं कहा है कि तृतीयस्कन्ध में वल्लभ ने विष्णुस्वामी की भक्ति सगुण अर्थात् मर्यादा भक्ति बतलाई है, जब कि वे निर्गुण अर्थात् पुष्टिभक्ति के प्रतिपादक हैं: अत:

विष्णुस्वामी के पुष्टिमार्गीय होने में किसी प्रबल प्रमाण[१] के अभाव के कारण उनका और उनके शिष्य बिल्वमंगल का ग्रहण सामान्य अर्थ में ही किया गया है।

इस प्रकार विष्णुस्वामी का शुद्धाद्वैत मत का प्रवर्त्तक होना एक सम्भावना मात्र है और यह सम्भावना भी विष्णुस्वामी की दार्शनिक मान्यताओं की प्रामाणिक और पर्याप्त अभिज्ञता के अभाव में बहुत असम्भावित-सी है, अत: स्वयं वल्लभाचार्य के साक्ष्य के आधार पर यही मानना उचित है कि वे ही शुद्धाद्वैत मत के प्रवर्त्तक हैं और शुद्धाद्वैत उनकी अपनी मौलिक उद्भावना है। कम-से-कम, वह 'शुद्धाद्वैत' जिसका अनुशीलन इस शोध-प्रबन्ध में प्रस्तुत किया जा रहा है।

---==========---

---
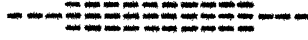
१ "एवमेव तृतीयस्कन्धीयैकत्रिंशत्तमाध्यायसुबोधिन्यां रामानुजा: विष्णुस्वामिन: तत्ववादिनश्च सगुणा अस्मन्मार्गश्च निर्गुण इति प्रदर्शितदिशा मर्यादामार्गीयत्वाद्रुशनसाद्भुवो व्याख्यात इति न्यायेन विष्णुस्वामीतच्छिष्योबिल्वमंगलश्च पुष्टिमार्गीयौ इत्यत्र प्रबलतरप्रमाणाभावात् पुष्टिमार्गे प्रवेशाभावात्सामान्यायेन समाश्रितौ...." पुष्टिमार्गीयगुरुपरम्पराविचार:"

सिद्धान्त-विवेचन

तृतीय परिच्छेद

आचार्य वल्लभ के दर्शन में परमसत्ता का स्वरूप

वेदान्तदर्शन की प्रमुख विशेषता है-- एक सार्वभौम चेतन सत्ता के अस्तित्व पर विश्वास । यह सत्ता समग्र विश्व की परिधि का केन्द्रबिन्दु तथा आध्यात्मिक चेतना का चरमसत्य है । वेदान्तदर्शन के आचार्यों में जो भी मत-वैभिन्य है, वह इस सत्ता के स्वरूप को लेकर है, इसके अस्तित्व को लेकर नहीं । यदि किसी आचार्य ने इस मूलसत्ता के अतिरिक्त किसी अन्य सत्ता की कल्पना भी की है, तो वह सत्ता निश्चितरूप से इस मूल सत्ता पर आश्रित और इससे सम्बद्ध ही है ।

उपनिषदों में यों तो प्रसंगानुसार इस मूलसत्ता को अनेक नामों से सम्बोधित किया गया है, परन्तु सबसे प्रचलित और स्वीकृत नाम `ब्रह्म` ही है अत: इस सत्ता के स्वरूप पर विचार करते समय यहां भी सुविधा के लिए `ब्रह्म` शब्द का ही प्रयोग किया जायेगा ।उपनिषदों में निरन्तर ब्रह्म का द्विविध वर्णन मिलता है । उपनिषदों के दिव्यदृष्टिसम्पन्न चिन्तकों ने जहां विश्व के चरमतत्त्व को एक निरपेक्ष,सर्वातीत,अतीन्द्रिय और अनवच्छिन्न सत्ता के रूप में जाना है,वहीं उसे सर्वात्मक, सर्वशक्तिमान् और असीम करुणामय `भगवान्` के रूप में भी पहचाना है । औपनिषद दर्शन में ब्रह्म के सर्वातीत और सर्वकारणात्मक --ये दोनों रूप कुछ इस प्रकार संगुम्फित हैं, कि उन्हें एक-दूसरे से अलग कर पाना अथवा उनके बीच कोई स्पष्ट विभाजक-रेखा खींच पाना असम्भव है ।प्राय: तत्त्वानुभूति के एक ही क्षण में उसके स्वरूप के ये दोनों पार्श्व एकसाथ कौंध उठते हैं--

`यत्तदद्रेश्यमग्राह्यमगोत्रमवर्णमचक्षु:श्रोत्रं तदपाणिपादम् ।
नित्यं विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं यद्भूतयोनिं परिपश्यन्ति धीरा: ।।`

(मुण्डक० १।१।६)

जो तत्त्व `असंगमस्पर्शमगन्धमरसम्` है वही `सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:` भी है । इस प्रकार श्रुति इस तत्त्व को सगुण और सविशेष रूप में भी प्रतिपादित करती है और निर्गुण,निर्विशेषरूप में भी ।

परस्पर विरुद्ध-सी प्रतीत होने वाली इन द्विविध श्रुतियों के अर्थ में सामंजस्य स्थापित करना सभी आचार्यों के लिए एक महत्त्वपूर्ण समस्या थी, और सब ने अपने-अपने ढंग से इसे सुलझाया भी है । प्रत्येक आचार्य की समन्वय-शैली का उसके सिद्धान्तों पर गहरा प्रभाव पड़ा है, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा । आचार्य वल्लभ के दर्शन की पृष्ठभूमि पर विचार करते समय हम देख चुके हैं कि बादरायणव्यासकृत`वेदान्तसूत्र` उपनिषदों में प्रतिपादित सिद्धान्तों का एक क्रमबद्ध संकलन हैं। इन सूत्रों को औपनिषद दर्शन का प्रतिनिधि मानकर विभिन्न आचार्यों ने इनपर भाष्यों की रचना की है । सभी आचार्यों ने अपने-अपने भाष्यों में सविशेष और निर्विशेष श्रुतियों के अर्थ-समन्वय की चेष्टा की है । उपलब्ध भाष्योंमें सबसे प्राचीन भाष्य शंकराचार्य का ही है । श्रुत्यर्थसमन्वय के सन्दर्भ में

शंकराचार्य की दृष्टि का संक्षिप्त परिचय इसलिए आवश्यक है,क्योंकि उनके सिद्धांतों की प्रतिक्रिया में ही वल्लभ तथा अन्य वैष्णव आचार्यों ने अपने मतवादों का स्वरूप स्थिर किया है।

शंकर तथा अन्य सभी आचार्यों ने ब्रह्म के विषय में श्रुति को अन्तिम प्रमाण स्वीकार किया है, किन्तु शंकर तथा वैष्णव आचार्यों की दृष्टि में जो अन्तर है, उससे उनके द्वारा स्वीकृत परमसत्ता के स्वरूप में भी अन्तर आ गया है। शंकर के अनुसार परमसत्ता अथवा ब्रह्म का स्वरूप निर्गुण और निर्विशेष है। ब्रह्म का सविशेषत्व और साकारत्व प्रतिपादित करने वाली श्रुतियां उपासनापरक हैं और उनका प्रयोजन अचिन्त्य और दुर्बोध ब्रह्म तत्त्व में साधक की बुद्धि स्थिर करना मात्र है। शंकर के अनुसार उपनिषदों में प्रतिपद्यमान ब्रह्म निरुपाधिक और सोपाधिक-- दो प्रकार से वर्णित है। निरुपाधिक ब्रह्म `निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्` (श्वे०६।१९); `नेति नेति` (बृ० २।३।६) आदि से सर्वथा निस्संग और निर्विशेषरूप में प्रतिपादित है तथा सोपाधिक ब्रह्म `य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्मय: पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणखात्सर्व एव सुवर्ण:` (छा०१।६।६); `सर्वकर्मा सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस: ....` (छा०३।१४।४); इत्यादि से साकार और सविशेषरूप में। निरुपाधिक और सोपाधिक ब्रह्म को ही शंकर क्रमश: `पर` और `अपर` ब्रह्म भी कहते हैं। यह परब्रह्म ही जब उपासनादि के लिए मनोमयत्वादि धर्मों से युक्त उपास्य रूप में कथित होता है तो अपरब्रह्म कहलाता है[१]। शंकर के मत से आकारविशेष के उपदेशमात्र से ब्रह्म आकारवान् नहीं हो सकता, जैसे अंगुल्यादि उपाधियों के कारण वक्रादि रूप से भासित होता हुआ प्रकाश वस्तुत: वक्रादिस्वभाव नहीं होता। ब्रह्म के आकार आदि भी औपाधिक फलत: आविद्यक हैं,इन्हें ब्रह्म का स्वरूप नहीं माना जा सकता। सविशेष-श्रुतियां उपासनार्थ होने के कारण `विधिपरक` हैं,`वस्तुपरक` नहीं। ये ब्रह्मस्वरूप की साक्षात्प्रतिपादिका नहीं हैं, अत: इनके आधार पर ब्रह्म को सविशेष स्वीकार नहीं किया जा सकता; फिर भी इन सविशेष श्रुतियों का 'अवैयर्थ्य' इसलिए है,क्योंकि ये उपासनार्थ उपदेश में प्रवृत्त हुई हैं। इस प्रकार ब्रह्म का परमार्थ-स्वरूप उपासना का विषय नहीं है,अपितु वाङ्मनसागोचर और निरुपाधिक है। उपास्योपासकभाव भी आविद्यक ही है[२]।

यहां सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि निर्विशेष-श्रुतियों को मुख्य और सविशेष-श्रुतियों को गौण मानने में क्या युक्ति है ? श्रुतिवाक्य होने से प्रामाण्यवत्ता तो दोनों में

---

१ `परमेव हि ब्रह्म विशुद्धोपाधिसम्बन्धं क्वचित्कैश्चिद्विकारधर्मैर्मनोमयत्वादिभि: उपासनायोपदिश्यमानमपरमिति स्थिति:।` --शां०भा० ४-३-९

२ `..... तत्राविद्यावस्थायां ब्रह्मण उपास्योपासकादिलक्षण: सर्वो व्यवहार:`।

-- शां०भा० १।१।१२

सामान्य ही है। शंकर के अनुसार इस विषय में स्वयं बादरायण ने 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (ब्र०सू० ३।२।१४) से अपना निर्णय दे दिया है।

"'अस्थूलमनण्व ह्रस्वमदीर्घम्' 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययम्' आदि श्रुतियां निष्प्रपंच-ब्रह्मात्मतत्वप्रधान है, इनमें किसी अन्य विषय का प्रतिपादन नहीं है, अत: ये ब्रह्मस्वरूपप्रधान (तत्प्रधान) हुई : जो श्रुतियां ब्रह्म को आकारवान् रूप से प्रतिपादित करती हैं, वे मुख्यत: उपासना-प्रधान हैं, ब्रह्मस्वरूपप्रधान नहीं(अतत्प्रधान)। अत: विरोध उपस्थित होने पर 'अतत्प्रधान' से 'तत्प्रधान' श्रुतियां बलीयसी स्वीकार की जानी चाहिए और उनके आधार पर ब्रह्म का स्वरूप वाङ्मनसागोचर, सर्वातीत और निरुपाधिक ही स्वीकार किया जाना चाहिए।"[1]

इस प्रकार शंकर ने श्रुतियों को पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर विभाजित कर, उन्हें क्रमश: पर और अपर ब्रह्म का ज्ञापक मान कर, उनके विरोध का परिहार किया है। उनके अनुसार परमसत्ता सर्वथा निरपेक्ष और निर्विशेष है और उसमें विशेषों की कल्पना करना उसे सीमाबद्ध और सापेक्ष बना देना है।

शंकर के इस सिद्धान्त का विरोध न केवल वैष्णव आचार्यों ने, अपितु उनके पूर्ववर्ती भास्कराचार्य ने भी किया। इन सभी आचार्यों ने परमसत्ता के निर्विशेषत्व का खण्डन कर उसे सविशेष स्वीकार किया। आचार्य वल्लभ भी अन्य वैष्णव आचार्यों की भांति ब्रह्म को सविशेष स्वीकार करते हैं। उनकी दृष्टि में सविशेष श्रुतियां सोपाधिक या अपर-ब्रह्म का नहीं, अपितु मुख्य और पर-ब्रह्म का ही वर्णन करती हैं। वल्लभ ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते, अत: ब्रह्म के औपाधिक रूप या औपाधिक धर्मों का कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सारी श्रुतियां ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का ही प्रतिपादन करती हैं और सविशेष तथा निर्विशेष दोनों ही प्रकार की श्रुतियों का ब्रह्म के विषय में समान प्रामाण्य है। वेद भगवान् के नि:श्वासभूत हैं और ब्रह्म के विषय में उनका प्रामाण्य सर्वोच्च है। ब्रह्म एक अलौकिक -प्रमेय है और उसे केवल श्रुति के माध्यम से ही जाना जा सकता है अत: ब्रह्म का स्वरूप श्रुति में जैसा प्रतिपादित है, वैसा ही स्वीकार किया जाना चाहिए।[2] वल्लभ के अनुसार सगुण विषयक और निर्गुण विषयक श्रुतियों को क्रमश: गौण और मुख्य मानने में कोई युक्ति नहीं है: इनमें से एक का अन्तरंगत्व और दूसरी का बहिरंगत्व, एक का उपजीव्यत्व और दूसरी का उपजीवकत्व मानने का भी कोई औचित्य दिखाई नहीं देता। शुद्ध ब्रह्म दुर्ज्ञेय है अत: उपाधि-विशिष्ट ब्रह्म की उपासना से चित्तशुद्धि होने पर ही उसका ज्ञान होता है -- यह स्वीकार्य नहीं है। ऐसा स्वीकार करने पर 'समन्वयाध्याय' का विरोध होता है, जहां समस्त वेदवाक्यों का ब्रह्म में समन्व

---

१ द्रष्टव्य— 'ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्' ३।२।१४

२ "ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तैर्व्यवगतं तादृशमेव मन्तव्यम्। अणुमात्रान्यथाकल्पनेऽपि दोष: स्यात्" --अणुभाष्यम् १।१।१

किया गया है[1]। उपासना वाक्यों में श्रुति जिन उपास्य रूपों का निर्देश करती है, वे विशुद्ध ब्रह्म के ही रूप हैं। उनका ब्रह्मत्व गौण या औपचारिक इसलिए नहीं है, क्योंकि उनकी उपासना का फल साक्षात् या परम्परया मोक्ष ही बताया गया है। यदि उपास्य रूपों को औपाधिक मानेंगे तो वे आविष्क फलत: असत्य हो जायेंगे और इस तरह श्रुति पर असत्य अर्थ के प्रतिपादन का लांछन लग जायगा[2]। ब्रह्म सर्ववेदान्तप्रत्यय है। अनेक रूपों का निरूपण करने वाली श्रुतियों से उसका ही ज्ञान होता है। ब्रह्म के अनेक रूप होने पर भी विविध जीव उसके जिन विविध रूपों की उपासना कर सकते हैं, उनका ही विभिन्न वेदवाक्यों में निरूपण किया गया है। इस प्रकार ब्रह्म ही इन विभिन्न उपास्यरूपों में वर्णित है[3]।

इस प्रकार वल्लभ ने विशुद्ध ब्रह्म को ही उपास्य स्वीकार कर सविशेष श्रुतियों को भी उतना ही ब्रह्मपरक माना है, जितना निर्विशेष श्रुतियों को। इन द्विविध श्रुतियों के आग्रह पर विशुद्ध ब्रह्म का स्वरूप सविशेष और विरुद्धधर्माश्रय सिद्ध होता है: अचिन्त्यानन्तशक्तिमान् और सर्वभवनसमर्थ ब्रह्म के स्वरूप में श्रुति के द्विविध कथन कोई विरोध उत्पन्न नहीं करते[4]। रामानुज के अनुसार भी सविशेष श्रुतियां विशुद्ध ब्रह्म का ही विवेचन करती हैं, औपाधिक उपास्य रूपों का नहीं अत: सगुण और निर्गुण वाक्यों में कोई विरोध नहीं है[5]। यही दृष्टि अन्य सभी वैष्णव आचार्यों की भी रही है। वल्लभ ने सविशेष श्रुतियों को निर्विशेष श्रुतियों की अपेक्षा गौण मानने के लिए शंकर की बहुत आलोचना की है। ब्रह्म के विषय में श्रुति का सर्वोच्च प्रामाण्य शंकर और वल्लभ दोनों को एक जैसा ही मान्य है, किन्तु सगुण और निर्गुण वाक्यों का प्रश्न एक ऐसा बिन्दु है, जहां से दोनों की विचारधाराएं दो अलग दिशाओं में बह चलती हैं। जहां एक ओर शंकर परमसत्ता या ब्रह्म को सर्वाकार रहित निर्विशेष स्वीकार करते हैं, वहीं वल्लभ उसे साकार और सविशेष मानते हैं। वस्तुत: ब्रह्म को सविशेष मानना सारे वैष्णव दार्शनिकों की ही एक प्रमुख विशेषता है।

----

१ द्रष्टव्य -- अणुभा० ३।३।१

२ "... तासां ब्रह्मविद्यात्वहानेश्च। श्रुते: प्रतारकत्वापत्तेश्च। अपरंच, 'योऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते। किं तेन न कृतं पापं चौरेणाऽऽत्मापहारिणा' इत्यन्यथाज्ञानं निन्दन्ती श्रुति: कथं फलसाधकत्वेन तदुपासनां वदेत् ?" -- अणुभा० ३।३।१

३ "अनेकरूपनिरूपकै: सर्ववेदान्तै: प्रत्ययो ज्ञानं यस्य तत्तथा। ब्रह्मणोऽनन्तरूपत्वेऽपि यानि यानि रूपाणि विविधैर्जीवैरुपासितुं शक्यानि तानि तानि रूपाणि तैस्तैर्वेदान्तैर्निरूप्यते इति तावद्रूपात्मकमेकमेव ब्रह्मेत्यर्थ:" -- अणुभा० ३।३।१

४ "न च विरुद्धवाक्यानां श्रवणात् तन्निर्द्धारार्थं विचार:। उभयोरपि प्रामाणिकत्वनैकतरनिर्द्धारस्याशक्यत्वात्। अचिन्त्यानन्तशक्तिमति सर्वभवनसमर्थे ब्रह्मणि विरोधाभावाच्च।" -अणुभा०१।१।१

५ "... सगुणनिर्गुणवाक्ययोर्विरोधाभावात् अन्यतरस्य मिथ्याविषयताश्रयणमपि नाशंकनीयम्।"
--श्रीभा० १।१।१

अपने ग्रन्थ `तत्त्वदीपनिबन्ध` में ब्रह्मस्वरूप पर विचार करते हुए वल्लभ कहते हैं कि `ब्रह्म को निर्धर्मक नहीं माना जा सकता; धर्मरहित मानने पर तो वह अनुपास्य अप्राप्य और अफल हो जायेगा।`[1] `यस्त्वमेतमेवं प्रादेशमभिविमानं वैश्वानरमुपास्ते`-- इस प्रकार वैश्वानर रूप से जो ब्रह्म की उपासना कही गई है, वह `तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्द्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूप:` इत्यादि धर्मोपदेशपूर्वक ही कही गई है। धर्माभाव मानने पर ब्रह्म में अनुपास्यत्व की प्रसक्ति होगी और `समन्वयाध्याय` का भी विरोध होगा। `ब्रह्मविदाऽऽप्नोतिपरम्` में जिस `पर` का प्राप्यत्व कहा गया है, उसी का `सो श्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता` से सार्वज्ञ कहा गया है।

गुणोपसंहारन्याय से भी ब्रह्म धर्मी सिद्ध होता है। साधनाध्याय के तृतीयपाद में विभिन्न उपासनावाक्यों में कहे गए धर्मों का एक ही ब्रह्म में उपसंहार -- नियमन -- किया गया है। ऐसा न मानने पर विरुद्ध धर्मों का कथन होने से ब्रह्म के अनेकत्त्व की प्राप्ति होती है। उपासना वाक्यों का भी प्रयोजन अन्तत: ब्रह्म-प्रतिपत्ति ही तो है; यदि उनमें कथित धर्मों का अभाव या निषेध मानेंगे तो उनके `अन्यथाज्ञानजनक` होने से ब्रह्मविद्या की हानि होगी और चित्तशुद्धि के अभाव का प्रसंग उपस्थित होगा। अत: `एक ही ब्रह्म समस्त वेदवाक्यों का अभिधेय है`-- ऐसी प्रतिज्ञा कर सभी धर्मों का ब्रह्म में उपसंहार किया गया है। `बृहत्वाच्च बृंहणत्वाच्च ब्रह्म` और `बृहन्तो ह्यस्मिन् गुणा:` इस व्युत्पत्ति से भी ब्रह्म[2] सधर्मक ही सिद्ध होता है। अत: परमसत्ता का स्वरूप सविशेष ही स्वीकार किया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वल्लभ में ब्रह्म के सविशेषत्त्व के सन्दर्भ में जो तर्क प्रस्तुत किए हैं, वे सब श्रुति-मूलक हैं। वस्तुत: परमसत्ता के निर्विशेषत्त्व का उन्होंने कोई तर्कमूलक खण्डन नहीं किया है। ब्रह्म के सविशेषत्त्व को वे एक स्वत: प्रमाणित तथ्य समझ कर आगे बढ़ते हैं, और अलग से कहीं उसे सिद्ध करने के लिए विशेष प्रयत्नशील नहीं दिखाई देते। प्रसंगत: उसपर चर्चा हो जाय तो बात और है। वल्लभ निर्विशेष वस्तु के खण्डन की ओर से जो बहुत निश्चिन्त से दिखाई देते हैं, उसका भी एक कारण है। औपनिषद् दर्शन और भक्तिसम्प्रदाय को समन्वित कर वैष्णवदर्शन की परम्परा का प्रवर्त्तन करने वाले आचार्य रामानुज इस विषय पर इतना अधिक और इतना सुन्दर लिख चुके हैं कि न केवल वल्लभ अपितु अन्य वैष्णव आचार्यों ने भी शंकर के इस सिद्धांत का पुन: विस्तार से खण्डन करने की आवश्यकता ही नहीं समझी। `अथातो ब्रह्मजिज्ञासा` का भाष्य करते हुए रामानुज ने परमसत्ता के निर्विशेषत्त्व का बहुत विस्तार से खण्डन किया है। यह खण्डन बहुत

---

१ ` ---- निर्धर्मकत्वे सर्वथाप्यनुपास्योऽप्राप्योऽफलश्च स्यात्।`--`तत्त्वदीपनिबन्ध` १।६७पर `प्रकाश`

२ `त०दी०नि० १।६७ पर आवरणभंगव्याख्या।

मौलिक और तर्कपूर्ण है तथा विशुद्ध दार्शनिक विचारणा के स्तर पर किया गया है। रामानुज के पश्चात् सभी वैष्णव आचार्य ब्रह्म या परम सत्ता के सविशेषत्व को एक प्रामाणिक तथ्य के रूप में स्वीकार कर आगे बढ़े हैं। इसीलिए ब्रह्म के सविशेषत्व को मान्यता देते हुए भी वल्लभ सविशेषत्व और निर्विशेषत्व के तात्त्विक विवेचन की जटिल तार्किक-प्रक्रियाओं में नहीं उलझे हैं।

ब्रह्म को सधर्मक मान लेने पर सविशेष श्रुतियों की समस्या तो सुलझ जाती है, परन्तु निर्विशेष श्रुतियों की संगति और अन्विति बैठानी फिर भी शेष रह जाती है। वल्लभ के अनुसार अस्थूल आदि वाक्यों में लौकिक धर्मों का निषेध कर ब्रह्म का लोक से वैलक्षण्य दिखाया गया है। वहां `सर्वकाम: ---` आदि में कहे गए वेदोक्त धर्मों का निषेध नहीं है। `प्रकृतैतावत्त्वं हि प्रतिषेधति ततो ब्रवीति च भूय:`(ब्र०सू०३।२।२२) का भाष्य करते हुए आचार्य कहते हैं-- "जो दृश्यमान लौकिक पदार्थ हैं, उनके ही धर्मों का निषेध किया गया है। अत: अस्थूलादि वाक्यों का तात्पर्य ब्रह्म के जगद्वैलक्षण्य में है, ब्रह्म-धर्मों के निषेध में नहीं। इसमें युक्ति यह है कि जिस वाक्य में श्रुति पहले धर्मों का निषेध करती है, उसी में फिर उनका विधान करती है --`यतो वाचो निवर्तन्ते प्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्`(तै०२।४)। अस्थूलवाक्य में भी `एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत:`(बृ०३।८।९) कहा गया है। अत: श्रुति और युक्ति से यही निर्णय होता है कि श्रुति सर्वत्र लौकिक का निषेध और अलौकिक का विधान करती है।"[1] अत: जगद्वैलक्षण्य ही प्रतिपाद्य विषय होने से लौकिक धर्मों का ही निषेध मानना चाहिए, तत्प्रकारक स्वरूप धर्मों का नहीं।[2] ब्रह्म समस्त दिव्यगुणों का आगार है। श्रुति कर्तृत्व ईशितृत्व, नियामकत्व, उपास्यत्व आदि धर्मों का विशुद्ध ब्रह्म में ही कथन करती है। `अथातो ब्रह्मजिज्ञासा` से ब्रह्मतत्व की जिज्ञासा होने पर `जन्माद्यस्य यत:` से उसका जो लक्षण प्रस्तुत किया गया है, वह भी जगत्कर्तृत्वादिरूप ही है, इसलिए ब्रह्म में अप्राकृत दिव्यगुणों की स्वीकृति श्रुति के सर्वथा अनुकूल है।

रामानुज का[3] भी बिल्कुल यही मत है। वे भी अस्थूलादि वाक्यों में प्राकृत धर्मों का ही निषेध स्वीकार करते हैं। जिसमें बृहत्त्व गुण हो वही ब्रह्म है; बृहत्त्व का अर्थ है --स्वरूप और

---

१ "प्रकृतं यदेतावत्परिदृश्यमाना यावन्त: पदार्था लौकिकास्तेषामेव धर्मान् निषेधति। प्रतीतस्यैव हि निषेधात्। अतो जगद्वैलक्षण्यमेवास्थूलादिवाक्यै: प्रतिपाद्यते, न तु वेदोक्ता ब्रह्मधर्मा निषेद्धुं शक्यन्ते। कुत एतदवगम्यते तत्राह -- ततो ब्रवीति च भूय:। यत्र वाक्ये पूर्वं निषेधति तस्मिन्नेव वाक्ये पुनस्तमेव विधत्ते ---- सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधत्यलौकिकं विधत्त इति युक्त्या निर्णय:"
--अणुभा०३।२।२२

२ " तथा च जगद्वैलक्षण्यबोधनेन तत्प्रकारका धर्मा निषिध्यन्ते, न तु तत्सदृशा: स्वरूपधर्मा अपि --
-- अणुभा०३।२।२२ पर भाष्यप्रकाश:

३ " ---- न च निर्गुणवाक्यविरोध:। प्राकृतहेयगुणविषयत्वात्तेषाम्"
--श्रीभा० १।१।१

गुणों का आतिशय्य । निखिल दोषों से रहित, असंख्य कल्याण-गुणों से युक्त, सर्वेश्वर पुरुषोत्तम ही `ब्रह्म` शब्द का अभिधेय है और यही `जिज्ञासा` का कर्मभूत है[1]।

यहां प्रसंगत: यह कहना आवश्यक है कि शंकर की दृष्टि में वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है: वल्लभ, रामानुज आदि लौकिक धर्मों का ही निषेध मानते हैं, किन्तु शंकर अलौकिक आदि सर्वविध धर्मों का । उनके मतानुसार ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान केवल `अध्यारोपापवाद` के द्वारा ही हो सकता है । श्रुति रहस्यमय आत्मतत्त्व को समझाने के लिए उसमें ज्ञेयत्व, कर्तृत्वादि धर्मों का अध्यारोप कर तदितर धर्मों का निषेध करती है; परन्तु इतने से ही ब्रह्म का धर्मवत्त्व नहीं समझ लेना चाहिए । पुन: इन अध्यारोपित धर्मों का भी `नेति नेति` से अपवाद कर आत्मतत्त्व को सर्वथा अनिर्देश्य, अचिन्त्य तत्त्व के रूप में प्रतिपादित करती है[2]।

विट्ठल ने अपने ग्रन्थ `विद्वन्मण्डनम्` में शंकर के इस सिद्धान्त का निराकरण किया है कि श्रुति पहिले ब्रह्म में धर्मों का विधान कर फिर स्वयं ही उनका निषेध कर देती है । वे कहते हैं कि `विशेषणों का निषेध स्वीकार करने के लिए उनका अविद्याकल्पितत्व भी मानना होगा और ब्रह्म में विशेषणों की कल्पना करने वाली यह अविद्या जीवनिष्ठ होगी या ब्रह्मनिष्ठ? ब्रह्मनिष्ठ होने पर वह ब्रह्म में ही धर्मों की कल्पना नहीं कर सकती । और यदि उसे जीवनिष्ठ मानें तो भी यह स्थिति सम्भव नहीं है । यह आविद्यक-धर्म-कल्पना शुद्ध ब्रह्म में ही कही जाती है और शुद्ध ब्रह्म मन-वाणी से परे होने के कारण जीव-निष्ठ अविद्या से सम्बद्ध नहीं हो सकता । इसप्रकार ब्रह्मनिष्ठ और जीवनिष्ठ उभयविध अविद्या के द्वारा ब्रह्म में विशेषणों की कल्पना नहीं हो सकती[3]।`

विट्ठल के इस सिद्धान्त को श्रीगिरिधर ने `विद्वन्मण्डनम्` की अपनी व्याख्या में बहुत अच्छी तरह स्पष्ट किया है । `शुक्ति में रजताध्यास कराने वाला अज्ञान यदि शुक्ति में ही रहे

---

१ `ब्रह्मशब्देन स्वभावतो निरस्तनिखिलदोषोऽनवधिकातिशयासंख्येयकल्याणगुणगण: पुरुषोत्तमोऽभिधीयते । सर्वत्र बृहत्त्वगुणयोगेन ब्रह्मशब्द: । बृहत्त्वं च स्वरूपेण गुणैश्च यत्रानवधिकातिशयं सोऽस्य मुख्योऽर्थ: । स च सर्वेश्वर एव । ---- अत: सर्वेश्वरो जिज्ञासाकर्मभूतं ब्रह्म ।`--श्रीभा०१।१।१

२` -----यथा एकप्रभृत्यापरार्धसंख्यास्वरूपपरिज्ञानाय रेखाध्यारोपणं कृत्वा `एकेयं रेखा`, दशेयं शतेयं सहस्रेयम् इति ग्राहयति । अवगमयति संख्यास्वरूपं केवलं न तु संख्याया रेखात्मत्वमेव ---- तथा वेदोत्पत्त्याद्यनेकोपायमास्थायैकं ब्रह्मतत्त्वमावेदितम् । पुन: तत्कल्पितोपाय जनितविशेषपरिशोधनार्थं नेति नेतीति तत्त्वोपसंहार: कृत:`। --बृ०उप० ४।४।२५ पर शां०भा०

३ `विद्वन्मण्डनम्`, पृ०२०५

तो फिर सभी को सर्वदा भ्रम ही होना चाहिए, क्योंकि वह सबके प्रति समान है । जिसने कभी रजत नहीं देखा, उसे भी शुक्ति में रजतत्वभ्रम हो जायेगा । और विशेष दर्शन होने पर यदि एक का अज्ञान नष्ट हो गया तो सभी का नष्ट हो जायेगा । अत: जिस तरह शुक्तिनिष्ठ विषयावरकज्ञान रजतकल्पक नहीं होता, उसी तरह ब्रह्मनिष्ठ अविद्या भी विशेषकल्पिका नहीं होगी । और अविद्या यदि जीव-निष्ठ होगी, तो भी ब्रह्म में विशेषों की कल्पना नहीं करेगी । जीवगताविद्या का विषय ब्रह्म से संसृष्ट होना आवश्यक है: यह सम्बन्ध मनोद्वारक ही होगा, किन्तु ब्रह्म तो मन-वाणी से अप्राप्य है, अत: दोनों के बीच यह सम्बन्ध स्थापित नहीं होगा । न ही यह सम्बन्ध बहिरिन्द्रियद्वारक हो सकता है, क्योंकि ब्रह्म आविद्यक-इन्द्रियों का भी विषय नहीं है । इस तरह जब मन-वाणी से अतीत अधिष्ठान ब्रह्म का ही ज्ञान नहीं होगा तो अविद्या विशेषों की कल्पना कहां करेगी ?`[1] अत: अविद्या न ब्रह्मनिष्ठ है, न जीवनिष्ठ और न ही ब्रह्म में विशेष कल्पित करती है ।

`वस्तुत: ब्रह्म के सभी धर्म स्वाभाविक और अनागन्तुक हैं, अत: वे नित्य हैं और उनका निषेध सम्भव नहीं ।`[2] श्रुति जहां कहीं निषेध करती है, प्राकृत धर्मों का ही करती है, अप्राकृत दिव्य गुणों का नहीं, अन्यथा उन्हें कहने की आवश्यकता ही क्या थी ? `प्रक्षालनाद्धि पंकस्य दूराद् स्पर्शनं वरम् ।।

ब्रह्म को सधर्मक स्वीकार करने से उसके अद्वितीयत्व से कोई क्षति नहीं पहुंचती है, क्योंकि वल्लभ के अनुसार ब्रह्म के गुण उससे भिन्न नहीं, अपितु उसके स्वरूपभूत हैं[3] । ये गुण जन्य नहीं हैं, अवतार होने[4] पर साथ ही आविर्भूत होते हैं और पुष्टि प्रलय आदि सभी अवस्थाओं में ब्रह्म में वर्तमान रहते हैं । ब्रह्म के धर्म लौकिक धर्मों की भांति कार्य और ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं, अपितु ब्रह्मरूप ही हैं । ब्रह्म ही समस्त विरुद्धधर्मरूप है । `प्रकाशाश्रयवद्वा तेजस्त्वात्` (वे०सू०३।२।२८) पर भाष्य करते हुए वल्लभ ब्रह्म-धर्मों का भेदाभेद सिद्ध करते हैं-- `प्रकाशाश्रय अर्थात् सूर्यादि अपने प्रकाश से भिन्न नहीं हैं, और दोनों की पृथक् स्थिति भी सम्भव नहीं है । प्रकाश भी अपने आश्रय में समवेत होकर रहता है, अर्थात् अपने आश्रय से अविच्छिन्न होकर उसमें आधेयरूप से वर्तमान रहता है । यह अभेद में युक्ति है।

---

१ विद्वन्मण्डनम्` पर सुवर्णसूत्रम् ,पृ०२०५ ।
२ `वस्तुतस्तु ब्रह्मधर्मा: सर्वे स्वानागन्तुका एव, यतो नित्या: । श्रुत्या तथैव निरूपणात्` -विद्व०पृ०२१०
३ ` ----निर्दोषा: पूर्णा गुणा विग्रहरूपा यस्य` -- त०दी०नि०१।४७ पर प्रकाश ।
४ `सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकै: सदा` -- त०दी०नि० १।६८ ।

किन्तु सूर्य ही प्रकाश नहीं है, क्योंकि दोनों परस्पर भिन्न प्रतीत होते हैं, और दोनों में आधाराधेय-सम्बन्ध भी है। अत: जिस प्रकार प्रकाश अपने आश्रय से भिन्न होते हुए भी, अभिन्नरूप से ही स्थित होता है, उसी प्रकार ब्रह्म के धर्म भी उससे भिन्नाभिन्न हैं।[1]

भगवान् के धर्म उसके स्वरूपान्तर्गत ही हैं। जब हम यह कहते हैं कि मध्याह्न-कालिक आकाश में केवल सूर्य ही है, तब हम उसके प्रकाश की सत्ता का निषेध नहीं करते होते हैं।[2] धर्म और धर्मी के इस सम्बन्ध को और स्पष्ट करते हुए भाष्यप्रकाशकार पुरुषोत्तम कहते हैं-- "जिस प्रकार अमित्र न मित्र है न मित्राभाव अपितु मित्रविरुद्धसम्पत् है; अविद्या न विद्या है न विद्याभाव अपितु विद्याविरुद्ध भावरूप अज्ञान है; उसी प्रकार प्रकाश और उसके आश्रय का अभेद न भेद है न भेदाभाव ~~न~~ अपितु भेदविरुद्धसम्पत् भावरूप पदार्थ है। भावरूप होते हुए अपने आश्रय से अविनाभूतत्व ही इस सम्पत् का स्वरूप है।"[3]

इस तरह ब्रह्म के अद्वितीयत्व की कोई हानि नहीं होती है। वल्लभ द्वारा स्वीकृत ब्रह्म-स्वरूप की एक प्रमुखविशेषता है-- ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयी होना। ब्रह्म परस्पर विरुद्ध-धर्मों का आश्रय है, कि श्रुति उसका इस रूप में ही कथन करती है। कोई भी वस्तु एक ही समय में, एक साथ, दो विरुद्ध धर्मों का आश्रय नहीं बन सकती। एक ही वस्तु में दो विरुद्धधर्म होंगे भी तो अवस्थाभेद से ही होंगे जैसे घट का श्यामत्व और पाकरक्तत्व; किन्तु ब्रह्म का व्यक्तित्व इतना विराट् है कि वह एक ही साथ परस्पर विरुद्धधर्मों का भी आश्रय बन सकता है, इसीलिए उसे 'अनन्तमूर्ति' कहते हैं। वह एक साथ विरोधी गुणों और क्रियाओं का आश्रय है, अत: उसे युक्ति से नहीं जाना जा सकता।[4]

जहां श्रुति 'अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घम् ---' (बृ०३।८।८) से उसका निर्गुण रूप से कथन करती है, वहीं 'अस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाश ओतश्चप्रोतश्चेति' (बृ० ३।८।११) से कार्यगुणजनक

---

१ 'यथा प्रकाशाश्रया: सूर्यादय: प्रकाशेन न भिन्ना: पृथक्स्थित्यभावात्। समवेतत्वाच्च। मूलाऽविच्छेद-रूपेण तदाधारतया स्थितत्वाच्च। नापि सूर्य एव भिन्नप्रतीतेर्विधमानत्वाच्च। तादृशमेव तद्वस्तु-त्पचिसिद्धमिति मन्तव्यम्। कल्पनायामपि यथा सूर्यप्रकाशयो: कल्पना एवं ब्रह्मधर्मयोरपि'।
--अणुभा०३।२।२८

२ 'नहि मध्यन्दिने नभोमण्डले सूर्य एवास्तीतिवाक्ये तत्प्रभासत्ताऽपि निषिध्यते।' विद्व०, पृ०२७८।

३ ३।२।२८ पर भा०प्र०, पृ०९३५।

४ 'अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।।
विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्।। --त०दी०नि०७२।७३

अनन्तगुणवत्ता भी कहती है । श्वेताश्वतर में `साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च`(६।११) कहकर `एको वशी निष्क्रियाणां बहूनामेकं बीजं बहुधा यः करोति`(६।१२) कहा गया है; अतः धर्मनिषेध-पूर्वक और धर्मविधिपूर्वक उभयविधि वाक्यों के अनुरोध से ब्रह्म उभयरूप है । `उभयव्यपदेशात्वहि कुण्डलवत्` (वे०सू०३।२।२७) सूत्र की व्याख्या करते हुए वल्लभ कहते हैं--`ब्रह्म उभयरूप है,क्योंकि श्रुति उसके विषय में उभयविध कथन करती है । निर्गुण और अनन्तगुण युक्त-- दोनों ही रूपों में वह वर्णित है । जैसे सर्प ऋजु और कुण्डलाकार अनेक रूपों में भासित होता है, वैसे ही ब्रह्म भी भक्त की इच्छा के अनुकूल विविध रूपों में प्रकट होता है ।`[१]

`वस्तुतः ब्रह्म-वस्तु का स्वरूप ही इस प्रकार का है । अवतारदशा में श्रीकृष्ण के उलूखलबन्ध आदि प्रसंगों के द्वारा प्रत्यक्ष से भी ब्रह्म के अल्पत्व और महत्त्व-- विरुद्धपरिमाणवत्ता की सिद्धि होती है; अतः श्रुतिस्मृतिप्रत्यक्ष आदि के द्वारा ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व सर्वथा उपपन्न है ।`[२] इसके विरोध में यह कहना उचित नहीं कि लोक में ऐसी,विरुद्धधर्मों से युक्त,किसी वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता अतः यह मानना असमीचीन है, क्योंकि यह दोष निर्विशेष-वस्तु-वादियों पर भी इतना ही आता है । संसार में कोई सर्वथा निर्धर्मक पदार्थ भी तो नहीं देखा जाता । और फिर श्रुत्यर्थ का निर्णय लोकरीति के अनुसार हो भी नहीं सकता; श्रुति स्वयं कहती है-- `नैषा तर्केण मतिरापनेया` ।

इस तरह वल्लभ ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व स्वीकार कर `अणुमात्राऽन्यथाकल्पनेऽपि दोषः स्यात्`(अणु भा०१।१।१) के सिद्धान्त की कसौटी पर अपने दर्शन को खरा उतार देते हैं । इसके लिए उन्हें श्रुति का आश्रय प्राप्त है ही,क्योंकि अनेक ऐसे स्थल हैं,जहां श्रुति स्पष्टरूप से ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व प्रतिपादित करती है--`अणोरणीयान्महतो महीयान्`(कठ०२।२०); `तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तदन्तिके । तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ।।`(ईशा०१।५); `तुरीयमतुरीयमात्मानमनात्मान मुग्रमनुग्रं वीरमवीरं महान्तममहान्तं विष्णुमविष्णुं -----`(नृसिंहोत्तरतापनीय षष्ठखण्ड) इत्यादि ।

----

१ `ब्रह्म तूभयरूपम् उभयव्यपदेशात् । उभयरूपेण निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्मेण रूपेण व्यपदेशात् । तर्हि कथमेकं वस्त्वनेकधा भासते तत्राह अहिकुण्डलवत् । यथा सर्पं ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्मस्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति...` । अणुभा० ३।२।२७

२ `भावति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते । --- तादृशमेव तद्वस्त्विति त्वध्यवसायः प्रामाणिकः । अवताराद्युलूखलबन्धनादिप्रत्यक्षमेवोभयसाधकं दृष्टमिति । ---- तस्माच्छ्रुतिस्मृतिप्रत्यक्षैः सर्वविरुद्धधर्माश्रयत्वेन ब्रह्मप्रतीतेर्न विरोधः` । --अणुभा० २।२।२१

यह विरुद्धधर्माश्रयत्व ब्रह्म के स्वरूप में कोई विसंगति उत्पन्न नहीं करता, अपितु अचिन्त्यशक्तिमत्ता का प्रख्यापन करता है। ब्रह्म 'सर्वभवनसमर्थ' है और यह उसी की महिमा है;[1] अन्य किसी में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह विविध रूपों और धर्मों का आधार बन सके।

इस विवेचन से वल्लभ का श्रुति के प्रति जो दृष्टिकोण है, वह बहुत स्पष्ट हो जाता है। श्रुति पर उनकी अटूट आस्था है। ब्रह्मतत्त्व 'श्रुत्यैकसमधिगम्य' है और श्रुति का प्रत्येक वाक्य उसका ही विवेचन करता है। इन विविध और विरोधी श्रुतिवाक्यों की परस्पर संगति बैठाने के लिए और श्रुति के प्रत्येक शब्द की ब्रह्मपरकता सिद्ध करने के लिए उन्होंने परमवस्तु का स्वरूप सविशेष और विरुद्धधर्मक स्वीकार किया है, जो समस्त पूर्वोत्तरकाण्ड का विवेच्य विषय है।

परमसत्ता का स्वरूप समस्त वैष्णव दर्शन तथा शंकर और भास्कर के मत में भी सच्चिदानन्द स्वीकार किया गया है। ब्रह्म की सच्चिद्रूपता का विशेष व्याख्यान वल्लभ ने कहीं नहीं किया है, हां, आनन्दरूपता पर अवश्य 'आनन्दमयाधिकरण' के प्रसंग में कुछ विस्तार से चर्चा की है। ब्रह्म विश्व की मूल सत्ता है[2] तथा सत्तारूप से समस्त विश्व में अनुस्यूत है। वस्तुतः 'सत्ता' केवल ब्रह्म का ही स्वभाव है, और जो कुछ भी सत्य है, वह ब्रह्मरूप से ही सत् है।

आत्मतत्व चिद्रूप है। यह चिद्रूपता परिस्थितिजन्य आगन्तुक धर्म नहीं है, अपितु ब्रह्म का स्वभाव ही है। ब्रह्म को चिद्रूप यद्यपि शंकर भी स्वीकार करते हैं, तथापि उनकी और वल्लभ की दृष्टि में अन्तर है। शंकर का ब्रह्म 'चिन्मात्र' है; केवल ज्ञप्तिस्वरूप है;: अपने परमार्थस्वरूप में वह ज्ञाता नहीं है, ज्ञानमात्र है, किन्तु वल्लभ का ब्रह्म केवल ज्ञान नहीं अपितु ज्ञानवान् भी है। इस तरह वल्लभ की दृष्टि में सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूपभूतधर्म हैं। शंकर और वल्लभ की दृष्टि का यह अन्तर, उनके ब्रह्म को क्रमशः निर्विशेष और सविशेष मानने के कारण है।

ब्रह्म को यदि ज्ञानमात्र स्वीकार करेंगे, तो श्रुति में जो उसका कर्तृत्व, सर्वज्ञत्व आदि कहा गया है, वह अनुपपन्न हो जायेगा। 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्, ---- स ईक्षत लोकान्नुसृजा इति' (ऐ०१।१); 'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच --' (तै०२।६); आदि में ब्रह्म का अभिध्यापूर्वक सृष्टिकर्तृत्व कहा गया है: यह संकल्पपूर्वक स्रष्टृत्व ब्रह्म के ज्ञानवान् होने पर ही सम्भव है, ज्ञानमात्र होने पर नहीं। जिस प्रकार मणि

१(क) '----न हि विरुद्धधर्माभ्यां स्वाश्रयमेकः कर्तुं शक्यते। विरुद्धधर्माश्रयत्वमेव महिमा अलौकिकत्वात्। स च महिमा दुरत्ययः केनाप्यतिक्रान्तुमशक्यो बुद्ध्या कृत्या वा।' --श्रीमद्भा०२।६।१७पर सुबो०

(ख) 'न हि विरुद्धधर्माश्रयत्वं भगवद्व्यतिरिक्ते सम्भवति, सर्वभवनसामर्थ्याभावात्' -अणुभा०१।२।२४

२ 'यदेव च मूलं तदेव ब्रह्म' -- अणुभा० २।३।६।

द्युमणि जैसे तेजोद्रव्य प्रभा-प्रभावद्रूप से स्थित होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म ज्ञान और ज्ञानवान् रूप से स्थित रहता है। श्रुति भी ब्रह्म का ज्ञाता रूप से कथन करती है--`विज्ञातारमरे केन विजानीयात्` (बृ०२।४।१४); `विज्ञानघन एव`(बृ०२।४।१२);`एष हि द्रष्टा श्रोता रसयिता घ्राता मन्ता बोद्धा कर्त्ता विज्ञानात्मा पुरुष:`(प्र०४।६);`न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते`(बृ०४।३।३०)इत्यादि। बादरायण भी `ज्ञोऽत एव`(वे०सू०२।३।१६) से आत्मा का ज्ञानवत्त्व कहते हैं, अत: ब्रह्म को चिद्रूप के साथ-साथ चैतन्यगुणयुक्त भी स्वीकार करना चाहिए।`तत्त्वदीपनिबन्ध` में`सच्चिदानन्दरूपं तु ब्रह्म व्यापकमव्ययम्`-- इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं--`सच्चिदानन्दरूपमिति।।ब्रह्मेति धर्मिनिर्देश: परब्रह्मवाचक:`[1]। ब्रह्म के `धर्मी` होने पर सत्, चित् और आनन्द का धर्म होना स्वत: स्पष्ट है।

ब्रह्म की चिद्रूपता के विषय में रामानुज का मत भी वल्लभ के समान ही है। वे भी ब्रह्म को ज्ञानरूप और ज्ञानगुणयुक्त स्वीकार करते हैं। जो ज्ञाता है, वही ज्ञानस्वरूप भी हो सकता है, और जो ज्ञानस्वरूप है, वही ज्ञानाश्रय होने की सामर्थ्य भी रखता है[2]।`य: सर्वज्ञ: सर्ववित्` इत्यादि से श्रुति भी ब्रह्म के ज्ञातृत्व का कथन करती है। ज्ञातृत्व का[3] अर्थ ही है `ज्ञानगुणाश्रयत्व`। ब्रह्म का यह धर्म अनागन्तुक स्वभाविक धर्म होने के कारण नित्य है। रामानुज और वल्लभ दोनों ही ब्रह्म को चैतन्यस्वभाव होने के कारण `स्वप्रकाश` मानते हैं। वस्तुत: वल्लभ अपनी दार्शनिक मान्यताओं में रामानुज के बहुत समीप हैं।

ज्ञानरूप होने का अर्थ ही होता है[4] प्रकाशक होना। ज्ञान `स्वयंप्रकाश` भी होता है और `सर्वप्रकाशक` भी। यह ज्ञान ही भगवत्स्वरूप है, अत: ब्रह्म को किसी प्रकाशक की आवश्यकता नहीं होती --

`न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतो यमग्नि:।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।` (मुं०२।२।११)

---

१ त०दी०नि० १।६७ पर `प्रकाश`

२ `न तावता निर्विशेषज्ञानमात्रमेव तत्त्वम्। ज्ञातुरेव ज्ञानस्वरूपत्वात्। ज्ञानस्वरूपस्यैव तस्य ज्ञानाश्रयत्वं मणिद्युमणिप्रदीपादिवदित्युक्तमेव। ज्ञातृत्वमेव हि सर्वा श्रुतयो वदन्ति --` (श्रीभा०१।१।१)

३ `ज्ञातृत्वं हि ज्ञानगुणाश्रयत्वमेव। ज्ञानं चास्य नित्यस्य स्वाभाविकधर्मत्वेन नित्यम्।` (श्रीभा०१।१।१)

४ `ज्ञानं हि स्वप्रकाशं सर्वमेव प्रकाशयति -----तस्मात्सर्वप्रकाशकं स्वप्रकाशं यच्चैतन्यं भगवद्रूपं तज्ज्ञानमित्यर्थ:`

—श्रीमद्भा० २।५।११ पर सुबो०

जो ज्ञानरूप है, उसका आनन्दरूप होना स्वत: सिद्ध है, इसलिए ब्रह्म को `आनन्दघन` की संज्ञा से अभिहित किया जाता है । वल्लभ न केवल ब्रह्म को आनन्दाकार स्वीकार करते हैं, अपितु इस आनंद की उनके दर्शन में बहुरंगी भूमिकाएं भी हैं, जिनपर आगे विचार किया जायेगा ।

`आनन्दमयाधिकरण` में वल्लभ ने परब्रह्म की आनन्दरूपता सिद्ध की है । `आनंदमयाधिकरण` वेदान्तसूत्रों का एक महत्त्वपूर्ण अधिकरण है, जो परतत्त्व का स्वरूप निश्चित करने में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाता है । तैत्तिरीयोपनिषद् में `स वा एष पुरुषोऽन्नरसमय:` से प्रारम्भ कर क्रमश: प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय का वर्णन करने के पश्चात् `तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयात् अन्योऽन्तर आत्मानन्दमय:` कहा गया है । यहां सन्देह होता है कि यह आनन्दमय अन्नमयादि की भांति पदार्थान्तर है, अथवा परमात्मा है । वल्लभ आनन्दमय को परब्रह्म स्वीकार करते हैं, और प्राय: सभी वैष्णव भाष्यकारों के साथ शंकर के इस व्याख्यान का प्रतिवाद करते हैं[1] कि `आनन्दमय परतत्त्व नहीं हैं, अपितु `ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा` में प्रतिपादित ब्रह्म ही परतत्त्व है । शंकर के अनुसार आनन्दमय को परतत्त्व मानने में सबसे बड़ी बाधा उसका सावयवत्व है--`तस्य प्रियमेव शिर:। मोदो दक्षिण: पक्ष: । प्रमोद उत्तर: पक्ष:, आनंद आत्मा, ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।` यदि आनंदमय को ब्रह्म स्वीकार करें तो सविशेष या अपर-ब्रह्म ही स्वीकार करना पड़ेगा, जब कि वाक्यशेष में श्रुति अवाङ्मनसागोचर निर्विशेष ब्रह्म का ही कथन करती है--`यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्`।[2] निर्विशेष वस्तुवादी शंकर के लिए यह भले ही एक समस्या रही हो, सविशेषब्रह्म को स्वीकार करने वाले वल्लभ के लिए कोई कठिनाई नहीं है; वे अनेक युक्तियों से तथा सूत्रोक्त हेतुओं से आनन्दमय का ब्रह्मत्व सिद्ध करते हैं । `आनन्दमय में जो `मयट्` प्रत्यय है, वह विकारार्थ नहीं अपितु प्राचुर्य के अर्थ में है । इसलिए भी आनन्द का प्राचुर्य मानना उचित है, क्योंकि अन्नमयादि की अपेक्षा आनन्दमय का प्रकर्षपूर्वक कथन किया गया है--`को ह्येवान्यात् क: प्राण्यात्` इत्यादि से ।[3] आनन्दमय का श्रुति हेतुरूप से भी कथन करती है--`एष ह्येवानन्दयाति` । प्राणिजगत

---

१ द्रष्टव्य शां०भा० १ ।१।१९

२ `------ अपि च आनन्दमयस्य ब्रह्मत्वे प्रियाद्यवयवत्वेन सविशेषं ब्रह्माभ्युपगन्तव्यम् निर्विशेषं तु ब्रह्म वाक्यशेषे श्रूयते, वाङ्मनसयोरगोचरत्वाभिधानात्--`यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्। न बिभेति कुतश्चनेति । `--शां०भा०१।१।१९

३ `नात्र विकारे मयट् किन्तु प्राचुर्यात् । प्राचुर्यमतति प्राप्नोति इति प्राचुर्यात् । तथा च पाणिनि: । तत्प्रकृतवचने मयट् । प्राचुर्येण प्रस्तुतं वचनं तत्प्रकृतवचनं तस्मिन् मयट् प्रत्ययो भवतीत्यर्थ: । प्राचुर्येण पूर्वापेक्षया व्याख्यानेन को ह्येवान्यात् क: प्राण्यादिति वाक्ये प्रकर्षेण स्तुतम् । अतो मयट् पूर्वापेक्षया प्राचुर्यमयते ।` -- अणुभा० १।१।१२

में जहां भी, जो भी आनन्द है, वह इस आनन्दमय के प्रचुर आनन्द की ही आंशिक अभिव्यक्ति है; वह सब के विकारभूत आनन्द का यह आनन्दमय ही कारण है। जिस प्रकार विकृत जगत् का कारण अविकारी ब्रह्म है, उसी प्रकार आनन्दमय को भी सब के आनन्द का कारण होने के कारण अविकृत ही होना चाहिए। अत: यहां मयट् प्राचुर्यार्थक है, विकारार्थक नहीं।[1]

आनन्दमय की प्राप्ति परममुक्ति है। `तस्य प्रियमेव शिर:` आदि से जो उसके अवयव बताये गये हैं, उसकी व्याख्या करते हुए वल्लभ कहते हैं--"इस (आनन्दमय) में निरुपधि-प्रीति ही मुख्य है -- इस तथ्य का ज्ञापन करने के लिए `प्रिय` का प्रधानांगत्व कहा है। फिर प्रिय (ब्रह्म--श्रीकृष्ण) के दर्शनादि से जो आनन्दात्मक विविधरसभावसन्दोह उत्पन्न होता है उसे दक्षिणपक्ष कहा गया। तत्पश्चात् स्पर्शादिजन्य जो प्रकृष्ट आनन्दसन्दोह है वह उत्तर पक्ष है। परप्राप्ति की साधनीभूत ब्रह्मज्ञानदशा में जिस आनन्द का अनुभव होता है, वह गणितानन्द है और इसलिए स्वरूपत: परानन्द से हेय है : अत: `ब्रह्म` का पृष्ठभाग से भी दूर स्थित पुच्छरूप से कथन है।[2] यह अक्षर ब्रह्म पुरुषोत्तम का अधिष्ठान है,अत: इसे प्रतिष्ठारूप भी कहा गया है। यहां पुच्छरूप से कथित गणितानन्द अक्षरब्रह्म आनन्दमय पर ब्रह्म पुरुषोत्तम की ही एक अभिव्यक्ति है, जिसके स्वरूप पर यथावसर विचार किया जायेगा। यहां तो बस इतना ही जानना पर्याप्त है कि `आनन्दमय` परब्रह्म है। `एष ह्येवानन्दयाति`, `एतस्यैवानन्दस्य अन्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति` आदि में इसका ही शब्दत: और अर्थत: `अभ्यास`--बारम्बार-- कथन किया गया है।[3]

अन्नमयादि के ज्ञान के पश्चात् भृगु पुन: पुन: ब्रह्मजिज्ञासा करते रहते हैं,परन्तु आनन्दमय के पश्चात् पुन: जिज्ञासा नहीं की गई है, अत: सर्वान्तर और सर्वान्तरात्मा होने के कारण यही `पर` है।

---

१ " ----- यथा विकृतस्य जगत: कारणं ब्रह्म अविकृतं सच्चिद्रूपमेवमेवानन्दमयोऽपि कारणत्वाद-विकृतोऽन्यथा तद्वाक्यं व्यर्थमेव स्यात्। तस्मान्नानन्दमयो विकारार्थ:" --अणुभा०१।१।१३

२ " तत्र निरुपधिप्रीतिरेव मुख्या, नान्यदिति ज्ञापनाय प्रियस्य प्रधानांगत्वमुच्यते। तदा प्रिये-क्षणादिभिरानन्दात्मक एव विविधरसभावसन्दोह उत्पद्यते य: स दक्षिण: पक्ष उच्यते। तत: स्पर्शादिभि: पूर्वविलक्षण: प्रकृष्टानन्दसन्दोहो य: स उत्तर: पक्ष उच्यते। ----- परप्राप्ति साधनीभूतब्रह्मज्ञानदशायां तदानन्दोऽपि य: पूर्वमनुभूत: स गणितानन्द इत्येतदा-नन्दानुभवानन्तरं तुच्छत्वेन भातीष्टगताबसाधनत्वेन स्वरूपतोऽपि तस्माद्धीनत्वं चेति पृष्ठभागा-दपि दूरस्थित पुच्छरूपत्वं ब्रह्मण उच्यते। पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वात् प्रतिष्ठारूपत्वं च"।
-- अणुभा०१।१।११

३ `आनन्दमयोऽभ्यासात्` -- ब्र०सू० १।१।११

इस तरह बहुत सम्भार के साथ आनन्दमय का ब्रह्मरूपत्व, अर्थात् ब्रह्म का आनन्द-रूपत्व सिद्ध किया गया है। वल्लभ शंकर की भांति केवल प्रातिपादिक-- आनन्द का `अभ्यास` नहीं मानते, अपितु पद आनन्दमय का `अभ्यास` स्वीकार करते हैं : `आनन्दमय` का उच्चारण करते ही यह बात स्पष्ट हो जाती है कि ब्रह्म आनन्दमात्र नहीं अपितु आनन्दधर्मक है। सत्, चित् की भांति आनन्द भी ब्रह्म का स्वरूपभूत गुण है।

वल्लभ की भांति भास्कर और रामानुज भी आनन्दमय को परब्रह्म तथा आनन्द को उसका गुण स्वीकार करते हैं। भास्कर की ब्रह्मसम्बन्धी धारणा शंकर और रामानुज को जोड़ने वाली कड़ी है। इनकी कुछ मान्यताएं शंकर के समीप हैं और कुछ रामानुज आदि वैष्णव आचार्यों के समीप। भास्कर का ब्रह्म शंकर के अर्थ में निर्गुण नहीं है। अवस्थाभेद से निर्विशेष और सविशेष दोनों ही प्रकार की श्रुतियां उसकी प्रतिपादिका हैं। निर्विशेष-वाक्यों का प्रतिपाद्य होता हुआ भी वह शंकर के ब्रह्म की भांति सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र नहीं है ; वह रामानुज की भांति उसे सत्ताशाली, सर्वज्ञ और आनन्दप्रचुर स्वीकार करते हैं। `भार्गवी विद्या में निर्गुण ब्रह्म की ही विवक्षा है`-- इस शांकरीयमत का निराकरण करते हुए वे कहते हैं--` यहां निर्विशेष ब्रह्म की विवक्षा मानना असमीचीन है। आनन्द ब्रह्म का धर्म है, इसीलिए आगे चलकर केवल गुणवाचक पद आनन्द से गुणी अर्थात् ब्रह्म का निर्देश किया गया है।`[1]

रामानुज भी इसी भांति ब्रह्म का स्वरूप आनन्दमात्र स्वीकार नहीं कर सकते, सविशेषवस्तुवादी होने के कारण। ` जिस तरह ज्ञानस्वरूप ब्रह्म का ज्ञानाश्रयत्व भी अनेकश्रुति-सिद्ध है, उसी तरह आनन्दस्वरूप ब्रह्म का आनन्दाश्रयत्व भी उपपन्न है। तैत्तिरीय में श्रुति है `आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान्` (तै०२।४।१) -- यहां षष्ठीपूर्वक आनन्द और ब्रह्म का भिन्न रूप से जो निर्देश है, उससे स्पष्ट है कि ब्रह्म आनन्दमात्र नहीं अपितु आनन्दी है।`[2]

विशुद्धाद्वैतमत में ब्रह्म का आनन्दांश अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। ब्रह्म को सर्वत्र आनन्दाकार कहा गया है: अवतारकाल में उसका विग्रह भी विशुद्ध आनन्दमय ही रहता है। वल्लभ ने साकार का अर्थ सर्वत्र आनन्दाकार ही लिया है। `निबन्ध` में एक स्थल पर वे लिखते हैं-- `आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीयः`[3]। श्रुति स्मृति में भी ब्रह्म को आनन्दाकार बताया गया है--

---

१ ` यदप्युक्तं निर्विशिष्टं ब्रह्मात्र विवक्षितमिति, तदप्ययुक्तम्। आनन्दगुणस्य ब्रह्मणो विवक्षितत्वात्। अतएवोत्तरत्र केवलेन गुणवचनेन गुणी निर्दिश्यते। `सैषानन्दस्य मीमांसा` आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते इति...` भा०भा० १।१।१६

२ `..... स एको ब्रह्मण आनन्दः(तै०२।८।१); `आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् (तै०२।४।१)इत्यादि-व्यतिरेकनिर्देशाच्च नानन्दमात्रं ब्रह्म। अपि त्वानन्दि। ज्ञातृत्वमेव ह्यानन्दित्वम्।`श्री भा०१।१

३ त०दी०नि० १।७५ पर प्रकाश।

`विज्ञानमानन्दं ब्रह्म`; `परमात्मानं परमानन्दविग्रहम्` (याज्ञ०स्मृ०); `आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादिः` (नारदपांचरात्र) इत्यादि । आनन्द का आकारसमर्पकत्व है, इसलिये आनन्दघन परमात्मा को `साकार` कहा जाता है, और आनन्दरहित जीव और जड़ को `निराकार`[1]। `साकार` और `निराकार` का वल्लभ के मत में यह विशिष्ट अर्थ है ।

ब्रह्म में जो `विरुद्धधर्माश्रयत्व` है, यह भी आनन्दांश का ही धर्म है[2]। जीव में यह आनन्दांश तिरोभूत रहता है, इसीलिये वह विरुद्धधर्माश्रय नहीं है ।

आनन्दमय-प्रकरण में वल्लभ ने निरतिशय आनन्द को ही `परमफलतावच्छेदक` कहा है[3]। अक्षर ब्रह्म गणितानन्द होने के कारण हो `परमफल` नहीं है ।

ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियों में भी आनन्दांश का तारतम्य ही कारण बनता है । निरतिशय आनन्दयुक्त स्वरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम का है; गणितानन्द अक्षर का; ईषत्-तिरोभाव युक्त अन्तर्यामी का, इत्यादि । इस प्रकार विभिन्न श्रौत और तार्किक प्रमाणों के आधार पर वल्लभ ने परमसत्ता का स्वरूप `सच्चिदानन्दघन` स्थिर किया है ।

परमसत्ता के स्वरूप का जो विवेचन अब तक किया गया, उससे निष्कर्ष निकलता है कि वल्लभ को स्वीकृत ब्रह्म `भगवान्` है । ब्रह्म का यह `भगवत्त्व` वैष्णवदर्शन की बहुत बड़ी विशेषता है । ब्रह्म को सर्वातीत चिरन्तन तत्त्व मानते हुए भी उसमें अप्राकृत दिव्य गुणों का चरमउत्कर्ष तथा अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्ता की स्वीकृति वैष्णव चिन्ता-धारा की विशिष्ट प्रवृत्ति है । उपास्य और आराध्य होने के कारण यह ब्रह्म `अशरणशरण`, `भक्तवत्सल` और `परमकारुणिक प्रभु` के रूप में भी वर्णित है । `भग` शब्द का अर्थ है-- श्री, ऐश्वर्य, यश, वीर्य, ज्ञान, और वैराग्य-- इन छः गुणों का समूह : इन गुणों के उत्कर्ष से युक्त सत्ता `भगवान्` है । वल्लभ का ब्रह्म शंकर की भांति औपाधिक और व्यावहारिकदृष्टि से ईश्वर नहीं है, अपितु अपने वास्तविक रूप में दिव्य-व्यक्तित्व सम्पन्न ईशिता शक्ति है ।

वेदान्तसूत्रों में कहीं भी परतत्त्व को विष्णु, शिव आदि देवों के नाम से निर्दिष्ट कर उसे विशिष्टव्यक्तित्वसम्पन्न देव नहीं कहा गया है, किन्तु सभी वैष्णव भाष्यकारों ने उसे एक

---

१ `सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता ।
अत एव निराकारौ पूर्वौ आनन्दलोपतः ।
यतो जीवोऽन्तरात्मैति व्यवहारस्त्विवा मतः ।।` --त०दी०नि० १।३४

२ `----तस्मादानन्दांशस्यैवायं धर्मो यत्र स्याभिव्यक्तिस्तत्र विरुद्धसर्वधर्माश्रयत्वमिति ।` अणु भा० १।२।३२

३ `अथ परमफलत्वाभिप्रायेणानन्दात्मकत्वम् ----` -- अणु भा० १।१।११

विशिष्टविग्रहसम्पन्न देव-रूप में भी स्वीकार किया है । वल्लभ के अनुसार यह `परतत्त्व` श्रीकृष्ण हैं । वस्तुत: वल्लभ की परमसत्तासम्बन्धी धारणा, औपनिषद दर्शन के ब्रह्मतत्त्व और श्रीमद्भागवत के लीलाविशिष्ट श्रीकृष्ण के स्वरूप की मिली-जुली धारणा है ।

ब्रह्मस्वरूप के प्रतिपादन में वल्लभ कई बार उपनिषदों की अपेक्षा श्रीमद्भागवत की ओर अधिक झुके दिखाई देते हैं, कहीं-कहीं तो भागवत का प्रभाव ही सर्वातिशायी है । श्रीकृष्ण ही परमानन्द पुरुषोत्तम तथा परात्पर ब्रह्म हैं । गोपालतापनीयोपनिषद् में `कृष्ण` शब्द की व्याख्या इस प्रकार की गई है--`कृषिर्भूवाचक: शब्दो णश्च निर्वृतिवाचक: ।

विष्णुस्तद्भावयोगाच्च कृष्णो भवति सात्वत:।।`

`कृष्ण` शब्द में `कृष्`पद सत्तावाचक है और `ण` आनन्दवाचक, अत: इनका अर्थ है सर्वव्यापक आनन्दमय परब्रह्म । वे ही सात्वत कृष्ण हैं । श्रीकृष्ण ही एकमात्र परतत्त्व हैं; वे ससीम में व्याप्त होकर भी असीम हैं; और विश्व में अनुस्यूत होकर भी विश्व से अतीत हैं । वल्लभ न तो उन्हें पूर्ण-मानव समझते हैं और न ही अवतार मात्र । वे तो साक्षात् अवतारी पूर्णपुरुषोत्तम भगवान् हैं, और सभी अवतार उनके अंशमात्र हैं,जैसा कि श्रीमद्भागवतकार ने कहा भी है--

`एते चांशकला: पुंस: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्`--(श्रीमद्भा०१।३।२८)

यह परमतत्त्व ही प्रसंगानुसार ब्रह्म,परमात्मा,भगवान्, आदि संज्ञाओं से अभिहित किया जाता है--

`विदन्तितत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेतिपरमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ।।`

(श्रीमद्भा० १।२।११)

वल्लभ भी यथावसर परमसत्ता को पुरुषोत्तम,भगवान्,ब्रह्म,परमात्मा,श्रीकृष्ण,हरि आदि विभिन्न नामों से सम्बोधित करते हैं; किन्तु शास्त्रीय विवेचना के समय प्राय: उपनिषद्-मान्य `ब्रह्म` शब्द का ही प्रयोग इन्होंने भी किया है । हमारा प्रयोजन भी यहां उनके सिद्धान्तों का दार्शनिक विवेचन ही है, न कि उनकी साम्प्रदायिक मान्यताओं का अनुशीलन, अत: हम भी तत्त्व-विश्लेषण की दृष्टि से स्वयं को यथासम्भव इसी शब्द के प्रयोग तक सीमित रखेंगे ।

तो यह ब्रह्म श्रीकृष्ण के दिव्यगुणशाली व्यक्तित्व के साथ एकात्म होकर भी `सगुण` नहीं है । `सगुण` शब्द का जो प्रचलित अर्थ है, वह वल्लभ को मान्य नहीं है । `वे `सगुण` का अर्थ लेते हैं `गुणाभिमानी` और गुणों से उनका तात्पर्य है सत्त्व,रजस् और तमस् से । `सगुण` वह है, जिसे गुणाभिमान हो, जिसका गुणों में `अहम्` रूप से आत्माध्यास हो । भगवान् में जो सगुणत्व-व्यवहार होता है, वह उनके गुणाभिमानी अंशों के कारण होता है । ब्रह्मादि भगवान् के अंश हैं, और सत्त्वादि के अभिमानी देवता हैं, ऐसा स्मृतिपुराणादि से प्रमाणित है[१]।`

१ द्रष्टव्य -- त०दी०नि० १।७६ पर `प्रकाश` ।

'ब्रह्म सर्वात्मक है, अत: गुणों की भी आत्मा है, गुणों का सर्जक है। यदि ऐसा स्वीकार नहीं करेंगे, तो 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' इत्यादि श्रुतियों का विरोध होगा। गुण ब्रह्मात्मक हैं, ब्रह्म गुणात्मक नहीं है[1] : दूसरे शब्दों में गुण 'ब्रह्मत्वावच्छिन्न' हैं, परन्तु ब्रह्म गुणत्वावच्छिन्न नहीं है।' इसका कारण यह है कि विशुद्धाद्वैत मत में गुण ब्रह्मात्मक होकर ही 'सत्' है, गुणरूप से व उनकी सत्ता नहीं है: इसके विपरीत ब्रह्म अपने अस्तित्व के लिए अन्य किसी पर निर्भर नहीं है, अपितु स्वत:-सिद्ध स्वतंत्र सत्ता है। यही अर्थ 'स्वाधीन' और 'पराधीन' का है। केवल ब्रह्म ही 'स्वाधीन' है, अन्य सब कुछ पराधीन, क्योंकि वह अपने अस्तित्व के लिए ब्रह्म पर निर्भर है; ब्रह्मरूप से ही सत्य है, जिस रूप से दिखाई पड़ता है, उस रूप से नहीं[2]।

यह गुण ब्रह्म के ज्ञापक मात्र हैं, उसका स्वरूप नहीं[3]। अत: ब्रह्म को 'निर्गुण' ही स्वीकार करना चाहिए, सगुण मानने पर वह मुमुक्षुओं का उपास्य नहीं हो सकता[4]। वल्लभ के दर्शन में यह 'निर्गुण' की विशिष्ट परिभाषा मिलती है-- प्राकृत गुणाभिमानरहित।

वल्लभ भक्ति के मनोविज्ञान को स्वीकार करने के कारण ब्रह्म को जीव के संस्कर्ता, लब्धव्य या प्राप्य के रूप में अंगीकार करते हैं: ऐसी स्थिति में ब्रह्म को सर्वथा अचिन्त्य, अवाङ्मनसगोचर नहीं माना जा सकता। शंकर की बात और है; वे 'लब्धा' और 'लब्धव्य' के सम्बन्ध को आत्यन्तिक अथवा पारमार्थिक रूप में सत्य नहीं मानते। ब्रह्म तो सबका प्रत्यगात्मभूत है, सर्वगत है; अत: परब्रह्म में उपास्यत्व, प्राप्यत्व जैसी स्थितियां सम्भव ही नहीं हैं। ये सारी स्थितियां अविद्यालक्षण हैं और अपर ब्रह्म के साथ ही अन्वित होती हैं। अविद्या नष्ट होने पर जब अखण्ड ब्रह्मवस्तुमात्र अवशिष्ट रहती है, तब न कोई आराध्य है, न आराधक और न आराधना सम्भव ही है[5]। वल्लभ इसके बिलकुल विपरीत किसी भी स्तर पर 'लब्धा' और 'लब्धव्य' का संबंध अस्वीकार नहीं करते। अविद्या-मुक्त स्थिति में भी, यहां तक कि परानुभूति के चरम क्षणों में भी

----

१ 'यथोर्णनाभि: सृष्ट्यर्थमेकामूर्णामुद्गमते तथा भगवानपि त्रिविधसृष्ट्यर्थं त्रीन्गुणानुद्गमते।--- ते भगवद्रूपा एव भगवता सृष्टा:। न च मद्भवति ते पूर्वं स्थिता:। तथा सति भगवदात्मकास्ते न भवेयु:। ----अतएव भगवान्निर्गुण:' --श्रीमद्भा०२।५।१८ पर सुबो०

२ 'तथा च यद्यपि जगद्भवति तथापि तन्न जगत्वेनरूपेण प्रमेयं अपितु हरित्वेन रूपेण'
--त०दी०नि०२।८४पर आ०भ०

३ 'एते च गुणा भगवतो लिंगभूता ज्ञापका बहिर्निर्गता धूमवद्दूरादेव पुरुषं ज्ञापयन्ति, न तु तं वेष्टयन्ति'-- श्रीमद्भा०२।५।२० पर सुबो०

४ 'यदि सगुण: स्यात् प्राकृतगुणपरिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्ता नोपास्य: स्यात् पुत्रादिवत्'
--अणुभा० १।१।७

५ ' ----- कार्यस्य हि कार्यब्रह्मणो गन्तव्यत्वम् उपपद्यते प्रदेशवत्वात्। न तु परस्मिन् ब्रह्मणि गन्तृत्वं गन्तव्यत्वं गतिर्वा अवकल्पते। सर्वगतत्वाच्च, प्रत्यगात्मत्वाच्च गन्तृणाम्।'
--शां०भा०४।३।७

जीव और ब्रह्म के बीच `ज्ञातृ-ज्ञेय` अथवा `अनुभविता-अनुभवनीय` के सम्बन्ध का लय नहीं होता। `परानुभूति` को लेकर दोनों आचार्यों की दृष्टि में यह जो अन्तर है, इसी के कारण शंकर परमवस्तु को वस्तुत: अज्ञेय अचिन्त्य और अनुपास्य मानते हैं, और वल्लभ ज्ञेय, चिन्त्य और उपास्य। शंकर के अनुसार `ब्रह्म` अनिर्देश्य और अपरिभाष्य है। जिस ब्रह्म में नाम, रूप, कर्म, भेद, जाति, गुण कोई विशेष ही नहीं है, उसके विषय में शब्दों की प्रवृत्ति कैसे हो ? शब्दप्रवृत्ति तो इन्हीं विशेषों के आधार पर होती है; अत: ब्रह्म का `इदं तत्`-- इस प्रकार निर्देश नहीं हो सकता। तोभी उपासनार्थ `विज्ञानमानन्दं ब्रह्म`; ब्रह्म; आत्मा इत्यादि औपाधिक, अध्यारोपित, नाम रूपकर्म आदि के द्वारा श्रुति उसका निर्देश करती है। जब उसके समस्त उपाधियों और विशेषणों से रहित वास्तविक स्वरूप की जिज्ञासा होती है, तब यही एकमात्र उपाय शेष रहता है कि `नेति नेति` से प्राप्तिप्रतिषेध के द्वारा ही उसका निर्देश किया जाय।[1] इस प्रकार शंकर की दृष्टि से देखा जाय तो श्रुति कहीं भी ब्रह्म का वर्णन नहीं करती, अपितु ब्रह्म का वर्णन न कर पाने की अपनी अक्षमता का ही कथन करती है।

वल्लभ, किन्तु, ऐसा स्वीकार नहीं करते : ब्रह्म तत्त्व सर्वथा अज्ञेय, अनिर्देश्य अथवा अपरिभाष्य नहीं है। वे बार-बार कहते हैं कि ब्रह्म `अलौकिक प्रमेय` है और `श्रुत्यैक समधिगम्य` है, अत: उसके स्वरूप में लौकिक युक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है; उसका वही स्वरूप मान्य है, जो श्रुति प्रतिपादित करती है।[2] यह अवश्य है कि ब्रह्म लौकिक प्रमाणों का अविषय है। लौकिक प्रमाण गुणों का `सन्निपात` हैं, और ब्रह्म त्रिगुणातीत है। इनका स्वत:प्रामाण्य नहीं है, ये सत्व से युक्त होकर ही `प्रमा` उत्पन्न कर पाते हैं; अत: स्वत:प्रामाण्ययुक्त भगवन्निश्वासरूप वेद ही भगवद्विषय में प्रमाण हैं। प्रमाण का लक्षण है `अनधिगतार्थगन्तृ च प्रमाणम्`; यज्ञ और ब्रह्म का अलौकिकत्व तो प्रसिद्ध है ही और दोनों लौकिक-व्यवहार का अविषय भी हैं, अत: उनके विषय में श्रुति की प्रामाण्यवत्ता निश्चित है।[3] इस तरह श्रुति-प्रमाण का विषय होने के कारण ब्रह्म सर्वथा अचिन्त्य और अज्ञेय नहीं है।

`ब्रह्म का अचिन्त्यत्व स्वीकार करने पर उसका ज्ञान नहीं होगा और श्रुति उसके ज्ञान के पश्चात् ही सायुज्य का कथन करती है--`ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्`; `तमेव

---

१ द्रष्टव्य : बृ०उप०शां०भा० २।३।६

२ द्रष्टव्य : अणुभा० १।१।१; २।१।१४; २।१।२७; २।१।३१; २।१।३७ इत्यादि

३ `------ चक्षुरादीनां प्रामाण्यमन्यमुखनिरीक्षकत्वेन, न स्वत: प्रमानुत्पत्तिप्रसंगात्। सत्वसहितानामेव चक्षुरादीनां प्रामाण्यात्। अतो निरपेक्षा एव भगवन्निश्वासरूपवेदा एव प्रमाणम्। ----अनधिगतार्थगन्तृ च प्रमाणम्। लोकानधिगत इत्यर्थ: यज्ञब्रह्मणोरलौकिकत्वं सिद्धमेव ----`

--अणुभा०१।१।४

विदित्वा अतिमृत्युमेति' आदि।[१] ब्रह्म का जो वाङ्मनसागोचरत्व है, वह रागादि दोष दूषित इन्द्रियों की दृष्टि से कहा गया है।[२] ब्रह्म यद्यपि परिच्छिन्न लौकिक इन्द्रियों द्वारा प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता, तथापि भगवत्कृपा होने पर भगवान् के दर्शन भी सम्भव हैं।[३] 'अपि संराधने प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्' (वे०सू०३।२।२४) पर भाष्य करते हुए वल्लभ कहते हैं--' संराधन अर्थात् सम्यक् सेवा से भगवत्तोष होने पर, ब्रह्म का प्रत्यक्ष होता है।' श्रद्धा भक्ति ध्यान योगादवेहि'; 'यमेवैष वृणुतेतेन-लभ्य:' इत्यादि श्रुतियों से यह सिद्ध है। साधक की भावना के अनुरूप साकार और निर्विकार दोनों ही रूपों के दर्शन होते हैं। 'ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:';'अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्'-- इन द्विविध वाक्यों से ब्रह्म के साकार और निर्विकार दोनों रूपों के दर्शन उपपन्न हैं। साधक का अपना अनुभव और ध्रुवादि भक्तों का अनुभापकत्व इस विषय में प्रमाण है। प्रत्यक्ष और अनुमान तथा श्रुति और स्मृति के आधार पर ब्रह्म साकार और अनन्तगुणपूर्ण ही सिद्ध होता है, अव्यक्त नहीं।[४]

अवतार रूप में ब्रह्म का जो प्रत्यक्ष भक्तों को तथा अन्य व्यक्तियों को होता है, उससे भी ब्रह्म का 'दृश्यत्व' सिद्ध होता है। ब्रह्म के इस दर्शन में उसकी इच्छा ही नियामिका है। वल्लभ ब्रह्म के मूलरूप का प्रत्यक्ष स्वीकार करते हैं। 'आनन्दमयाधिकरण' में आनन्दमय परमात्मा के प्रियादि-अवयवों का व्याख्यान करते हुए वे 'प्रियेक्षणादि से उत्पन्न विविध रसभावसन्दोह को दक्षिणपक्ष कहते हैं।'[५] 'प्रियेक्षणादि' से यहां पर ब्रह्म के दर्शनादि से ही तात्पर्य है। ब्रह्म का यह

---

१ '---- अचिन्त्यत्वे ज्ञानानुदय:। तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति; भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि यादृश:; ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरमिति ज्ञानानन्तरमेव सायुज्यप्राप्ते:' --अणुभा०३।२।११

२ 'तथा लौकिक वाङ्मनोभिर्न शक्यते व्यवहर्तुम्। ईश्वरसन्निधाने तु शक्यत इति द्वयमाह श्रुति:।कुत स्तदवगम्यते तत्राह अवैयर्थ्यात्। अन्यथा शास्त्रं व्यर्थं स्यात् ---'--अणुभा०३।२।१५

३ 'चक्षुर्न स्वसामर्थ्येन भगवन्तं विषयीकरोति किन्तु भगवदिच्छयैव, मां सर्वे पश्यन्तु इत्येतद्रूपया तद् दृश्यम्।'-- त०दी०नि० १।७३ 'प्रकाश'

४ 'संराधने सम्यक् सेवायां भगवत्तोषे जाते दृश्यते। --- यमेवैष वृणुते तेन लभ्य:;श्रद्धाभक्तिध्यानयोगादवेहि ---। द्विविधमपि रूपं दृश्यते। ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:; अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपमिति। संराधकस्य स्वानुभवो ध्रुवादीनामनुभापकत्वंच। तस्मात् प्रत्यक्षानुमानाभ्यां श्रुतिस्मृतिभ्यां वा ब्रह्म साकारमनन्तगुणपरिपूर्णं चेति नाव्यक्तमेवेति निश्चय:। अतो लौकिकालौकिक --अणुभा०३।२।२४

५ '---- तदा प्रियेक्षणादिभिरानन्दात्मक एव विविधरसभावसन्दोह उत्पद्यते य: स दक्षिण: पक्ष उच्यते ----' -- अणुभा० १।१।१३

प्रत्यक्ष आविद्यक कदापि नहीं है। प्रत्यक्ष के आविद्यकत्व का विस्तारपूर्वक खण्डन वल्लभ नहीं करते; सम्भवत: वे इसकी आवश्यकता ही नहीं समझते, क्योंकि उनका स्पष्ट उद्घोष है कि ब्रह्म की कोई उपाधि नहीं है। माया या अविद्या ब्रह्म की शक्तियां हैं, उपाधियां नहीं। ब्रह्म के किसी कार्य में; किसी रूप में; मायिकत्व का लेश भी नहीं है।

विट्ठल ने अवश्य, सम्भवत: शास्त्रार्थ की दृष्टि से, वल्लभ की इस मान्यताको तर्कसंवलित रूप देने का प्रयत्न किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत तर्क संक्षेप में इस प्रकार हैं--

`पराञ्चिखानि ----` (कठ० २।१) इत्यादि से ब्रह्म को अविद्या सम्बन्धी इंद्रियों का अविषय कहा गया है और फिर `कश्चिद्धीर: प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन्` (कठ०२।१) से अविद्यारहित इन्द्रियों का विषय निरूपित किया गया है। `ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कलं ध्यायमान:` में ज्ञानवान् का ही ब्रह्मदर्शन कहा गया है। ज्ञाननाश्य होने के कारण अविद्या इस समय उपस्थित नहीं रह सकती, और `निष्कल`, `प्रत्यगात्मन्` इत्यादि पदों से श्रुति अविद्यारहित ब्रह्म का ही कथन करती है। आविद्यक ब्रह्म मानने पर अविद्या वर्तमान होने से ब्रह्म का वास्तविकरूप प्रकट नहीं होगा, फलत: दर्शनक्रिया के कर्म की उपपत्ति नहीं होगी: साथ ही निर्विशेष ब्रह्म का दर्शन न मानने पर `ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति`, `तस्मिन् दृष्टे परावरे` आदि श्रुतियों का विरोध भी होगा। जो वस्तु दृश्य नहीं है, उसमें अविद्या विशेषणों की कल्पना नहीं कर सकती और जब तक विशेषणों की कल्पना नहीं होती, वह वस्तु दृश्य नहीं हो सकती। इस भांति जब अविद्या विशेषणों की कल्पना करेगी, तभी ब्रह्म दृश्य होगा और जब दृश्य होगा तभी उसमें विशेषणों की कल्पना सम्भव हो सकेगी-- इस तरह `अन्योन्याश्रयदोष` की प्रसक्ति होगी।[१]

विट्ठल प्राय: सर्वत्र ही इसी प्रकार वल्लभ के सिद्धान्तों को आवश्यकतानुसार सुदृढ़ और तर्कसंवलित करते चलते हैं।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वल्लभ ब्रह्म को ज्ञेय और दृश्य स्वीकार करते हैं। ब्रह्म को दृश्य स्वीकार करने पर सहज ही मन में कुछ जिज्ञासाएं उत्पन्न होती हैं; ब्रह्म दृश्य होगा तो उसका कोई आकार अवश्य होगा, शरीर और इन्द्रियां भी होनी चाहिए, वे प्राकृत हैं या अप्राकृत ? इत्यादि। विशुद्धाद्वैतमत का जैसा स्वरूप है उसके अनुसार परब्रह्म पुरुषोत्तम का भी कोई विग्रह अवश्य होना चाहिए नहीं तो `आनन्दमयाधिकरण` में उसका जो दर्शन, स्पर्श आदि कहा गया है, वह सम्भव नहीं होगा। ब्रह्म को निराकार मानना अभीष्ट है नहीं और यदि यह माना जाय कि पुरुषोत्तम रूप में शरीर नहीं है, केवल लीलादि के प्रयोजन से ही वह शरीरी रूप से अवतीर्ण होता है, तो यह लगभग भास्कर का ही सिद्धांत हो गया। वस्तुत: वल्लभ

---

१ द्रष्टव्य-- `विद्वन्मण्डनम्`, पृ०२०५-२०७।

और भास्कर में बहुत सूक्ष्म अन्तर है । भास्कर अनुपहित कारणरूप में ब्रह्म को निराकार स्वीकार करते हैं, पर वल्लभ मूलरूप में भी ब्रह्म को साकार स्वीकार करते हैं । वल्लभ के अनुसार साकार और सशरीर होना एक ही बात नहीं है । ब्रह्म साकार तो है, परन्तु सशरीर नहीं है । `हिरण्मय` पुरुष का ब्रह्मत्व सिद्ध करते हुए वे कहते हैं कि "हिरण्य शब्द आनन्दवाची है । अत: जो हिरण्यकोश: आदि कहा है, वह आनन्दमयत्व द्योतित करने के लिए ही कहा गया है । यहाँ ब्रह्म के शरीर का कथन नहीं अपितु ब्रह्म का स्वरूप ही ऐसा है । `ध्येय: सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती ----` कहकर जो `हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्र:` कहा गया है, वहाँ भी `वपु` का अर्थ स्वरूप ही है । शरीर स्वीकार करने पर निश्चय ही ब्रह्म में जीवत्व की प्रसक्ति होगी ।"[1] इस तरह जहाँ-जहाँ ब्रह्म का शरीरी या इन्द्रियवान् रूप से उल्लेख है, वहाँ- वहाँ वल्लभ उसे स्वरूप-वर्णन ही मानते हैं । ब्रह्म शरीरवान् नहीं, अपितु उसका स्वरूप ही शरीराकार है-- ऐसा वल्लभ का मत है ।

जिस भाँति ब्रह्म के धर्म ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न हैं, उसी प्रकार ब्रह्म के शरीरेन्द्रिय भी उसके स्वरूप से भिन्न नहीं हैं । ब्रह्म और उसके धर्मों से जो सूर्य और उसकी प्रभा की भाँति आधाराधेय सम्बन्ध है, वैसा ही संबन्ध ब्रह्म और उसके शरीरेन्द्रिय में भी माना जा सकता है । ब्रह्म का शरीर सामान्य शरीर की भाँति महाभूतों से परिच्छिन्न नहीं है, अत: उसे सामान्य अर्थ में `शरीरी` अथवा `शरीरपरिच्छिन्न` नहीं कहा जा सकता : उसका शरीर, इन्द्रियाँ आदि भी उसके स्वरूप से अभिन्न होने के कारण उसके धर्मों की ही भाँति सच्चिदानन्दात्मक हैं । ब्रह्म को सर्वत्र `आनन्दाकार` कहा गया है, इसका अर्थ यही है कि ब्रह्म का विग्रह भी दिव्य और आनन्दमय है । वल्लभ आनन्द को ब्रह्म में रूपस्थानीय स्वीकार करते हैं-- `आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीय:`; आनन्दयुक्त होने के कारण ही ब्रह्म `साकार` है और आनन्दवियुक्त होने से ही जीव `निराकार` है, इसीलिए शुद्धाद्वैत मत में आनन्द को `आकारसमर्पक` कहा गया है[2] । इस प्रकार ब्रह्म के मूल पुरुषोत्तमरूप में भी शरीर-इन्द्रियादि की स्थिति है, किन्तु वे सर्वथा अप्राकृत, आनन्दमय है और ब्रह्म के स्वरूप से अनन्य हैं, अत: उसके स्वरूप में उनसे कोई द्वैतापत्ति नहीं होती । श्वेताश्वतर में जो `न तस्य कार्यं करणं च विद्यते` (६।८) कहा गया है, उसका तात्पर्य यही है कि जीव की भाँति ब्रह्म की स्वरूपभिन्न इन्द्रियादि नहीं है, वे

----

१ "---- हिरण्यशब्द आनन्दवाची । ---- अत: कोशादयोऽपि सर्वे आनन्दमया एव । तादृशमेव ब्रह्मस्वरूपमिति मन्तव्यम् । अत एव ध्येय: सदा सवितृमण्डलमध्यवर्ती नारायण: सरसिजासनसन्निविष्ट: केयूरवान् मकरकुण्डलवान् किरीटी हारी हिरण्मयवपुर्धृतशंखचक्र इत्यत्रापि वपु: स्वरूपम् । ---शरीरेसति जीवत्वमेवेति निश्चय:"--अणुभा० १।१।१६

२ द्रष्टव्य : प्रस्तुत शोधप्रबन्ध, पृ०सं०८५-८६ ।

भी ब्रह्मरूप हैं तथा आनन्दमय हैं,इसीलिए ब्रह्म को 'आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि:' कहा जाता है[१]। श्वेताश्वतर में 'सर्वत: पाणिपादं तत्सर्वतो ऽक्षिशिरोमुखम् । सर्वत: श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।। (३।१६) और उसके बाद ही 'सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम् । असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुण-भोक्तृ च ।।'(३।१७) से ब्रह्मतत्त्व का व्याख्यान किया गया है । ब्रह्म के स्वरूप में जो चक्षु आदि इन्द्रियां और उनके द्वारा ग्राह्य गुण आदि हैं, वे अलौकिक हैं । ब्रह्म ही कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय रूप से अवभासित होता है । उसके स्वरूप में लौकिक इन्द्रियादि की शंका नहीं करनी चाहिए; 'सर्वेन्द्रिय-विवर्जितम्' से यही बात कही गई है।[२] इस प्रकार के स्वरूपभूत शरीर और इन्द्रियों से ब्रह्म के स्वतंत्र कर्तृत्व की कोई हानि नहीं होती ।

अब तक ब्रह्मतत्त्व की विवेचना और व्याख्या एक स्वतंत्र परिप्रेक्ष्य में या स्वयं उसके ही परिप्रेक्ष्य में की गई, अब हम उसे विश्व के सन्दर्भ में देखेंगे ।

यह सारी सृष्टि ब्रह्म की एक अभिव्यक्तिमात्र है; इसीलिए वल्लभ उसे ब्रह्म की 'आत्मसृष्टि' कहते हैं । ब्रह्म ही विविध जीवों और जड़ादि के रूप में परिणमित होता है । अक्षर और अन्तर्यामी काल,कर्म और स्वभाव सब उसके ही रूप हैं, उसकी ही अभिव्यक्तियां हैं,फिर भी वह न तो सीमाबद्ध है, न परिच्छिन्न और न ही परिणामी । बात कुछ विचित्र-सी जान पड़ती है, पर है नहीं; क्योंकि श्रुति बार-बार उसे 'विरुद्धधर्माश्रय'; और 'सर्वभवनसमर्थ' रूप से प्रख्यापित करती है। इसके पूर्व कि ब्रह्म की परिणमन प्रक्रिया तथा उसकी अभिव्यक्तियों पर विचार किया जाय, उसकी शक्तियों पर एक विहंगम दृष्टि डाल लेना आवश्यक है ।

ब्रह्म सर्वशक्तिमान् है तथा असंख्य असाधारण शक्तियों का स्वामी है । श्वेता-श्वतर में कहा गया है-- 'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते,

---

१ '----- तथा च जीववत्स्वरूपातिरिक्तं ज्ञानक्रियादिषु करणमिन्द्रियादिकमपि तस्य नास्ति, आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादित्वात् ।' -- वि०म०,पृ०२१० ।

२ (क) ' ----- किंच सर्वाणि इन्द्रियाणि चक्षुर्वागादीनि तद्ग्राह्या गुणाश्चालौकिकास्तथैव शुद्धमेव ब्रह्मैव कर्मेन्द्रियज्ञानेन्द्रियादिरूपेण भासत इत्यर्थ: । न तु लौकिकानीन्द्रियाणि तत्र सन्ति,तदाह सर्वेन्द्रियविवर्जितमिति । असक्तमित्यादि स्पष्टम् ।' -- वि०म०,पृ०२२२-२३ ।

(ख) ' ------ रूप्यते व्यवह्रियते ऽनेनेति करचरणाद्युच्यते तथा च यथा लोके करादिकं भिन्नं तदभिमानी भिन्नस्तथा ब्रह्म न अतो करादिभिन्नं तदभिमानित्वेन निरूप्यते, किन्तु करादेरपि ब्रह्मत्वात् भेदाभावाद्रूपरूपमेव निरूप्यते, न तु रूपवदित्यर्थ: ।' -- वि०म०,पृ०२३५ ।

न तत्समश्चाप्यधिकश्च दृश्यते ।
पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते,
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। (६।८)

'यहां 'परा' शब्द से तात्पर्य है कि इन विविध शक्तियों का स्वरूप मन और वाणी आदि इन्द्रियों के द्वारा 'इदमित्थम्' रूप से नहीं जाना जा सकता । ये ब्रह्म से भिन्न नहीं, अपितु ब्रह्मरूप ही हैं । ब्रह्म की शक्तियां आगन्तुकी नहीं अपितु स्वाभाविक हैं, अत: उन्हें अविद्या-कल्पित नहीं माना जा सकता ।'[1] श्रीमद्भागवत में परब्रह्म श्रीकृष्ण की द्वादश प्रमुख शक्तियां परिगणित की गई हैं--श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ति, कीर्ति, तुष्टि, इला, ऊर्जा, विद्या, अविद्या, शक्ति और माया । इनमें से माया ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति है । यह न तो ब्रह्म की उपाधि है और न ही मिथ्या है, क्योंकि शक्ति के मिथ्या होने पर शक्तिमान् भी मिथ्या हो जायेगा । यह माया ब्रह्म के स्वरूप से अभिन्न है और ब्रह्म में व उसी तरह रहती है जिस तरह पुरुष में कार्यकरणसामर्थ्य ।[2] गीता में ब्रह्म का माया से सम्बन्ध कहा गया है--'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया'-- परन्तु इससे ब्रह्म मायिक या मायाधीन सिद्ध नहीं होता, वह तो 'मायी' है । पाशी कभी पाशाधीन नहीं होता । माया ब्रह्म-रूप होने से ब्रह्म के अधीन है, अत: ब्रह्म मायिकाकार नहीं हो सकता, वह आनन्दाकार ही है[3] । माया ब्रह्म की एक शक्तिविशेषमात्र है तथा उसकी इच्छा से नियमित और संचालित है । माया के स्वरूप पर विस्तृत चर्चा अगले परिच्छेद में की जायेगी ।

अपनी इस कार्यकरण-सामर्थ्यरूपा माया शक्ति से ब्रह्म इस अचिन्त्य-रचनात्मक सृष्टि के रूप में परिणमित होता है । श्रुति में अनेक स्थलों पर ब्रह्म के एक से अनेक होने की बात कही गई है--'एकोऽहं बहुस्याम् ।' यह एक और अद्वितीय तत्त्व की सृष्टीच्छा होने पर विविध रूपों में परिणमित होता है । ब्रह्म के एक और अनेक होने के क्रम में वल्लभ कई स्थितियां स्वीकार करते हैं--अक्षर, अन्तर्यामी, जीव, जड़, काल, कर्म स्वभाव आदि ।

सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म की जो परिणमन-प्रक्रिया आरम्भ होती है, उसके अन्तर्गत वह सबसे पहले अक्षर रूप से अवतीर्ण होता है । जब परब्रह्म की सृष्टीच्छा होती है तो उसकी

---

१ '`परा' मनोवचसामपीदमित्थतया ज्ञातुमशक्या विविधा अनेकरूपा: शक्तय: । शक्तिस्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपान्नातिरिच्यते इति ज्ञापनायैकवचनम् । तेन अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वमुक्तं भवति । सापि शक्ति: स्वाभाविकी, न त्वागन्तुकी । --- एवं सति विरुद्धं वस्तु सदविद्यया कल्पितमिति वक्तुं न शक्यं, विरोधात् ।' -- वि०म०, पृ०२११ ।

२ 'माया हि भगवत: शक्ति: सर्वभवनसामर्थ्यरूपा तत्रैव स्थिता । यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम् ।' -- त०दी०नि० २७।१ पर 'प्रकाश'

३ 'सर्वाधारं वस्तुमायबानन्दाकारमुक्तम्' -- त०दी०नि० १।६८ ।

इच्छामात्र से उसके स्वरूप का आनन्दांश तिरोहित-सा हो जाता है-- यही अक्षर का स्वरूप है[1]। ब्रह्म का सृष्टीच्छा से व्यापृत जो स्वरूप है, वही अक्षर है। यह पुरुषोत्तम स्वरूप की अपेक्षा अल्प आनन्दवाला है,इसीलिए इसे `गणितानन्द` कहते हैं। इसके विपरीत पुरुषोत्तम स्वरूप निरतिशय आनन्दयुक्त है तथा उसके आनन्द की कोई गणना या माप नहीं है। तैत्तिरीय में `सैषाऽऽनन्दस्य मीमांसा भवति` ऐसा उपक्रम कर `ते ये शतं प्रजापतेरानन्दा: स एको ब्रह्मण आनन्द:` कहा गया है। इस प्रकार `इयत्` `एतावत्` रूप से गणना होने के कारण सावधिकआनन्दयुक्त `अक्षर` सर्वोच्च सत्ता नहीं है[2]। आनन्दमय होने के कारण नित्यनिरवध्यानन्दयुक्त पुरुषोत्तम ही सर्वोच्च सत्ता है[3]। किन्तु न तो अक्षर ब्रह्म से भिन्न कुछ है, और न ही उसका कार्य है; इच्छामात्र से तिरोभाव होने के कारण इसमें आनन्दतिरोहितत्व का उपचारमात्र होता है,अन्यथा यह भी ब्रह्म,कूटस्थ,अव्यक्त आदि शब्दों से ही वाच्य है[4]। गणितानन्द तथा कार्य-इच्छा से व्यापृत होने के कारण अक्षर रूप में ब्रह्म `मुख्यजीव` संज्ञा से भी अभिहित होता है। फिर ब्रह्म के पुरुषोत्तम और अक्षरस्वरूप में क्या अन्तर है? अन्तर यह है कि परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण तो लीलाभाव से इच्छा करते हैं,अत: उससे व्यापृत नहीं होते, जब कि अक्षर सृष्टिकारण होने से कार्येच्छा से संयुक्त होकर तिरोहितानन्द हो जाता है, और `मुख्यजीव` कहलाता है[5]।

वल्लभ अक्षर को ब्रह्म से अभिन्न तथा सृष्टिकारण स्वीकार करते हैं। यह सृष्टि का उत्पत्तिस्थान है तथा इसमें ही समस्त वस्तुजात की स्थिति है--

`यथोर्णनाभि: सृजते गृह्णते च
यथा पृथिव्यामोषधय: सम्भवन्ति।
यथा सत: पुरुषात्केशलोमानि
तथाऽक्षरात्संभवतीह विश्वम् ।।`--(मु०१।१।७)

----

१ `अग्रेऽहमेव भविष्यामी तीच्छामात्रेणान्त:समुत्थितसत्त्वेनानन्दांशस्तिरोहित इव भवति`
--त०दी०नि०२।९९पर `प्रकाश`

२ `---- एवं सति इयत् एतावदित्यक्षरानन्दस्य सावधिकत्वेन श्रुतौ कथनादानन्दमयत्वेन निरवध्यानन्दात्मकत्वस्य पुरुषोत्तमे कथनात्तथोक्तिरिति` -- अणुभा० ३।३।३४

३ `मूलेन पुरुषोत्तमेन सह, अविच्छिन्नतया तिष्ठति, न तु कार्यत्वेनेत्याह तदाधारतयेति। एषा स्थिति: सर्वदा` -- त०दी०नि० २।१०१ पर `प्रकाश`

४ `इच्छामात्रात्तिरोभावस्तस्यायमुपचर्यते।
ब्रह्मकूटस्थाव्यक्तादिशब्दैर्वाच्यो निरन्तरम् ।।` --त०दी०नि०२।१००

५ `-------तथा च पुरुषोत्तमस्तु लीलया इच्छां करोति, न तु तया व्याप्रियत इति,अतिरोहितानन्दं अक्षरं तु तया व्यापृतं सम्भूतेन सत्वेन तिरोहितानन्दं मुख्यजीवपदवाच्यतां धत्त इत्येष विशेष इत्यर्थ:` । २।९९ त०दी०नि० पर आ०भ०,पृ०२१७।

यह सृष्टि का आधार है, यह तथ्य बृहदारण्यक के गार्गी ब्राह्मण से भी प्रमाणित है । वहां `स कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्चप्रोतश्चेति` (बृ०३।८।७), इस प्रश्न के उत्तर में `एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनणु ---(बृ०३।८।८) तथा `एतस्य वाऽक्षरस्यप्रशासने गार्गि द्यावापृथिव्यौ विधृते तिष्ठत:` (बृ०३।८।९) कहा गया है । अप्रतिहत आज्ञाशक्ति ब्रह्म का ही धर्म है । उसके अतिरिक्त और कोई सर्वाधार भी नहीं हो सकता; आकाश से लेकर पृथिवी तक को धारण करने वाला वही एक है। अक्षर को ब्रह्म से भिन्न न समझ लिया जाय इसीलिए यहां ब्रह्मधर्मों का उपदेश किया गया है, अत: अक्षर परमात्मा ही सिद्ध होता है[1] । अक्षर का सृष्टिकारणत्व कहा गया है और ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी से यह सम्भव नहीं है,इसलिए भी अक्षर ब्रह्म ही है । दूसरे शब्दों में ब्रह्म ईषदानन्दतिरोभाव से युक्त होकर अक्षर कहलाता है[2] ।

यह अक्षर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का आसनरूप है । भक्तों के दहराकाश में पहिले इस अक्षररूप का स्फुरण होता है, तब उसे आधार बनाकर पुरुषोत्तम आविर्भूत होते हैं । इसीलिए श्रीकृष्ण ने गीता में इसे अपना`धाम` कहा है--`तद्धाम परमं मम` । अक्षर को पुरुषोत्तम का चरणस्थानीय[3] भी कहा गया है । सभी तरह से,`गणितानन्द` तथा `कार्येच्छाव्यापृत` होने के कारण यह ब्रह्म के पुरुषोत्तम श्रीकृष्णस्वरूप से हीन और अवरकोटि का है ।

आचार्य वल्लभ ने अपने `सिद्धान्तमुक्तावली` नामक प्रकरणग्रन्थ में `अक्षर`के दो स्वरूप बताये हैं--`द्विरूपं तद्धि, सर्वंस्यात् एकं तस्माद्विलक्षणम्`[4] । अक्षर का यह स्वरूप तो वह है, जो निखिल प्रपंचात्मक कार्यरूप है,और दूसरा इससे विलक्षण है,अर्थात् प्रापंचिक धर्मों से रहित `अस्थूलमनणु ` आदि श्रुतियों का विषय है ।`यो वेद निहितं गुहायाम्`:`तदाहुरक्षरं ब्रह्म`;`तद्धाम परमं मम`आदि श्रुतिस्मृतियों का वाच्य यही प्रपंचविलक्षण अक्षर ब्रह्म है । सिद्धांतमुक्तावली के

----

१ (क) `----- न ह्यन्य: सर्वाधारो भवितुमर्हति । परोक्षेण ब्रह्मकथनार्थमक्षरपदमन्यनिराकरणार्थं तद्धर्मोपदेशश्च । तस्मादक्षरं परमात्मैव ।`-- अणुभा० १।३।१०

(ख) द्रष्टव्य अणुभा०१।२।२१ तथा १।३।११

२ `--- तथाऽक्षरात् सम्भवतीह विश्वमिति । इयं चौपनिषत् । न ह्यत्र ब्रह्मव्यतिरिक्ताज्जगदुत्पत्तिरिति ।----- ईषदानन्दतिरोभावेन ब्रह्माक्षरं उच्यते ।`--अणुभा० १।२।२१

३ `अक्षरं हि लोकात्मकमासनात्मकं चरणात्मकं चेति` -- श्रीमद्भा० २।६।१६ पर सुबो०

४ ` परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।

द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यादेकं तस्माद्विलक्षणम् ।।` -- सि०मु० ३

टीकाकार श्रीलालूभट्ट के अनुसार गीता के `द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च । क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।। उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत: ।`-- इस श्लोक में वर्णित क्षर अक्षर और परमात्मा को ही आचार्य ने क्रमश: प्रपंच, अक्षर और पुरुषोत्तम रूप से कहा है । भिन्न रूप से कथन होने के कारण यहां द्वैत की शंका नहीं करनी चाहिए, क्योंकि गीता में ही `वासुदेव: सर्वम्` ऐसी एकत्व की प्रतिज्ञा की गई है ।

वल्लभ के मत में यह अक्षर ही ज्ञानियों का उपास्य है । अक्षर का प्रपंचधर्मों से रहित, अस्थूलादि श्रुतियों का वाच्य, जो लोकविलक्षण रूप है, वही निदिध्यासन का विषय है । ज्ञानमार्ग का अनुसरण करने वाले साधकों[1] का जिस ब्रह्म में लय होता है, वह चरणस्थानीय अक्षर ब्रह्म ही है, परब्रह्म पुरुषोत्तम नहीं ।

इस प्रकार यह अक्षर सृष्टिकारण है तथा परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ अविच्छिन्न रूप से नित्य वर्तमान रहता है । यह ज्ञानियों का चरम प्राप्य तथा `गणितानन्द` होने के कारण निरतिशयसुखस्वरूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण से हेय है ।

काल, कर्म और स्वभाव ब्रह्म की अन्यतीन अभिव्यक्तियां हैं, जिन्हें वल्लभ अक्षर के भेद के रूप में स्वीकार करते हैं । इनमें से `काल` ब्रह्म का क्रियाशक्तिप्रधानरूप है; क्रिया सत्-अंश की शक्ति है, अत: इसमें चित् और आनन्द तिरोभूत रहते हैं, किन्तु सदंशप्रधान जड़ से वैलक्षण्य दिखाने के लिए इसे ईषत्सत्वांशप्रकट ह कहा है ।`कर्म` क भी भगवद्रूप है । इसमें भी चिदानन्दतिरोभाव काल की ही भांति होता है ।`स्वभाव` भगवदिच्छारूप से आविर्भूत होता है । सच्चिदानन्दरूप से इसका स्वरूप व्यवहारोपयोगी नहीं है, अत: इसमें सत् चित् और आनन्द तीनों का ही तिरोभावरहता है । ये तीनों सृष्टि के साधारणकारण हैं, अत: सृष्टिप्रकरण में इनपर और अधिक विस्तार से विचार किया जायेगा ।

यहां यह ज्ञातव्य है कि अक्षर के सारे भेद और कार्य परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के ही भेद और कार्य हैं[2]; क्योंकि वस्तुत: श्रीकृष्ण और अक्षर में कोई भेद नहीं है; श्रीकृष्ण ही अक्षररूप से सृष्टि करते हैं । वाल्लभदर्शन में सर्वत्र ही कर्तारूप से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का ही कथन होता है, अक्षर का नहीं । अक्षर का प्रयोग प्राय: पुरुषोत्तम के अक्षररूप के सन्दर्भ में, अथवा ज्ञानियों के उपास्यनिर्देश के प्रसंग में कि किया गया है । इसी प्रकार `ब्रह्म` शब्द का प्रयोग भी सैद्धान्तिक-विचारणा में प्राय: सर्वत्र मूलरूप परब्रह्म पुरुषोत्तम के लिए ही किया गया है, जब ज्ञानमार्ग के

----

१ `ज्ञानमार्गेऽङ्गीकृतास्त्वात्मत्वेनैव ज्ञानादुप समीप एव गच्छन्त्युक्तरीत्याऽक्षरात्मके तत्रैव प्रविष्टा भवन्तीत्यर्थ: ।`--अणुभा० ४।२।३

२ `--- यो भगवान् विश्वस्य सृष्ट्यार्थमेवावतीर्ण, अक्षररूपविशेषेण`

--श्रीमद्भा०३।५।४२ पर सुबो०

उपास्य अक्षर और भक्तिमार्ग के उपास्य श्रीकृष्ण में अन्तर दिखाना होता है, तभी वल्लभ श्रीकृष्ण को पुरुषोत्तम तथा अक्षर को ब्रह्म कहते हैं।

अक्षर के पश्चात् दूसरी अभिव्यक्ति अन्तर्यामी रूप की है। अक्षर से सृष्टि कर ब्रह्म जिस रूप से सृष्टि में व्याप्त होता है, वह ब्रह्म का अन्तर्यामी रूप है। अन्तर्यामी रूप से वह समस्त जीव-जड़ादिरूप सृष्टि में अनुस्यूत है--'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाऽभवत्' 'अनेन जीवेनात्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि'। 'बृहदारण्यक के अन्तर्यामि-ब्राह्मण में विस्तार पूर्वक ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप का वर्णन किया गया है--' यः पृथिव्यां तिष्ठन्पृथिव्या अंतरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं,यः पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः'(३।७।३) इत्यादि।

ब्रह्म की इच्छा से आनन्दांशप्रधान अन्तर्यामी स्वरूप का प्राकट्य होता है[१]। इसमें सत् चित् और आनन्द तीनों ही प्रकट रहते हैं। अक्षर और अन्तर्यामी में यही भेद है कि अक्षर गणितानन्द है, और अन्तर्यामी प्रकट सच्चिदानन्द। यहां शंका होती है कि प्रकट सच्चिदानन्द स्वरूप तो पुरुषोत्तम का भी है, फिर इन दोनों में अन्तर ही क्या रह जायेगा? इसका उत्तर यह है कि जहां पुरुषोत्तम सर्वथा स्वतंत्र और अपरिच्छिन्न है, वहां अन्तर्यामी शरीरादि में निवास करने के कारण परिच्छिन्न और प्रतिनियतकार्यकर्ता है[२]। इसलिए अन्तर्यामी को भी पुरुषोत्तम से अवरकोटि का कहा गया है।

सृष्टिकाल में यह अन्तर्यामी समस्त पदार्थों एवं कार्यों में व्याप्त होकर भी समस्त कार्यजात को स्वयं में स्थापित करता है; इस प्रकार स्वयं आधाराधेयभाव ग्रहण कर के भी, इस कार्यजात से सम्पृक्त नहीं होता[३]। इसीलिए अन्तर्यामिब्राह्मण में,'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो यं सर्वाणि भूतानि न विदुः ----'(बृ०३।७।१५)-- इस प्रकार कथन किया गया है।

----

१ '--- आनन्दांशस्वरूपेण सर्वान्तर्यामिरूपिणः'-- त०दी०नि० १।३३

२ ' अन्तर्यामिणां स्वगतत्वं च प्रकटसच्चिदानन्दरूपत्वेऽपि परिच्छिन्नत्वप्रतिनियतकार्यकर्तृत्वादिना ज्ञेयम्'। --आ०भं०त०दी०नि०१।६७

३ ' यः सर्वत्र संतिष्ठन्नन्तरः संस्पृशेन्न तत्।
शरीरं तं न वेदैत्थं यो नुविश्य प्रकाशते।।--त०दी०नि० १।७१
---- सर्वेष्वेव पदार्थेषु कार्येषु स्वयं तिष्ठंस्तान्यन्तरयति स्वमध्ये स्थापयतीत्यर्थः। तथा स्वयं आधाराधेयभावं प्राप्नुवन्नपि तन्न स्पृशति।'--प्रकाश त०दी०नि०१।७१

यह अन्तर्यामी समस्त जीव-शरीरों में निवास करता है, किन्तु जीव के सुखदु:खादिरूप भोग से संस्पृष्ट नहीं होता; अपितु सर्वथा अनासक्तभाव से प्रकाशित होता है--

> 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
> समानं वृक्षं परिषस्वजाते ।
> तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्य-
> नश्नन्न्यो अभिचाकशीति ।।' --(श्वे०४।६)

वल्लभ के मत में एक विशेष बात यह है कि वे जीवों की भांति अन्तर्यामी का भी नानात्व स्वीकार करते हैं, क्योंकि श्रुति दोनों का हंसरूप से हृदय में प्रवेश कहती है।[1] जिस प्रकार जीव प्रतिशरीरभिन्न हैं, वैसे ही अन्तर्यामी भी प्रतिशरीरभिन्न हैं। पूर्ण परात्परब्रह्म श्रीकृष्ण, अक्षर और अन्तर्यामी को वल्लभ क्रमश: ब्रह्म का आधिदैविक, आध्यात्मिक और आधिभौतिक रूप स्वीकार करते हैं। वल्लभ इनमें नियम्यनियामक भाव भी स्वीकार करते हैं। अन्तर्यामी देह जीवों का नियामक है; अन्तर्यामी का नियामक है अक्षर तथा अक्षर का नियामक श्रीकृष्ण स्वरूप है। इनमें से ब्रह्म की शक्ति माया, अक्षर की शक्ति प्रकृति तथा जीव की शक्ति अविद्या है। अन्तर्यामी की किसी शक्ति का उल्लेख वल्लभ ने नहीं किया है।

जीव भी ब्रह्म की ही अभिव्यक्तिविशेष है। ब्रह्म अंशी है तथा जीव अंश है। जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से जीवों का प्राकट्य होता है। वल्लभ के इस सिद्धान्त का आधार मुण्डकोपनिषद् में आई हुई व्युच्चरणश्रुति है, जिसमें कहा गया है कि जिस प्रकार सुदीप्त पावक से सहस्रश: अग्निलक्षण स्फुलिंग व्युच्चरित होते हैं, उसी प्रकार ब्रह्म से द्विविध भावों की सृष्टि होती है।[2] प्रथम सृष्टि में ब्रह्म की इच्छा से ब्रह्मांशभूत चेतन जीवों का प्राकट्य होता है। ये सच्चिदंश से युक्त होते हैं, तथा इनमें आनन्दांश तिरोभूत रहता है।[3] आनन्दरहित होने के कारण जीव 'निराकार' कहलाते हैं। आनन्दांश तिरोभूत होने पर ऐश्वर्यादि षड्गुणों का

---

१ 'यथा जीवानां नानात्वं तथाऽन्तर्यामिणामपि । एकस्मिन् हृदये हंसरूपेणाभ्यप्रवेशात्'।
--त०दी०नि०१।३३ पर प्रकाश

२ 'तदेतत्सत्यं, यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा:
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा: ।
तथाऽक्षराद् विविधा: सौम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ।।' --(मुण्डक० २।१।१)

३ 'तदिच्छामात्रत: तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतना: । सृष्ट्यादौ निर्गता: सर्वे निराकारास्तदिच्छया ।।'
--त०दी०नि० १।३२

भी तिरोभाव हो जाता है तथा जीव अल्पज्ञ, दीन और समस्त दु:खों का विषय हो जाता है। ब्रह्म अपने अंश जीव का नियामक ह और शासक है तथा जीव नियम्य और शासित; तो भी वल्लभ जीव की स्वतंत्र सत्ता या रामानुज की भांति अंशी ब्रह्म पर आधारित होते हुए भी अंशरूप से जीव का स्वतंत्र अस्तित्व, स्वीकार नहीं करते। जीव ब्रह्म से भिन्न और कुछ नहीं है, ब्रह्म ही भोक्ता जीवरूप से प्रकट होता है[1]। ब्रह्म के जीव रूप पर विस्तृतरूप से जीव के प्रकरण में चर्चा होगी।

जिस प्रकार ब्रह्म अपनी इच्छा से, अपने सच्चिदानन्दस्वरूप में से आनन्दांश को तिरोभूत कर भोक्ता जीवरूप से प्रकट होता है; उसी प्रकार आनन्द और चित् का तिरोभाव कर भोग्य जगत् रूप से भी आविर्भूत होता है। जगत् ब्रह्म का सदंशप्रधान रूप है[2]। आनन्द और चैतन्य के अभाव में यह जड़ और अचेतन है। जड़ और अचेतन होने के कारण इसे ब्रह्म क्ने[3] से भिन्न अथवा असत् नहीं समझना चाहिए; श्रुति सर्वत्र प्रपंच की ब्रह्मरूपता का कथन करती है। ब्रह्म ही जगत् रूप से परिणत होता है: अत: प्रपंच भी उतना ही सत्य है, जितना कि उसका कारण ब्रह्म[4]। जगत् के स्वरूप का विस्तृत विवेचन सृष्टि-प्रकरण में किया जायेगा।

इस प्रकार ब्रह्म स्वेच्छापूर्वक अपने स्वरूप में न्यूनाधिक परिवर्तन करके, सत्, चित् और आनन्द अंशों के तारतम्य से इतने विभिन्न रूपों में अविर्भूत होता है। उसकी सारी अभिव्यक्तियां सहज या वास्तविक हैं तथा उनमें मायिकत्व या अविद्यासम्बन्ध की गन्ध भी नहीं है। ये सारी अभिव्यक्तियां भी उतनी ही सत्य हैं, जितना कि वह स्वयम्। विशेष बात यह है कि इन अभिव्यक्तियों में अवस्थाभेद या कालक्रम की दृष्टि से कोई पौर्वापर्य नहीं है; ब्रह्म एक साथ ही इतने विविध रूपों में प्रकाशित होता है।

इतने भेदप्रभेदों के होते हुए भी ब्रह्म के स्वरूप में कोई वैषम्य या विसंगति नहीं है। वल्लभ परमवस्तु को 'अखण्डैकरस' ही स्वीकार करते हैं; उसमें किसी भी स्तर पर कहीं कोई भेद नहीं है; स्वगतभेद भी नहीं। ब्रह्म व्यापक है और व्यापकत्व का अर्थ है देश काल और वस्तु से परिच्छिन्न या सीमित न होना। विभुपरिमाण वाले ब्रह्म में देशगतपरिच्छिन्नता तो हो ही नहीं सकती, कालगत परिच्छिन्नता की भी सम्भावना नहीं है, क्योंकि काल भी ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्तिविशेष है। केवल वस्तुगत परिच्छेद की ही सम्भावना हो सकती है। वल्लभ ने उसका भी निवारण करते हुए स्पष्ट-

---

१ '---जीवो भोक्ता भगवदंश: --' श्रीमद्भा० २।५।१४ पर सुबो०

२ '--- अविच्छामात्र: तस्मात् ---सृष्ट्यादौ निर्गता: सर्वे ---सदंशेन जड़ा अपि' --त०दी०नि०१।३३

३ '--- श्रुतितो हि प्रपंचस्य ब्रह्मतोच्यते' -- त०दी०नि०१।२७ पर 'प्रकाश'

४ 'कारणगतमेव सत्यत्वं पूर्वे भासते इति भाष्यम्' -- अणुभा० १।१।२

रूप से ब्रह्म को त्रिविधभेदविवर्जित कहा है-- `सजातीयविजातीयस्वगतद्वैतविवर्जितम्` (त०दी०नि०१।६७)।[1] वस्तुनिष्ठ भेद तीन प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ किसी वृक्ष का अन्य वृक्षों से जो भेद है, वह सजातीय भेद है; विसदृश शिलादि से जो भेद है वह विजातीय भेद है, तथा स्वयं वृक्ष में पुत्र-पुष्प-बीजादि रूप से जो भेद है, वह स्वगत ह भेद है। ब्रह्म में भी चेतनत्व और नित्यत्व से युक्त जीव से सजातीय, जड़त्व और अनित्यत्व से युक्त जगत् से विजातीय तथा प्रकटसच्चिदानन्द अन्तर्यामी से स्वगत-द्वैत की आशंका होती है: किन्तु ब्रह्म के सद्रूप से जड में सच्चिद्रूप से जीव में तथा प्रकटसच्चिदानन्द रूप से अन्तर्यामी में अनुस्यूत होने के कारण इनके द्वारा प्रतीयमान भेद का वर्णन किया गया है।[2] और फिर `सर्वं खल्विदं ब्रह्म` `आत्मा वा इदं सर्वम्` `अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः` इत्यादि श्रुतियों से सब कुछ ब्रह्मरूप ही है, अत: ब्रह्मवस्तु की अद्वयता में सन्देह नहीं करना चाहिए। एक ब्रह्मवस्तु का ही, किसी बाह्य तत्त्व के संस्पर्श के बिना ही, इन विविध रूपों में प्राकट्य होता है, अत: उसके अद्वितीयत्व की कोई हानि नहीं होती। अत: ब्रह्म में किसी प्रकार के भेद की शंका नहीं करनी चाहिए, वह एक, अखण्ड और पूर्ण सत्ता है।

वेदान्तदर्शन की सर्वप्रमुख विशेषताओं में से एक विशेषता है परमवस्तु या ब्रह्म को कर्तारूप से स्थापित करना। श्रुति सर्वत्र ब्रह्म को इस प्रपंच की विस्तार-परिधि का केन्द्रबिन्दु; तथा अचिन्त्यरचनात्मक जगत् की आधार-शिला तथा स्पष्टीकरण के रूप में प्रस्तुत करती है। उपनिषदों में सहस्रश: उसके कर्तृत्व का प्रतिपादन किया गया है-- `तदैक्षत, बहुस्यां प्रजायेयेति, तत्तेजोऽसृजत`(छां० ६।२।३); `सन्मूला: सौम्येमा: सर्वा: प्रजा:सदायतना: सत्प्रतिष्ठा:` (छां०६।८।४); `सोऽकामयत, बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत्। स तपस्तप्त्वा। इदं सर्वमसृजत` (तै०२।६।१); `तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य, सच्चत्यच्चाभवत्` (तै०२।६।१) इत्यादि।

वेदान्त-परम्परा के सभी दार्शनिकों ने ब्रह्म के कर्तृत्व को उन्मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है, भले ही अपने-अपने सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उन्होंने इसे कुछ अलग रंग दे दिया हो। यह सृष्टि चाहे ब्रह्म का आभास हो चाहे परिणाम; है उसका ही कार्य; उसका ही उन्मेष। वल्लभ के अनुसार भी एकमात्र ब्रह्म ही इससृष्टि का कर्ता है। आचार्य वल्लभ `जन्माद्यस्य यत:` (वे०सू०१।१।२) तथा `शास्त्रयोनित्वात्` (वे०सू०१।१।३) इन दो सूत्रों को एक सूत्र मानकर यह अर्थ करते हैं कि इस जगत् का उद्भव, स्थिति और विनाश जिससे होता है, वह ब्रह्म है: शास्त्र(वेद) इस विषय में प्रमाण

---

१ `सजातीया जीवा, विजातीया जडा:, स्वगता अन्तर्यामिण:। त्रिष्वपि भगवाननुस्यूतस्त्रिरूपश्च भवतीति त्रैविध्यमिदं द्वैतं भेदस्तद्वर्जितम्` -- त०दी०नि०१।६७ पर `प्रकाश`।

२ `सच्चिदानन्दरूपे भगवति त्रिविधनिरूपितद्वैतराहित्यं तु, चिद्रूपेण जीवे, सद्रूपेण जडे, प्रकटानन्दरूपेण अन्तर्यामिणि इत्येवं त्रिष्वप्यनुस्यूतत्वात् --` त०दी०नि० २।६७ पर आ०भं०

है।[१] जिस प्रकार वेद 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि से ब्रह्म में सत्यत्व आदि धर्मों का कथन करते हैं, उसी प्रकार 'यतोवा इमानि भूतानि जायन्ते ---' से उसके कर्तृत्व का भी प्रख्यापन करते हैं। इस स्थिति में यदि कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते, तो 'सत्यत्व' आदि धर्मों को ही स्वीकार करने में क्या युक्ति है? अत: 'परमाप्त' वेद के प्रामाण्य के आधार पर ब्रह्म का सृष्टिकर्ता होना सर्वथा उपपन्न है। यदि हम सत्यत्व आदि धर्मों को स्वीकार करते हैं, तो कर्तृत्व को भी स्वीकार करना पड़ेगा। ब्रह्म को 'यावद्धर्मरहित' नहीं कह सकते, अन्यथा उसका ज्ञान ही नहीं होगा।[२]

श्रुति ब्रह्म के कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों का ही कथन करती है--'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते --'; 'स आत्मानं स्वयमकुरुत'; तथा 'निष्कलं निष्क्रियं शान्तं निरवद्यं निरंजनम्'; 'असंगो ह्ययं पुरुष:' से। इस स्थिति में दो ही विकल्प सम्भव हैं: या तो 'सर्वभवन-सामर्थ्य' के आधार पर ब्रह्म को 'विरुद्धसर्वधर्माश्रय' मानकर उसे कर्तृत्व और अकर्तृत्व दोनों का आश्रय माना जाय, अथवा कर्तृत्व और अकर्तृत्व में से किसी एक को अस्वीकार किया जाय। अकर्तृत्व की अपेक्षा कर्तृत्व के लौकिक होने के कारण उसका ही निषेध युक्तियुक्त प्रतीत होता है; किन्तु ऐसा करना इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि श्रुति सर्वत्र ब्रह्म को 'ईक्षण' क्रिया का कर्ता कहती है--'स ऐक्षत' (ऐ०१।१)। ब्रह्म की यह 'ईक्षण' क्रिया प्रकृति आदि के सम्बन्ध से नहीं, अपितु सर्वथा स्वतंत्र है, क्योंकि ईक्षण क्रिया के साथ कर्ता रूप से 'आत्मा' शब्द का ही सम्बन्ध है--'आत्मा वा इद-मेक एवाग्र आसीत्, स ऐक्षत, तत्तेजोऽसृजत'।[३] 'आत्मा' शब्द समस्त वेदान्त में निर्गुण परब्रह्म के अर्थ में ही रूढ़ है।

निर्गुण ब्रह्म के कर्तृत्व की प्रतिष्ठा करते हुए वल्लभ कहते हैं कि निर्गुण ब्रह्म ही एकमात्र कर्ता इसलिये है, क्योंकि कर्ता का स्वतंत्र होना आवश्यक है। जो सगुण होता है, वह स्वतंत्र नहीं होता, इसलिये उसके साथ कर्तृत्व का सम्बन्ध नहीं जोड़ा सकता: यही कारण है कि सगुण प्रकृति, परमाणु आदि का सृष्टिकर्तृत्व नहीं है।[४] सृष्टिकर्ता ब्रह्म यदि सगुण होता तो मुमुक्षुजन

---

१ 'शास्त्रे योनि: शास्त्रयोनि: शास्त्रोक्तकारणत्वादित्यर्थ:' -- अणुभा०१।१।२

२ 'वेदेनैव तावज्जगत्कर्तृत्वं बोध्यते। वेदश्च परमाप्तोऽक्षरमात्रमप्यन्यथा न वदति। अन्यथा सर्वत्रा-विश्वासप्रसंगात्। न च कर्तृत्वे विरोधोऽस्ति। सत्यत्वादिधर्मवत् कर्तृत्वस्यापि उपपत्ते:। सर्वथा निर्धर्मकत्वे सामानाधिकरण्यविरोध:। सत्यज्ञानादिपदानां धर्मभेदेनैव तदुपपत्ते:।' --अणुभा०१।१।२

३ 'गौणश्चेन्नात्मशब्दात्' (ब्र०सू०१।१।५)

४ 'आत्मशब्द: पुन: सर्वेषु वेदान्तेषु निर्गुणपरब्रह्मवाचकत्वेनैव सिद्ध:। तस्यैव जगत्कर्तृत्वं श्रुतिराह। .... स्वातंत्र्याभावेन सगुणस्य कर्तृत्वाऽयोगात् वेदाश्च प्रमाणभूता:।'

-- अणुभा० १।१।५

प्राकृतगुणों के परिहार के लिए उसे उपास्य रूप से स्वीकार नहीं करते[1]। अत: 'ईक्षा' आदि का कर्तृत्व निर्गुण परब्रह्म में ही सिद्ध होता है। निर्गुण का अर्थ वल्लभ 'प्राकृतगुणरहित' स्वीकार करते हैं, निर्विशेष नहीं, ऐसा पहिले ही स्पष्ट किया जा चुका है।

ब्रह्म का कर्तृत्व अलौकिक है, क्योंकि वह देहादिअध्यासजन्य नहीं है। लौकिक कर्तृत्व ही देहादि में किये गये अध्यास से उत्पन्न होता है, अलौकिक कर्तृत्व नहीं; और मन की कल्पना से भी परे, अनेकानेक भूत-भौतिक, देवतिर्यङ्मनुष्यों से युक्त, असंख्य लोकों और ब्रह्माण्डों की अद्भुत संरचना से समन्वित इस सृष्टि का अनायास ही उद्भव, पालन, और लय करना किसी लौकिक कर्ता के वश की बात नहीं है। अत: ब्रह्म का कर्तृत्व अलौकिक ही स्वीकार करना उचित है[2]।

ब्रह्म में कर्तृत्वकथन भाक्त या गौणप्रयोग भी नहीं है। ब्रह्म में कर्तृत्व का उपचार तब सम्भव था, जब वास्तव में कर्तृत्व किसी और का हो। जड़ प्रकृति तथा पराधीन जीव के कर्तृत्व का निराकरण स्वयं सूत्रकार ने कर दिया है। इन दोनों का निषेध होने पर अन्य का निषेध स्वयं हो गया, अत: ब्रह्म का ही कर्तृत्व उपपन्न होता है[3]।

ब्रह्म अपने कर्तृत्व में 'कर्तुमकर्तुमन्यथा वा कर्तुम्' -- हर दृष्टि से सर्वथा स्वतंत्र है। लौकिक कर्ता की भांति उसे किसी सहकारी की अपेक्षा नहीं होती। वह न तो देशकालादि की अपेक्षा रखता है, न ही अन्य किसी के सहयोग की। वह अपनी अचिन्त्यसामर्थ्य से ही इस चित्र-विचित्र सृष्टि की संरचना करता है। जिस प्रकार क्षीर कर्ता तथा उपकरणों के अभाव में भी दधि में परिणत हो जाता है[4], उसी प्रकार ब्रह्म भी सर्गकाल में स्वयं ही सबकुछ हो जाता है। ब्रह्म का कर्तृत्व सर्वथा निरपेक्ष और स्वयंसिद्ध है।

ब्रह्म सृष्टि का कर्ता होने के साथ-साथ उसका अभिन्ननिमित्तोपादानकारण भी है। जिस प्रकार लूता अपने जाल का निमित्तकारण भी है, और उपादानकारण भी, उसी प्रकार ब्रह्म

---

१ "यदि सगुण: स्यात् प्राकृतगुणपरिहारार्थं मुमुक्षुभिर्जगत्कर्ता नोपास्य: स्यात् पुत्रादिवत्। अत ईक्षात्यादयो न सगुणधर्मा:"। -- अणुभा० १।१।७

२ "--- न च कर्तृत्वं संसारिधर्मो, देहाद्यध्यासकृतत्वादिति वाच्यम्। प्रापंचिके कर्तृत्वे तथैव, न त्वलौकिककर्तृत्वे। ---अनेकभूतभौतिकदेवतिर्यङ्मनुष्यानेकलोकाद्भुतरचनायुक्तब्रह्माण्डकोटिरूपस्य मनसाप्याकलयितुमशक्यरचनस्यतायासेनोत्पत्तिस्थितिभंगकरणं न लौकिकम्।" --अणुभा० १।१।२

३ "-- न चारोपन्यायेन वक्तुं शक्यम्। तथा सत्यन्यस्य स्यात्। तत्र न प्रकृते:। अग्रे स्वयमेव निषेध्यमानत्वात्। न जीवानामस्वातंत्र्यात्। न चान्येषामुभयनिषेधादेव। तस्माद्ब्रह्मगतमेव कर्तृत्वम्।" --अणुभा० १।१।२

४ "उपसंहारदर्शनान्नेति चेन्न क्षीरवद्धि" -- ब्र०सू० २।१।२४

"क्षीरवद्धि। यथा च क्षीरं कर्तारमनपेक्ष्य दधिभवनसमये दधि भवति। एवमेव ब्रह्मापि कार्यसमये स्वयमेव सर्वं भवति।" -- अणुभा० २।१।२४

भी इस प्रपंच का उपादान कारण और निमित्तकारण दोनों ही है। श्रुति 'आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्। नान्यत् किंचनमिषत्' (ऐ०१।१।१); 'सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्' (छा० ६।२।१) इत्यादि से केवल ब्रह्म का ही सत्यत्व प्रतिपादित करती है। ब्रह्म के अतिरिक्त और कोई तत्त्व है ही नहीं, अत: ब्रह्म से भिन्न किसी वस्तु का उपादान अथवा भी निमित्तकारणत्व स्वीकार करने का कोई प्रश्न ही नहीं है। ब्रह्म ही इस विविधनामरूपात्मक सृष्टि के रूप में आविर्भूत होता है।

ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन करते हुए वल्लभ 'निबन्ध' में लिखते हैं-- 'जगत: समवायिस्यात् तदेव च निमित्तकम्।

कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपिक्वचित्सुखम्।।'[1]

इस जगत् का समवायिकारण ब्रह्म है। समग्र विश्व इसी में ओतप्रोत है-- ऐसा बृहदारण्यक के गार्गी ब्राह्मण में वर्णित है। यही निमित्तकारण है और यही कर्ता भी। जब यह स्वयं में रमण करता है, तब प्रपंच का संवरण कर लेता है और जब प्रपंच में रमण करनेकी इच्छा होती है, तब प्रपंच का विस्तार कर लेता है। यह प्रपंचभाव ब्रह्म से ही प्रकट तथा उसी में लीन होता है।[2]

यह सृष्टि ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्ब नहीं अपितु साक्षात् परिणाम है। सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म ही इस विश्व के रूप में परिणमित होता है। वह अपने स्वरूपभूतधर्मों सत् चित् और आनन्द से न्यूनाधिक परिवर्तन कर जड़ जीवादि रूपों में अभिव्यक्त होता है। यह प्राकट्य प्रातीतिक अथवा औपाधिक नहीं, अपितु स्वेच्छाजन्य और वास्तविक है। जिस प्रकार सुवर्ण कटक-कुण्डल आदि आभूषणों का रूप ग्रहण करता है, उसी प्रकार ब्रह्म का जीव जड़ादि रूपों में परिणाम होता है। किन्तु इन परिणामों के होते हुए भी ब्रह्म के अखण्डसच्चिदानन्दस्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता, वह नित्य-अपरिवर्तनशील और नित्य-अविकारी ही रहता है। वल्लभ सुवर्ण का दृष्टान्त इसी प्रयोजन से देते हैं: वास्तविक परिणाम यों तो दुग्ध और दधि का भी होता है, परन्तु दधिरूप में परिणमित होने पर दुग्ध तत्त्वत: विकारग्रस्त हो जाता है;[3] इसके विपरीत सुवर्ण आभूषणादि के रूप में परिवर्तित होने पर भी तत्त्वत: विकृत नहीं होता। इसीलिए ब्रह्म और उससे उत्पन्न जगत् की तुलना, स्वर्ण और उससे निर्मित आभूषणों से की जाती है। नाना रूपों में परिणत होते हुए भी ब्रह्म विकारग्रस्त नहीं होता, इसलिए यह परिणामसिद्धान्त 'अविकृतपरिणामवाद'

---

१ त०दी०नि० १।६६

२ 'यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपंचमुपसंहरति। यदा प्रपंचेरमते तदा प्रपंचं विस्तारयति। प्रपंचभावो भगवत्येव लीन: प्रकटीभवतीत्यर्थ:' -- त०दी०नि०१।६६ पर 'प्रकाश'।

३ '---- अविकृतमेव परिणमते सुवर्णम् --' -- अणुभा० १।४।२६

के नाम से जाना जाता है । ब्रह्म का साक्षात् परिणाम होने के कारण यह जगत् भी असत्य या मायिक नहीं है, अपितु उतना ही सत्य है, जितना उसका कारण ब्रह्म । ब्रह्म ही इस जगत् का उद्भव स्थान है, वही पालनकर्ता है, और सृष्टि को स्वयं में विलीन करने के कारण, लयस्थान भी वही है[१]। यह सृष्टि ब्रह्म की 'आत्मसृष्टि' है, अत: सब कुछ ब्रह्मात्मक ही है, तथा ब्रह्म रूप होने से सत्य है[२]।

ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व तथा अविकृतपरिणामवाद पर विस्तार-पूर्वक चर्चा सृष्टि-प्रकरण में की जायेगी । परिणामवाद भास्कर और रामानुज भी स्वीकार करते हैं, अत: वल्लभ के सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में इनके सिद्धान्तों की तुलनात्मक समीक्षा भी वहीं प्रस्तुत की जायेगी ।

वल्लभ सृष्टि को ब्रह्म का तात्त्विक परिणाम मानते हैं, जो आभासवाद या प्रतिबिम्बवाद के सर्वथा विपरीत है, अत: शंकर की भांति वे मिथ्यामायोपाधि स्वीकार करने की स्थिति में भी नहीं है । शंकर के मायावाद का खण्डन उन्होंने पग-पग पर किया है । जिसकी सृष्टि के सन्दर्भ में विस्तृतपर्यालोचना की जायेगी । मायावाद से अपना विरोध प्रदर्शित करने के लिए ही उन्होंने अपने सिद्धान्त का नाम 'मायावाद' के ठीक विपरीत 'ब्रह्मवाद' रखा । ब्रह्मवाद में मायोपाधि से रहित शुद्ध ब्रह्म ही कारण-कार्य रूप है--

'मायासम्बन्धरहितं तु शुद्धमित्युच्यते बुधै: ।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।।

(शु०मा०२८)

यहां पर सहज ही मन में एक जिज्ञासा उठती है; और वह यह है कि जो ब्रह्म नित्यतृप्त तथा आप्त-काम है, जो सभी कामनाओं से परे है, उसे क्या आवश्यकता थी इस सृष्टि की रचना करने की । बिना किसी प्रयोजन के तो मूर्ख भी किसी कार्य में प्रवृत्त नहीं होता, अत: कोई-न-कोई प्रयोजन तो अवश्य ही होगा । यदि यह मानें कि ब्रह्म परार्थ सृष्टि करता है तो पाचक की भांति अनीश्वरता-पत्ति होती है; और यदि स्वार्थसृष्टि स्वीकार करें तो लौकिक ईश्वर की भांति स्वार्थ अंगीकार करने से असार्वज्ञ और प्राकृतत्व की प्रसक्ति होती है, श्रुत्युक्त आप्तकामत्वादि धर्मों का भी विरोध होता है । अत: वल्लभ सृष्टि का प्रयोजन लीला ही स्वीकार करते हैं । जिसप्रकार संसार में राजादि

---

१ 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते । येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजि-ज्ञासस्व तद्ब्रह्मेति ।'-- तै० ३।१

२ 'स वा इदं विश्वममोघलील: सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन्'

--श्रीमद्भा० १।३।३६

मृगया करते हैं, मांसाआहरण अथवा अन्य किसी प्रयोजन से नहीं, अपितु केवल मनोरंजन मात्र के लिए; उसी प्रकार ब्रह्म भी लीला के लिए ही इससारे प्रपंच का विस्तार करता है। यह उसका स्वभाव ही है-- देवस्यैष स्वभावोऽयं आप्तकामस्य का स्पृहा। 'लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्' (वे०सू०२।१।३३) का भाष्य करते हुए वल्लभ स्पष्ट रूप से कहते हैं--' न हि लीलायां किंचित् प्रयोजनमस्ति। लीलाया एव प्रयोजनत्वात्। ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या'[1]।

इस भांति वल्लभ के सिद्धान्त में उपाधिरहित ब्रह्म ही सृष्टि का कर्ता है, क्योंकि कर्ता का स्वतंत्र होना आवश्यक है। ब्रह्म ही विश्व में एकमात्र स्वाधीन सत्ता है, अत: उसके अतिरिक्त अन्य किसी का कर्तृत्व सम्भव नहीं है। ब्रह्म ही तन्तुनाभ की तरह इस सृष्टि का अभिन्न निमित्तोपादानकारण है; साधारणकारण भी वही है। यह सृष्टि ब्रह्म का वास्तविकपरिणाम है, अत: ब्रह्म की ही भांति सत्य और पारमार्थिक है। इस विविध नामरूपात्मक सृष्टि की संरचना में लीला ही ब्रह्म का एकमात्र प्रयोजन है। यही संक्षेप में विश्व के सन्दर्भ में ब्रह्म की स्थिति है।

यहां यह प्रश्न उठता है कि जो ब्रह्म वस्तुत: सृष्टि रूप में परिणमित होता है, उसका अविकारित्व कैसे सम्भव है; तथा जो स्वयं जीवरूप से अभिव्यक्त होता है वह 'नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव' कैसे हो सकता है? ऐसा ब्रह्म तो निश्चय ही परिच्छिन्न भी होगा और विकारी भी; फिर 'आत्मा वाऽरे द्रष्टव्य:' आदि से उसका जो ज्ञेयत्व कहा गया है, वह सम्भव नहीं होगा; साथ ही उपास्यत्व भी बाधित हो जायेगा: किन्तु ऐसा तब होता जब ब्रह्म विश्वमात्र होता, विश्व के अतिरिक्त उसकी सत्ता ही नहीं होती: परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। ब्रह्म सम्पूर्ण विश्व में व्याप्त होते हुए भी विश्व से अतीत है। विश्व उसकी एक अभिव्यक्ति मात्र है, उसकी अचिन्त्यानन्त शक्तियों का आंशिक उन्मेष है: उसका समग्र रूप नहीं है। वह समस्त विश्व में अनुस्यूत है, उसे अर्थ और अभिप्राय देने के लिए, विश्व की सत्ता ही उसके बल पर है। विश्व, विश्व-रूप से नहीं, अपितु ब्रह्मरूप से सत् है। इसके विपरीत ब्रह्म अपने अस्तित्व में सर्वथा स्वतंत्र और निरपेक्ष है तथा अपनी सत्यता के लिए अन्य किसी पर निर्भर नहीं है। दूसरे शब्दों में विश्व 'ब्रह्मात्मक' है, परन्तु ब्रह्म 'विश्वात्मक' नहीं है। यही उसके सर्वातीतत्व का प्रमाण है।

श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में एक श्लोक आया है--

'सर्वं पुरुष एवेदं भूतं भव्यं भवच्च यत्
तेनेदमावृतं विश्वं वितस्तिमधितिष्ठति'[2]।

---

१ (क) अणुभा० २।१।३३
(ख) 'जगत: पतिर्भगवान् जगत्करोति तत्र क्रीडार्थमेव करोति' --श्रीमद्भा०२।६।१४ पर सुबो०

२ श्रीमद्भा० २।६।१५

ब्रह्म समस्त विश्व में व्याप्त होते हुए भी विश्व से अतीत है। विश्व इसके एकदेशमात्र में स्थित है। यदि ब्रह्म विश्वमात्र होता तो परिच्छेद की सम्भावना थी, किन्तु ब्रह्म विश्व से परिच्छिन्न नहीं, अपितु विश्व ही ब्रह्म से परिच्छिन्न है।[1] विश्व तो ब्रह्म के एकदेशमात्र में स्थित है, ब्रह्म उसके अतिरिक्त भी है; यही बात `अत्यतिष्ठद्दशांगुलम्` में भी कही गई है।

वह अपने अविक्रियमाण आनन्दरूप में स्थित होते हुए भी दृश्य भोग्य, भोक्ता आदि रूप से प्रकाशित होता है। भोक्ता जीव रूप से आविर्भूत होने पर तथा भोग्यरूप में परिणत होने पर भी उसके सच्चिदानन्दस्वरूप में कोई विकार नहीं आता। परिणाम का अर्थ विकारापत्ति नहीं है, अपितु ब्रह्मस्वरूप के प्राकट्य को ही परिणाम की संज्ञा दी जाती है।[2] ब्रह्म के स्वरूप में कोई परिवर्तन इसलिए सम्भव नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप उत्पाद्य, विकार्य अथवा संस्कार्य नहीं है। उत्पाद्य वस्तु सर्वदा अनित्य होती है, जैसा कि घट आदि के प्रसंग में देखा जाता है। मोक्षाख्य ब्रह्मस्वरूप को उत्पाद्य माना जाय तो उसके भी अनित्यत्व की प्रसक्ति होगी। ब्रह्म विकार्य भी नहीं है। अवस्थान्तर को प्राप्त होना विकार्यत्व है। विकार्य वस्तुएं भी अनित्य होती हैं। इसीप्रकार ब्रह्म संस्कार्य भी नहीं हो सकता। किसी वस्तु में गुणों का आधान और दोषों का अपावर्तन करने से उसका संस्कार होता है। ब्रह्म कूटस्थ है, अत: उसमें किसी प्रकार का अतिशय नहीं लाया जा सकता: नित्य शुद्ध होने के कारण उसमें कोई दोष भी नहीं है, जिसे दूर करने का यत्न किया जाय। जो ब्रह्म उत्पाद्य, विकार्य और संस्कार्य में से कुछ भी नहीं है, उसमें विकारापत्ति के लिए कोई अवकाश कहीं नहीं है। जड़ जीवादि रूप में उसका जो प्राकट्य है, उससे उसके स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता, क्योंकि इन अभिव्यक्तियों में उसके सत्, चित् और आनन्द अंशों का तारतम्य ही कारण बनता है। यह तारतम्य आविर्भाव-तिरोभाव रूप होता है, अत: किसी भी अभिव्यक्ति में सत्, चित् और आनन्द का सर्वथा अभाव न होने से ब्रह्म के मौलिक रूप में कोई विकार नहीं आता। इसीलिए इस विविधनामरूपात्मक जगत् के रूप में अवतीर्ण होकर भी वह `एक`, `कूटस्थ`, और `अपरिणामी` कहा जाता है।

वल्लभ आविर्भाव-तिरोभाव-प्रक्रिया का आश्रय लेकर ब्रह्म को अविकारी घोषित करते हैं, किन्तु यहां एक बात विचारणीय है। सत्कार्यवाद के अनुसार द्रव्य तो सदा ही वर्तमान रहता है, उसके गुणों में ही अन्तर आता है, जिससे द्रव्य की प्रकृतावस्था प्रकृति तथा गुणों के

----

१ `विश्वेन न भगवानावृत: परिच्छिन्न: किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम्। ---तस्माद्यावान् भगवान् सर्वं तावानधिकस्ततोऽप्यधिक इति न परिच्छेद: सम्भवति।` --श्रीमद्भा०२।६।१५पर सुबो०

२ `---- तत्र यथा स्वप्राकट्यस्यैव परिणामत्वेन विवक्षितत्वात्` -- भा०प्र०२।३।१७।

आविर्भाव या तिरोभाव से हुई उसकी विकृतावस्था विकृति कहलाती है । कारण से कार्यरूप में परिणत होने के लिए सामान्यत: मूलद्रव्य में अव्यक्त या तिरोहित रूप से वर्तमान गुणों का आविर्भाव या विकास माना जाता है, किन्तु वल्लभ कारण से कार्यरूप में परिणत होने के लिए मूलद्रव्य में पहिले से आविर्भूत गुणों का तिरोभाव मानते हैं । दोनों ही दृष्टियों से मूलतत्त्व विकृत होता है, क्योंकि नित्यस्थित द्रव्य में गुणों का आविर्भाव -तिरोभाव मात्र द्रव्य की प्रकृत्यावस्था या विकृतावस्था का नियामक होता है । ब्रह्म विशुद्धसच्चिदानन्द होते हुए भी अपने स्वरूपभूत सत्, चित् और आनन्द धर्मों के प्राकट्य -अप्राकट्य से ही जड़ जीव रूप में परिणमित होता है, किन्तु इस स्थिति में भी वल्लभ परब्रह्म को अविकारी ही स्वीकार करते हैं । इसके दो सम्भावित कारण हो सकते हैं । पहिला तो यह है कि वल्लभ विकारित्व का अर्थ द्रव्य के गुणों का आविर्भाव-तिरोभाव न लेकर, द्रव्य के गुणों में तात्त्विक विकार का आना स्वीकार करते हैं । जिस समय दुग्ध दधि में परिवर्तित होता है, उस समय वह न केवल स्वरूपत: अपितु तत्त्वत: भी विकृत हो जाता है, और दधि पुन: दूध नहीं बन सकता: इसके विपरीत ब्रह्म में स्वरूपत: वैभिन्य होने पर भी तत्त्वत: कोई विकार नहीं आता । उसके सच्चिदानन्द अंशों की स्वभावगत विशेषताएं यथावत् बनी रहती हैं, और उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता है । चिदंशप्रधान जीव में आनन्द का आविर्भाव होने पर तथा सदंश-प्रधान जड़ में चित् और आनन्द का प्राकट्य होने पर दोनों की पुन: ब्रह्मस्वरूपापत्ति भी हो सकती है । किसी तात्त्विक परिवर्तन के न होने के कारण ही ब्रह्म अविकारी कहा जाता है । ब्रह्म के परिणामी होने की समस्यापर सृष्टि प्रकरण में परिणामवाद के सन्दर्भ में विस्तारपूर्वक विचार किया जायेगा ।

ब्रह्म को अविकारी मानने का दूसरा कारण है, श्रुति द्वारा ब्रह्म के अविकारित्व का सतत समर्थन । श्रुति सर्वत्र ब्रह्मतत्त्व को नित्य अपरिवर्तनीय, कूटस्थ और अविकारी रूप में ही प्रतिपादित करती है । वल्लभ की श्रुति के प्रति जो अनन्य आस्था है, वह उनके प्रत्येक सिद्धान्त में फलकती है । वल्लभ ब्रह्म सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर देते हैं-- `अनवगाह्यमाहात्म्ये श्रुतिरेव शरणम्`। ब्रह्म अलौकिकप्रमेय है और श्रुति के द्वारा ही जाना जा सकता है, अत: उसके स्वरूप में लौकिक युक्तियों के लिए कोई स्थान नहीं है । उसका तो वहीस्वरूप मान्य है जो श्रुति प्रतिपादित करती है । अपनी ओर से कोई शंका उठाना अथवा विकल्प प्रस्तुत करना अनुचित है । परब्रह्म के सर्वरूप, सर्वशक्तिमान्[1] और सर्वभवनसमर्थ होने के कारण उसके स्वरूप में अवकाश ही नहीं है, किसी सन्देह के लिए ।

ब्रह्म प्रत्येक जीव की हृदयगुहा में अन्तर्यामी रूप से निवास करता है तथा समस्त

---

१ `तिरोभावाभावौ विचित्रशक्तियुक्तत्वात् सर्वभवनसमर्थत्वाच्च` । --अणुभा० २।१।२८ ।

कार्यजात में मूलतत्त्व के रूप से अन्तर्व्याप्त है, किन्तु उसके दोषों से सर्वथा अतीत और अस्पृष्ट है। अन्तर्यामी ब्राह्मण में ब्रह्म के सर्वातीतत्व का विशद् विवेचन किया गया है। 'य: पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, य: पृथिवीमन्तरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत:(बृ० ३।७।३) से उपक्रम कर 'य: सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो, यं सर्वाणि भूतानि न विदुर्यस्य सर्वाणि भूतानि शरीरं, य: सर्वाणि भूतान्यंतरो यमयत्येष त आत्माऽन्तर्याम्यमृत इत्यधिभूतमथाध्यात्मम्' (बृ०३।७।१५) आदि से अन्तर्यामी की सर्वव्यापकता के साथ-साथ सर्वातीतत्व का भी प्रतिपादन किया गया है।

ब्रह्म प्रत्येक जीव के दहराकाश में अन्तर्यामी रूपसे रहता है, परन्तु जीव के अज्ञत्व, परिच्छिन्नत्व आदि दोषों से ग्रस्त नहीं होता न ही जीव की भांति उसका सुखदु:खभोग ही होता है। ब्रह्म जीव का आत्ममात्र नहीं है, उसके अतिरिक्त भी है। जीव अवश्य ब्रह्म से व्यतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं रखता; परन्तु ब्रह्म जीवमात्र नहीं, जीव से अधिक और श्रेष्ठ है। जीव की तरह ब्रह्म अविद्या का विषय भी नहीं है। शुद्ध और मायापति सर्वशक्तिमान् ब्रह्म अविद्या का विषय कभी नहीं हो सकता। जीव ही अल्पज्ञ, दीन और पराधीन होने के कारण अविद्या का विषय है[१]। सुखदु:खादिभोग में अविद्या ही कारण है, अत: ब्रह्म का जीव की भांति भोग नहीं है। श्रुति भी इस बात का समर्थन करती है--

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।।' -- श्वे०४।६

'सम्भोगप्राप्तिरितिचेन्न वैशेष्यात्' इस सूत्र का भाष्य करते हुए वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म का जीव की भांति भोग नहीं होता, क्योंकि ब्रह्म में जीव की अपेक्षा कुछ वैशेष्य होता है। वह सर्वरूप और आनन्दस्वरूप है, तथा स्वतंत्रकर्तृत्वशाली है। किन्तु उसका सर्वथा भोगाभाव हो, ऐसी बात भी नहीं है[२]। ब्रह्म का भी अपेक्षित भोग है, जो उसकी इच्छा से सम्पन्न होता है।'

---

१ (क) 'ब्रह्म च पुनर्न जीवस्यात्ममात्रम्। अज्ञानवद्वा। 'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते। बन्धोऽस्याविद्याऽनादिर्विद्या च तथेतर इति भगवता जीवस्यैवाविद्यावत्वप्रतिपादनात्' --अणुभा०१।१।३

(ख) '----जीवो नाम भगवदंशो, न भगवानेवेत्यग्रे वक्ष्यते। अंशो नानाव्यपदेशादिति। नापि ब्रह्म तावन्मात्रमिदमप्यग्रे वक्ष्यते 'ब अधिकं तु भेदनिर्देशादिति' --अणुभा०१।३।१४

२ '----विशेषस्य भावो वैशेष्यं तस्मात्। सर्वरूपत्वमानन्दरूपत्वं स्वकर्तृत्वं विशेष: तद्भावो ब्रह्मणि वर्तते न जीव इति जीवस्यैव भोगो न ब्रह्मण इति वैशेष्यपदादयमर्थ: सूचित:। अपेक्षित एव भोगो नानपेक्षित इति। न तु तस्य भोगाभाव एव।' --अणुभा० १।२।८

ब्रह्म पर यह दोष नहीं लगाया जा सकता कि जीव ब्रह्म से अभिन्न है, अत: जीव का दु:खभोग 'स्वहिताकरण' है। "यह तब सम्भव होता जब ब्रह्म जीवमात्र होता, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। किन्तु ऐसा नहीं है, वह जीव और जगत् से अधिक है, क्योंकि श्रुति जड़ और जीव से उसके भेद का भी निर्देश करती है। ब्रह्म ज्ञेय और आनन्दरूप होने के कारण[1] जीव से अधिक है। वह अंशी है और अंशी नियमपूर्वक अंश का हित ही करे यह सम्भव नहीं है।" और फिर यह लीला ही तो है, अत: इस तथाकथित 'स्वहिताकरण' में कोई दोष नहीं है।

जीव का अंशत्व स्वीकार करने पर जिस प्रकार शरीरी, अंश हस्तादि के दु:ख से दु:खी होता है, वैसे ही 'पर' भी अंश जीव के दु:ख से दु:खी होगा; यह नहीं सोचना चाहिए। जीव को दु:ख का अनुभव छिद्ररूप से होता है, किन्तु परब्रह्म तो निर्दोष होने के कारण दु:खरूप भी है, अत: उसे दु:ख का प्रतिकूलतया अनुभव नहीं होता। दु:खादि आनन्दतिरोभावरूप हैं, और 'आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण:'—इस वाक्य से तिरोभाव भी ब्रह्म का ही धर्म सिद्ध होता है। वस्तुत: जीव को जो दु:खबोध होता है, वह भेदबुद्धि से ही होता है, इसलिए उसका ही दु:खित्व है।[2]

इसके अतिरिक्त सर्वत्र ऋषियों ने अंशी का दु:खाभाव और अंश का ही दु:खभोग कहा है —

"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषै: ।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदु:खेन बाह्य: ।।"

(कठ०५।११)

इसी प्रकार ब्रह्म समस्त वस्तुओं में वस्तुरूप होकर भी उनके दोषों से दूषित नहीं होता। ब्रह्म स्वयं अव्यय है, अत: वस्तुओं के नाशप्रतियोगी होने पर भी उनकी नाशवत्ता से संस्पृष्ट नहीं होता। वह लीलामय परब्रह्म इस सृष्टि का सर्जक और रक्षक होने पर भी इसमें कभी लिप्त नहीं होता —

"स वा इदं विश्वममोघलील: सृजत्यवत्यत्ति न सज्जतेऽस्मिन् ।
भूतेषु चान्तर्हित आत्मतंत्र: षाड्वर्गिकं जिघ्रति षड्गुणेश: ।।" (श्रीमद्भा०१।२।३६)

---

१ "—— यदि ब्रह्म तावन्मात्रं भवेत् तदायं दोष: । तत् पुनर्जीवाज्जगतश्चाधिकम् । कुत:? भेदनिर्देशात्। द्रष्टव्यादिवाक्येषु कर्मकर्तृव्यपदेशाद् विज्ञानानन्दव्यपदेशाद्वा । न हि सम्पूर्णोंऽशस्य हितं नियमेन न करोति । ——" — अणुभा० २।१।२२

२ "जीवस्यांशत्वे हस्तादिवत् तद्दु:खेन परस्यापि दु:खित्वं स्यादिति चेन्न । एवं परो न भवति । छिद्रत्वेन अनुभव इति यावत् । —— दु:खाद्योऽपि ब्रह्मधर्मा इति । अतो द्वैतबुद्ध्या अंशस्यैव दु:खित्वं, न परस्य ।" — अणुभा० २।३।४६ ।

इस जगत् के रूपमें परिणत होने पर भी ब्रह्म में कोई विकार नहीं आता, क्योंकि ब्रह्म अविकृत ही परिणमित होता है[1]। परिणत होने पर भी ब्रह्म की कृत्स्नप्रसक्ति नहीं होती, अपितु वह जगत् से अधिक और अतीत ही रहता है।

जिस प्रकार ब्रह्म ज्ञेय और आनन्दरूप होने से जीव से अधिक है, वैसे ही अपहतपाप्मत्व आदि धर्मों के कारण जगत् से भी अधिक है। ब्रह्म कारण है और जगत् कार्य है। जिस प्रकार कार्य के असाधारणधर्म कारण में नहीं पाये जाते, उसी प्रकार कारणब्रह्म के अपहतपाप्मत्वादि धर्म कार्य में संक्रान्त नहीं होते, अत: कारण ब्रह्म और कार्य जगत् में एकत्वापत्ति नहीं होती, और ब्रह्म का जगत् से वैलक्षण्य बना रहता है। यदि ऐसा न मान कर दोनों का धर्मसांकर्य मान लेंगे तो कारण-कार्य व्यापार ही सम्भव नहीं होगा[2]। इसी भांति कार्यांश जगत् का ब्रह्म में लय होने पर भी कार्यगत अशुद्धि, स्थौल्य, परिच्छिन्नत्व आदिदोषों से ब्रह्म विकृत नहीं होता। संसार में भी जब मृत्तिका से निर्मित घट-शराव आदि तथा स्वर्ण से निर्मित वलय-रुचक आदि अपने कारण मृत्तिका और सुवर्ण में निलीन होते हैं तो उनके कार्यावस्था वाले सारे रूप-गुण नष्ट हो जाते हैं और अवशिष्ट रहती है केवल मृत्तिका, केवल सुवर्ण[3]। यह समस्त कार्यजगत् जब प्रलयवेला में ब्रह्म में विलीन होता है तो ब्रह्मतत्त्व मात्र ही अवशिष्ट रहता है; कोई कार्यगत धर्म बचता ही नहीं, जिससे ब्रह्म दूषित या विकृत हो।

ब्रह्म कार्य जगत् से इसलिए भी अधिक है, क्योंकि वह कार्य-जात के अधीन नहीं है। वह कभी कार्य के स्वभाव का अनुसरण नहीं करता, अपितु कार्य ही उसके स्वभाव का अनुकरण करने से ब्रह्मानुरोधी और ब्रह्माधीन है[4]।

---

१ "तत्र यथास्थितप्राकट्यस्यैव करणत्वेन च विवक्षितत्वात्। अन्यथा तस्य सुकृतत्वविरोधापत्ते:। न चात्मकृते: परिणामात् इति सूत्रे तस्य परिणामत्वस्यांगीकारविरोध: शंक्य:। तत्र यथास्थितप्राकट्यस्यैव परिणामत्वेन विवक्षितत्वात्" -- भा०प्र०२।३।१७

२ (क) "ब्रह्म कारणं जगत्कार्यमितिस्थितम्। तत्र कार्यधर्मा यथा कारणे न गच्छन्ति तथा कारणासाधारणधर्मा अपि कार्ये। तत्राऽपहतपाप्मत्वादय: कारणधर्मास्ते यत्र भवन्ति तद्ब्रह्मेत्येवावगन्तव्यम्।" --अणु भा०१।१।१६

(ख) "न हि घटीया जलाहरणयोग्यत्वादयो मृत्पिण्डकपालादौ गच्छन्ति। न वा मृत्पिण्डादिसंस्थानविशेषा घटादौ।" -- भा०प्र०१।१।१६।

३ "--- तत उत्पन्नस्य तत्रलये न कार्यावस्थाधर्मसम्बन्ध शरावरुचकादिषु प्रसिद्ध:" --अणु भा०२।१।६

४ "ब्रह्मण: चेतनाचेतनरूपात् कार्यात् प्रपंचाद्वैलक्षण्यं, कार्याननुरोधश्चानेन सूत्रेण दर्शित:। अनुरोधस्तदधीनत्वम्। तथा च ब्रह्मणो न कार्यानुरोध इतीदमप्याधिक्यबोधनायोक्तमित्यर्थ:। अनुरोध इति पाठे तु अनुरोध कार्यस्वभावानुसारित्वम्। तथा सति तस्मादेव ब्रह्मणि न दोषगन्ध:"

--भा०प्र०२।१।२३

इस प्रकार ब्रह्म,जीव और जड़ में अन्तर्व्याप्त होता हुआ भी उनके दोषों से उनके विशिष्ट धर्मों से रंचमात्र भी रंजित नहीं होता।

अपने सर्वकारणात्मक रूप से ब्रह्म सभी वादों का आश्रय बनता है, परन्तु अपने सर्वातीत रूप में वह सभी का 'अविषय' है। सभी मतों का आस्पद होते हुए भी उसके दिव्य स्वरूप में किसी भी मत के लिए कोई अवकाश नहीं है--'सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्'[1]।

वल्लभ के सिद्धांत में भेद को पर्याप्त स्थान मिला है, किन्तु इससे उन्हें भेदवादी नहीं स्वीकार करना चाहिए। अभेदवाद या अद्वैत के प्रति अनन्य आस्था उन्हें वेदान्त की प्रशस्त परम्परा से धरोहर के रूप में प्राप्त हुई है। अद्वैत, वेदान्तदर्शन का प्राणतत्त्व है,और मध्व को छोड़ कर सभी वेदान्तियों ने उसे किसी-न-किसी रूप में स्वीकार किया है।

इस अद्वैतभावना का विशुद्धतमरूप शंकर के 'केवलाद्वैत' में प्रस्तुत किया गया है, जो दार्शनिक-विचारणा का चरम सत्य होते हुए भी इतना सूक्ष्म और अमूर्त है कि सामान्यतया उसका अनुभूति की परिधि में आना ही असम्भव सा प्रतीत होता है। साथ ही शंकर की अद्वैत-भावना में मानव के समस्त प्रयत्नों की अर्थवत्ता भी लांछित होती है। यह सच है कि शंकर इस ओर से बिल्कुल ही उदासीन नहीं हैं। वे जगत् की व्यावहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं और उसके अन्तर्गत समस्त लोकाचार भी; किन्तु यह स्थिति वास्तविक नहीं है।यह भोक्तृभोग्यलक्षण विभाग, यह सारा द्वैत केवल व्यावहारिक स्तर पर सच है; इसकी कोई पारमार्थिक सत्ता नहीं है। इसे परमार्थ सत्य मानने पर ब्रह्म और प्रपंच का अद्वैत सम्भव नहीं होगा। जब तक ब्रह्मावगति नहीं होती, तब तक समस्त लौकिक वैदिक व्यवहार अबाधित रूप से चलते रहते हैं,उसी प्रकार जिस प्रकार जागने से पहिले तक सारा स्वाप्नव्यवहार सत्य प्रतीत होता है। ब्रह्मावगति होने पर यह सारा आविद्यक व्यवहार उसी प्रकार बाधित हो जाता है, जैसे जागने पर स्वाप्नव्यवहार। इस प्रकार शंकर के मत में अद्वैत का अर्थ वस्तुत: ब्रह्म और विश्व की एकात्मता नहीं,अपितु प्रपंच का अनस्तित्व है। दूसरे शब्दों में अद्वैत का अर्थ द्वैत का अभाव है। मोक्षावस्था में भी इस अद्वैतभावना की सच्चिदानन्दमात्र, या सच कहा जाय तो ,'सच्चिदानन्द' इस लक्षण से भी जो निर्दिष्ट नहीं होता, ऐसे जिस नितांत अपरिमेय तत्त्व में जो परिणति है, वह भी व्यक्ति को बहुत उत्साहित नहीं करती।

इसकी प्रतिक्रिया में और सहज मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में अद्वैतभावना के अन्य पार्श्व भी अनुभूति के क्षेत्र में अनावृत हुए। भास्कर और निम्बार्क का भेदाभेद, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, वल्लभ का विशुद्धाद्वैत-- ये सब अद्वैत के ही विभिन्न रूप हैं। ये अद्वैतसिद्धांत

---

१ 'सर्ववादानवसरं नानावादानुरोधि तत्। अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।।'
—तत्त्वदीपनि० १।७२

अपने स्वरूप में केवलाद्वैत की भांति अमूर्त नहीं हैं, और द्वैत को सर्वथा अस्तित्वहीन घोषित करने की अपेक्षा उसे अद्वैत की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति या अवस्था स्वीकार करते हैं। इन सभी आचार्यों के अद्वैत-सिद्धान्तों की कुछ विशिष्ट प्रवृत्तियां हैं--

(१) अद्वैत, अभेद या अद्वयता का अर्थ केवल एक सत्ता की स्थिति है, केवल एक अवस्था की नहीं, अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वान्तर का अभाव होना ही अद्वैत है। स्वयं इस ब्रह्मतत्त्व की अनेक अभिव्यक्तियों या अवस्थाओं की सहस्थिति में कोई विरोध नहीं है।

(२) द्वैत अद्वैत की ही अभिव्यक्तिविशेष है।

(३) अद्वैत की अभिव्यक्ति होने से द्वैत असत् नहीं है।

(४) द्वैत और अद्वैत की सहस्थिति भी सम्भव है।

इस भूमिका के पश्चात् वल्लभ के अद्वैत को समझना बहुत सरल हो जाता है। वल्लभ ब्रह्म तथा दृश्य-प्रपंच का सर्वथा अद्वैत स्वीकार करते हैं। उनके सिद्धान्त का नाम ही है `विशुद्धाद्वैत`; विशुद्ध इसलिए कि इस अद्वैतसम्बन्ध में अविद्या या अन्य किसी उपाधि का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं है। वल्लभ की सिद्धान्त-परम्परा के यशस्वी ग्रन्थकार श्री गिरिधर ने अपने ग्रन्थ `शुद्धाद्वैतमार्तण्ड` में `शुद्धाद्वैत` पद के अर्थ पर विचार करते हुए लिखा है--

`शुद्धाद्वैतपदे ज्ञेयः समासः कर्मधारयः।
अद्वैतं शुद्धयोः प्राहुः षष्ठीतत्पुरुषं बुधाः ।।२७।।
मायासम्बन्धरहितं शुद्धमित्युच्यते बुधैः।
कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम् ।। २८।।

(शु०मा)

विशुद्धाद्वैत पद का समासच्छेद दो प्रकार से हो सकता है-- शुद्धंच तदद्वैतंच -- इस प्रकार कर्मधारय के अनुसार, जिसका अर्थ होगा ब्रह्म तथा जीव-जगत् का अविद्यासम्बन्धरहित अद्वैत, अथवा `विशुद्धयोरद्वैतम्`-- इस प्रकार तत्पुरुष के अनुसार, जिसका अर्थ होगा मायोपाधि से रहित ब्रह्म तथा जीव की एकात्मता। दोनों ही तरह से अद्वैत शुद्ध ही निर्धारित होता है। शुद्ध का अर्थ है मायासम्बन्धरहित। वल्लभ ब्रह्म की जिन अभिव्यक्तियों के बीच वास्तविक अद्वैत स्वीकार करते हैं, वे मायामय नहीं, अपितु वास्तविक हैं और ब्रह्म का इच्छा परिणाम हैं। शंकर के `मायावाद` के विरोध में ही वल्लभ ने अपने सिद्धान्त का नाम `ब्रह्मवाद` रखा है।

वे केवल एक ही तत्त्व की सत्ता स्वीकार करते हैं, और वह तत्त्व ब्रह्म है। इस सिद्धान्त के आधार पर ही वल्लभ अखण्ड अद्वैत की सिद्धि करते हैं। ब्रह्म ही विश्वरूप है, और विश्व को आवृत कर स्थित होता है। वह विश्व के कण-कण में व्याप्त है, इसीलिए उसे `आत्मा` कहते हैं: वही सर्वान्तर है और वही सर्वबाह्य है। यह प्रपंच उसका `बाह्यीकरण` कहा जा सकता है।

इस प्रकार ब्रह्म ही `अन्तर` और `अनन्तर` रूप से अभिव्यक्त होता है।[१]

जीव और जगत् क्रमश: ब्रह्म के अंश और कार्य होने से ब्रह्म ही हैं। ब्रह्म ही अपने सच्चिदानन्द धर्मों में से आनन्दगुण का तिरोभाव कर चिदंशप्रधान जीव, तथा आनन्द और चित् अंशों का तिरोभाव कर सदंशप्रधान जगत् रूप से आविर्भूत होता है। जीव और जगत् ब्रह्म से भिन्न कोई अन्यतत्त्व नहीं, अपितु ब्रह्म की ही अवस्थाविशेष हैं। जीव अंश होने के कारण ब्रह्म से अभिन्न है तथा जगत् कार्य होने से; अत: जीव और जड़ में जीव-जड़-बुद्धि गौण है, ब्रह्मबुद्धि ही मुख्य है।[२] जीवजड़ात्मक प्रपंच ब्रह्म से भिन्न है-- यह प्रतीति अविद्याजन्य है। ब्रह्मानुभूति होने पर, ब्रह्म के सर्वरूपत्व का ज्ञान होने पर, सर्वत्र ब्रह्मप्रतीति ही अवशिष्ट रहती है और जड़जीवप्रतीति नष्ट हो जाती है।[३]

इसी प्रकार अक्षर, अन्तर्यामी, काल, कर्म, स्वभाव आदि ब्रह्म की जो अन्य अभिव्यक्तियां वल्लभ स्वीकार करते हैं, उनसे भी अद्वैतहानि नहीं होती, क्योंकि ये भी ब्रह्म के ही रूप-विशेष हैं, जो विभिन्न प्रयोजनों से उसके द्वारा धारण किए गए हैं। अक्षर सर्वकारण-कारण, गणितानन्द ब्रह्म है; अन्तर्यामी सभी प्राणियों तथा समस्त कार्यजात में व्याप्त रहने वाला प्रकट-सच्चिदानन्दरूप है; कालकर्मादि भी इन्हीं सच्चिदानन्द अंशों के किंचित् प्राकट्य-अप्राकट्य से युक्त अभिव्यक्तियां हैं, परन्तु हैं सब तत्त्वत: ब्रह्म : ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की तो शंका भी नहीं करनी चाहिए।[४] इस भांति ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व का अस्तित्व ही न होने के कारण, तथा सब कुछ ब्रह्म का ही रूपान्तर होने के कारण अद्वैत में कोई विसंगति नहीं है : `सर्वं खल्विदं ब्रह्म` `ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्` आदि श्रुतियों से भी `सर्वं` अर्थात् जीवजड़ात्मक प्रपंच का ब्रह्मरूपत्व सिद्ध किया गया है। द्वैत की शंका तब होती, जब सब कुछ ब्रह्म से भिन्न या पृथक् होता, किन्तु जब सब कुछ ब्रह्मात्मक होने से ब्रह्मरूप ही है, तब द्वैत के लिए अवकाश ही कहां है? और ब्रह्म के इन रूपों में जो भेद का कथन होता है, वह अवस्थाभेद के ही कारण है, वस्तुभेद के कारण नहीं;[५] अत: तत्त्व की एकता के कारण प्रत्येक स्तर पर अद्वैत अक्षुण्ण रहता है।

---

१ `अतति व्याप्नोतीत्यात्मा, सर्वमेव व्याप्नोति इति, बहि: स्थितमन्त: प्रवेशयति, अन्त:स्थितं तच्च बहि:, स्वस्मिन्नेव स्वयमन्तर्बहिर्भवति इति वस्तुवृत्तम्। --- अन्तर अनन्तरश्च बाह्याभ्यन्तरभावेन स एव भातीत्यर्थ:` --श्रीमद्भा० १।१३।४७ पर सुबो०

२ `वस्तुतस्तु सर्वो भगवानेव न जीवो नापि जड:, प्रतीतिस्त्वाविधकी` --श्रीमद्भा०१।३।३३पर सुबो०

३ `एक एव सर्वत्राप्तो नानेव प्रतीयमानो जीव इत्युक्तं भवति। तद्रूपेणैव भोगलीला`--श्रीमद्भा०१।२।३३

३ `एवं प्रपंचे जडबुद्धिर्भ्रान्ता भगवद्बुद्धिर्मुख्या --- जीवेऽपि भगवद्बुद्धिरेवमुख्या न जीवबुद्धि:।`
घ--श्रीमद्भा०१।३।३२ पर सुबो०

४ `नान्यद्भगवत: किंचिदभाव्यं सदसदात्मकम्` -- श्रीमद्भा० २।६।३२

५ ` ---- अवस्थाभेदमादायायं भेदव्यपदेशो, न तु वस्तुभेदादतो न ब्रह्मत्वादव्याघात इत्यर्थ:`

--अणुभा०१।२।२१ पर भा०प्र०

विश्व में जो भी द्वैत हमारे ज्ञान का विषय बनता है, वह ब्रह्म से भिन्न नहीं है। सारा भेदप्रपंच ब्रह्म का ही परिणाम या अभिव्यक्ति है। ब्रह्मकारणक इस जगत् को असत् नहीं माना जा सकता, क्योंकि कार्य को असत् मानने से कारण भी असत् हो जायेगा। कार्य तो कारण का अवस्थान्तरमात्र है, अत: इसे मायिक या आभास मानने में कोई युक्ति नहीं है; यह ब्रह्मपरिणाम है, और ब्रह्म जितना ही सत् है।

भास्करीय और वैष्णव-वेदान्त की पूर्वोक्त विशेषताओं में से चौथी विशेषता -- द्वैत और अद्वैत की सहस्थिति। वल्लभ भी इसे स्वीकार करते हैं। द्वैत और अद्वैत की सहस्थिति में कोई विरोध नहीं है,क्योंकि अद्वैत का अर्थ तत्त्व की एकता मात्र है।

यह शंका हो सकती है कि एक वस्तु एक ही समय में या तो कारण रूप से रहेगी या कार्यरूप से, उसका दोनों अवस्थाओं में एक साथ रह सकना असम्भव है; किन्तु यह शंका कम-से-कम ब्रह्म के विषय में उचित नहीं है। ब्रह्म कभी समग्ररूप से परिणत नहीं होता, अर्थात् उसकी `कृत्स्नप्रसक्ति` नहीं होती। वह जगद्रूप से परिणत होता हुआ भी जगत् से अधिक और अतीत रहता है; साथ ही वह लौकिक कर्ता की भांति सीमित सामर्थ्यवाला भी नहीं है। अचिन्त्य सामर्थ्यशाली होने के कारण उसके लिए यह असम्भव नहीं है कि वह एक ही साथ कारण और कार्य अवस्थाओं में रह रहे[1]। ब्रह्म के नानात्व से उसका एकत्व बाधित नहीं होता। इसप्रकार वल्लभ का अद्वैत कहीं भी द्वैत या नानात्व को मिथ्या सिद्ध नहीं करता, अपितु उसे अपने में समेट कर आगे बढ़ता है। `अद्वैत` परस्पर भिन्न या अभिन्न पदार्थों का समुच्चय या सहभाव नहीं है, अपितु आपातत: भिन्न प्रतीत होने वाले समस्त पदार्थों में अन्तर्व्याप्त एकत्व का सिद्धान्त है। अस्तु, यह नामरूपात्मक विश्व कहीं भी अद्वैत का प्रतिरोधक नहीं है, क्योंकि यह नानात्व ब्रह्म के एकत्व की ही स्वरूपाभिव्यक्ति है-- `सो कामयत, बहु स्यां प्रजायेयेति` (तै०२।६।१)।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि वल्लभ अपने अद्वैतसिद्धान्त में भास्कर के पर्याप्त निकट हैं। भास्कर ब्रह्म और विश्व के बीच केवल अभेद सम्बन्ध न स्वीकार कर भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार भेद भी उतना ही सत्य है, जितना अभेद। भास्कर का सिद्धान्त संक्षेप में इस प्रकार है-- परमवस्तु का स्वभाव भिन्नाभिन्न है। वह अनन्तशक्तिमान् है। यह सृष्टि ब्रह्म का इच्छापरिणाम है[2]। सृष्टीच्छा होने पर वह लोककल्याण के लिए स्वयं को इस विश्व के रूप में परिणत करता है। वह स्वेच्छया अन्त:करण देहेन्द्रियादि रूप उपाधियों के सम्पर्क से इस दृश्यमान् जीव-

---

१ "ब्रह्मवादे पुन: सर्वभवनसमर्थत्वाद् ब्रह्मणि विरोधाभाव:" -- अणुभा० १।२।२२

२ "स हि स्वेच्छया स्वात्मानं लोकहितार्थं परिणामयन् स्वशक्त्यनुसारेण परिणामयति"

--भास्करभाष्यम् २।१।१४

जडात्मक प्रपंच का रूप धारण करता है; इस प्रकार ब्रह्म का परिणाम औपाधिक हुआ : किन्तु यह परिणाम शंकर की भांति मिथ्या नहीं, अपितु वास्तविक है। भास्कर के मत में उपाधि भी सत्य है और औपाधिक परिणाम भी। इस तरह सारा कार्यप्रपंच सत्य है, ब्रह्म का स्वरूप-परिणाम होने से, कारण ही अवस्थान्तर को प्राप्त करता हुआ कार्य कहलाता है।[1] ब्रह्म ही, सर्वकारणकारणभूत ब्रह्म रूप से, भोक्ता जीव रूप से तथा भोग्य जडप्रपंच रूप से स्थित होता है।[2] जीव भी ब्रह्मांश होने से ब्रह्म से भिन्नाभिन्न है। ब्रह्म से उसका स्वाभाविक अभेद होते हुए भी, उपाधि-संसर्ग-जन्य जो भेद है वह भी सत्य है, उपाधियों के सत्य होने से।[3] इस प्रकार जितना सत्य अभेद है, उतना ही भेद भी है, और इससे अभेद की हानि भी नहीं होती, क्योंकि जीवजडादि ब्रह्म की ही अवस्थाएं हैं।[4] कारणावस्था की दृष्टि से अभेद और कार्यावस्था की दृष्टि से भेद की सिद्धि होती है,[5] अतः ब्रह्म और जीवजडात्मक सृष्टि में भेदाभेद-सम्बन्ध है। वल्लभ और भास्कर के अद्वैत में पर्याप्त साम्य अवश्य है, किन्तु दोनों की अद्वैत सम्बन्धी धारणाएं बिल्कुल ही एक-सी नहीं हैं। दोनों में सबसे बड़ा साम्य यह है कि दोनों ही विश्व को ब्रह्म का 'इच्छा-परिणाम' स्वीकार करते हैं। विश्व ब्रह्म का ही अवस्थान्तर मात्र है और अपने कारण ब्रह्म से कार्यत्वेन अनन्य है। दूसरा साम्य यह है कि यद्यपि दोनों ही भेद को परमवस्तु का मूल स्वभाव स्वीकार नहीं करते, तथापि भेदका निराकरण भी नहीं करते; कार्यावस्था में भेद या नानात्व को सत्य मान कर उसे भी मान्यता दी गई है। भेद और अभेद की सहस्थिति में भी, दोनों की दृष्टि में कोई विरोध नहीं है।

दोनों के मतों में परस्पर जो सबसे बड़ा वैषम्य है, वह यह है कि जहां भास्कर भेद को औपाधिक मानते हैं, वहां वल्लभ उसे सहज या स्वाभाविक मानते हैं। जब भेद को सत्य ही स्वीकार करना है, तो उपाधि स्वीकार करने में क्या युक्ति है? और जब उपाधि को सत्य स्वीकार करते हैं, तो उसे उपाधि न कहकर ब्रह्म की सहज प्रवृत्ति ही कहना उचित होगा।

---

१ 'सदेव कार्यं, कुतः, कारणमेव हि तां तामवस्थां प्रतिपद्यमानं कार्यमिति गीयते। अवस्थातद्वतोश्च नात्यन्तभेदः ---'। भा०भा० २।१।१४

२ 'ब्रह्म च कारणात्मना, कार्यात्मना, जीवात्मना च त्रिधाऽवस्थितम्' -- भा०भा० १।१।१

३ 'तत्त्वमसि इति श्रुतेर्भिन्नाभिन्नो जीवः। स्वाभाविकं नित्यसिद्धमभिन्नं रूपमितरदौपाधिकं प्रवाहनित्यमिति विवेकः' भा०भा० ३।२।६

४ 'परमात्मनोऽवस्थाविशेषः प्रपंचोऽयम्' -- भा०भा० २।१।१४

५ ' ------ कार्यात्मना नानात्वमभेदः कारणात्मना' -- भा०भा० १।१।४

भास्कर का उपाधि स्वीकार करने में जो मनोविज्ञान है, वह सम्भवत: यह है कि एक ही वस्तु में भेद और अभेद मानने में जो तार्किक अनुपपत्ति है, जिसके आग्रह से शंकर भेद को मिथ्या स्वीकार करते हैं, उसका परिहार इस उपाधि-स्वीकरण से हो जाता है। उपाधि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न कर देती है कि एक ब्रह्म अनेक रूप धारण कर लेता है। भेदको नित्य सिद्ध करने के लिए वे उपाधि को शंकर की भांति मिथ्या न स्वीकार कर सत्य स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त भास्कर अभेद को पारमार्थिक नित्य स्वीकार करते हैं और भेद को प्रवाह नित्य : नित्यता में यह अन्तर भी उपाधि के कारण सम्भव हो जाता है।

वल्लभ का द्वैत के प्रति ऐसा कोई आग्रह नहीं है, जिसका निर्वाह करने के लिए वे उपाधि स्वीकार करें। उनकी दृष्टि कहीं भी जगत् पर नहीं ठहरी है, ब्रह्म ही उनका एकमात्र लक्ष्य है: अर्जुन की भांति वे भी पक्षी का शरीर नहीं `आंख` ही देखते हैं। वे जो कुछ भी कहते हैं, ब्रह्म की दृष्टि से कहते हैं अत: भेद के वास्तविक होते हुए भी वे परमार्थरूप में कहीं भी भेद का प्रतिपादन नहीं करते। भेद तो गौण है, मुख्य तो अभेदबुद्धि ही है। और जब ब्रह्म को सर्वशक्तिमान्,अनन्तसामर्थ्यशाली,`कर्तुमकर्तुमन्यथावा कर्तुं समर्थ:` माना ही जा रहा है, तब भास्कर की भांति उपाधि स्वीकार करना कोई अर्थ ही नहीं रखता। भास्कर और वल्लभ का कथ्य लगभग एक होते हुए भी दोनों में भंगिमा का बहुत बड़ा अन्तर है; भास्कर निरन्तर भेदाभेद पर बल देते हैं, जब कि वल्लभ सारा ध्यान अभेद पर केन्द्रित कर देते हैं। भेद अभेद से भिन्न नहीं,अपितु उसका एक पार्श्वमात्र है। कार्य यद्यपि कारण जितना ही सत्य है परन्तु अपने अस्तित्व और सत्यत्व के लिए कारण पर आश्रित है, इसके विपरीत कारण अपनी सत्यता के लिए कार्य का मुखापेक्षी नहीं है : अत: जडजीवादियुक्त प्रपंच के सत्य होने पर भी मुख्यत्व कारणरूप ब्रह्म का ही है जो कार्य से स्वतंत्र और अधिक है। यह अवश्य है कि कारणत्व की उपपत्ति के लिए ब्रह्म को कार्यभूत जगत् की अपेक्षा है,किन्तु यह अपेक्षा ब्रह्म की नियामिका नहीं है,क्योंकि ब्रह्म कारणमात्र नहीं, कारणकार्यसम्बन्ध से अतीत भी है। वल्लभ ने पुरुषोत्तम और अक्षर की जो भिन्न कल्पना की है, वह सम्भवत: इसीलिए ही की है; ब्रह्म अक्षर रूप से सृष्टिसापेक्ष होते हुए भी पुरुषोत्तमरूप से सृष्ट्यातीत है।

ब्रह्म भेद का भी आत्मभूत है,अत: भेद ब्रह्म के सम्बन्ध से ही सत्य है, उससे भिन्न स्वतंत्र सत्ता उसकी नहीं है। इस तरह वल्लभ की दृष्टि में भेद नास्तिकल्प ही है,और उससे अद्वैतभावना कहीं भी लांछित नहीं होती। भास्कर और वल्लभ के मतों में अन्तर इस दृष्टि का ही है; दोनों क्रमश: भेदाभेद और अभेद को सिद्ध करने के लिए ही उपाधि को स्वीकार और अस्वीकार करते हैं।

अखण्ड अद्वैत के प्रति इस आस्था के कारण ही वल्लभ ब्रह्म के स्वरूप में स्वगत-द्वैत भी स्वीकार नहीं करते, जिसके लिए उनके मत में पर्याप्त अवकाश है। यही वल्लभ और रामानुज के अद्वैत में प्रमुख अन्तर है। रामानुज स्पष्ट शब्दों में ब्रह्म के स्वरूप में स्वगत-द्वैत की स्वीकृति देते हैं। रामानुज तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं-- ईश्वर, चित् और अचित् : किन्तु ये तीनों सत्ताएं घट पट की तरह अत्यन्त भिन्न नहीं हैं। चित् और अचित् ईश्वर पर आश्रित सत्ताएं हैं, और ईश्वर इनका आत्मभूत है। तत्त्वत: ये ईश्वर से भिन्न नहीं हैं, किन्तु स्वरूपगत वैशिष्ट्य होने से अपना भिन्न अस्तित्व भी रखती हैं। इनका परस्पर वैशिष्ट्य तो ज्ञात हो सकता है, परन्तु ये ईश्वर से विभाज्य नहीं हैं, क्योंकि वह इनका स्वरूपभूत है[१]। रामानुज का ब्रह्म या परमवस्तु 'विशेष्य'-विशेषण-सम्बन्ध' की एक संगठित संश्लिष्टता कही जा सकती है, इसलिए ब्रह्म और विश्व की एकता या अद्वैत विशिष्ट ऐक्य या विशिष्टाद्वैत है, स्वरूपैक्य या स्वरूपाद्वैत नहीं।

जिस प्रकार विशेषण अपने विशेष्य से व्यतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं रखता, उसी प्रकार विश्व ब्रह्म से स्वतंत्र अपनी सत्ता नहीं रखता, इसलिए रामानुज उसे ब्रह्म का अपृथग्सिद्ध विशेषण स्वीकार करते हैं। चित् और अचित् ब्रह्म की ही अभिव्यक्तियां हैं, अत: ब्रह्म 'प्रकारी' और चिदचित् 'प्रकार' हैं: प्रकार रूप से ही उनकी सत्ता है[२]। चिदचिदात्मक विश्व ब्रह्म पर ही आश्रित और उसके द्वारा संचालित और परिसंचालित है, अत: विश्व और ब्रह्म में शरीरशरीरिभाव भी है[३]। इस प्रकार चिदचिद्विशिष्ट परमेश्वर ही कारण और कार्य है[४]। सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म कारण और स्थूलचिदचिद्वस्तुविशिष्ट ब्रह्म कार्य कहलाता है। इस स्थिति में कार्य के कारण से अनन्य होने के कारण एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा भी उत्पन्न हो जाती है। जीव भी ब्रह्मात्मक है, क्योंकि जीव में अन्तर्यामी रूप से ब्रह्म के अनुप्रवेश का कथन श्रुति करती है। इस भांति चिदचिदात्मक अर्थात् जीवजडात्मक यह सारा विश्व ब्रह्म का शरीरभूत है और ब्रह्म इसका नियामक 'शरीरी' है।

----

१ 'तदैक्षत बहुस्याम्':'तन्नामरूपाभ्यां व्याक्रियत' इति ब्रह्मैव स्वसंकल्पाद्विचित्रस्थिरचरस्वरूपतया नाना प्रकारमवस्थितम् ---' श्रीभा०१।१।१

२ ' ----अत: परस्यब्रह्मण: प्रकारतयैव चिदचिद्वस्तुन: पदार्थत्वम्'--श्रीभा०१।१।१

३ 'एवं सर्वावस्थावस्थितचिदचिद्वस्तुशरीरतया तत्प्रकार: परमपुरुष एव कार्यावस्थकारणावस्थजगद्रूपेणावस्थित इतीममर्थं ज्ञापयितुं काश्चन श्रुतय: कार्यावस्थं कारणावस्थं च जगत्सस्वेत्याहु: ---'
--श्रीभा० १।१।१

४ 'सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरस्यैव ब्रह्मण: स्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरत्वेन कार्यत्वात्'
--श्रीभा० १।१।१

ब्रह्म और विश्व का तादात्म्य आत्मशरीरभाव से ही है;[1] यह 'अपृथक् सिद्धि' ही रामानुज के मत में अद्वैत का अर्थ है: स्वरूपैक्य या स्वरूपाद्वैत नहीं। प्रलय तथा मोक्षकाल में भी विश्वसंघात का ब्रह्म से स्वरूपैक्य नहीं होता, फलत: ब्रह्म के स्वरूप में चिदचिद्वस्तुजन्य स्वगतभेद सदैव ही रहता है।

भास्कर ने स्वगतभेद स्वीकार नहीं किया, रामानुज ने किया और वल्लभ ने पुन: उसे अस्वीकार कर दिया, इसका भी कारण है। भास्कर ब्रह्म में चिदचिद्रूप स्वगतद्वैत स्वीकार नहीं करते, अत: अखण्ड ब्रह्म ही उपाधिसंसर्ग से परिणत होता है। इस अवस्था में ब्रह्म के ही जीवरूप ग्रहण करने के कारण उपाधि-प्रयुक्त जीवगतदोष ब्रह्म में ही प्रसक्त होंगे; इसी प्रकार ब्रह्म की ही जडापत्ति भी होगी और अचेतनत्वादि दोष उसको ही दूषित करेंगे। इस दृष्टि से रामानुज ने अनेक स्थलों पर भेदाभेद का खण्डन किया है। ब्रह्म और जड-जीव के इस स्वभाव-सांकर्य को बचाने के लिए ही वे ब्रह्म में स्वगतभेद स्वीकार कर लेते हैं।

यद्यपि ब्रह्म जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है, तथापि सारी परिणमन-प्रक्रिया चित्-अचित् अंशों में ही होती है, ईश्वर में नहीं। इस प्रकार ब्रह्म का उपादानत्व होते हुए भी संघात का उपादानत्व होने के कारण चित्-अचित् और ब्रह्म का स्वरूप स्वभाव-[2] सांकर्य नहीं होने पाता और जीवजडगत दोषों की प्रसक्ति ब्रह्म में नहीं होती।

सामान्यत: तत्त्वगाम्भीर्य और तर्कप्रवणता से युक्त होते हुए भी, रामानुज की ब्रह्मसम्बन्धी धारणा में कुछ तार्किक अनुपपत्तियां हैं, जिनका संक्षेप में निर्देश इसलिए आवश्यक है, क्योंकि इन अनुपपत्तियों ने वल्लभ का दिशानिर्देश किया है।

रामानुज ब्रह्म को सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण मानते हैं, साथ ही आभासवाद या प्रतिबिम्बवाद न स्वीकार कर परिणामवाद स्वीकार करते हैं। ब्रह्म विश्वरूप में परिणत होता है; ऐसी स्थिति में ब्रह्म में परिवर्तन आना अवश्यम्भावी है। इसका उत्तर रामानुज यह देते हैं कि ब्रह्म निमित्तकारण है और ब्रह्म का चिदचिद्रूप शरीर उपादानकारण है, इस प्रकार ब्रह्म का अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व है। वस्तुत: सारी परिणमन प्रक्रिया ब्रह्म के विशेषणों अर्थात् चित्-अचित् में होती है : अचित् में साक्षात् और चित् में उसके धर्मभूतज्ञान के माध्यम से।

---

१ "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य। सच्चत्यच्चाभवत्। जीवस्यापि ब्रह्मात्मकत्वं ब्रह्मानुप्रवेशादेवेत्यवगम्यते। अतश्चिदचिदात्मकस्य सर्वस्य वस्तुजातस्य ब्रह्मतादात्म्यमात्मशरीर-भावादेवेति निश्चीयते।" -- श्रीभा० १।१।१

२ "------अत: स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्यकारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्। सूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरं ब्रह्मैव कारणमिति ब्रह्मोपादानत्वेऽपि संघातस्योपादानत्वेन चिदचितोर्ब्रह्मणश्च स्वभावासंकरोऽप्युपपन्नतरः।" -- श्रीभा० १।१।१

स्वयं ईश्वर नित्यअविकारी और 'कूटस्थ' ही बना रहता है। इस तरह ब्रह्म का परिणाम 'सद्वारक' अर्थात् जीवजड के सम्बन्ध से कहा जाता है और उपचारमात्र है। किन्तु यह बात विचित्र-सी लगती है; जब ब्रह्म के नित्यसहवर्ती, स्वरूपान्तर्गत और अपृथग्सिद्ध विशेषण परिवर्तित होते हैं, तो विशेष्य ब्रह्म कैसे उन परिवर्तनों से उदासीन और असंस्पृष्ट रहता है? चित् अचित् ब्रह्म से भिन्न स्वतंत्र सत्ता होते तो भी बात थी, परन्तु वे न केवल ब्रह्म पर आश्रित हैं, अपितु ब्रह्म उनका आत्मभूत है, मूलस्वरूप है।

इसी प्रकार शरीर-शरीरी के दृष्टान्त पर भी अधिक बल दिया जाय तो जीव के दुःखों की प्रसक्ति ब्रह्म में अवश्य होगी, क्योंकि संसार में शरीर और शरीरी में पारस्परिक प्रभाव और प्रतिक्रियाएं देखी जाती हैं।

इनके अतिरिक्त सबसे बड़ी समस्या यह है कि रामानुज चित् अचित् और ईश्वर का पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करते हुए भी अन्तिम या चरम सत्य ईश्वर को ही स्वीकार करते हैं। अन्य दो सत्ताएं अपने अस्तित्व के लिए ईश्वर पर आश्रित रहती हैं। किन्तु जब चित् और अचित् का आत्मभूत और स्वरूपाधायक तत्त्व भी ब्रह्म ही है तो इनके बीच का अन्तर पारमार्थिक कैसे हो सकता है? और फिर अद्वैत से भिन्नता ही क्या रहेगी? अद्वैतवादी जब अनेकतापरक तत्त्वों की असत्यता प्रतिपादित करता है तो उनकी स्वतंत्र सत्ता का ही निषेध कर रहा होता है। यदि इस कठिनाई से बचने के लिए विशेषणों की विशेष्य से भिन्न निजी सत्ता स्वीकार की जाये तो परब्रह्म का 'परत्व' ही नष्ट हो जायेगा और ब्रह्म का एकत्व केवल गौण या उपचरित अर्थ में ही सम्भव हो सकेगा। इस स्थिति में यही उपाय बचता है कि ब्रह्म और उसके विशेषणों के बीच भेदाभेद सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, जो रामानुज को कदापि मान्य नहीं है। और अन्त में यदि सौ सवालों का एक जवाब यह दे भी दिया जाय कि 'ब्रह्म ऐसा ही है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही प्रतिपादित करती है' तो यह उस सारी तार्किक-प्रक्रिया की पराजय होगी, जिसे रामानुज इतने आत्मविश्वास के साथ प्रारम्भ करते हैं।

इन्हीं सारी कठिनाइयों से बचने के लिए वल्लभ कहीं भी ब्रह्म में स्वगत-द्वैत स्वीकार नहीं करते। जीव और जड का स्वरूप तो लगभग वही है, जो रामानुज को मान्य है, परन्तु बहुत बड़ा अन्तर यह है कि वल्लभ जीव और जड को रामानुज के चित् अचित् की भांति ब्रह्म का नित्यसहवर्ती विशेषण नहीं स्वीकार करते। सृष्टिकाल में ब्रह्म ही जीव जड रूप से परिणत होता है। जीव और जड की सत्ता ब्रह्म रूप से ही है, जीव जडरूप से नहीं। जड और जीव की वैयक्तिक विशेषताओं को सुरक्षित रखने का जैसा रामानुज का आग्रह है, वैसा वल्लभ का नहीं है। इसलिए वे शरीर-शरीरीभाव, विशेष्य-विशेषणभाव को दूर से ही नमस्कार कर

लेते हैं। साथ ही विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म के एकत्व का घटक जो 'त्रित्व' है और उससे उत्पन्न जो समस्याएं हैं, उनसे वल्लभ स्वगत भेद का निराकरण कर मुक्ति पा लेते हैं।

ब्रह्म कार्यावस्था में भले ही नाना हो, कारणावस्था में एक ही है। रामानुज प्रलयकाल में भी ब्रह्म को सूक्ष्मचिदचिद्विशिष्ट मानते हैं, किन्तु वल्लभ यह स्वीकार नहीं करते। वे प्रलयावस्था में जगत् और जीव का ब्रह्म में लय स्वीकार करते हैं और अन्त में ब्रह्म मात्र अवशिष्ट रहता है। भाष्यकार के मत में प्रलयकाल में भी चिदचित् से संश्लिष्ट ब्रह्म को स्वयं में भिन्नता का बोध होगा 'स्वस्मिन्नहमितरभिन्न:'-- इस रूप से। इसके अतिरिक्त सृष्टि से पूर्व ब्रह्म का 'एकोऽहं बहुस्याम्'-- यह एकत्वबुद्धिपूर्वक जो संकल्प है, उसकी भी उपपत्ति नहीं होगी[1]।

परिणामापत्ति तथा जड़,जीव और ब्रह्म के स्वभावसांकर्य के जिन दोषों से बचने के लिए रामानुजाचार्य 'शरीर-शरीरी' या 'विशेष्य-विशेषण भाव' की कल्पना करते हैं, उन्हें वल्लभ और भास्कर श्रुति के आधार पर ही निराकृत कर देते हैं। ब्रह्म के विकृत होने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि श्रुति उसे अविकारी और अपरिणामी घोषित करती है। वल्लभ की यह विशेष प्रवृत्ति है कि वे प्राय: तर्क की अपेक्षा श्रुति का आधार लेते हैं: और वेदान्तदर्शन में श्रुति के परमप्रमाणरूप से मान्यहोने के कारण तथा ब्रह्मविद्या के श्रुत्येक गम्य होने के कारण यह दृष्टिकोण एकांगी भले ही हो अनुचित नहीं कहा जा सकता।

यहां स्पष्ट करना आवश्यक है कि वल्लभ अखण्ड अद्वैत को भले ही स्वीकार करें, किन्तु यह अद्वैत शंकर के अद्वैत की भांति नहीं है। द्वैत के प्रति भी उनका इतना आग्रह है कि उनके सम्प्रदायानुवर्ती श्री पुरुषोत्तम स्पष्ट शब्दों में स्वगत द्वैत स्वीकार कर लेते हैं। वल्लभ ब्रह्म की कई अभिव्यक्तियां स्वीकार करते हैं तथा उनमें परापरभाव तथा नियम्यनियामकसम्बन्ध भी स्वीकार करते हैं। इस प्रकार परापरभाव पूर्वक ही अभेद घटित होता है। स्वयं वल्लभ जब इन अभिव्यक्तियों का परस्पर सम्बन्ध समझाते हैं तो लगता है कि स्पष्टरूप से भेदसंवलित अभेद का ही प्रतिपादन कर रहे हैं[2]।

जीवाभिव्यक्ति की दृष्टि से विचार करने पर भी यही बात सामने आती है।

---

१ '---- प्रलयदशायामविभागेन पिण्डीभाव ऐक्ये वा श्लिष्टत्वेनैव सत्वात् तदालिंगितस्य ब्रह्मण: स्वस्मिन्नहमितरभिन्न इति प्रतीतेरर्थसिद्धत्वात् सृष्टिप्राक्काले बहु स्यामित्येकत्वबुद्धिपूर्वकस्य संकल्पस्य पीडाप्रसंगात्'। -- अणु० २।३।५३ पर भा०प्र०

२ '---- सर्वं ब्रह्मण: सच्चिदानन्दरूपेण सर्वेषां ब्रह्माभेद:। ब्रह्मण स्तु कार्यलक्षणेन सर्वस्माद्भेद:। जगत: कार्यत्वाच्चिदानन्दतिरोभावात् तयो: स्वरूपत्वाच्च भेद:। जीवेचानन्दतिरोभावादल्पत्वादंशत्वादिभ्य: च भेद:। अक्षरे च गणितानन्दत्वादिभ्यो भेद: ----'। --अणुभा०३।२।२८

वल्लभ 'एकजीववाद' स्वीकार नहीं करते। जीव अनेक हैं तथा परस्पर एक-दूसरे से भिन्न भी हैं। परस्पर भिन्न होते हुए भी ब्रह्म से इनका अभेद है, जैसे हस्तादि अंगों का परस्पर भेद होते हुए भी देही से अभेद है। इस प्रकार जीव-दृष्टि से 'नानात्मवाद' तथा ब्रह्म-दृष्टि से 'एकात्मवाद' सिद्ध होता है[1]। इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए वाल्लभसम्प्रदाय के विद्वान् टीकाकार श्रीपुरुषोत्तम उन्मुक्त कण्ठ से स्वगतद्वैत को स्वीकृति प्रदान कर देते हैं[2]।

किन्तु जहां तक स्वयं वल्लभ का प्रश्न है, वे ब्रह्म में स्वगतभेद स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं समझते हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि वल्लभ की दृष्टि में अद्वैत का अर्थ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी तत्त्वान्तर का अभाव है: स्वयं इस तत्त्व के अनेक रूपान्तर हो सकते हैं तथा उनकी समानकालिक सहस्थिति भी आपत्तिजनक नहीं है। अद्वैत की इतनी उदार परिभाषा स्वीकार कर लेने पर वास्तव में स्वगतद्वैत स्वीकार करने न करने का कोई अर्थ नहीं रह जाता। जिस प्रकार कोई व्यक्ति विविध कार्य करता हुआ भी स्वयं 'विविध' नहीं हो जाता,[3] उसी प्रकार ब्रह्म नाना रूपों से नाना प्रकार के कार्य करता हुआ भी अपने स्वरूप से च्युत नहीं होता। यही वल्लभ के मत में स्वीकृत अद्वैत का स्वरूप है।

विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त में अभिमत ब्रह्म के स्वरूप की समीक्षा तब तक पूरी नहीं होती, जब तक कतिपय उन विशेषताओं पर भी विचार न कर लिया जाय, जो उपनिषदितर सिद्धान्त-परम्परा से आ मिली हैं। यह पहिले ही कहा जा चुका है कि वल्लभ को स्वीकृत ब्रह्म का स्वरूप उपनिषद् के ब्रह्म तथा श्रीमद्भागवत के श्रीकृष्ण के स्वरूप की एक मिली-जुली धारणा है; अत: उनके ब्रह्म में दोनों की ही विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं। उपनिषत्-प्रतिपाद्य ब्रह्म के श्रीकृष्ण के साथ एकात्म्य हो जाने के कारण उसमें रस, लीला और अवतार की धारणाएं भी आ जुड़ी हैं, जिन पर यहां संक्षेप में विचार किया जायेगा।

श्रीमद्भागवत ने उपनिषदों के ब्रह्म और धर्म तथा नीति के ईश्वर को 'भुवन-सुन्दर' और 'मन्मथ-मन्मथ' श्रीकृष्ण के रूप में प्रस्तुत किया है सत्य शिव और सुन्दर के सर्वोच्च

---

१ "एवं जीवानामंशत्वे जीवस्वरूपविचारेण नानात्मवादो, भगवत्स्वरूपविचारेण चैकात्मवाद इत्यपि प्राञ्जलमेव सिद्ध्यति। हस्तपादादीनां परस्परभेदपुरुषाभेदयोर्लोकेऽपि दर्शनात्। ----अतोऽशत्वेन नानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावघटितस्वैकात्म्यवादो भगवदभिमत इति सिद्ध्यति।"
-- भा०प्र०२।३।५३

२ "स्वगतद्वैतं तु न दोषाय। भेदसहिष्णोरेवाभेदस्य सिद्धान्ते तु०गीकरात्" -२।३।५३ पर भा०प्र०

३ "यथैक: पुरुषो पाचनपाठनादीनि नानाकार्याणि कुर्वन्नाना न भवति इति तद्वद् ब्रह्मापीत्यदोषात्"
--अणु २।३।५३ पर भा०प्र०

आदर्श का रुप दे कर। श्रीकृष्ण पूर्णपरात्परब्रह्म हैं तथा रसरूप हैं। श्रुति में 'सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस:' से ब्रह्म के रसरूपत्व और रसवत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। रसवत्व से ही रसभोक्तृत्व भी सिद्ध है। तैत्तिरीय में भी[1] 'रसो वै स:', 'रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'-- इस प्रकार ब्रह्म का रसरूपत्व कहा गया है। विश्व में जितने भी आनन्द हैं, वे सब इस ब्रह्मानन्द या ब्रह्मरस के ही अंशभूत हैं। यद्यपि लोक में रस और रसवान् दो भिन्न पदार्थ देखे जाते हैं, तथापि श्रीकृष्ण को ही रस और रसवान् मानने में कोई आपत्ति नहीं है, क्योंकि वे विरुद्धधर्माश्रय होने के साथ-साथ सर्वरूप भी हैं। श्रीकृष्ण अखिलरसामृतमूर्ति हैं, तथा सारे रस हैं उनमें अपनी चरम सार्थकता और पूर्ण-परितृप्ति पाते हैं।

भगवान् रस का अजस्र स्रोत हैं और इस रस की कोई सीमा नहीं है, वह प्रत्येक क्षण अभिनव है, जैसा कि भागवतकार ने कहा है--

'तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्॥

सभी रसों में मुख्य रस शृंगार है, अत: ब्रह्म भी मुख्यतया शृंगार रस स्वरूप है। भगवान् एक ही हैं, अत:[2] रस सम्बन्धिनी समस्त सामग्री विभावानुभाव इत्यादि भी भगवद्रूप होने के कारण रसरूप ही हैं।

भगवान् का रत्याख्यस्थायिभाव[4] उनसे भिन्न नहीं है: वे भाव रूप भी हैं और रसरूप भी; रस का आलम्बन भी वही हैं। व्रजसुन्दरियों का रत्याख्यस्थायीभाव भी श्रीकृष्ण हैं, और उस भाव का आलम्बन भी।

भगवान् का गोपियों के प्रति जो भाव है, वह भी भगवद्रूप है, क्योंकि भगवान् के भाव उनके स्वरूप से अतिरिक्त नहीं हैं। यदि शृंगाररसरूप भगवान् से उनका रति-भाव भिन्न माना जायेगा तो श्रुति जो एकसाथ उनका रसभोक्तृत्व और रसरूपत्व प्रतिपादित करती है, वह उपपन्न नहीं होगा।[3]

----

१ 'भगवत्स्वरूपं हि श्रुत्यैकसमधिगम्यम्। तत्र च 'सर्वकाम: सर्वगन्ध: सर्वरस' इत्यनेन सर्वकामरूपत्वं, तद्वत्त्वं च, सर्वरसरूपत्वं, तद्वत्त्वेन सर्वरसभोक्तृत्वं च प्रतिपाद्यते। तैत्तिरीयकेऽपि 'रसो वै स:' रसं ह्येवायंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवतीति पठ्यते।' -- वि०भ० २५२

२ 'भावांश्चैक एव। तथा च तत्रत्या सर्वा सामग्री तद्रूपैवेति सर्वमनवद्यम्' -- वि०भ० ३१६

३ 'रसेषु च शृंगाररसस्य मुख्यत्वात्तस्य च रत्याख्यस्थायिभावस्वरूपत्वात्तद्रूपत्वं तद्वत्त्वं चावश्यं वाच्यम्। तत्र व्रजसुन्दरीभावत्वेन तद्भावानुसारेणैव च सर्वकरणैर्नैवैतद्रूपत्वम्। ---भगवानपि तासु तादृशभाववानिति तद्वत्त्वं, भगवतस्तद्रूपत्वं च, भगवति भावानामपि स्वरूपातिरिक्तानामभावात्। अन्यथा श्रुत्युक्तं रसभोक्तृत्वं रसरूपत्वं च भज्येतेति।' --वि०भ०२५४-५५।

इस `ब्रह्मरस` की पूर्णतम अभिव्यक्ति; पूर्णकाम परमशान्त परब्रह्म श्रीकृष्ण की इस विचित्र कल्लोलमयी क्रीड़ा का उच्छलन, महारासलीला में हुआ। व्रज की गोपियों का आत्मविस्मृत, परमकातर आत्मसमर्पण, श्रीकृष्ण के द्वारा उस प्रेम की सादर और साग्रह स्वीकृति और तब दोनों के अत्यन्त पुनीत उस मिलन में दोनों के समस्त पार्थक्य और अन्तर का निश्शेष हो जाना आत्मा और परमात्मा की निविड़ अन्तरंगता और द्वैत के संस्पर्श से भी रहित एकात्मता का प्रतीक है। शृंगाररस के संयोग और विप्रयोग दोनों ही पक्षों की अभिव्यक्ति इस लीला में हुई है।

`ब्रह्मरस` के नित्य होने के साथ-साथ उस रस की अभिव्यंजिका लीला भी नित्य और वास्तविक है। लीला को वास्तविक मानने पर विभिन्न लीलाओं की एकत्रीकस्थिति से ब्रह्म का `ज्ञानैकघनत्व` या पूर्णता भंग होगी ऐसा नहीं सोचना चाहिए। ब्रह्म के विरुद्धधर्माधार होने से वह विविध लीलाओं का आश्रय बन सकता है।

यह लीला जन्य नहीं है, अपितु नित्यस्थित है। अनित्य वह पदार्थ या क्रिया होती है, जो जन्य हो : लीला का अजन्यत्व और भगवद्रूपत्व भगवद्धर्म होने से स्वत: सिद्ध है। पूर्णसिद्ध लीला का ही भगवदिच्छानुसार क्रम से आविर्भाव होता है[१]। विभिन्न लीलाओं से सम्बन्धित भगवान् के जो रूप हैं, और उस रूपविशेष के गुण और कर्मों का अनुसरण करने वाले जो नाम हैं, वे भी नित्य हैं। दशम स्कन्ध में नामकरण संस्कार के प्रसंग में एक श्लोक आया है--

`बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद, नो जना: ।।`

इस श्लोक में `सन्ति` यह जो वर्तमानकालिक क्रिया का प्रयोग है, वह तभी उपपन्न हो सकता है, जब गुणकर्मानुरूप नाम नित्य हों। भगवन्नाम अखण्डब्रह्मरूप होते हैं। भगवत्स्वरूप की तरह भगवत्कर्मों का भी आविर्भाव होता है, और तदनुरूप नामों का भी, अत: नामों की उत्पत्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए[२]; अत: कर्मविशेष से विशिष्ट, और तदनुरूप नामों से युक्त भगवान् के सभी रूप नित्य हैं, और वे भक्तों को विभिन्न रसों का अनुभव कराने के लिए क्रम से इन रूपों का आविर्भाव और आच्छादन करते रहते हैं[३]।

---

१ `पूर्वसिद्धाया एव लीलाया भगवदिच्छया क्रमेणाविर्भाव:` -- वि०म० २६२

२ `भगवन्नामानि त्वखण्डशब्दब्रह्मरूपाणि। ----स्वरूपवत्कर्मणामपि प्रादुर्भावेन तदनुरूपनाम्नामपि प्रादुर्भाव एव परं, न तूत्पत्ति:`-- वि०म० २८८

३ `तेन यत्कर्मविशिष्टस्य यस्य रूपस्य यन्नाम तत्कर्मविशिष्टं तद्रूपं नित्यमेव, लोके परं तेषां भक्तानां तत्तद्रसानुभवार्थं क्रमेणाविर्भाव: कस्याप्यंशस्य, कस्यचिदाच्छादनमित्येवं मन्तव्यम्।`

--वि०म० २८८।

न केवल लीला और तत्सम्बन्धी नामरूप,अपितु समस्त लीलापरिकर,लीलास्थल गोकुलादि तथा लीला का काल भी नित्य है, क्योंकि समस्त लीलासामग्री भी भगवद्रूप ही है।

भगवान् विविध प्रकार की क्रीडाएं करते हुए भी उसमें लिप्त नहीं होते हैं। मूढ व्यक्ति भगवान् की इस निरासक्ति को समझ नहीं पाते और गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की लीला को बिल्कुल भौतिक स्तर पर उतार लाते हैं:ऐसा करना बहुत बड़ा अन्याय है।भगवान् की प्रत्येक लीला आध्यात्मिक स्तर पर ही समझी जानी चाहिए। श्रीकृष्ण की अनासक्ति को भागवतकार ने बड़े काव्यमय ढंग से प्रस्तुत किया है--

`उद्दामभावपिशुनामलवल्गुहास-
क्रीडावलोकनिहतो मदनोऽपि यासाम्।
सम्मुह्य चापमजहात् प्रमदोत्तमास्ता,
यस्तेन्द्रियं विमथितुं कुहकैः न शेकुः ।।`
(श्रीमद्भा० १।११।३६)

यहीतो भगवान् की भगवत्ता है कि वे प्रकृति में स्थित होकर भी उसके गुणों से लिप्त नहीं होते--

`एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।
न युज्यते ---------------------- ।।`(श्रीमद्भा०१।११।३८)

सभी वैष्णव आचार्यों ने परब्रह्म को लीलाविशिष्ट स्वीकार किया है,अतः सभी के मत में किसीन्-किसी रूप में `अवतार` की धारणा भी वर्तमान है। लोकहित के लिए भक्तों के परित्राण के लिए तथा धर्म और नीतिकी मर्यादाएं अक्षुण्ण रखने के लिए प्रत्येक युग में भगवान् विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं-- जैसा कि भगवान् ने गीता में स्वयं कहा है--

`परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे ।।`

भगवान् का यह प्राकट्य ही`अवतार` कहा जाता है। वल्लभ ने अपने सिद्धान्त-प्रतिपादन में कई स्थानों पर अवतारों तथा अवतरणप्रक्रिया पर चर्चा की है। यहां संक्षेप में उनकी अवतारसंबंधी धारणा का परिचय दिया जा रहा है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार भगवान् के विषय में लौकिक युक्तियों के लिए कोई अवकाश नहीं है। भगवान् के अवतार भी भगवान् से अभिन्न होने के कारण लौकिक युक्ति का विषय नहीं है। भगवान् ही आविर्भाव-तिरोभाव के द्वारा इन विभिन्न रूपों में प्रकट होते हैं। अवतार का अर्थ है `अवतरण`। व्यापिवैकुण्ठ से भगवान् का जगत् में आगमन ही उनका

`अवतार` कहा जाता है।[१] यह प्राकट्य भक्तिनिमित्तक होता है : भक्ति के बहुविध होने से प्राकट्य भी अनेकविध हैं। कुछ अवतार क्रियाशक्ति प्रधान हैं और कुछ ज्ञानशक्ति प्रधान : स्वयं श्रीकृष्ण ज्ञान और क्रिया दोनों से युक्त हैं।[२] वस्तुत: श्रीकृष्ण को अवतार कहना ही नहीं चाहिए, वे तो परब्रह्म का साक्षात्प्राकट्य है। यहां सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि अखण्ड और निरवयव ब्रह्म के स्वरूपभूत अवतारों में अंश और अंशी का भेद कैसे उपपन्न होगा ? इसका उत्तर यह है कि जब भगवान् का प्राकट्य सत्त्व को आधार बनाकर होता है, तब वह अंशावतार कहलाता है। जब कभी परात्पर-ब्रह्म पूर्णपुरुषोत्तम श्रीकृष्ण सत्त्वादि को आधार न बनाकर, स्वयं अपने सच्चिदानन्दरूप से, जो नित्य और अप्राकृत शरीरेन्द्रियों से युक्त होता है, आविर्भूत होते हैं, तो वह ब्रह्म का पूर्णावतार कहा जाता है। ऐसा प्राकट्य केवल श्रीकृष्ण का ही है, अत: वे साक्षात् `अवतारी` कहे जाते हैं।

प्रश्न उठता है कि इस सत्त्व का स्वरूप क्या है, जिसे आधार बनाकर ब्रह्म अवतीर्ण होता है?

`सत्त्वं यस्य प्रियामूर्तिः`; `विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तम् -- ` इत्यादि वाक्यों से यह `सत्त्व` भगवान् का स्थानभूत कोई अप्राकृत धर्म सिद्ध होता है। भगवान् जिस रूप से कार्य करने की इच्छा करते हैं, उस रूप से अपने इस सत्त्व-धर्म को प्रकट करते हैं; और फिर लोह-पिण्ड में अग्नि के सदृश, इस रूप में व्याप्त होकर अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि करते हैं। इस प्रकार जहां सत्त्व को आधार बनाकर आविर्भूत होते हैं, वे अंशावतार कहलाते हैं।[३]

इस प्रक्रिया से भगवान् के सभी रूपों की सच्चिदानन्दविग्रहोक्ति का खण्डन नहीं होता, क्योंकि सत्त्व भी भगवद्धर्म है। उसका भी सच्चिदानन्दत्व भगवद्धर्म होने से सिद्ध है।[४] और यह सत्त्व प्राकृत अर्थात् प्रकृति के स्वरूपभूत सत्त्व से भी भिन्न है, क्योंकि श्रीमद्भागवत के द्वितीय स्कन्ध में `सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः` से प्राकृत गुणों से व्यतिरिक्त भगवान् के सत्त्वादि धर्म कहे गये हैं।

१क-अवतरणमवतार: व्यापिवैकुण्ठात् भगवत: प्रपंचसमागमनम्` -- सुबो० २।३।१

ख-अवतारो नाम अवतरणं मूलस्थानादिहाऽऽगमनम्` -- सुबो०२।६।४१

२क-ज्ञानकलावतारा व्यासादय:, क्रियाकलावतारा वराहादय: ,उभयं कृष्ण:` --सुबो०३।५।७

ख-ज्ञानक्रियोभययुत: कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्` -- त०दी०नि०३।६५

३`सत्त्वं यस्य प्रिया मूर्तिः` `विशुद्धसत्त्वं तव धाम शान्तमित्यादिवाक्यैरप्राकृतो भगवत्स्थानभूत: सत्त्व-नामा भगवद्धर्मरूप एव कश्चनास्ति। यादृशेन रूपेण भगवान् कार्यं कर्तुमिच्छति तादृग्रूपं तं प्रकटीकृत्य तस्मिन् स्वयमाविर्भूयाऽय: पिण्डे वह्निवत्तत्कार्याणि करोति यस्मिन् यस्मिन्नवतारे ससोंऽश इत्युच्यते `-- अणु भा०३।३।३ पर भा०प्र०

४`---न चैव सच्चिदानन्दविग्रहोक्ति:सर्वत्र विरुद्धा भवेदिति वाच्यम्। सत्त्वस्यापि भगवद्धर्मत्वेन सच्चि-दानन्दरूपत्वादविरोधात्।` --अणु भा०३।३।३ पर भा०प्र०

इन अंशावतारों के सत्त्वात्मक विग्रह में भगवान् विग्रह को उसी तरह व्याप्त कर स्थित होते हैं, जिस तरह अग्नि अय:पिण्ड को व्याप्त कर स्थित रहती है? इस प्रकार केवल आविष्ट अंश का ब्रह्मत्व होने के कारण ये अवतार 'अंशावतार' कहलाते हैं।

इसके विपरीत जहां सत्त्वनिर्मित शरीरादि अधिष्ठान की अपेक्षा किए बिना ही भगवान् अपने शुद्ध साकार रूप से आविर्भूत होते हैं, वह भगवान् का पूर्णप्राकट्य कहा जाता है।[1] यही अन्य अवतारों की अपेक्षा पूर्णप्राकट्य की श्रेष्ठता है।

भगवान् के सभी अवतार उनकी शक्ति और ऐश्वर्य के आंशिक उन्मीलन हैं। इनका जो अंशत्व कहा जाता है, वह शक्तिप्राकट्य के तारतम्य से ही कहा जाता है: जहां जितने शक्ति-प्राकट्य की आवश्यकता होती है, वहां उतना ही प्राकट्य होता है। वस्तुत: भगवदवतार होने के कारण सभी पूर्ण और शाश्वत हैं। इन अवतारों का प्रत्यक्ष लौकिक इन्द्रियों के द्वारा नहीं हो सकता, क्योंकि इनका रूप अप्राकृत है। रूप और चाक्षुषप्रत्यक्ष की जो व्याप्ति है, वह केवलप्राकृत के ही विषय में है; अप्राकृत रूप के विषय में ऐसा कोई नियम नहीं है। जब भगवान् की 'मां सर्वे पश्यन्तु' ऐसी इच्छा होती है, तभी इनका प्रत्यक्ष सम्भव होता है, अन्यथा नहीं। इन विभिन्न अवतारों के माध्यम से भगवान् लोकहित के विभिन्न कार्य सम्पन्न करते हैं।

पूर्वपृष्ठों में जिस ब्रह्म के स्वरूप की विस्तृत चर्चा की गई है, ऐसा वह परमशांत, परमनिर्विकार, समस्तकल्याणगुणाकर, परमकारण, सर्वशक्तिमान्, विचित्रलीलामय परब्रह्म ही, वल्लभ के अनुसार समस्त श्रुतिस्मृतियों तथा अन्यान्य शास्त्रों का एकमात्र प्रतिपाद्य है। सारी निर्गुण और सगुण परम श्रुतियां, पूर्वोत्तरकाण्ड तथा समस्त स्मृति पुराणादि इस अद्वयतत्त्व का ही व्याख्यान करते हैं। 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' तथा 'प्रकाशाश्रयवद्वातेजस्त्वात्' इन दोनों अधिकरणों के आधार पर ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय सिद्ध होता है, अत: परस्पर विरुद्धार्थ का प्रतिपादन करने वाली श्रुतियां भी ब्रह्म में ही अन्वित होती हैं। हरि ही एकमात्र प्रमेय हैं; वे ही सगुण, निर्गुण, गुण, कार्य, धर्म, क्रिया, उत्पत्त्यादि सभी कुछ हैं।[2] अपने ग्रन्थ तत्त्वदीपनिबन्ध के 'सर्वनिर्णय' प्रकरण में, वल्लभ ने

---

१ 'यत्राधिष्ठानमनपेक्ष्य स्वयमेव शुद्धं साकारं ब्रह्माविर्भवति भक्तार्थं, स स्वयं पूर्णो भगवानुच्यते, एतदेव च श्रैष्ठ्यम्' — अणुभा० १।१।१ पर भा०प्र०

२ 'प्रमेयं हरिरेवैक: सगुणो निर्गुणश्च स: ।
गुणा: कार्यं: तथा धर्मा: क्रियोत्पत्त्यादयश्च स: ॥' --त०दी०नि०२।८४
'अत्र मूले सगुण निर्गुणपदाभ्यामपरं परंच ब्रह्म । गुणपदेन सत्त्वरजस्तमांसि मायाप्रकृत्यादय:।कार्यपदेन महदादिपरमाण्वन्तं द्रव्यं, धर्मपदेन जातिगुणविशेषसमवायाभावा:, क्रियापदेन लौकिकवैदिककर्माणि, उत्पत्त्याद्य इत्यादि पदेनाभावाश्च संगृहीता: । तेन शास्त्रान्तरोक्तानपि पदार्थान् सर्वान् भगवत्त्वेनान्तर्भाव्य शुद्धाद्वैतं बोधितम्' — त०दी०नि०२।८४पर आ०भ०

बुद्धिसौकर्य तथा स्वरूप-तारतम्य के ज्ञान के लिए प्रमेय की तीन कोटियों का वर्णन किया है--[१]
स्वरूप,कारण और कार्य ।

स्वरूप कोटि में भी ब्रह्म,क्रिया,ज्ञान,और तदुभयविशिष्ट भेद से तीन प्रकार का है।[२] वेद के पूर्वकाण्ड में यज्ञ का ही प्रतिपादन किया गया है । यद्यपि`यज्ञो वै विष्णु:`तथा `नारायणपरालोका देवा नारायणांगजा` आदि श्रुति स्मृतियों के आधार पर यज्ञ भगवदात्मक ही हैं, तथापि अनुष्ठान के आरम्भ से फलानुभवपर्यन्त साधनरूप से क्रिया ही प्रतीत होती है,अत: भगवान् क्रिया में अन्तर्हित होकर ही पूर्वकाण्डार्थरूप हैं । इसी प्रकार उत्तरकाण्ड का प्रतिपाद्य सच्चिदानन्द,अनन्तरूप,अनन्तगुण ब्रह्म है तो भी गुरूपसत्ति से लेकर चरमवृत्तिपर्यन्त और उसके अनन्तर भी ज्ञान ही प्रतीत होता है, अत: ज्ञान में अन्तर्हित भगवान् उत्तरकाण्डार्थ रूप हैं । पूर्वोत्तरकाण्ड के उपबृंहणरूप गीता भागवतादि में भक्तिविषयरूप से ज्ञानक्रियाविशिष्ट साकार और अनन्तगुण-पूर्ण जिस श्रीकृष्णस्वरूप का[३] प्रतिपादन किया गया है, वह ज्ञानक्रियोभययुत तीसरा रूप है । यह स्वरूप कोटि का त्रैविध्य है । अक्षर,कर्म,काल और स्वभाव भी स्वरूपकोटि में ही प्रविष्ट हो जाते हैं । अक्षर पूर्वकाण्डार्थरूप और कर्म पूर्वकाण्डार्थरूप में अन्तर्भुक्त हो जाते हैं । काल और स्वभाव भी अन्त: सच्चिदानन्द होने के कारण स्वरूपकोटि में ही आते हैं ।

अन्तर्यामी ब्रह्म का स्वरूपभूत होते हुए भी जीव के साथ कार्यजात में प्रविष्ट होने के कारण कारणकोटि में आते हैं । कारणकोटि में तत्त्वभेद से अट्ठाइस भेद हैं,जिनपर सृष्टि के प्रसंग में विशेषरूप से विचार किया जायेगा । इनका भगवत्त्व है,इसलिए ही तत्त्व कहलाते हैं; सांख्य के समान पृथक् पदार्थ होने के कारण नहीं ।[४]

कार्यकोटि में सारा प्रपंच,समस्त स्थिरचर सृष्टि गृहीत है । कार्यकोटि में अनन्त भेद हैं, अत: उन सबका नामत: कथन सम्भव नहीं है ।

----

१ `बुद्धिसौकर्यसिद्ध्यर्थं त्रिरूपेण निरूप्यते ।
कारणेन च कार्येण स्वरूपेण विशेषत: ।।`--त०दी०नि०२।८५

२ `स्वरूपे त्रयो भेदा: क्रियाज्ञानविभेदत: ।
विशिष्टेन स्वरूपेण क्रियाज्ञानवतो हरे: ।।`--त०दी०नि०२।८६

३ `द्रष्टव्य-- त०दी०नि० २।६०,६१

४ `भगवतो भावो भगवत्त्वं, भगवत: सर्वान् प्रति या सामान्यकारणता सैति यावत् । तृतीयस्कन्धे तथाऽऽङ्गीकारात् । ह यतस्तेषां तथात्वं तस्मादानि तत्त्वानि, न तु सांख्यान्तरवत् पृथक्पदार्थत्वेन तत्त्वानि ---` । -- त०दी०नि०२।८६ पर आ०भं०

इसी प्रकार वल्लभ पर्याप्त विस्तार से शब्द-सृष्टि का भी ब्रह्मत्व सिद्ध करते हैं। सभी वर्ण,पद,वाक्य ब्रह्म के प्रतिपादक होने से अखण्डब्रह्म रूप हैं; लौकिक पदार्थों का ज्ञापन तो शक्तिसंकोच के कारण होता है[1]। वस्तुत: तो सबका एक ही अभिधेय है-- ब्रह्म।। इसप्रकार वल्लभ का निश्चित मत है कि `समन्वयाधिकरण` तथा `सर्ववेदान्तप्रत्ययाधिकरण` के आधार पर ब्रह्म ही समस्तशास्त्रों का एकमात्र प्रतिपाद्य सिद्ध होता है, यह ब्रह्म ही मुमुक्षुओं का एकमात्र जिज्ञास्य है, तथा इसकी प्राप्ति ही `परमपुरुषार्थ` है। यह सच्चिदानन्दघन, परब्रह्म श्रीकृष्ण ही सबके परम उपास्य और साध्य हैं, और इनका अनुग्रह प्राप्त करना ही जीव की साधना और सिद्धि है। केवल प्रेम के ही द्वारा इस कृष्णतत्त्व की अनुभूति सम्भव है, अन्यथा शुष्कज्ञान और कर्मकाण्ड में यह सामर्थ्य कहां कि वह इस दुर्ज्ञेय तत्त्व का स्पर्श भी कर सकें। यद्यपि ज्ञान,योग और कर्म के द्वारा भी ब्रह्म की आंशिक अभिव्यक्ति होती है,तथापि ज्ञानक्रियोभयुत परब्रह्म श्रीकृष्ण की अभिव्यक्ति में भक्ति ही एकमात्र साधन है।

पूर्वपृष्ठों में वल्लभ के परमवस्तुसम्बन्धी सिद्धान्तों की विश्लेषणात्मक व आलोचना प्रस्तुत की गई है और उनके मन्तव्य और दृष्टिकोण को यथासम्भव स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। प्रस्तुत पर्यालोचना के आधार पर उनके परमसत्ता सम्बन्धी विचारों का संक्षेप में संकलन इस प्रकार किया जा सकता है :--

ब्रह्म विश्व की सर्वोच्च सत्ता है तथा उसका मूल सत्य भी। समस्त वेदवेदांग, और स्मृतिपुराण आदि इस अद्वयतत्त्व का ही प्रतिपादन करते हैं,प्रत्येक शब्द इसका ही वाचक है। ब्रह्म का स्वरूप लौकिक-प्रमाण-गम्य नहीं है; केवल श्रुति ही उसके विषय में प्रमाण है : अत: ब्रह्म का स्वरूप वैसा ही स्वीकार करना चाहिए, जैसा श्रुति प्रतिपादित करती है। उपनिषदों में ब्रह्म का सर्वातीत और सर्वकारणात्मक-- दोनों ही रूपों में प्रतिपादन किया गया है, किन्तु इससे ब्रह्म के स्वरूप में कोई विसंगति उत्पन्न नहीं होती। अचिन्त्यानन्तशक्तिमान् परब्रह्म के स्वरूप में विरुद्धार्थकथन से कोई विरोध उत्पन्न नहीं होता।

वल्लभ की दृष्टि में सविशेष श्रुतियां भी उतनी ही ब्रह्मपरक हैं,जितनी निर्विशेष श्रुतियां, इन द्विविध श्रुतियों के आधार पर ब्रह्म को सविशेष और विरुद्धधर्मक ही स्वीकार करना चाहिए। ब्रह्म के विषय में श्रुति जब धर्मों का निषेध करती है,तब उसका तात्पर्य लौकिक धर्मों से होता है, दिव्य और अप्राकृत धर्मों से नहीं। ब्रह्म समस्त दिव्य और अप्राकृत गुणों के वैभव

---

१ द्रष्टव्य द्रष्टव्य-- त०दी०नि० २।१४७-१५०

से मण्डित है : वह भगवान् है,क्योंकि उसमें श्री,ऐश्वर्य,यश,ज्ञान,वीर्य और वैराग्य--इन छः गुणों का पूर्ण उत्कर्ष है।

ब्रह्म का स्वरूप सच्चिदानन्दघन है। वल्लभ शंकर की भांति ब्रह्म को सच्चिदानन्दमात्र स्वीकार नहीं करते, अपितु सत्ताशाली,सर्वज्ञ और आनन्दी स्वीकार करते हैं। सत्,चित् अ और आनन्द ब्रह्म के स्वरूपभूत धर्म हैं। ब्रह्म व्यापक और भेदत्रय से रहित है तथा सर्वशक्तिमान्,सर्वभवनसमर्थ तथा सर्वनियन्ता है।

वल्लभ ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते; माया ब्रह्म की उपाधि नहीं,अपितु शक्ति है, जो स्वयं उनके द्वारा नियंत्रित तथा संचालित है। सभी उपाधियों से रहित यह विशुद्ध ब्रह्म ही सृष्टि का एकमात्र कर्ता है, तथा लीलार्थ इस सृष्टि का विस्तार करता है। तत्वान्तर का अभाव होने से ब्रह्म ही सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है तथा साधारण कारण भी वही है।यह सृष्टि ब्रह्म का साक्षात्परिणाम है। सृष्टीच्छा होने पर वह अपने सत्, चित् और आनन्द अंशों में से आनन्द को तिरोहित कर जीवरूप से तथा चित् व आनन्द को तिरोभूत कर जडरूप से अवतीर्ण होता है। जड और जीव के अतिरिक्त विभिन्न प्रयोजनानुसारी अक्षर, अन्तर्यामी,काल,कर्मादि भी ब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं।

वाल्लभ मत में ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार किया गया है। ब्रह्म वस्तुत: इस सृष्टि के रूप में परिणत होता है, किन्तु इससे उसके स्वरूप में विकारापत्ति की कोई सम्भावना नहीं है। वह विश्वमात्र नहीं,अपितु विश्व से अधिक और अतीत है। जड और जीव का स्वरूपभूत होते हुए भी वह उनके विकारों तथा दोषों से संस्पृष्ट नहीं होता; वह नित्य कूटस्थ और अविकारी है। ब्रह्म ही परम पुरुषार्थ,उपास्य, और लब्धव्य है।

वल्लभ की ब्रह्मसम्बन्धी धारणा पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव बड़ा गहरा है। उपनिषदों का ब्रह्म तथा भागवत के श्रीकृष्ण उनके सिद्धान्तों में एकात्म हो गए हैं। वे श्रीकृष्ण को ही पूर्ण परात्पर ब्रह्म स्वीकार करते हैं। श्रीकृष्ण रसरूप हैं, और उनके इस दिव्य आनन्द की अभिव्यक्ति उनकी विभिन्न लीलाओं में हुई है।

कृष्णसायुज्य ही विशुद्धाद्वैत मत में परमपुरुषार्थ है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति है। यद्यपि भक्तिसंवलित ज्ञान,योग और कर्म भी ब्रह्म की आंशिक अनुभूति और अभिव्यक्ति कराने में समर्थ हैं,तथापि ब्रह्म के पूर्ण प्राकट्य तथा ब्रह्मानन्द का पूर्ण आस्वाद कराने में भक्ति ही समर्थ है। भगवच्चरणों में सर्वात्मना आत्मसमर्पण ही जीव की साधना और सिद्धि है।

अ

आचार्य वल्लभ के शब्दों में--

'एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतम्
एको देवो देवकीपुत्र एव ।
मंत्रोप्येकस्य तस्य नामानि यानि
कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

यही संक्षेप में वल्लभ का सिद्धान्त है । इसके पूर्व कि वल्लभ के ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा समाप्त की जाय, उनके कतिपय सिद्धान्तों की समालोचना तथा उनके दृष्टिकोण की एक सामान्य समीक्षा आवश्यक है ।

वल्लभ के सिद्धान्तों पर विचार करते समय जो तीन बातें बहुत स्पष्ट रूप से सामने आती हैं, वे हैं--

(१) सिद्धान्त की सविशेषवस्तुवादिता;

(२) सिद्धान्त पर श्रीमद्भागवत तथा गीता का प्रभाव; तथा

(३) परमवस्तु के अनेक भेदप्रभेदों की मान्यता

इनमें से पहिली बात अर्थात् सिद्धान्त की सविशेषवस्तुवादिता न केवल वल्लभ अपितु सभी वैष्णव दार्शनिकों की विशेषता है । परमवस्तु को निर्विशेष या सविशेष मानना न केवल स्वयं में, अपितु समग्र सिद्धान्त की दृष्टि से भी बहुत महत्त्वपूर्ण होता है; और सिद्धान्त का रूपाकार इस सविशेषत्व या निर्विशेषत्व के परिप्रेक्ष्य में ही निश्चित होता है ।

वल्लभ का सिद्धान्त इस विशेषवस्तुवादिता की आधार-शिला पर ही खड़ा है । ब्रह्म सविशेष है, तथा अनन्तदिव्यगुणों का आगार है । निर्विशेष स्वीकार किये जाने पर वह अज्ञेय, अनुपास्य और अफल हो जायेगा, तथा समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार बाधित हो जायेंगे। ब्रह्म को परमार्थतः सधर्मक स्वीकार करने के कारण वल्लभ, शंकर के द्वारा पारमार्थिक और व्यावहारिक स्तर पर स्वीकृत पर तथा अपर ब्रह्म अथवा शुद्ध तथा शबलब्रह्म की धारणाओं का खण्डन करते हैं । उनके अनुसार ब्रह्म एक ही है, और वह सविशेष है, उसका कोई दूसरा रूप या प्रतिकृति नहीं है, चाहे वह कितनी प्रातिभासिक क्यों न हो ।

ब्रह्म को सधर्मक मानकर सविशेषवाची श्रुतियों की अन्विति तो ठीक बैठ ही जाती है, निर्विशेषवाची श्रुतिवाक्यों का भी अर्थसमन्वय वल्लभ उनमें प्राकृतगुणों का निषेध मानकर, कर लेते हैं। इस भांति वल्लभ का सिद्धान्त यह निश्चित होता है :-- ब्रह्म सविशेष है: सविशेष श्रुतियां उसके स्वरूप में दिव्य गुणों का कथन करती हैं तथा निर्विशेष श्रुतियां प्राकृतगुणों का निषेध। किन्तु ब्रह्म को हरस्थिति में सविशेष मानकर भी कभी-कभी जैसे वल्लभ अचानक निर्विशेष ब्रह्म की सत्ता

के प्रति भी सजग हो उठते हैं और उसे भी अपने सिद्धान्त की परिधि में समेटने के लिए सचेष्ट हो जाते हैं। यह प्रयत्न सिद्धान्त की समरसता में बड़ी विसंगति उत्पन्न कर देता है।

वल्लभ के ब्रह्म की सबसे बड़ी विशेषता है, उसका 'विरुद्धधर्माश्रयत्व'। यह सिद्धान्त में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है तथा अनेक जटिल समस्याओं और प्रश्नों का सीधा सा उत्तर है। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, यह 'विरुद्धधर्माश्रयत्व' ब्रह्म के सधर्मकत्व के आधार पर ही सिद्ध होता है; जो सधर्मक नहीं है, उसका विरुद्धधर्माश्रय होना भी असम्भव है। किन्तु वल्लभ अपने ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व सिद्ध करते-करते उसके स्वरूप की सीमाएं इतनी विस्तृत कर देते हैं कि ब्रह्म सविशेष और निर्विशेष दोनों हो जाता है। 'उभयव्यपदेशात्त्वहिकुण्डलवत्' (वे०सू० ३।२।२७) सूत्र पर भाष्य करते हुए वल्लभ ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व सिद्ध करते हैं। ब्रह्म के स्वरूप पर वे दो तरह से विचार करते हैं, वस्तु दृष्टि से तथा लोकदृष्टि से। वस्तु दृष्टि से वे विरुद्ध-धर्मकत्व का विवेचन करते हैं, 'उभयव्यपदेशात्तु --' सूत्र में तथा लौकिक युक्ति की दृष्टि से 'प्रकृतैतावत्त्वं ---' सूत्र में। वल्लभ के अनुसार अन्य शास्त्रों से ब्रह्मवाद का यही अन्तर है कि इसमें ब्रह्मस्वरूप का ज्ञान वेदों से ही होता है, अन्य लौकिक प्रमाणों से नहीं। श्रुति ब्रह्म का सविशेष और निर्विशेष दोनों ही रूपों में कथन करती है, अतः ब्रह्म को उभयरूप ही स्वीकार करना चाहिए। श्रुति में ब्रह्म निर्गुण और अनन्तगुणयुक्तरूप में प्रतिपादित है, अतः उसके रूप में निर्विशेषत्व और सविशेषत्व दोनों के लिए अवकाश स्वीकार करना ही श्रुत्यनुकूलसिद्धान्त है: किन्तु एक ही वस्तु अनेक प्रकार की कैसी हो सकती है-- इसका उत्तर है अहिकुण्डलवत्। जैसे सर्प ऋजु और कुण्डलाकार दोनों ही रूपों में भासित होता है, वैसे ही ब्रह्म भी सविशेष-निर्विशेष दोनों ही रूपों में स्फुरित होता है।[1]

वस्तु दृष्टि या परमार्थदृष्टि से विचार करने पर ब्रह्मवस्तु का स्वभाव ही ऐसा स्थिर होता है कि उसमें श्रुति के परस्पर विरोधी कथनों के लिए भी अवकाश है। इस सन्दर्भ में वल्लभ निर्विशेष श्रुतियों में केवल प्राकृत धर्मों का ही नहीं, अपितु सर्वविध धर्मों का निषेध मानते हैं। किन्तु जो लोग ब्रह्मवस्तु का ऐसा स्वभाव स्वीकार नहीं करते उनके लिए युक्ति द्वारा भी निर्णय करना पड़ता है: और युक्ति यही है कि श्रुति सर्वत्र अलौकिक धर्मों का विधान और लौकिक धर्मों

---

१. '------ अत्र हि वेदादेव ब्रह्मस्वरूपज्ञानम्। तत् कथं स्वरूपशक्त्या निर्णयः। ब्रह्म तूभयरूपम्। उभयव्यपदेशात्। उभयरूपेण निर्गुणत्वेनानन्तगुणत्वेन सर्वविरुद्धधर्मेण रूपेण व्यपदेशात्। तर्हि कथमेकं वस्त्वनेकधा भासते। तत्राह अहिकुण्डलवत्। यथा सर्पः ऋजुरनेकाकारः कुण्डलश्च भवति तथा ब्रह्म स्वरूपं सर्वप्रकारं भक्तेच्छया तथा स्फुरति।' -- अणुभा० ३।२।२७।

का निषेध करती है[१]।

ऐसे ही `सिद्धान्तमुक्तावली` में भी वल्लभ ने अक्षर के दो रूप बताए हैं-- सप्रपंच और निष्प्रपंच। इनमें से निष्प्रपंचरूप वह है जो `अस्थूलमनणु`--- आदि श्रुतियों का विषय है। सम्भवत: निर्विशेष ब्रह्म को अक्षर में अन्तर्भूत करने के कारण ही अक्षर को ज्ञानियों का उपास्य कहा गया है।

जो भी हो, निर्विशेष ब्रह्म वल्लभ के मत के अनुकूल नहीं है। क्योंकि सारा दर्शन तो सविशेषत्व की आधार-शिला पर खड़ा है। विरुद्धधर्माश्रयत्व को इतना विस्तृत करना उचित नहीं प्रतीत होता: इसका इतना ही अर्थ लेना चाहिए कि श्रुति जो अणुत्व-विभुत्व; लघुत्व-महत्त्व,आदि विरुद्ध धर्मों का कथन करती है, वह ब्रह्म के विरुद्धधर्माधार होने से उपपन्न है। निर्धर्मकत्व को विरुद्धधर्माश्रयत्व की परिधि में समेटना इसलिए समीचीन नहीं है,क्योंकि किसी वस्तु को एक साथ सविशेष और निर्विशेष मानने में जो तार्किक अनुपपत्तियां हैं, वे दुर्निवार हैं। निर्विशेषत्व का व्यामोह छोड़ देना ही उचित था, क्योंकि वस्तुत: यह वल्लभ का सिद्धान्त नहीं है। उनके समग्र सिद्धान्त की पृष्ठभूमि में ब्रह्म का सविशेषत्व ही संगत सिद्ध होता है।

वल्लभ के सिद्धान्तों का अनुशीलन करते समय दूसरी बात जो बहुत उभर कर सामने आती है, वह है श्रीमद्भागवत का प्रभाव। पहले भी कहा जा चुका है कि वैष्णव दर्शनों के स्वरूपनिर्धारण में केवल उपनिषदों का ही हाथ नहीं रहा,अपितु उपनिषदों के अतिरिक्त अन्य स्रोतों से प्राप्त सिद्धान्तों का भी समन्वय उनमें रहा है। वल्लभ के सिद्धान्तों का स्वरूपाकार निश्चित करने में भी उपनिषदों के अतिरिक्त श्रीमद्भागवत तथा श्रीमद्भगवद्गीता की प्रमुख भूमिका रही है। वल्लभ की परमवस्तुसम्बन्धी धारणा पर भागवत का प्रभाव सर्वत्र दृष्टिगत होता है: कहीं-कहीं तो यह प्रभाव सर्वातिशायी है। सिद्धान्तों के प्रतिपादन में वे भागवत की ओर अधिक झुके हैं। कई बार तो उपनिषदों के सिद्धान्त भी भागवत के रंग में रंग गये हैं। जिस समय वल्लभ ब्रह्मवस्तु के विषय में प्रमाणों के प्रामाण्य का विवेचन करते हैं,उस समय यह बात बहुत स्पष्ट हो जाती है।

अपने ग्रन्थ `तत्त्वदीपनिबन्ध` में वल्लभ ने ब्रह्मविषयक चार प्रमाणों पर विचार किया है-- वेद,गीता,वेदान्तसूत्र तथा श्रीमद्भागवत--

`वेदा: श्रीकृष्णवाक्यानि व्याससूत्राणि चैव हि।
समाधिभाषा व्यासस्य प्रमाणं तच्चतुष्टयम् ॥`

वेद,गीता तथा शारीरकसूत्र ये तो `प्रस्थानत्रयी` के नाम से प्रसिद्ध हैं ही तथा सभी वेदान्ताचार्यों को

---

१ `--- सर्वत्र लौकिकं प्रतिषेधत्यलौकिकं विधत्ते इति युक्त्या निर्णय:`-- अणुभा० ३।२।२२

मान्य है। वल्लभ इनमें श्रीमद्भागवत पुराण का नाम और जोड़ते हैं। ये चारों प्रमाण एकवाक्यतापन्न होकर प्रमा की उत्पत्ति करते हैं-- "एतच्चतुष्टयमेकवाक्यतापन्नं प्रमाजनकमित्यर्थः।"

इनमें से उत्तरोत्तर पूर्व पूर्व के सन्देहवारक हैं, अर्थात् वेद के सन्दिग्ध स्थलों पर गीतावाक्य निर्णायक हैं, गीतावाक्यों के विषय में सन्देह होने पर ब्रह्मसूत्रों से निर्णय करना चाहिए, तथा सूत्रों के विषय में कोई शंका होने पर उसका निवारण भागवत से किया जाना चाहिए। प्रामाण्यवत्ता के इस क्रम से श्रीमद्भागवत के ही परमप्रमाण होने का पता चलता है।

वल्लभ के ब्रह्म सम्बन्धी सिद्धान्तों पर श्रीमद्भागवत का प्रभाव सर्वातिशायी है। उनके द्वारा स्वीकृत परमवस्तु का स्वरूप है श्रीमद्भागवत की मान्यताओं के ही अनुकूल है। भागवत-भक्ति-समन्वित अद्वैत का ग्रन्थ है। भागवत में श्रीकृष्ण की विश्व के मूल सत्य तथा एक और अद्वैतत्त्व के रूप में प्रतिष्ठा कर अद्वैत की स्थापना की गई है; साथ ही श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व भी ऐसा है, कि उसमें भक्ति के लिए पूरा-पूरा अवकाश है। वल्लभ की ब्रह्मसम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करने से ज्ञात होता है कि उनकी दृष्टि भी बिल्कुल यही रही है। भक्ति की सर्वातिशायी महत्ता और भक्ति का स्वरूप भी भागवत से ही ग्रहण किया गया है। भागवत में वर्णित 'पोषण' या भगवदनुग्रह के सिद्धान्त के आधार पर ही वल्लभ ने पुष्टिसम्प्रदाय की स्थापना की है। इसके अतिरिक्त ब्रह्म के रसरूपत्व, अवतार और लीला की धारणाएं जो वल्लभ के ब्रह्म की विशेषताएं हैं, वे भी स्पष्ट रूप से भागवत से ही गृहीत हैं। वस्तुतः वल्लभ भागवत में प्राप्त सभी मान्यताओं को अविकल रूप में स्वीकार करने की चेष्टा करते हैं, भले ही इससे सिद्धान्त में थोड़ा असन्तुलन आ जाये।

वल्लभ की परमवस्तुसम्बन्धी मान्यताओं में उपनिषद्, भागवत और गीता की मान्यताओं का समन्वय है। इस समन्वय के लिए उन्होंने परमतत्त्व के उपनिषद्-प्रतिपाद्य स्वरूप में कई बातें जोड़ी हैं और कई महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किए हैं। इसका सबसे बड़ा उदाहरण परब्रह्म पुरुषोत्तम तथा अक्षर की धारणाएं हैं। उपनिषदों में ब्रह्म तथा अक्षर में कोई भेद या परा-पर भाव सिद्ध नहीं किया गया है; जिस परमसत्ता को ब्रह्म या अव्यक्त कहा गया है, उसे ही बृहदारण्यक में 'अक्षर' कहकर सम्बोधित किया गया है। सूत्रकार ने परतत्त्व को विभिन्न स्थितियों में स्थित मानते हुए भी उसके स्वरूप में कोई तारतम्य नहीं माना है: अन्तर्यमन करने, जगत् का अभिन्ननिमित्तोपादानकारण बनने, मोक्षप्रद तथा मोक्षस्वरूप होने की भिन्न-भिन्न स्थितियों में भी परतत्त्व स्वरूपतः एक और एकरस है। इस सन्दर्भ में वल्लभ के इस सिद्धान्त की सूत्रानुकूलता प्रतीत नहीं होती कि परतत्त्व पुरुषोत्तम हैं और वे जब सृष्टि करने की इच्छा करते हैं तो उनसे एकस्वरूप आविर्भूत होता है, जो 'अक्षर' कहलाता है। यह अक्षरब्रह्म किंचित्तिरोहितानन्द या गणितानन्द है और पुरुषोत्तम प्रकटसच्चिदानन्द या निरतिशयानन्दस्वरूप हैं। पुरुषोत्तम परतत्त्व हैं तथा अक्षरब्रह्म उनसे हीन होते

के कारण उसका चरणस्थानीय है। पुरुषोत्तम और अक्षर के इस भेद पर इसी परिच्छेद में अक्षर के सन्दर्भ में विस्तृत चर्चा की जा चुकी है (पृष्ठ सं०६४-६८)।

वल्लभ ने अक्षर की स्वरूप-सिद्धि के लिए प्रमुखरूप से मुण्डकोपनिषद्, बृहदारण्यकोपनिषद् तथा श्रीमद्भगवद्गीता का आधार लिया है। मुण्डक में अक्षर से ही समस्त सृष्टि की उत्पत्ति कही गई है[1]: बृहदारण्यक में भी अक्षर को सृष्टि-कारण कहा गया है, जिसमें समस्त सृष्टि ओत-प्रोत है तथा जिसपर आधृत होकर ही 'द्यावापृथिवी' अवस्थित हैं[2]। भगवद्गीता में अक्षर और पुरुषोत्तम का भेद तथा पुरुषोत्तम की अक्षर से श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है। बृहदारण्यक, मुण्डक और गीता की उक्तियां वल्लभ के व्याख्यान में तो सही और सटीक ही लगती हैं तथा उस धारणा की सम्यग्सिद्धि करती हैं, जिसकी सिद्धि वल्लभ का प्रयोजन है; किन्तु उन्हें उनके स्वतन्त्र सन्दर्भ में देखने पर यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि वल्लभ ने उनके आशय में कुछ महत्त्वपूर्ण परिवर्तन भी किए हैं। बृहदारण्यक में अक्षर विश्व के एक और अद्वितीय मूलसत्य के रूप में आया है, ब्रह्म की किसी अवान्तर अभिव्यक्ति के रूप में नहीं, जैसा कि वल्लभ उसे स्वीकार करते हैं। वहां अक्षर का अर्थ 'पर' ही है और 'अक्षरविद्या' को 'पराविद्या' के नाम से सम्बोधित किया गया है; जब कि वल्लभ न तो अक्षर को 'पर' स्वीकार करते हैं न ही 'अक्षरविद्या' को पराविद्या। वल्लभ ने बृहदारण्यक में कहे गए अक्षरस्वरूप को अपने सिद्धान्त में बहुत परिवर्तन के साथ ग्रहण किया है। इसी प्रकार गीता में भी अक्षर का तात्पर्य 'जीव' है, सृष्टिकारण अक्षरब्रह्म नहीं। अक्षर और पुरुषोत्तम के मध्य जो तारतम्य का कथन कियागया है, वह उन्हें क्रमश: जीवात्मा और परमात्मा मानकर ही किया गया है[3]। गीता के पन्द्रहवें अध्याय में जिसे 'अक्षर' कहा गया है, उसे ही सातवें अध्याय में ब्रह्म की 'जीवभूता पराप्रकृति' और तेरहवें अध्याय में 'क्षेत्रज्ञ' के नाम से सम्बोधित किया गया है[4]। भागवत के

---

१ द्रष्टव्य : 'मुण्डकोपनिषद्' १।१।७

२ द्रष्टव्य : 'बृहदारण्यकोपनिषद् ३।८।७, ३।८।८, ३।८।६ इत्यादि

३ 'द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षर: सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।।
उत्तम: पुरुषस्त्वन्य: परमात्मेत्युदाहृत: ।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वर: ।।
यस्मात्क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तम: ।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथित: पुरुषोत्तम: ।। --'भगवद्गीता १५।१६,१७,१८

४ द्रष्टव्य — श्रीमद्भगवद्गीता ७।४,५; १३।२

द्वितीय स्कन्ध में अवश्य अक्षर को पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का 'आविर्भावस्थान' कहा गया है। वस्तुत: वल्लभ को मान्य अक्षर का स्वरूप उपनिषद्, गीता तथा भागवत में प्राप्त अक्षर-धारणा का एक समन्वित रूप है तथा वल्लभ ने उसे नितान्त मौलिक सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। पुरुषोत्तम तथा अक्षर के स्वरूप और तारतम्य-वर्णन से अणुभाष्य का बहुत बड़ा भाग व्याप्त है।

वस्तुत: सभी वैष्णवसम्प्रदायों में व्यूहभेद की मान्यता किसी-न-किसी रूप में है और वल्लभ का अक्षरब्रह्म इस मान्यता का प्रतीक है। यद्यपि सभी वैष्णव भाष्यकार व्यूहभेद स्वीकार करते हैं, तथापि उन्होंने प्रसंगत: उसकी चर्चा करने पर भी वल्लभ के समान उसका सूत्रप्रतिपाद्यत्व प्रदर्शित नहीं किया है। इस स्वरूप-भेद या व्यूहभेद की मान्यता का प्रवेश श्रुति-सूत्रों में कराना उचित भी नहीं है, क्योंकि उनमें परमवस्तु केस्वरूप में किसी व्यूहभेद का प्रतिपादन नहीं है।

इसी प्रकार सूत्रों में कहीं भी परमसत्ता को एक विशिष्टविग्रहसम्पन्न देव नहीं बताया गयाहै और न ही कहीं उसे विष्णु, शिव, कृष्ण आदि नामों से निर्दिष्ट किया गया है; किन्तु सभी वैष्णवभाष्यकारों ने परमवस्तु को एक विशिष्टविग्रहवान् देव के रूप में भी स्वीकार किया है। रामानुज, मध्व आदि भाष्यकारों ने, किन्तु, इन रूपों का सूत्रप्रतिपाद्यत्व दिखलाने की चेष्टा नहीं की है, जब कि वल्लभ सूत्रों को भक्ति श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कराने के लिए विशेष प्रयत्नशील दिखाई देते हैं। सच पूछा जाय तो वल्लभ ने श्रीमद्भागवत के दर्शन को ही उपनिषदों के दर्शन से समन्वित और संवलित कर प्रस्तुत किया है; तथा भागवत के प्रतिपाद्य को उपनिषदों का प्रतिपाद्य सिद्ध कर उसे वह प्रामाणिकता देने की चेष्टा की है, जो शंकर के पश्चात् किसी भी दार्शनिक-सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और मान्यता के लिए एक अनिवार्य अपेक्षा बन गई थी। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वल्लभ नितान्तभिन्न किन्हीं दो सिद्धान्तों के समन्वय की चेष्टा कर रहे हैं, क्योंकि भारतीय दर्शन के सभी मतवाद अपने मौलिक रूपमें एक-दूसरे से अत्यन्त भिन्न नहीं हैं; कम-से-कम आस्तिकदर्शन तो नहीं ही हैं। जो अन्तर है वह उनकी कुछ विशिष्ट मान्यताओं में है, जो उन्हें एक-दूसरे से पृथक् स्थापित करती हैं। विशेषरूप से भागवत तो अपनी समन्वयवादिता के लिए विशेष प्रसिद्ध है तथा उसमें अनेक दार्शनिक विचारधाराओं का संगम दृष्टिगत होता है। औपनिषद्-दर्शन तथा सात्वतधर्म का समन्वय तो भागवत का प्रमुख प्रयोजन ही है।

वाल्लभमत की विशिष्टताओं के सन्दर्भ में जो तीसरी महत्त्वपूर्ण बात है, वह है उनके द्वारा परमवस्तु के स्वरूप में अनेक भेदप्रभेदों की मान्यता। ब्रह्म की जितनी वास्तविक और आत्यन्तिक अभिव्यक्तियां वल्लभ स्वीकार करते हैं, उतनी अन्य कोई भाष्यकार नहीं करता। स्वयं वल्लभ के शब्दों में-- 'पुरुषोत्तम: तदनु तस्यैव रूपान्तरमक्षरं सर्वकार्यकर्तृ, तस्यापि रूपान्तरं सर्वाधिकारी काल:; कालस्यांशभूतौ कर्मस्वभावौ; पुनरक्षरस्य रूपान्तरं वक्षा:; पुनरक्षराद्रूपभेदे प्रकृतिपुरुषौ; ततस्तत्त्वानि; ततो ब्रह्माण्डं; तत्र पुरुषोत्तम [illegible]' ([illegible]) ।

भेद-प्रभेदों के इस प्राचुर्य ने सिद्धान्त को संहत और संश्लिष्ट बनाने की अपेक्षा विशेषणात्मक बना दिया है । इन सभी अभिव्यक्तियों में अक्षर की स्थिति महत्त्वपूर्ण होने के साथ साथ अनोखी भी है । वल्लभ का मनोविज्ञान कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वे अपने परब्रह्म पुरुषोत्तम को विश्व से अतीत ही रखना चाहते हैं, और सीधे-सीधे उसे सृष्टि की किसी समस्या में नहीं उलझाना चाहते । वह `नित्यनिरवध्यानन्दात्मक` होकर रसात्मकलीलामात्रकार्य है : सृष्टि की सारी समस्याओं से जूझने के लिए अक्षरब्रह्म है । अक्षर परब्रह्म का `सृष्टीच्छाव्यापृत` स्वरूप है तथा यही सृष्टि का कारण, कर्ता, पालक, संहारक-- सभी कुछ है ।

जहां तक अन्तर्यामी स्वरूप का प्रश्न है, उसका जो महत्त्व रामानुज के दर्शन में है, उसका शतांश भी यहां नहीं रहा । रामानुज का तो सारा दर्शन ही ब्रह्म के अन्तर्यामी रूप पर आश्रित है, जब कि वल्लभ के सिद्धान्त में उसका स्थान बहुत गौण हो गया है । अन्तर्यामी ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति है, जो प्रकटसच्चिदानन्द होते हुए भी ब्रह्म से हीन है, क्योंकि वह `प्रतिनियतकार्य-कर्ता` है और पुरुषोत्तम के कर्तृत्व की कोई व-इच्छ इयत्ता नहीं है; साथ ही वल्लभ जीव की भांति अन्तर्यामी का भी बहुत्व स्वीकार करते हैं, जिससे वह स्वरूपकोटि में न आकर कारणकोटि में आता है । अन्तर्यामीस्वरूप की कोई विशेष भूमिका वल्लभ के सिद्धान्त में नहीं है, अक्षर ही पुरुषोत्तम की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है ।

वल्लभ विभिन्न प्रयोजनों से ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियां स्वीकार करते हैं। इन अभिव्यक्तियों और मूलरूप में थोड़ा अन्तर होना आवश्यक है, नहीं तो इनका मूलरूप से तथा परस्पर भेद उपपन्न नहीं होगा; साथ ही इनमें कोई तात्त्विक या वास्तविक वैषम्य भी नहीं होना चाहिए, नहीं तो इनका `ब्रह्मत्व` सिद्ध नहीं होगा, अतः इन अभिव्यक्तियों में ब्रह्म के सत्, चित् और विशेषतः आनन्द का तारतम्य ही कारण बनता है । इतनी अभिव्यक्तियां स्वीकार करने से वल्लभ को कुछ सुविधा अवश्य है । सारी अभिव्यक्तियां ब्रह्म की हैं, अतः इन रूपों के द्वारा किए गए कार्य भी ब्रह्म के ही हैं-- `कर्ता कारयिता हरिः` । साथ ही इन विभिन्न रूपों से विविध कार्य करता हुआ भी ब्रह्म अपने मूल पुरुषोत्तमरूप से कुछ नहीं करता, `सर्वातीत` है । ऐसा प्रतीत होता है कि इन विभिन्न अभिव्यक्तियों के माध्यम से ब्रह्म का सर्वव्यापकत्व और सर्वकर्तृत्व तथा मूल पुरुषोत्तम रूप से ब्रह्म का सर्वातीतत्व सिद्ध करने की चेष्टा की गई है ।

किन्तु यदि इतनी विभिन्न अभिव्यक्तियां न स्वीकार की जातीं, एक मूलरूप ही स्वीकार किया जाता जैसा कि अन्य वैष्णवभाष्यकार स्वीकार करते हैं, तो सिद्धान्त में कोई अन्तर नहीं आता और सिद्धान्त भी अधिक संगठित और संश्लिष्ट रहता; क्योंकि अन्ततः वल्लभ भी ब्रह्म को ही एकमात्र मूलसत्ता स्वीकार करते हैं और उसमें तथा उसकी अभिव्यक्तियों में जो अंतर

स्वीकार करते हैं, वह भी नाममात्र का ही है।

इतने भेद-प्रभेदों को स्वीकार करने के कारण कहीं-कहीं सिद्धान्त में बिखराव आ जाता है और विचारों का कसाव भी शिथिल हो जाता है। श्रुति और भागवत के प्रति उनका मुग्ध और मूक आत्मसमर्पण कभी-कभी बौद्धिक-विचारणा की पैनी धार को कुंठित कर देता है; किन्तु सामान्यरूप से वल्लभ अपने सिद्धान्तों को सुसम्बद्ध शैली में ही प्रस्तुत करते हैं। उन्हें अपने विश्वासों पर बहुत विश्वास है और उनकी मान्यताएं जो भी हों, जैसी भी हों, उन्हें वे आस्था के साथ सामने रखते हैं। भले ही उनके सिद्धान्त भागवत से प्रेरित और प्रभावित हों, परन्तु उनका प्रस्तुतीकरण उपनिषदों के ही वातावरण में किया गया है।
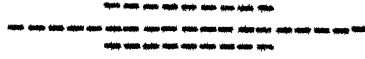
चतुर्थ परिच्छेद

आचार्य वल्लभ की माया-सम्बन्धी मान्यताएँ

माया की धारणा भारतीयदर्शन की प्रमुखविशेषताओं में से एक है । भारतीय-दर्शन के अधिकांश मतवादों में, विशेषत: आस्तिक दर्शनों में, इस मायातत्त्व का विशेष महत्त्व रहा है । माया, ब्रह्म और उसकी अभिव्यक्ति-- इस विश्व से घनिष्ठरूप से सम्बन्धित है : कहीं वह विश्व के कारण के रूप में सामने आती है, तो कहीं स्पष्टीकरण के रूप में । इसे ब्रह्म की शक्ति माना जाय, या उपाधि, किन्तु प्रत्येक दशा में ब्रह्म और विश्व के मध्य इसकी स्थिति स्वीकार करना अनिवार्य है ।

मायातत्त्व अपने-आप में कितना महत्त्वपूर्ण और आवश्यक है, यह बात इस तथ्य से ही स्पष्ट है कि वेदान्तसूत्रों के आधार पर अपने सिद्धान्तों का स्वरूप निर्धारित करने वाले प्रत्येक आचार्य ने इसे स्वीकार किया है : यह बात और है कि मायासम्बन्धी उसकी धारणा शंकरानुगत रही, अथवा अपने विशिष्ट सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उसने उसे कुछ दूसरा ही रूपाकार दे दिया ।

दार्शनिक विचारणा के क्षेत्र में यह मायातत्त्व तब बहुत चर्चित हो उठा, जब आचार्य शंकर ने इसे लोक और लौकिक व्यवहार के स्पष्टीकरण के रूप में प्रस्तुत करते हुए अपने दर्शन में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी; और फलत: उनका सिद्धान्त 'मायावाद' के नाम से प्रसिद्ध हुआ ।शंकर के परवर्ती अन्य दार्शनिकों ने भले ही माया के शंकर-प्रतिपादित स्वरूप को यथातथ्य स्वीकार न किया हो, किन्तु उनके पश्चात् मायातत्त्व शास्त्रार्थ और खण्डन-मण्डन का एक प्रमुख विषय बन गया ।

वैष्णव-दार्शनिकों ने माया का जो स्वरूप स्वीकार किया है, वह शंकराभिमत माया के स्वरूप से पर्याप्त भिन्न है । वस्तुत: किसी आचार्य ने माया का स्वरूप क्या स्वीकार किया है, और क्यों किया है, इसका उत्तर इस बात में निहित होता है कि उसकी ब्रह्म सम्बन्धी धारणा मूलत: क्या है । किसी भी सिद्धान्त में माया की स्थिति इस बात पर निर्भर होती है कि ब्रह्म से उसका सम्बन्ध क्या है और कैसा है? सम्बन्ध की इस भिन्नता के कारण ही निर्विशेष वस्तुवादी शंकर तथा सविशेषवस्तुवादी वैष्णव दार्शनिकों की माया सम्बन्धी मान्यताओं में इतना अन्तर आ गया है ।

दोनों के दृष्टिकोण में जो सबसे बड़ा अन्तर है वह माया के वास्तविक सत्त्व और असत्त्व का है । निर्विशेष वस्तुवादी शंकर के अनुसार परमवस्तु सर्वथा अविशिष्ट है, उसे विशेषों से युक्त करना उसकी सर्वव्यापकता,समरसता और अपरिच्छिन्नता को सीमित करना है । वह सर्वातीत निष्क्रिय,निरंजन और अद्वयतत्त्व है, जिसमें किसी विशेष, अथवा सम्बन्ध के लिए अवकाश नहीं है । उसके अतिरिक्त और किसी तत्त्व की सत्ता ही नहीं है, सम्बन्ध जोड़ा भी जाय तो किसका किससे ? किन्तु फिर भी व्यक्ति को जो दृश्यमान जगत् दिखाई देता है, जो व्यवहार वह करता है, जो

सम्बन्ध वह बनाता है, उन सबका कोई स्पष्टीकरण दिये बिना शंकर के लिए आगे बढ़ना असम्भव था,फलत: उन्होंने व्यावहारिक सत्ता का प्रतिपादन किया । व्यावहारिक स्तर पर उन्होंने मायोपहित ब्रह्म,माया और मायाजन्य इस जगत् की परिभावना की और जगत् तथा उससे होने वाले व्यवहार का एक आधार और स्पष्टीकरण दिया: किन्तु वस्तुस्वरूप से विचार करने पर माया का कोई अस्तित्व नहीं है;तज्जन्य जगत् तथा जागतिक व्यवहार की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है; और यह माया जिस ब्रह्म की उपाधि है, वह सर्वकर्त्ता सर्वनियन्ता ब्रह्म भी निर्विशेष परमवस्तु में अवकल्पित एक विकल्पमात्र है । ये सब केवल व्यावहारिकसत्य है,पारमार्थिक दृष्टि से इनकी कोई सत्ता नहीं है । सच्चिदानन्दमात्र निर्विशेष ब्रह्म ही एकमात्र वास्तविकता है ।

यह माया मिथ्या न होती, यदि शंकर के द्वारा स्वीकृत ब्रह्म के स्वरूप में इस माया के लिए कोई अवकाश होता; तब शायद शंकर की मायासम्बन्धी धारणा वल्लभ,रामानुजादि दार्शनिकों के अधिक समीप होती । सभी वैष्णव मतवादों की विशेषता है कि उनमें परमवस्तु को सविशेष ही स्वीकार किया गया है । वल्लभ के मत में भी यह प्रवृत्ति वर्तमान है । उनके अनुसार ब्रह्म सर्वथा अचिन्त्य,अज्ञेय और अनुपाख्य तत्त्व नहीं है । वह विश्व के दोषों से असंस्पृष्ट रहते हुए भी वास्तविक अर्थ में विश्वरूप है । वह सर्वथा निर्द्धर्मक नहीं,अपितु समस्त दैवी और अप्राकृत गुणों का आश्रय है । वह अचिन्त्यानन्त शक्तियों का स्वामी है, जिनके द्वारा वह इस नामरूपात्मकविश्व में परिणत होता है, और इसका नियमन करता है । वह समस्त सम्बन्धों से अतीत होता हुआ भी समस्त सम्बन्धों का आश्रय और लक्ष्य है । संक्षेप में वल्लभ का ब्रह्म विरुद्धधर्माश्रय और सर्वशक्तिमान् है ।[१]

ब्रह्म के इस सविशेष स्वरूप में माया के लिये प्रभूत अवकाश है;साथ ही विश्व को ब्रह्म की वास्तविक परिणति स्वीकार करने के कारण उसके मायिकत्व के अभाव में किसी कल्पक की आवश्यकता न होने के कारण विश्व को कल्पित और माया को कल्पिका स्वीकार करने की भी आवश्यकता नहीं पड़ी । इस प्रकार जिन कारणों से शांकरमत में माया को असत् स्वीकार किया गया है,उनका वाल्लभ मत में सर्वथा अभाव होने के कारण माया को असत् स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता । माया भी उतनी ही सत् है, जितना ब्रह्म ।

वल्लभ के अनुसार माया ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा शक्ति है । इस माया शक्ति के द्वारा ही वह इन असंख्यनामरूपों में स्वयं को अभिव्यक्त करता है । विभिन्न रूपों में उसका आविर्भाव और तिरोभाव इस माया से ही सम्पादित होता है । ब्रह्म के सन्दर्भ में माया की स्थिति वही

१(क) "विरुद्ध सर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम्" -- त०दी०नि० १।७३

(ख) "सर्वशक्तिस्वतन्त्रं च सर्वज्ञं गुणवर्जितम्" -- त०दी०नि० १।६७

(ग) "पराऽस्यशक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकीज्ञानबलक्रिया च" -- श्वेताश्वतरोपनिषद् ६।८

है, जो पुरुष के सन्दर्भ में उसकी 'कार्यकरणसामर्थ्य' की होती है। जिस प्रकार पुरुष की कार्य-करणात्मिका शक्ति उससे अभिन्न होकर उसमें ही स्थित रहती है, वैसे ही ब्रह्म की शक्ति माया भी ब्रह्म से अभिन्न होकर ब्रह्म में ही स्थित होती है।[१] ब्रह्म की शक्ति होने के कारण माया असत् नहीं हो सकती; क्योंकि सत् ब्रह्म से असत् माया का सम्बन्ध सम्भव नहीं है। यदि शक्ति असत् है तो शक्तिमान् का असत् होना भी निश्चित है, जैसा कि शंकर के सिद्धान्त से स्पष्ट ही है। वल्लभ का ब्रह्म वास्तविक अर्थ में शक्तिमान् है: उसका शक्तिमत्त्व प्रातीतिक और औपाधिक नहीं, अपितु स्वाभाविक है। वल्लभ के सिद्धान्त में ब्रह्म की कोई उपाधि नहीं है, अत: उसके धर्मों को औपाधिक या अवास्तविक स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता। शक्तिमान् के सत्य होने पर शक्ति का सत्य होना सहज अनुमेय है: अत: ब्रह्म की शक्ति माया भी ब्रह्म की ही भांति सत्य और नित्य है।

यहां यह जानना आवश्यक है कि माया की सत्यता ब्रह्म की सत्यता से भिन्न और कुछ नहीं है। माया ब्रह्म से भिन्न स्वतंत्र कोई तत्त्व नहीं है, वरन् उसके स्वरूप के ही अन्तर्गत है, और तत्त्वत: उससे अभिन्न है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है। ब्रह्म से व्यतिरिक्त अन्य किसी तत्त्व की सत्ता न होने के कारण जो कुछ भी है, वह ब्रह्म का ही रूपान्तर है। अद्वयता के इस स्वरूप पर ब्रह्म और जीव के परिच्छेद में पर्याप्त विस्तार से विचार किया गया है। विशुद्धाद्वैत मत में 'सत्' होने की प्रथम और अन्तिम अपेक्षा ब्रह्म से अभिन्न होना है: माया भी इसी दृष्टि से सत् है; ब्रह्म से भिन्न किसी तत्त्वान्तर के रूप में उसका अस्तित्व वल्लभ स्वीकार नहीं करते। माया की सत्यता का अर्थ है माया की ब्रह्मात्मकता।

इसी कारण माया और ब्रह्म के बीच जो सम्बन्ध है, वह अभेद का है। विट्ठलेश्वर माया तथा ब्रह्म की अन्य शक्तियों की विवेचना करते हुए लिखते हैं कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा गया है--

> 'नतस्य कार्यं करणं च विद्यते
>
> न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते
>
> पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते
>
> स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च' -- ६।८

यहां 'परा' शब्द से तात्पर्य है कि इन विविध शक्तियों का स्वरूप मन और वाणी आदि इन्द्रियों के द्वारा 'इदमित्थम्' रूप से नहीं जाना जा सकता। ये ब्रह्म से भिन्न नहीं, अपितु ब्रह्मरूप ही हैं। ब्रह्म की शक्तियां आगन्तुकी नहीं, अपितु स्वाभाविक हैं, अत: उन्हें अविद्याकल्पित मानना उचित नहीं

---

१ 'माया हि भगवत: शक्ति: सर्वभवनसामर्थ्यरूपा सर्वत्र स्थिता। यथा पुरुषस्य कर्मकरणादौ सामर्थ्यम्' -- त०दी०नि० १।२७ पर प्रकाश

है[१]। इस प्रकार विट्ठल ने माया के आविद्यकत्व का निरास किया है। माया ब्रह्म की उपाधि नहीं, अपितु उसकी शक्ति है तथा उसकी इच्छा से नियमित तथा संचालित है। ब्रह्म मायिक या मायाधीन नहीं, वरन् 'मायी' है,[२] और अपनी इस कार्यकरणसामर्थ्यरूपा शक्ति से अचिन्त्यरचनात्मक सृष्टि के रूप में परिणमित होता है।

वल्लभ को अभिमत माया का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :-- माया ब्रह्म की उपाधि नहीं, अपितु उसकी कार्यकरणसामर्थ्यरूपा शक्ति है। अपनी इस शक्ति के द्वारा ही ब्रह्म समस्त कार्य सम्पादित करता है। ब्रह्म की यह शक्ति उसके अधीन और उससे नियमित है, साथ ही उससे अभिन्न भी है, क्योंकि शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होता है। ब्रह्मात्मिका होने के कारण माया भी सत् है।

वल्लभ का यह सिद्धान्त स्पष्टत: शंकर के माया सिद्धान्त से पर्याप्त भिन्न है। वस्तुत: वल्लभ मायावाद की पूरी व्यवस्था के के ही विरोधी है। शंकर उनके प्रमुख प्रतिवादी हैं और वे प्राय: शंकर तथा उनके अनुयायियों को ही सम्बोधित करके अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। शंकर के सिद्धान्तों का, या यह कहा जाय तो अधिक अच्छा होगा कि शंकर की दृष्टि का, उन्होंने पग-पग पर खण्डन किया है। विभिन्न सन्दर्भों में दोनों के पारस्परिक मतभेदों का क्रम वहीं से प्रारम्भ हो जाता है, जहां वल्लभ परमार्थ और व्यवहार की विभाजक-रेखा का अस्तित्व अस्वीकार कर देते हैं। व्यावहारिक सत्ता और पारमार्थिक सत्ता जैसी दो तथाकथित स्थितियां उन्हें मान्य नहीं हैं : वैसे देखा जाय तो मान्य शंकर को भी नहीं हैं; जब वे पारमार्थिक और व्यावहारिक सत्ताओं की बात कर रहे होते हैं, तो दो सत्यों की बात नहीं कर रहे होते, अपितु सत्य और सत्य के आभास की बात कहते होते हैं। 'सत्य' सदैव एक ही होता है, दो नहीं होते। सत्य के एकत्व को लेकर शंकर और वल्लभ में कोई मत-वैभिन्य नहीं है; भेद इस विषय में है कि वल्लभ सत्य का कोई आभास या आविद्यक प्रतीति स्वीकार नहीं करते हैं, जब कि शंकर करते हैं। दृष्टि का यह अन्तर ही दोनों के माया सम्बन्धी सिद्धान्तों के अन्तर में भी कारण बनता है। वल्लभ विश्व को ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते हैं, अत: वे माया की कल्पना ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्य के रूप में करते

---

१ "परा मनोवचसामपीदमित्थतया ज्ञातुमशक्या विविधा अनेकरूपा: शक्तय:। शक्तिस्वरूपविचारे ब्रह्मस्वरूपान्नातिरिच्यत इति ज्ञापनार्थमेकवचनम्। तेन अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्त्वमुक्तं भवति। सापि शक्ति: स्वाभाविकी, नत्वागन्तुकी। --- एवं सति नित्यं वस्तु सदविद्यया कल्पितमिति वक्तुं न शक्यं-विरोधात्" -- वि०म०, पृ०२११।

२ "सर्वाधारं वश्यमायमनन्ताकारमुत्तमम्" -- त०दी०नि० १।६८

हैं : शंकर विश्व को ब्रह्म का आभास मानते हैं अत: इस आभास की कल्पिका के रूप में ,वे माया को ब्रह्म की उपाधि के रूप में स्वीकार करते हैं,क्योंकि आभास या प्रतिबिम्ब की स्थिति किसी कल्पक या उपाधि के बिना सम्भव नहीं होती । माया की उपाधि के रूप में स्वीकृति ही,वल्लभ के अनुसार, शांकरीयमत की सबसे बड़ी अनुपपत्ति है और इसका विरोध करते हुए वे इससे सम्बन्धित सभी सिद्धांतों का भी विरोध करते हैं । ब्रह्म का निर्विशेषत्व, सगुणब्रह्म की परिकल्पना, उसका मायोपहितत्व, जीव का प्रतिबिम्बत्व,जगत् का आभासरूपत्व फलत: असत्त्व,इत्यादि वे प्रमुख सिद्धान्त हैं,जिनका वल्लभ ने विस्तारपूर्वक खण्डन किया है । आश्चर्य की बात यह है कि मायावाद और उससे प्रेरित जीव और सृष्टि के मायिकत्व का इतना तीव्र प्रतिरोध करते हुए भी, उन्होंने शंकर के मायावाद के खण्डन पर विशेष ध्यान नहीं दिया है । माया का जो भी खण्डन है, वह जीव के प्रतिबिम्बत्व-खण्डन या सृष्टि के मायिकत्व-खण्डन के प्रसंग में ही किया गया है: स्वतन्त्ररूप से 'सदसत् से विलक्षण, अनिर्वचनीय,भावरूप,सत्यानृतमिथुनीकरणलक्षण' जो माया है, उसका खण्डन वल्लभ ने विशेष अभिनिवेशपूर्वक कहीं नहीं किया है । वल्लभ की यों भी यह विशेष प्रवृत्ति है कि वे परपक्षखण्डन की अपेक्षा स्वपक्ष-स्थापन में ही अधिक रुचि रखते हैं । रामानुज और भास्कर,वल्लभ की अपेक्षा माया के खण्डन में अधिक स्पष्ट और सटीक हैं । वे न केवल ईश्वर,जीव और सृष्टि के मायिकत्व का खण्डन करते हैं, अपितु स्वयं माया के स्वरूप में वर्तमान अनुपपत्तियों और असंगतियों पर विचार करते हुए मायोपाधि की व्यर्थता का भी प्रतिपादन करते हैं ।

वाल्लभमत में स्वसिद्धान्तानुकूल माया के स्वरूप का प्रतिपादन तो मिलता है, किन्तु शांकरीयमाया के किसी सुसंगत और योजनाबद्ध खण्डन के अभाव में उसके प्रति वल्लभ की धारणा अन्यान्य प्रसंगों में आई विरल टिप्पणियों के आधार पर ही निश्चित करनी होती है । विट्ठल ने अवश्य कुछ विस्तार से माया के स्वरूप का खण्डन किया है,किन्तु वह भी अन्यान्यसिद्धांतों के सन्दर्भ में ही किया गया है ।

सामान्यरूप से भास्कर,रामानुज, तथा वल्लभ की मायासम्बन्धी धारणाएं लगभग एक जैसी ही हैं,अत: उनके विरोध की शैली तथा खण्डन की दिशाएं भी एक-सी ही हैं । भास्कर और वल्लभ की अपेक्षा रामानुज अधिक विस्तार से शंकराभिमत माया का खण्डन करते हैं और उनका खण्डन अत्यन्त सारगर्भित,विद्वत्तापूर्ण और तर्कसंवलित है ।

भास्कर,रामानुज तथा वल्लभ तीनों के खण्डन में प्रहार के मुख्य तीन लक्ष्य हैं--

(१) माया का अनादित्व;

(२) माया का अनिर्वचनीयत्व; तथा

(३) माया का आश्रय

वल्लभ ने माया के उपाधिरूपत्व का तीव्र विरोध किया है। उनकी दृष्टि में किसी भी उपाधि को स्वीकार करने में अनेक विसंगतियां हैं। उपाधि में वर्तमान विसंगतियों की चर्चा करते हुए ही उन्होंने माया के बारे में जो कुछ कहा है; कहा है।

मायोपाधि के अनादित्व का खण्डन विट्ठल ने विशेष रूप से किया है। भाष्य-प्रकाशकार ने भी कतिपय स्थलों पर मायोपाधि के अनादित्व को अस्वीकार किया है। मायोपाधि को अनादि स्वीकार करने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह यह है कि अद्वितीय श्रुति का विरोध होता है। `सदेव सौम्येदमग्रा ऽऽसीदेकमेवाद्वितीयम्` में एकमात्र ब्रह्म की ही सत्ता कही गई है। मायोपाधि के वर्तमान होने पर ब्रह्म की यह अद्वयता उपपन्न नहीं हो सकती, क्योंकि उपाधि ब्रह्मात्मक नहीं है। इसके अतिरिक्त संसारहेतुभूता माया के रहने पर संसार तथा जीवों की स्थिति भी सदैव ही बनी रहेगी[1]। विट्ठल भी इसी प्रकार मायोपाधि के अनादित्व से उत्पन्न होने वाली कठिनाइयों का निर्देश करते हुए कहते हैं कि ब्रह्म की उपाधि अविद्या है और वह अनादि है; यह पक्ष सर्वथा असंगत है। ब्रह्म और उपाधि दोनों के अनादि होने पर, निरन्तर सृष्टि होती रहेगी, कभी प्रलय होगा ही नहीं क्योंकि[2] मायावाद में कारणान्तर की अपेक्षा न रखते हुए इच्छाविशिष्ट उपहितब्रह्म मात्र का कारणत्व है।

इसके अतिरिक्त यदि उपाधि को अनादि स्वीकार करेंगे तो ब्रह्म से उसका सम्बन्ध भी अनादि ही होगा: और ब्रह्म तथा उपाधि के सम्बन्ध के ही जीवभावजनक होने के कारण जीवभाव भी अनादि ही मानना होगा। जब कि स्थिति यह है कि जीवभाव अनादि नहीं है - `बन्धोऽस्याविद्ययाऽनादिः` में जो अनादित्व कहा गया है, वह घटपट आदि की अपेक्षा से ही है, सादित्व[3] का सर्वथा निषेध नहीं है। अन्यथा `अविद्यया` यह करणत्व बोधक पद प्रयुक्त नहीं किया जाता।

इसी प्रकार विभिन्न विषयों पर विचार करते हुए विट्ठल ने यत्र-तत्र अविद्या के अनादित्व का भी प्रसंगत: खण्डन किया है।

---

१ `---- तथा सतीश्वरस्यानीशत्वं, सदेव सौम्येदमग्राऽसीदेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिविरोधश्च। संसार-हेतुभूताया अविद्याया जीवानां च सत्त्वात् ---` ।--भा०प्र० २।३।१८

२ `---- अविद्योपाधि:, सा चानादिरेवेति पक्षस्त्वसंगत:। तथा हि-उभयोरप्यनादित्वेन उपहितस्याप्यनादितया तादृशस्यैव च तन्मते कर्तृत्वेन अविरतं सर्ग: स्यान्न जातु प्रलय:। अतो ब्रह्ममात्रस्यैवेच्छाविशिष्टस्य कारणत्वोक्त्या कारणान्तरानपेक्षणात्।` -- वि०मं०पृ०३०।

३ द्रष्टव्य : `वि०मं०, पृ०६७-६८।

अविद्या का अनिर्वचनीयत्व, जो भास्कर और रामानुज के मत में खण्डन का प्रमुख विषय है, उसे लेकर विशुद्धाद्वैत मत में कुछ विशेष नहीं कहा गया है। यह कुछ आश्चर्य का विषय अवश्य है, क्योंकि विरोधियों की दृष्टि में माया का अनिर्वचनीयत्व ही उसका सबसे बड़ा दोष है। केवल भाष्यप्रकाशकार ने एक स्थान पर माया के अनिर्वचनीयत्व को अस्वीकार किया है और वहां भी अनिर्वचनीयत्व का कोई तात्त्विक विश्लेषण प्रस्तुत नहीं किया गया है। उनके अनुसार माया सत् तो हो नहीं सकती, क्योंकि इससे अद्वितीयश्रुति की हानि होती है; असत् भी नहीं हो सकती, क्योंकि असत् माया से संसार की उत्पत्ति और व्यवहार सम्भव नहीं है। उसे सदसत् से विलक्षण कोई अनिर्वचनीय तत्त्व भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब ब्रह्म और उसकी उपाधि में कोई अन्तर ही नहीं रह जायेगा। सदसद्विलक्षण तो एकमात्र ब्रह्म ही हो सकता है: गीता में कहा भी गया है--'अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते'[1]। स्पष्ट है कि यह शंकर के 'सदसद्विलक्षण भावरूप अज्ञान' का खण्डन नहीं है।

ब्रह्म और उपाधि के सम्बन्ध को लेकर अवश्य वाल्लभमत में पर्याप्त आलोचना की गई है। जीव ब्रह्म विभाग के अज्ञानकृतत्व का निरास करते हुए वल्लभ कहते हैं कि यह अज्ञान चैतन्य में अन्तर्भूत उसकी शक्तिरूप है अथवा सांख्य के समान ब्रह्म से बहिर्भूत उसकी कोई शक्ति है? यदि बहिर्भूत है तो सांख्य के निराकरण से ही इसका भी निराकरण हो गया, और यदि अन्तःस्थित शक्ति रूप है तो स्वरूपाविरोधि होने से उसका स्वरूपविभेदकत्व ही सम्भव नहीं होता है। यदि माया स्वरूपाविरोधिनी है तो स्वरूपभूत जीवों को भी व्याप्त नहीं करेगी और स्वरूपविरोधिनी है तो जीवों की भांति ब्रह्म को भी अपना विषय बना लेगी: इस प्रकार ब्रह्म की भी जीवापत्ति हो जायेगी[2]।

विट्ठल के अनुसार भी सबसे बड़ी समस्या यही है कि सत् और सर्वज्ञ ब्रह्म से असत् और अज्ञानरूप माया का सम्बन्ध कैसे होगा? दोनों के मध्य सम्बन्धों की इस असम्भावनीयता पर विचार करते हुए विट्ठल लिखते हैं कि ब्रह्म और माया के बीच सम्बन्ध क्या होगा? दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही विभु हैं। अध्यास भी नहीं हो सकता। दोनों में स्वरूप-सम्बन्ध भी स्वीकार नहीं किया जा सकता, नहीं तो मुक्तात्माओं में भी अविद्या सम्बन्ध वर्तमान रहने से उनका भी संसारित्व हो जायेगा[3]।

---

१ '---- न च सा असतीति युक्तम्। तथा सति तया संसारसम्भवापत्तेः। नापि सदसद्विलक्षणेति। तथा सति ब्रह्मानतिरेकापत्तेः। अनादिमत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यत इति गीतावाक्यात्।'
--भा०प्र० २।३।१८

२ 'अज्ञानं नाम चैतन्यान्तर्भूतं तच्छक्तिरूपमनादि, उतबहिर्भूतम्। सांख्यवत्। न। बहिर्भूतं चेत्। सांख्य-निराकरणेनैव निराकृतम्। अन्तःस्थितायाः शक्तिरूपायाः स्वरूपाविरोधिन्या न स्वरूपविभेदकत्वम्। आश्रयनाशप्रसंगात्। --अणुभा० १।३।१५

३ 'अपरंच, अविद्याब्रह्मणोः कः सम्बन्धः? न तावत् संयोगः, तयोर्विभुत्वेन तदनंगीकारात्। नाप्यध्यासः तस्याऽप्यभावात्। नापि स्वरूपलक्षणः, मुक्तात्मन्यपि तत्सम्भवेन संसारित्वापादकत्वप्रसंगात्'

सबसे बड़ी समस्या तो यह है कि यदि सत् और असत् की कोटियों से अतीत तथाकथित अनिर्वचनीय माया का अस्तित्व स्वीकार भी कर लिया जाय, तो यह माया किस का आश्रय लेकर भ्रम उत्पन्न करेगी?जीव का आश्रय तो ले नहीं सकती,क्योंकि जीव तो स्वयं अविद्या का ही कार्य है,जीव भाव के अविद्या कल्पित होने के कारण । ब्रह्म का भी आश्रय लेना सम्भव नहीं है,क्योंकिब्रह्म स्वयम्प्रकाश और ज्ञानस्वरूप होने से स्वभावतया अविद्या का विरोधी है तथा अविद्या स्वरूपत: ज्ञान-निवर्त्य है: अत: निराश्रया अविद्या की स्थिति ही सम्भव नहीं है[1] । इसके अतिरिक्त मायावाद में अविद्यासम्बन्धमात्र से ही जीवभाव होता है और शुद्ध ब्रह्म में अविद्यासम्बन्ध होने पर ब्रह्म की भी जीवापत्ति होगी ; न होने में कोई हेतु भी नहीं है । यह भी नहीं हो सकता कि किसी अंश में ब्रह्म का अविद्या से सम्बन्ध हो, किसी अंश में न हो, क्योंकि अविद्या के भी विभु होने के कारण उसका ब्रह्म के किसी अंशविशेष से ही सम्बन्ध नहीं हो सकता और फिर ब्रह्म भी निरवयव है[2] । अत: किसी भी स्थिति में यह सम्भव नहीं है कि अविद्या से सम्बद्ध होने पर ब्रह्म उसके दोषों से दूषित न हो ।

इस प्रकार शांकरमत में मायोपाधि का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है, उसे विशुद्धाद्वैत स्वीकार नहीं करता । प्रमुख वैषम्य तो यही है कि विशुद्धाद्वैत मत में ब्रह्म और जीव दोनों की ही कोईउपाधि स्वीकार नहीं की गई है ।

भास्कर और रामानुज का खण्डन यद्यपि वल्लभ की अपेक्षा अधिक विस्तृत है, किन्तु युक्तियां उनकी भी लगभग वही हैं,जो वल्लभ की हैं । उनकी दृष्टि में भी माया को उपाधि स्वीकार करने में अनादित्व,अनिर्वचनीयत्व तथा अविद्या और ब्रह्म के सम्बन्धों की असम्भावनीयता आदि कुछ ऐसी समस्याएं हैं,जिनका कोई निराकरण नहीं है । इन दोषों तथा असंगतियों पर दृष्टि रखते हुए दोनों ने अपने-अपने भाष्यों में मायावाद का अनेकश: खण्डन किया है[3] ।

वल्लभ ने मायोपाधि का खण्डन तो किया है, विभिन्न दृष्टियों से,किन्तु सत्यानृतमिथुनीकरण रूप जो उसका जो स्वरूप है, उसका सीधे-सीधे कहीं खण्डन तो दूर चर्चा भी नहीं की है । शंकर के अनुसार समस्त जागतिक व्यवहार अध्यारोपपुरस्सर है: किन्तु भ्रमबुद्धि की तो कोई इयत्ता

----

१ "---- अविद्यासम्बन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदाभास: कस्येति विचारणीयम् । न तावद्ब्रह्मण:, तत्र भ्रमायोगात् । नापि जीवस्य, तादृशावभासविषयत्वात् ---" । -- वि०मं०,पृ०६६

२ "---अन्यच्च,अविद्यासम्बन्धमात्रेण जीवभावं वदत:,शुद्धब्रह्मण्येव च तत्सम्बन्धं वदतस्तव मते जीवभावानापत्तौ हेत्वभावान्निरवयवत्वाच्चांशभेदेन तथात्वस्य वक्तुमशक्यत्वाच्च सर्वज्ञत्वादिविशिष्टपरमात्माऽसिद्ध्या सर्वश्रुत्युपप्लव: ।" --वि०मं०,पृ०७२ ।

३ द्रष्टव्य : "श्री०भा० १।१।१,पृ०८३,८६,९०,१०२ इत्यादि

द्रष्टव्य : "भा०भा०" १।१।४; १।४।२१

नहीं है, फिर इस अध्यारोप का अन्त कहां और कब है ? इसका उत्तर यही हो सकता है कि कोई ऐसा अध्यारोप है, जिसके आधार पर ही अन्य अध्यारोपों की स्थिति होती है, और जिसके नष्ट होने पर अन्य अध्यारोप भी नष्ट हो जाते हैं । इस मूल अध्यारोप को ही `शंकरवेदान्त` में 'अविद्या' कहा गया है और इसके बाधक `तत्त्वनिर्धारण प्रज्ञान` को 'विद्या'।

इस अविद्या का स्वरूप है आत्म और अनात्म का परस्पर स्वरूपाध्यास और धर्माध्यास । विषयी और विषय-- सत्य और अनृत के स्वरूप और धर्मों का परस्पर व्यत्ययरूप जो अध्यास है-- यही अविद्या है[1] । इस अविद्या का हेतु आत्मानात्मस्वरूपविवेकाभाव है । यद्यपि अभाव स्वयं कभी किसी का कारण नहीं बनता, तथापि अनिश्चित स्वरूप वाली वस्तु में विभिन्न विकल्प उठते दिखते ही हैं, अतः अनिश्चित आत्मतत्त्व ही विविध नामरूप से विकल्पित होता है--

`अनिश्चिता यथारज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्वधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ।।`
(माण्डूक्यकारिका-वैतथ्यप्रकरण १७)

वस्तुस्वरूप के विवेक के अभाव में मृषाविकल्पनरूप अध्यास संसार में देखा ही जाता है,अतः यहां भी आत्म और अनात्म के विवेकज्ञान के अभाव में अन्योन्याध्यास होता है; और अन्योन्याध्यासपूर्वक ही यह समस्त जागतिक व्यवहार है । अविद्या ही समस्त प्रमाण प्रमेय व्यवहार का हेतु है[2] ।

अविद्या के अध्यासरूपत्व के पक्ष या विपक्ष में वल्लभ ने कुछ नहीं कहा है । अविद्या तो उनके मत में भी अध्यासरूप ही है । किन्तु उस अध्यास और शंकराभिमत अध्यास में बहुत अन्तर है । वाल्लभमत में स्वीकृत अविद्या के स्वरूप पर आगे चर्चा की जायेगी । यद्यपि मिथ्याज्ञान-लक्षणा अविद्या अन्य मतों में भी स्वीकार की गई है तथापि आत्म और अनात्म में `अन्योन्यात्मक-बुद्धि` और `अन्योन्यधर्मवत्त्वबुद्धि` रूप `सत्यमिथ्यासम्भेदप्रत्यय` स्वरूपवाली अविद्या केवल शांकर मत में ही मान्य है । वल्लभ को स्वीकृत अध्यास इससे भिन्न है ।

शांकर और वाल्लभ मत में एक और महत्त्वपूर्ण अन्तर यह है कि जहां एक ओर शंकर माया और अविद्या को अभिन्न मानते हैं, वहां दूसरी ओर वल्लभ उन्हें भिन्न-भिन्न मानते हैं ।

---

१ `क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः विषयविषयिणोः भिन्नस्वभावयोरितरेतरतद्धर्माध्यासलक्षणः संयोगः क्षेत्रक्षेत्र-स्वरूपविवेकाभावनिबन्धनो रज्जुशुक्तिकादीनां तद्विवेकज्ञानाभावादध्यारोपितसर्परजतादिसंयोगवत् । सोऽयमध्यासस्वरूपः क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगो मिथ्याज्ञानलक्षणः`। -- गी०शां०भा०(१३-२६)

२ `तमेतमविद्याख्यमात्मानात्मनोरितरेतराध्यासं पुरस्कृत्य सर्वे प्रमाणप्रमेयव्यवहारा लौकिका वैदिकाश्च प्रवृत्ताः, सर्वाणि च शास्त्राणि विधिप्रतिषेधमोक्षपराणि`। --अध्या०भाष्य,पृ०२।

अविद्या माया का कार्य और उसका एक अवान्तर भेदहै। यह अविद्या ही अध्यासरूपा है, माया नहीं: माया को जो कभी-कभी व्यामोहिका कह दिया जाता है, वह अविद्या के सम्बन्ध से ही कहा जाता है। दोनों मतों में यह भी अन्तर है कि शंकर की माया अथवा अविद्या की भांति वल्लभ की माया और अविद्या असत् नहीं हैं। दोनों ही सत् तथा भगवच्छक्तिरूप हैं। अविद्या के स्वरूप तथा माया और अविद्या के सम्बन्ध पर आगे प्रकाश डाला जायेगा।

इस आलोचना के आधार पर यह निश्चित होता है कि वाल्लभ मत में माया न तो असत् है और न उपाधि। यह ब्रह्म की कार्यकरणात्मिका शक्ति है, तथा अविद्या के माध्यम से अध्यास का कारण बनती हुई भी स्वयं अध्यासरूपा नहीं है। ब्रह्म को जो 'मायी' कहा जाता है, वह इस माया शक्ति से युक्त होने के कारण ही कहा जाता है, असत् अथवा अज्ञ होने के कारण नहीं।

वल्लभ की मायासम्बन्धी धारणा रामानुज के बहुत निकट है। रामानुज भी माया तथा अविद्या में अन्तर करते हैं। माया उनके मत में भी ब्रह्म की वैचित्र्यशालिनी शक्ति है, ब्रह्म की उपाधि या अज्ञान नहीं। प्रकृति को लेकर अवश्य दोनों में कुछ मतभेद है, जो आगे स्पष्ट होगा।

यह माया सृष्टि में करणभूत है।[1] जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, ब्रह्म अपनी इस मायाशक्ति से ही विश्व के रूप में आविर्भूत होता है: इसलिए अनेक स्थलों पर जगत् को मायाकृत या मायाजन्य ही कहा जाता है। इस मायामयता का अर्थ यह नहीं समझना चाहिए कि सृष्टि मायिक या असत्य है। सृष्टि सर्वथा ब्रह्मात्मक ही है; माया के करण होने से ब्रह्म का असामर्थ्य सिद्ध नहीं होता, क्योंकि माया स्वयं ब्रह्म की सामर्थ्यरूप है। इस मायाशक्ति से ही ब्रह्म व्यक्त और अव्यक्त होता है। विशेषत: कथन करने पर ब्रह्म के पुरुषोत्तम, अक्षर और जीवरूपों में से माया पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की शक्ति है।[2]

वल्लभ सर्वत्र माया के दो प्रकारों का उल्लेख करते हैं। एक तो विश्वरचना में करणभूत ब्रह्म की कार्यकरणात्मिका शक्ति है, और दूसरी व्यामोहिका है। इनमें से पहिली ब्रह्म की कर्तृत्वशक्ति है, जिसके द्वारा वह त्रिगुण को स्वीकार कर सृष्टि का निर्माण, पालन और संहार करती है; दूसरी जो व्यामोहिका माया है, वह उसकी इच्छा पर जीवों का व्यामोहन करती है तथा बन्धनस्वरूपा है। माया के इन दो रूपों का उल्लेख स्वयं आचार्य ने किया है। उदाहरणार्थ 'यन्मायया दुर्जयया मां ब्रुवन्ति जगद्गुरुम्' (श्रीमद्भा०२।१५।१२) में माया का तात्पर्य वे व्यामोहिका से लेते हैं। इसकी व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि यह भगवान् की वशवर्तिनी शक्ति है तथा यह

---

१ 'प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्'-- त०दी०नि० १।२७

२ 'अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, माया कृष्णस्य'-- त०दी०नि० २।१२०।

सृष्टिकरणात्मिका माया से भिन्न है[1]। इसका एकमात्र फल व्यामोह ही है तथा इसका भी निवर्तनीय रूप से कथन किया गया है। श्रीमद्भा० २।५।१८ के सन्दर्भ में वे एक और माया का उल्लेख करते हैं जिसके द्वारा भगवान सृष्टि के हेतु सत्त्व, रजस् और तमस् का गृहण करते हैं[2]। यह माया व्यामोहिका माया से भिन्न है, ऐसा वह स्पष्ट शब्दों में निर्देश करते हैं।

व्यामोहिका माया को ही विशुद्धाद्वैत मत में अविद्या कहा गया है। यह अविद्या वल्लभ के अनुसार माया का कार्य है, अत: प्राय: इसे माया के नाम से ही सम्बोधित किया जाता है।

वल्लभ के अनुसार यह अविद्या भी ब्रह्म की एक शक्ति है। शंकर की अविद्या की भांति असत् अथवा उपाधि नहीं है। श्रीमद्भागवतमें भगवान् की द्वादश शक्तियों में इसकी भी परिगणना की गई है-- "श्रिया पुष्ट्या गिरा कान्त्या तुष्ट्येलयोर्जया। विद्ययाऽविद्यया शक्त्या मायया च निषेवितम्[3]।।"--ईश्वर की शक्ति होने के कारण इसका भी सत् होना निश्चित ही है।

जिस प्रकार माया प्रपंच की करणभूत है, उसी प्रकार अविद्या संसार की करणभूत है। वल्लभ की दृष्टि में जगत् और संसार एक ही वस्तु नहीं है। जगत् सत्य है और संसार मिथ्या। जगत् और संसार के अन्तर की यह धारणा वल्लभ की मौलिकता है। इस विषय पर विशेष विचार सृष्टि के सन्दर्भ में किया जायेगा। वल्लभ के अनुसार यह जगत् जो कि सत्य और ब्रह्मात्मक है, जीव के बन्धन का कारण नहीं है : इस जगत् में जीव की जो द्वैतबुद्धि है वही उसके बन्धन में हेतु बनती है। यह द्वैत या भेदबुद्धि ही 'संसार' कहलाती है और अविद्या इसकी जनक है। ब्रह्म की इच्छा पर, सृष्टि में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए अविद्या जीवों का व्यामोहन करके जीव-संसार का निर्माण करती है[4]। विशेष बात यह है कि अविद्याकार्य संसार के असत् होने पर भी स्वयं अविद्या असत् नहीं है। सामान्यत: यह ब्रह्म की शक्ति कही जाती है, किन्तु विशेष विचार करने पर ब्रह्म के जीवरूप से ही घनिष्ठरूप से सम्बद्ध होने के कारण वल्लभ इसे जीव की शक्ति भी कहते हैं[5]।

----

१ "यस्य भगवतो ज्ञानरूपस्य वशवर्तिनी काचिच्छक्तिर्मायेति। सा जगत्कर्तुः मायातो भिन्ना। एतस्या व्यामोह एव फलम्। -----इयं माया वेदस्तुतौ मारणीयत्वेन वेदैः प्रार्थितः"। २।५।१२श्रीमद्भा०सुबो०

२ "ते गुणा: पुन: स्थितिसर्गनिरोधेषु उत्पत्तिस्थितिलयार्थं गृहीता:। तेषामपि ग्रहणं मायया, एषा हि माया जगत्कर्त्री न तु व्यामोहिका।"--श्रीमद्भा०२।५।१८सुबो०

३ "अविद्याऽपि तच्छक्ति:। मुख्यासु द्वादशशक्तिषु गणनात्, श्रिया पुष्ट्या गिरेति वाक्यात्।"
त०दी०नि०१।२७ प्रकाश

४ "प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्या विद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते।।"--त०दी०नि० १।२७

५ "अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, माया कृष्णस्य" -- त०दी०नि० २।१२०

वल्लभ के अनुसार यह जीवसंसारभूता अविद्या पंचपर्वा है।ये पांच पर्व क्रमश: अन्त:करणाध्यास, प्राणाध्यास,इन्द्रियाध्यास,देहाध्यास और स्वरूपविस्मरण हैं। पांच पर्वों वाली इस अविद्या के सम्पूर्ण होने पर जीव अन्य देहादिधर्मों से आबद्ध होकर संसारी बनता है[1]।

इन पांच पर्वों की व्याख्या श्री पुरुषोत्तम ने इस प्रकार की है -- माया से महत् की उत्पत्ति होती है, और महत् से अहंकार की। ये दोनों अन्त:करणरूप हैं, अत: पहिले इनका अध्यास होता है। प्राण भी ब्रह्म का ही रूपान्तर है, अत: अन्त:करणाध्यास के पश्चात् प्राणाध्यास होता है। इसके पश्चात् इन्द्रियों तथा देह के भौतिक होने के कारण इन्द्रियाध्यास तथा देहाध्यास होता है। इस प्रकार अध्यास के पूर्ण हो जाने पर स्वरूपविस्मरण हो जाता है।

'ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि' -- के आधार पर यह अध्यास विपरीतज्ञानस्वरूप होता है। उदाहरणार्थ जब अविद्याकृत कर्तृत्वादिअभिमानजनक अन्त:करणाभेदप्रत्यय जीव को होता है तो वह जीव का अन्त:करणाध्यास कहा जाता है। इसी प्रकार प्राणादि-अभेदप्रत्यय प्राणाध्यास कहा जाता है। जब पंचपर्वा अविद्या निष्पन्न हो जाती है तब 'कृशोऽहम्', 'पुष्टोऽहम्' 'काणोऽहम्', 'सुलोचनोऽहम्' इत्यादि अन्यान्य देहेन्द्रियादिधर्मों से बद्ध होकर जीव जन्ममरण के चक्र में पड़ता है।

इस प्रकार पहिले मूल अविद्या से देहाध्यासादिरूप बन्ध होता है; तत्पश्चात् इस मूल देहाध्यास से होने वाला जन्ममरणादिपरम्पराजनक जो देहादिधर्माध्यास है वही संसार कहलाता है[2]।

ये पांच पर्व ही अविद्या का स्वरूप हैं,अत: अविद्या भ्रमात्मिका ही सिद्ध होती है। इस अविद्या को ही वल्लभ व्यामोहिका माया के नाम से सम्बोधित करते हैं।

इस अविद्या या व्यामोहिका माया के सन्दर्भ में 'विषयता' की चर्चा करना आवश्यक है। 'विषयता' वाल्लभ मत की अपनी एक मौलिकता है। जीव को जो भ्रम होता है उसका कारण यह विषयता है, और यह विषयता माया का कार्य है। व्यामोहिका माया जीव का व्यामोहन करके उसकी बुद्धि में प्रापंचिक सद्वस्तु-सदृश मायिक पदार्थ की सृष्टि कर पुर:स्थितविषय में

----

१ 'स्वरूपाज्ञानमेकं हि पर्व देहेन्द्रियासव:।
अन्त:करणमेषां हि चतुर्धाऽध्यास उच्यते।
पंचपर्वा त्वविद्येयं यद्बद्धो याति संसृतिम् ।। -- त०दी०नि० १।३६

२ --- एवं मूलाविद्याकृतो देहाध्यासादिबन्धस्तेन कृतो यो जन्ममरणादिपरम्पराजनको देहादिधर्माध्यास: स संसार इति फलति।'
-- त०दी०नि०१।३६ आ०मं०

प्रदीप्त कर देती है । पदार्थज्ञान के साथ उसका भी ग्रहण होने से तद्विशिष्ट भ्रमात्मक ज्ञान ही होता है । यही बात 'तदिदं मनसा वाचा चक्षुर्भ्यां श्रवणादिभिः ।

नश्वरं गृह्यमाणं च विद्धि मायामनोमयम् । ।।' -- से श्रीमद्भागवत में कही गई है । पदार्थों के मायामय होने का तात्पर्य उनका मिथ्यात्व नहीं है, अपितु मायिक विषयता से युक्त होना है । वल्लभ के अनुसार जब कोई वस्तु अपने वास्तविकरूप से भिन्न दिखलाई देता है, तो वह मायां का कार्य होता है । वह जीव को मोहित कर उसके अन्तःकरण और बुद्धि का भी व्यामोहन कर लेती है । माया से[1] व्यामोहित बुद्धि पदार्थों को अन्यथा रूप से ग्रहण करती है ; वस्तुतः पदार्थ अन्यथा नहीं होते । विश्व मायिक नहीं है, क्योंकि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' इत्यादि इस विषय में प्रमाण है । भ्रान्तप्रतीति का अर्थ नियामक नहीं होता, नहीं तो भ्रमदृष्टि से गृहीत जगत् भी भ्रम रूप ही होता । इस मायाजन्य विषयता के कारण पदार्थ अन्यथा न होते हुए भी अन्यथा[2] प्रतीत होते हैं, जैसे चक्कर खाते हुए व्यक्ति को घटादि पदार्थ स्थिर होते हुए भी घूमते दिखाई देते हैं । घटगत आकृति इत्यादि विषयभूतवस्तु हैं तथा 'भ्रमण' विषयतारूप है : इसीप्रकार विषयभूत भगवान् वस्तुरूप हैं और उनमें जो उत्पत्ति,[3] विनाश, जडत्व, कुत्सितत्व अन्योन्याभाव आदि की प्रतीति होती[4] है, वे विषयता रूप मायिक धर्म हैं । इस तरह विषयताजनितज्ञान भ्रम है और विषयजनित प्रमा ।

यह विषयता जीव की बुद्धि में स्थित रहती है और जगत्समानाकारा होती है । यह वस्तुतः ब्रह्मात्मक प्रपंच, जो कि सत्य है, से भिन्न होती है, और अपने-आप में मिथ्या होती है; किन्तु मिथ्या होने पर भी इसका स्वरूप वास्तविक जगत् की भांति होने से यह जगत् से भिन्न होते हुए भी अभिन्न प्रतीत होती है । पुरुषोत्तम महाराज विषयता की परिभाषा प्रस्तुत करते हुए

---

१ 'तया व्यामोहिता बुद्धिः पदार्थानन्यथा मन्यते, न तु पदार्था अन्यथा भवन्ति ।' --श्रीमद्भा० २।६।३३ सुबो०

२ 'अतो विषये विषयता काचित्स्वीकर्तव्या यया दृष्टिः सविषया भवति अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद्भ्रमिदृष्टिर्निर्विषया स्यात् । अतोऽन्यत्रैव सिद्धभ्रमिर्मायया पुरःस्थिते विषये समानीयते ।' --श्रीमद्भा० २।६।३३सुबो०

३ 'विषयतारूपं विकृतं जगत्कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जडमोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याय्यते, आत्मरूपेऽनात्मत्वं च प्रत्याय्यत इत्यर्थः ।'

-- श्रीमद्भा० ३।७।१५ पर सुबोधिनीप्रकाश

४ 'विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान् । ---अतो विषयताजनितं ज्ञानं भ्रान्तं, विषयजनितं प्रमेति ।' -- श्रीमद्भा० २।६।३३ सुबो० प्र०

कहते हैं कि विषयता विषय से असम्बद्ध होते हुए भी सम्बद्धरूप से भासित होने वाला कोई पदार्थ है।[1]

वल्लभ के अनुसार यह विषयता दो प्रकार की है-- एक आच्छादिका और दूसरा अन्यथाप्रतीतिजनक। ये दोनों प्रकार की विषयता मायाजन्य है।[2] वल्लभसम्प्रदाय के एक अन्य टीकाकार श्री लालू भट्ट के अनुसार --"ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत न प्रतीयेत चात्मनि"-- भागवत की इस पंक्ति में दोनों प्रकार की विषयताओं का कथन किया गया है। "न प्रतीयेत चात्मनि" में जो अर्थ का अपरिज्ञान कहा गया है, वह 'आच्छादिका' विषयता है; तथा "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयेत" में जिस अवस्तुभूत अर्थ का ज्ञान कहा गया है, वह 'अन्यथाप्रतीतिहेतुरूप' विषयता है। दोनों ही प्रकार की विषयताएं जगत्समानाकारा हैं: किन्तु जगद्रूपा विषयता कहने से जगत् को विषयतारूप स्वीकार नहीं करना चाहिए। विषय जगत् भगवद्रूप है और विषयता मायाजन्य हैं, अत: दोनों पृथक् हैं। इस द्विविध विषयता के कारण पदार्थ ब्रह्मभिन्न अन्यथा रूप से प्रतीत होते हैं, वस्तुत: अन्यथा नहीं होते। दोनों प्रकार की विषयता ब्रह्मज्ञान से नष्ट होती है।[3]

जैसा जगत् में देखा जाता है, वैसा ही आत्मा के विषय में भी है। वहां भी माया विद्यमान को अप्रकाशित और अविद्यमान को प्रकाशित करती है। सत् को अप्रतीति और असत् की प्रतीति माया के कारण ही होती है। जड और नियतस्वभाव इन्द्रियां अथवा स्वयं पदार्थ अन्यथा प्रतीति का कारण नहीं बन सकते।

इस प्रकार वल्लभ के अनुसार भी विषयता की जनक यह व्यामोहिका माया या अविद्या भ्रमात्मिका और व्यामोहिका ही है। इस अविद्या का स्वरूप शंकर की अविद्या के बहुत निकट है: अन्तर इतना है कि शंकर के मत में अविद्या स्वयं अध्यासरूपा है, जब कि वल्लभ के अनुसार वह अध्यास की जनक है। इसके अतिरिक्त अविद्याजनित द्विविध विषयताएं, जिनमें से एक विषय का आच्छादन करती है तथा दूसरी तत्सदृश भ्रामक पदार्थ की सृष्टि कर विषय पर प्रत्यारोपित करती है, शंकर की माया की आवरण और विक्षेप शक्तियों की ही भांति हैं। संक्षेपत: शंकर की माया

----

१ ~~कश्चिद्विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान् + ---अतो विषयताजनितं ज्ञानं~~

१ "काचिद्विषयता विषयासम्बद्धोऽपि सम्बद्धत्वेन भासमान: कश्चित्पदार्थ: स्वीकर्त्तव्य:"
--श्रीमद्भा०२।६।३३ सुबो०प्र०

२ " सा च विषयता द्विधा। आच्छादिकैका, अन्यथाप्रतीतिहेतुश्चापरा। सा उभयविधाऽपि माययैव जन्यते यथाऽऽभास:"--श्रीमद्भा०२।६।३३ सुबो०

३ "--- एवमुभयविधा विषयता जगत्समानाकारा। अत एव जगद्रूपेत्युच्यते। एवं च विषयतया पदार्थानामन्यथाभानम्, न तु पदार्था अन्यथेति निष्कर्ष:। यतो विषयताद्वयमाच्छादिकाऽन्यथाप्रतीतिहेतुरूपं ब्रह्मज्ञानेन नाश्यते।"-- प्र०र०(प्रस्थानरत्नाकर),पृ०६६।

और वल्लभ की अविद्या में, मिथ्यात्व और सत्यत्व के मौलिक अन्तर को यदि छोड़ दिया जाय तो अनेक समानताएं हैं। वल्लभ के सिद्धान्त में अविद्याजनित इस `विषयता` का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है; इसके ही आधार पर `अन्यख्याति` का सिद्धान्त भी स्वीकार किया गया है, जिसके स्वरूप पर आगे चलकर सृष्टि-विवेचन के अन्तर्गत प्रपंच और संसार के सन्दर्भ में विस्तार से विचार किया जायेगा।

इसके पूर्व कि अविद्या का प्रसंग समाप्त किया जाय, अध्यास पर दो शब्द कहना आवश्यक है। शंकर के अनुसार परस्पर अत्यन्तविविक्त, सत्य और अनृत, विषयी और विषय की परस्पर स्वरूप और धर्मव्यत्ययपूर्वक जो अभेदबुद्धि है, वही अध्यास है, किन्तु यह सत्यानृतमिथुनीकरण-लक्षण अध्यास वल्लभ को मान्य नहीं है। वल्लभ के मत में विषयी अर्थात् आत्मा या जीव तो सत्य है ही, विषय अर्थात् जगत् और जागतिक पदार्थ इत्यादि भी सत्य हैं। वल्लभ के अनुसार यह सृष्टि मायिक नहीं है: यह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने के कारण ब्रह्मरूप है और ब्रह्म जितनी ही सत्य है; यहां ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे `अनृत` कहा जा सके। देह, इन्द्रियां, अन्त:करण -- ये सब जड़ तो हैं, किन्तु असत्य नहीं हैं, क्योंकि जड़ भी ब्रह्मात्मक है। इन्हीं कारणों से वल्लभ अध्यास को विपरीत ज्ञानलक्षण मानते हैं, सत्यानृतमिथुनीकरणलक्षण नहीं। यह अध्यास अविद्या के कारण होता है। ब्रह्मात्मक प्रपंच में ब्रह्मभिन्न बुद्धि होना ही विपरीत ज्ञान है। जिस प्रपंच में भगवदीयबुद्धि होनी चाहिए, उसमें जीव अपनी अहन्ता-ममता स्थापित कर लेता है; इसी प्रकार अन्त:करण, शरीरादि को भी भगवदीयबुद्धि से स्वीकार न कर स्वात्मबुद्धि से स्वीकार करता है। जब जीव स्वयं को तथा इस जगत् को ब्रह्म से भिन्न और स्वतंत्र समझने लगता है, तो उसे आसक्तियां घेर लेती हैं, और वह जन्म और मरण के आवर्त में फंस जाता है। इसी कारण वल्लभ ने देहेन्द्रियादि-अध्यास को अन्यान्य देहेन्द्रियादि-धर्मों के अध्यास का कारण बताया है, जो पुन: जन्ममरणपरम्परा का कारण बनता है। यही वाल्लभमत में अध्यास का स्वरूप है। अविद्या स्वयं तो अप्रत्यक्ष है, इसी विपरीतज्ञानरूप कार्य के द्वारा अनुमेय होती है।

इस अविद्या का अपगम विद्या से होता है। विद्या से अविद्या का नाश हो जाने पर जीव मुक्त हो जाता है। अन्त:करण, प्राण और देहेन्द्रिय निरध्यस्त हो जाते हैं तथा उनके अध्यास के फलस्वरूप अभेद में भी जीव को जो भेदज्ञान होता है, वह नष्ट हो जाता है: किन्तु, यह स्मरणीय है कि अध्यास ही नष्ट होता है, देहादि नहीं, क्योंकि देहादि तो प्रपंचान्तर्गत हैं। यदि अध्यासनाश के साथ देहादि भी नष्ट हो जायेंगे तो जीवन्मुक्ति का विरोध होगा: इसलिए स्वयं मुक्त पुरुष की बुद्धि में लीनवत् भासित होने पर भी अन्य की बुद्धि में उनकी स्थिति बनी रहती है[१]।

---

१ "विद्याऽविद्यानाशेतु जीवो मुक्तो भविष्यति।
देहेन्द्रियासव: सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि।
तथापि न प्रलीयन्ते जीवन्मुक्तगता: स्फुटम्॥"
-- त०दी०नि०१।३७

यह विद्या भी पंचपर्वा है[१] : ये पांच पर्व विद्या के पांच साधन स्वरूप हैं । सर्वप्रथम विषयों से वितृष्णा, फिर विषयवैतृष्ण्य से नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक सर्वपरित्याग, तत्पश्चात् एकान्त में अष्टांग योग का साधन, उसके बाद विचारपूर्वक तत्त्वालोचन, तदनन्तर निरन्तरभावना से ईश्वर में परमप्रेम । इस साधनसम्पत्ति के सिद्ध होने पर विद्या सम्पूर्ण होती है[२] । इस विद्या के द्वारा साक्षात्कार प्राप्त कर व्यक्ति भगवत्प्राप्ति का अधिकारी होता है । विद्या के विषय में इससे अधिक वल्लभ ने कुछ नहीं कहा है ।

एक विशेष बात यह है कि इस विद्या का अविद्यानाश में सामर्थ्य होते हुए भी विद्या से आत्यन्तिक और सार्वकालिक मोक्ष वल्लभ ने स्वीकार नहीं किया है । क्यों नहीं किया यह विद्या और अविद्या का माया के साथ सम्बन्ध विवेचित करने पर स्पष्ट हो जाता है ।

आचार्य वल्लभ के अनुसार विद्या और अविद्या ये दोनों माया से स्वतंत्र नहीं, अपितु उसके अधीन हैं । साथ ही दोनों माया से भिन्न हैं । वल्लभ ने इन्हें माया का कार्य स्वीकार किया है । इस मत की पुष्टि एकादशस्कन्ध के इस वाक्य से भी होती है--'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम् । मोक्षबन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते ।।' । इनमें से विद्या जीव को स्वरूपलाभ कराती है, और अविद्या देहलाभ: इसीलिये उन्हें क्रमश: मोक्ष और बन्धकारक कहा गया है[३] ।

यद्यपि विद्या और अविद्या दोनों ही जीव को अपना विषय बनाती हैं, तथापि ये जीव का धर्म नहीं हैं । ये दोनों ही ब्रह्म की शक्तियां हैं और उसकी ही इच्छा से प्रवर्तित होती हैं[४] । ब्रह्म जिस शक्ति से इन दोनों का नियमन करता है, वह शक्ति माया है; इसलिये विद्या-अविद्या तथा माया में नियम्यनियामक भाव है ।

----

१ 'पंचपर्वेति विद्येयं यया विद्वान् हरिं विशेत्' -- त०दी०नि०१।४६

२ '--- विद्याया: पंचपर्वाणि तत्साधनान्याह । -- आदौ विषयवैतृष्ण्यम् । ततो नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक: सर्वपरित्याग: । तत एकान्तेऽष्टांगो योग: । ततो विचारपूर्वमालोचनं तप, एकाग्रतया स्थितिर्वा । ततो निरन्तरभावनया परमं प्रेम । एवं साधनसम्पत्तौ पंचपर्वा विद्या सम्पद्यते ।'
--त०दी०नि०१।४६

३ 'विद्याऽविद्ये हरे: शक्ती माययैव विनिर्मिते ।
ते जीवस्यैव नान्यस्य दु:खित्वं चाप्यनीशता ।।'
आत्मन: स्वरूपलाभो विद्यया, देहलाभोऽविद्ययेति... । --त०दी०नि०१।३५

४ '--- उभयोर्जीवधर्मत्वं व्यावर्तयति । हरे: शक्ती इति ।। तेन भगवदिच्छयैव तयोराविर्भावतिरोभावयोर्हेतुत्वमित्युक्तम् ।' -- 'प्रकाश' त०दी०नि० १।३५

गीता में भगवान् ने माया का भक्तिनिवर्त्यत्व कहा है[१]। जब तक इस माया की निवृत्ति नहीं होती, जीव नित्यमुक्त नहीं हो सकता। माया-कार्य होने से विद्या-अविद्या का भी आत्यन्तिक विनाश भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। विद्या से अविद्या का जो नाश कहा गया है,वह सर्वथा नाश नहीं होता, इसलिये विद्याजन्य मोक्ष भीसर्वथा मोक्ष नहीं होता। कार्य का सर्वथा नाश समवायिनाश के द्वारा ही होता है: विद्या स्वयं सत्त्वगुण प्रधान है, अत: वह अपनी जनक माया का समूल नाश नहीं कर सकती। माया के वर्तमान रहने पर विद्या अविद्या दोनों की ही सूक्ष्मरूप से स्थिति बनी रहती है; अत: विद्या से अविद्या का उपमर्द ही होता है, नाश नहीं[२]। जब भगवत्कृपा होने पर माया की निवृत्ति होती है, तब उसकी कार्यभूत जो विद्या और अविद्या हैं, वे भी निवर्तित हो जाती है, अन्यथा जीव की नित्यमुक्तता नहीं होगी[३]।

इस प्रकार वल्लभ ने विद्याकृत और भक्तिकृत मोक्ष में अन्तर माना है, जो ज्ञान को भक्ति से हीन मानने की उनकी प्रवृत्ति के सर्वथा अनुकूल है। ऊपर कहा जा चुका है कि विद्या से अविद्या का उपमर्द मात्र होता है। जिस प्रकार जागरितावस्था में निद्रा बुद्धिवृत्ति रूप से बुद्धि में निवास करती है, उसी प्रकार विद्या से उपमर्दित अविद्या सूक्ष्मरूप से अपनी कारणभूत माया में निवास करती है। इसलिये आचार्य ने निद्रा का ही दृष्टान्त दिया है--`निद्रावदविद्यापगमे न जीवस्य जन्म-मरणे` (त०दी०नि०१।३७)। वल्लभ ने विद्या से देह,इन्द्रिय और प्राण का `निरध्यस्तत्त्व` कहा है, परन्तु अन्त:करण का नहीं। इससे सूचित होता है कि अन्त:करण जीवन्मुक्तदशा में भी थोड़ा अध्यस्त रहता ही है,क्योंकि जीवन्मुक्त व्यक्ति भी लोकव्यवहार और मर्यादामार्ग का अनुसरण तो करते ही हैं।

विद्या से अविद्या का उपमर्द होने पर जन्ममरणाभावरूप मोक्ष तो सम्पादित हो जाता है, परन्तु माया की निवृत्ति विद्या से सम्भव न होने के कारण जीवभाव बना रहता है।

----

१ `दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ।।` -- श्रीमद्भा०७।१४

२ ` ---- कार्यस्य सर्वथा नाशो हि समवायिनाशात्। प्रकृते च विद्याया: सात्त्विकीत्वेन स्वजनक-मायानाशकत्वाभावान्मायासत्त्वात् तत्र सूक्ष्मरूपेणाविद्याया: सत्त्वे तस्या उपमर्द एव, न तु नाश: ।
-- त०दी०नि० १।३७ पर आ०भं०

३ `तेन, मामेव ये प्रपद्यन्ते इति वाक्याद् भक्तौ सत्यामविद्यापि निवर्तते विद्याऽपि। अन्यथा नित्यमुक्तता न स्यात्`। --
-- `प्रकाश` त०दी०नि० १।३५

आत्यन्तिक मोक्ष के लिये जीव का ब्रह्मभाव होना आवश्यक है : और यह ब्रह्मभाव भक्ति से ही होता है, क्योंकि भक्ति की ही मायानिवृत्ति में सामर्थ्य है । `मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते` जैसे भगवद्वाक्य इसमें प्रमाण हैं । अत: विद्याकृत मोक्ष[1] का अर्थ जन्ममरणाभावरूप मोक्ष है, विश्वमाया-निवृत्तिरूपमोक्ष नहीं-- ऐसा वल्लभ का मत है । मोक्ष होने पर विद्या-अविद्या दोनों ही नष्ट हो जाती हैं । माया और अविद्या का यह भेद और नियम्यनियामकभाव तथा विद्या का आत्यन्तिक-मोक्ष में असामर्थ्य, वल्लभ और शंकर के मतों को और दूर कर देता है ।

इसके पूर्व कि वल्लभ के मायासम्बन्धी सिद्धान्तों की आलोचना समाप्त की जाय, एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रहता है, और वह प्रश्न है प्रकृति का । अनेक मतों में प्रकृति माया की स्थानापन्न है : कहीं-कहीं दोनों समानार्थक भी हैं, जैसे कि रामानुज के मत में । वल्लभ भी प्रकृति को अपने सिद्धान्त में समेट लेने का व्यामोह छोड़ नहीं सके हैं: यों उनके मत में प्रकृति का अस्तित्व व्यर्थ सा ही है, और न भी होता तो भी काम चल जाता ।

जिस समय पुरुषोत्तम, परब्रह्म श्रीकृष्ण `अग्रेऽहमेव भविष्यामि` इस इच्छा से व्यापृत होते हैं, उस समय `अक्षर` इस संज्ञा से अभिहित होते हैं । यह अक्षर स्वरूप ही समस्त सृष्टि का कारण और आधार है । प्रकृति इस अक्षरस्वरूप की ही शक्ति है । अन्यत्र भी पुरुष और प्रकृति के भेद से अक्षर स्वरूप का द्वैरूप्य कहा गया है[2] ।

वाल्लभमत की प्रकृति सांख्य की प्रकृति नहीं है : यहां वह विद्या और अविद्या की भांति माया का ही एक प्रकार या कार्य है । तत्त्वत: माया और प्रकृति दो भिन्न तत्त्व नहीं हैं । कहीं महत् तत्त्व की उत्पत्ति माया से कही जाती है, कहीं प्रकृति से । वस्तुत: स्थितिविशेष के सन्दर्भ में जिस प्रकार श्रीकृष्ण ही अक्षर कहलाते हैं, वैसे ही माया भी अक्षर-सम्बन्ध से प्रकृति कहलाती है । वल्लभ माया[3] को पुरुषोत्तम की, अविद्या को जीव की तथा प्रकृति को अक्षर की शक्ति स्वीकार करते हैं । अक्षर और जीव ब्रह्म के ही स्वरूप हैं, अत: प्रकृति और अविद्या को भी

----

१ `---- तेन तत्कार्यस्यापि देहादिधर्माध्यासस्योपमर्द एवेति जन्ममरणाभावरूप एव मोक्षो, न तु विश्वमायानिवृत्तिरूपो मोक्ष: । तथा च सहेतुकस्य सकार्यस्य बन्धस्योपमर्दरूपोऽभावो विद्याकृत-मोक्ष इति फलति ।` -- त०दी०नि० १।३७ आ०भं०

२ `तन्मायाफलरूपेण केवलं निर्विकल्पितम् ।
वाङ्मनोगोचरातीतं द्विधा समभवद् बृहत् ।।
तयोरेकतरो ह्यर्थ: [प्रकृति:] सोभयात्मिका ।
ज्ञानं त्वन्यतमो भाव: पुरुष: सोऽभिधीयते ।।` -- श्रीमद्भा० ११-/२४/३,४

३ `अविद्याजीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, माया कृष्णस्य` -- त०दी०नि० २।१२०

ब्रह्म की ही शक्तियां स्वीकार किया जाना चाहिए। यदि माया और प्रकृति में अभेद न भी स्वीकार करें तो भी प्रकृति का मायाधीनत्व स्वीकार करना ही होगा।

प्रकृति को भी अपने सिद्धान्त में समाविष्ट करने की तथा माया से भिन्न मानने की प्रेरणा उन्हें सम्भवत: श्रीमद्भगवद्गीता के इस वाक्य से मिली होगी --`प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया`। इसमें माया और प्रकृति का भिन्न रूप से कथन किया गया है। इस स्थल पर रामानुज का वल्लभ से मतभेद है। उनके अनुसार प्रकृति और माया दोनों एक ही के दो नाम हैं। प्रकृति की विचित्रसर्गशीलता के कारण उसे ही माया कहा गया है। माया शब्द अन्यत्र भी विचित्र शक्तियों के सन्दर्भ में प्रयुक्त हुआ है; अत: त्रिगुणात्मिका प्रकृति ही `विचित्रार्थसर्गकरी` होने के कारण माया कहलाती है[1]। रामानुज के मत में यों भी प्रकृति की स्थिति वल्लभ के मत की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है। रामानुजमत में प्रकृति अथवा अचित् तत्त्व ब्रह्म का नित्यसहवर्ती-विशेषण है तथा सृष्टि का साक्षात् उपादानकारण है।

वल्लभ ने प्रकृति की धारणा को कहीं स्पष्ट नहीं किया है। केवल एकाध स्थलों पर उसका अक्षर की शक्ति के रूप में उल्लेखमात्र है। `प्रस्थानरत्नाकर` में अवश्य इसे जगत् के उपादान के रूप में निर्मित एक भगवद्रूपविशेष कहा गया है तथा त्रिगुणात्मिका भी बताया गया है[2]। किन्तु एक बात स्मरणीय है कि वल्लभ ने कभी भी जगत् को प्रकृतिनिर्मित या प्रकृतिजन्य नहीं कहा, वे सदैव उसे `मायाकरणक` ही कहते रहे। कुछ ऐसा प्रतीत होता है कि वल्लभ माया की स्थितिविशेष को ही प्रकृति कहते हैं। जैसा नाममात्र का तथाकथित अन्तर पुरुषोत्तम और अक्षर में है, वैसा ही माया और प्रकृति में है। जिस प्रकार अविद्या और विद्या के भेद और माया कार्यत्व का प्रतिपादन वल्लभ ने किया है, वैसा प्रकृति के सन्दर्भ में नहीं किया : न ही दोनों के भेदक तत्त्वों का उल्लेख किया है। इतना, किन्तु, स्पष्ट है कि यदि प्रकृति माया की ही स्थितिविशेष है, तो भी वह माया के समकक्ष नहीं है; दोनों में नियम्यनियामकभाव होगा ही। वल्लभ की दृष्टि में तत्त्व की एकता होने पर भी उसकी विभिन्न स्थितियों या रूपों में नियम्यनियामकभाव मानने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। पुरुषोत्तम, अक्षर और जीव के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में यह बात स्पष्ट है। उनका प्रकृति सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त अस्पष्ट और अपूर्ण है और सच पूछा जाय तो व्यर्थ भी है। प्रकृति को मानने से न तो कोई प्रयोजन सिद्ध होता है, और न ही उन्होंने उसे कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका सौंपी है। सृष्टि

----

१ `---- अतो मायाशब्दो विचित्रार्थसर्गकराभिधायी। प्रकृतेश्च मायाशब्दाभिधानं विचित्रार्थसर्गकरत्वादेव ---- `। -- श्रीमद्भा० १।१।१

२ `भगवता जगदुपादानत्वेन निर्मितं मुख्यं भगवद्रूपमित्यर्थ:` -- प्र०र०, पृ० १६५

के निर्माण में यदि किसी सहायिका की आवश्यकता थी तो माया ही पर्याप्त थी । ऐसा लगता है कि अन्य सिद्धान्तों में मान्य प्रकृति का अपने सिद्धान्त में अन्तर्भाव करने के लिए ही उन्होंने उसे अक्षर की शक्ति बना दिया । सांख्य की महिमाशालिनी प्रकृति और वाल्लभ मत की निष्प्रभ और निरर्थक सी प्रकृति की कोई तुलना ही नहीं है ।

इस विस्तृत समीक्षा के पश्चात्,वल्लभ के माया-सम्बन्धी सिद्धान्तों की जो रूप-रेखा निश्चित होती है, वह संक्षेप में इस प्रकार है :--

माया ब्रह्म की कार्यकरणसामर्थ्य है । इसके द्वारा ही ब्रह्म का आविर्भाव और तिरोभाव सम्पादित होता है और वह विविधनामरूपात्मक विश्व के रूप में अवतीर्ण होता है ।माया ब्रह्म की शक्ति है, तथा ब्रह्मात्मिका होने से सत् है । यह माया सृष्टि में करणभूत है । वल्लभ के अनुसार माया और अविद्या एक नहीं,अपितु भिन्न हैं । विद्या और अविद्या दोनों माया कार्य हैं तथा माया के अधीन है । विद्या और अविद्या दोनों 'पंचपर्वा' हैं । अविद्या के पांच पर्व अध्यास रूप हैं तथा विद्या के पांच पर्व उसके पांच साधन स्वरूप हैं । अविद्या 'विषयता' की जनक है, तथा विद्या इस 'विषयता' की निवर्तिका है । किन्तु विद्या के द्वारा आत्यन्तिक मोक्ष सम्पादित नहीं हो सकता, क्योंकि वह विश्वमायानिवृत्तिरूप है तथा विद्या माया का कार्य होने के कारण उसका निवर्तन नहीं कर सकती; अत: विद्या केवल जन्ममरणाभाव रूप मोक्ष होने देने में ही समर्थ है । यों तो वल्लभ ने प्रकृति को भी स्वीकार किया है, किन्तु उसका स्वरूप बहुत स्पष्ट नहीं है । साधारणतया उसे सृष्टि-कारण अक्षर की शक्ति कहा गया है । इस प्रकार प्रकारान्तर से सृष्टि के उपादानत्व में प्रकृति का भी समावेश हो जाता है,जो सांख्य परम्परा में मान्य प्रकृति के सृष्टि-उपादानत्व के सिद्धान्त की धूमिल प्रतिच्छाया है । प्रकृति भी ब्रह्म की एक शक्ति है, अत: उसका उपादानत्व यदि स्वीकार किया भी जाय,तो ब्रह्म के माध्यम से ही होगा, स्वतंत्र रूप से नहीं । विद्या,अविद्या तथा प्रकृति की नियम नियामिका ब्रह्म की सर्वभवनसामर्थ्यरूपा माया ही है,जो ब्रह्म के सर्वोच्च पुरुषोत्तम स्वरूप की शक्ति है तथा शक्ति होने के कारण स्वयं ब्रह्म से नियमित है ।

वल्लभ के मायासम्बन्धी सिद्धान्तों की इस विस्तृत समीक्षा के पश्चात् उनके सिद्धान्त का जो प्रमुख वैशिष्ट्य निर्धारित होता है, वह है माया का सत्त्व । माया की स्वतंत्र और सापेक्ष स्थितियां तथा माया का स्वरूप मायावाद या शांकरमत के समर्थकों और विरोधियों के बीच बड़ा विवादास्पद विषय रहा है । माया के सत्त्व और असत्त्व का प्रश्न इस विवाद की प्रमुख समस्या रही है ।

इस परिच्छेद के प्रारम्भ में, तथा ब्रह्म एवं जीव के सन्दर्भों में इस बात पर अनेकश: विचार किया गया है कि किस प्रकार बहुत बड़ी सीमा तक माया के सत्त्व और असत्त्व का निर्णायक

ब्रह्म का स्वरूप होता है और क्यों सविशेषवस्तुवादियों के लिये माया को सत् स्वीकार करना एक अनिवार्यता है। इन सारी बातों को यहां फिर से दोहराना पिष्ट-पेषण मात्र होगा।

माया को सत् स्वीकार करना न केवल वल्लभ अपितु उन सभी दार्शनिकों की विशेषता है, जो ब्रह्म को सविशेष, लोकोत्तरगुणयुक्त तथा अनन्त शक्तियों का स्वामी मानते हैं। वल्लभ के अनुसार माया ब्रह्म की उपाधि नहीं, अपितु शक्ति है; और शक्ति शक्तिमान् के सम्बन्ध के कारण दोनों में अभेद सिद्ध होता है। यह एक सामान्य सी बात है कि सत् ब्रह्म से जिसका सम्बन्ध होगा, वह भी सत् ही होगी। शंकर का विरोध करते समय वल्लभ जो सबसे बड़ी अनुपपत्ति प्रदर्शित करते हैं, वह 'आश्रयानुपपत्ति' है, अर्थात् माया के आश्रय की असिद्धि। सत् ब्रह्म से असत् माया का सम्बन्ध किसी भी स्थिति में सम्भव नहीं है। ब्रह्म और माया का सम्बन्ध तभी सम्भव होगा, जब माया भी सत् हो। दोनों के सत् होने पर ब्रह्म की अद्वयता खण्डित न हो, इसलिये वल्लभ माया के तत्त्वान्तर होने का निषेध करते हुए उसे ब्रह्मात्मिका स्वीकार करते हैं। इस प्रकार वाल्लभ मत में माया का सत्त्व ब्रह्म के सत्त्व का प्रतिफलन है।

साथ ही माया को ब्रह्म की शक्ति मानने के कारण वल्लभ उसे भ्रमात्मिका भी स्वीकार नहीं कर सके। ज्ञान स्वरूप ब्रह्म से अज्ञानस्वरूप माया का सम्बन्ध न हो सकने के कारण फिर वही आश्रयानुपपत्ति होगी; किन्तु विश्व में जो भ्रम और विपरीतज्ञान दिखाई देता है, उसका भी तो कोई कारण होना ही चाहिए। वल्लभ के अनुसार इसका कारण अविद्या है, माया नहीं। वल्लभ ने माया और अविद्या में अन्तर किया है, तथा माया को ब्रह्म की वैचित्र्यशील शक्ति और अविद्या को भ्रमात्मिका स्वीकार किया है। उनके अनुसार यह अविद्या भी ब्रह्म की ही शक्ति है। इस सन्दर्भ में वे श्रीमद्भागवत को उदाहरण स्वरूप उद्धृत करते हैं। यह अविद्या भ्रम की जनक है, किन्तु स्वयं असत्य नहीं है। इसे जब भ्रमात्मिका कहा जाता है, तो इसके कार्य अध्यास के सम्बन्ध से ही कहा जाता है। अविद्या की भांति विद्या भी ब्रह्म की ही शक्ति है। इनमें से कोई भी प्रवाहसिद्ध और स्वतंत्र नहीं है; सभी ब्रह्म की शक्ति होने के कारण उसके अधीन हैं तथा उसकी इच्छा से ही नियमित और प्रवर्तित होती हैं। ब्रह्म की इच्छा होने पर अविद्या जीवों का व्यामोहन करती है, और विद्या स्वरूपलाभ कराती है: जीवों का भोग और मोक्ष भगवदाज्ञा से ही सम्पादित होता है। इस प्रकार वल्लभ ने ब्रह्म की अप्रतिहत इच्छाशक्ति और तथा निरंकुश स्वातन्त्र्य की रक्षा की है।

वल्लभ की एक विशेष प्रवृत्ति है ज्ञान को भक्ति की अपेक्षा हीन सिद्ध करने की। यों यह प्रवृत्ति थोड़ी-बहुत सभी वैष्णव-दार्शनिकों में है, किन्तु वल्लभ में कुछ विशेष है। उनके माया सम्बन्धी सिद्धान्तों में भी इसकी झलक है। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, विद्या आत्यन्तिक मोक्ष का सम्पादन करने में समर्थ नहीं है। विद्या से अविद्या का उपमर्द मात्र होता है, सर्वथा नाश

नहीं: ऐसी स्थिति में जन्म-मरणाभावरूपमोक्ष तो हो जाता है,किन्तु जीवभाव नष्ट नहीं होता। जीवभाव तभी नष्ट हो सकता है,और ब्रह्मभाव तभी सम्भव है, जब सम्पूर्ण माया क ही निवृत्त हो जाय और माया की निवृत्ति केवल भक्ति के द्वारा ही सम्भव है। विद्या तो स्वयं माया का कार्य है, उसके द्वारा माया की निवृत्ति असम्भव है। इस प्रकार विश्वमायानिवृत्तिरूप सार्वकालिक मोक्ष भक्ति-करणक है, ज्ञानकरणक नहीं। यह सिद्धान्त वल्लभ की भक्ति के प्रति अनन्य आस्था का परिचायक है।

वल्लभ के सिद्धान्तों की एक और विशेषता है कि वे अपने स्वरूप में संश्लिष्ट होने की अपेक्षा विश्लेषणात्मक हैं। वल्लभ प्राय: एक ही तत्त्व के अनेक रूपों और स्थितियों का प्रतिपादन करते हैं। ये सभी रूप तथा स्थितियां वास्तविक होती हैं तथा इनमें नियम्यनियामक-भाव भी होता है। माया-सिद्धान्त भी इसी प्रकार है। वल्लभ माया तथा विद्या,अविद्या और प्रकृति में नियम्य-नियामक भाव स्वीकार करते हैं। विद्या,अविद्या तथा प्रकृति माया के द्वारा नियमित होती हैं। जहां तक नियमन का प्रश्न है, वहां तक तो ठीक है, किन्तु वल्लभ विद्या और अविद्या को माया का कार्य मानते हैं,जिसमें कुछ अनुपपत्तियां हैं।

जिस प्रकार माया ब्रह्म की शक्ति है, वैसे ही विद्या और अविद्या भी हैं। ब्रह्म की सभी शक्तियां सहज हैं। इनमें से कोई भी शक्ति जन्य नहीं है,क्योंकि कार्य होने पर अनित्यता की आशंका होती है,और ब्रह्म की समस्त शक्तियां नित्य हैं: किन्तु फिर भी वल्लभ इन्हें माया कार्य कहते हैं। इस शंका का एक सम्भावित उत्तर यह हो सकता है-- माया विद्या,अविद्या,प्रकृति तथा ब्रह्म की अन्यान्य शक्तियों की सापेक्ष स्थिति भी वही है,जो पुरुषोत्तम,अक्षर,अन्तर्यामी,जीव आदि की है। वल्लभ की दृष्टि में ब्रह्म का मूल रूप पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण है, तथा अक्षर,अन्तर्यामी आदि विशिष्ट प्रयोजनों की पूर्त्ति के लिए ग्रहण किये गये ब्रह्म के अवान्तर रूप हैं। साथ ही इनमें नियम्य-नियामक भाव भी है और ब्रह्म का मूल रूप इन अवान्तर अभिव्यक्तियों का नियामक है। ठीक यही स्थिति माया की है। माया ब्रह्म की मूल शक्ति है तथा समस्त सृष्टिव्यापार में करणभूत है। विद्या अविद्या आदि इस मूल माया की ही अवान्तर अभिव्यक्तियां हैं,जो विशिष्ट कार्य सम्पादित करती हैं ये तत्त्वत: माया से भिन्न नहीं हैं, जिस प्रकार ब्रह्म की विभिन्न अभिव्यक्तियां ब्रह्म से भिन्न नहीं हैं: इसीलिये इन्हें माया का कार्य कह दिया गया है तथा ये माया से नियमित है।

इनकी माया से जो उत्पत्ति कही गई है, वह उत्पत्ति जननलक्षणा नहीं है। वह वैसी ही है, जैसी जीव की ब्रह्म से कही गई है। जीव की उत्पत्ति जननलक्षणा अर्थात् कार्यलक्षणा नहीं,अपितु प्राकट्य लक्षण है। माया से विद्या-अविद्या का भी आविर्भाव या प्राकट्य ही समझना चाहिए। इस प्रकार ये माया कार्य होकर भी जन्य नहीं हैं तथा नित्य हैं।

वल्लभ की एक प्रवृत्ति और है कि कभी-कभी वे अपने सिद्धान्त की सीमाएं इतनी विस्तृत कर देते हैं कि सिद्धान्त का घनत्व या संकेन्द्रीकरण समाप्त हो जाता है। ऐसा प्राय: तब होता है, जब वे अन्यान्य मतों में प्रतिपादित आध्यात्मिक सत्य के विभिन्न रूपों को अपने मत में समाविष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। कई बार वे सिद्धान्तविशेष न केवल उनके लिए अनुपयोगी सिद्ध होते हैं,अपितु उनके सिद्धान्त में विसंगति भी उत्पन्न करते हैं। प्रकृति का अस्तित्व उनके मत में ऐसा ही है। न तो इसका स्वरूप ही स्पष्ट है और न कोई महत्त्वपूर्ण प्रयोजन है। अन्त में, इतना कहना पर्याप्त है कि वल्लभ की माया सम्बन्धी धारणा, चिन्तन की उस विशिष्ट शैली और अनुभूति के उस स्तर तथा स्थितिविशेष का प्रतिनिधित्व करती है,जो भक्त्यनुप्राणित दर्शनों की सामान्य विशेषता है।
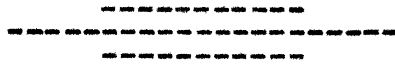
पंचम परिच्छेद

विशुद्धाद्वैत दर्शन में जीव का स्वरूप

ईश्वर और जीव ऐसे दो ध्रुव हैं, जिन्हें पास लाकर एकात्म करने में; दोनों के बीच का सारा अन्तर निश्शेष करने में ही आध्यात्मिक विचारणा की चरम परिणति होती है। परस्पर अत्यन्त भिन्न प्रतीत होने पर भी इनके बीच एक अटूट सम्बन्ध है, एकात्मता है और एकात्मता के इस सिद्धान्त के अन्वेषण में ही दार्शनिक अनुशीलन की कृतार्थता है।

यह सम्बन्ध या यह एकात्मता किस रूप की है, यही बात विभिन्न दार्शनिक सिद्धान्तों के रूपाकार और उनकी पारस्परिक भिन्नता की नियामिका है। विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रतिपादित जीव के स्वरूप में आधारभूत समानताएं होने पर भी कुछ मौलिक अन्तर हैं, जिनसे उनके सिद्धान्तों का स्वरूप निर्मित और नियमित होता है। पिछले परिच्छेदों में आचार्य वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित ब्रह्म और माया के स्वरूप की विवेचना के पश्चात्, इस परिच्छेद में उनके जीव-सम्बन्धी सिद्धान्तों का अनुशीलन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार एकमात्र तत्त्व ब्रह्म ही है; और सृष्टि में जो कुछ भी है, वह उसका ही रूपान्तर है। जीव भी ब्रह्मात्मक है। ब्रह्म ही इच्छा होने पर भोक्ता जीव-रूप से अवतीर्ण होता है। जीव ब्रह्म का सच्चित्प्रधान रूप है। प्रथम सृष्टि में ब्रह्म की इच्छा से, ब्रह्म से ही जीवों का प्राकट्य हुआ। इन जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से उसी प्रकार हुई है, जिस प्रकार अग्नि से स्फुलिंगों की होती है, इसीलिये ये ब्रह्म के अंश कहे जाते हैं। ब्रह्म अपने आनन्द-अंश को तिरोहित कर सच्चित्प्रधान जीव रूप से अवतीर्ण होता है, अत: आनन्द का अभाव होने से जीव 'निराकार' कहलाता है।[1]

जीव ब्रह्म का स्वरूप है, अत: वह ब्रह्म की ही भांति सत्य और नित्य है। वल्लभ जीव को ब्रह्म का कार्य स्वीकार नहीं करते; कार्य स्वीकार करने पर तो वह भी अन्य जन्य वस्तुओं की भांति अनित्य हो जायेगा। जीव जन्य नहीं है; वल्लभ जीव की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। ब्रह्म से उसकी उत्पत्ति नहीं, अपितु प्राकट्य होता है।

अणुभाष्य में वल्लभ तीन प्रकार की उत्पत्तियों का निर्देश करते हैं--

"अनित्ये जननं नित्ये परिच्छिन्ने समागमः
नित्यापरिच्छिन्नतनौ प्राकट्यं चेति सा त्रिधा।"[2]

---

१ " तदिच्छामात्रतस्तस्माद्ब्रह्मभूतांशचेतनाः।
सृष्ट्यादौ निर्गताः सर्वे निराकारास्तदिच्छया।।
विस्फुलिंगा इवाग्नेस्तु -------------- त०दी०नि० १।३२

२ अणुभा० २।३।१

अनित्य पदार्थों में जनन उत्पत्ति शब्दवाच्य है; नित्य किन्तु परिच्छिन्न पदार्थों के सन्दर्भ में उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव है; तथा नित्य और अपरिच्छिन्न, जैसे ब्रह्म, के विषय में उत्पत्ति का तात्पर्य इच्छाप्राकट्य है। जीव नित्य तो है,किन्तु आनन्द का तिरोभाव होने के कारण परिच्छिन्न है,अत: उसके सन्दर्भ में उत्पत्ति का अर्थ आविर्भाव ही लेना चाहिये। जननलक्षणा उत्पत्ति जीव की कहीं भी नहीं कही गई है।

उत्पत्ति वस्तुत: उसकी ही होती है, जो नामरूपविशेषों से युक्त होता है।[1] जीव के भगवदंश होने के कारण उसका स्वभावत: ही नामरूप के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। व्युच्चरणन्याय से उसकी जो उत्पत्ति कही गई है, उसे उसकी जन्यता नहीं समझना चाहिए,क्योंकि जीव का नामरूप से कोई सम्बन्ध नहीं होता।[2] वेदान्तसूत्र २।३।१५ पर भाष्य करते हुए भी वल्लभ यही सिद्ध करते हैं। तैत्तिरीय में आकाशादि से प्रारम्भ कर अन्नादि पर्यन्त समस्त कार्यजात की उत्पत्ति कही गई है। अन्नमय,प्राणमय कोशों की उत्पत्ति भी सहजगम्य ही है,क्योंकि इनके घटकावयवों की उत्पत्ति कही गई है। आनन्दमय तो परमात्मा ही है, अत: उसकी उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। मध्य में जो दो मनोमय और विज्ञानमयकोश अवशिष्ट रहते हैं,उनकी उत्पत्ति-अनुत्पत्ति का भी कोई प्रश्न नहीं है। वल्लभ इन दोनों की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करते। नामरूपविशेष से युक्त की ही उत्पत्ति होती है, इन दोनों की नहीं। इस 'विज्ञानमय' को तैत्तिरीय में जीव स्वीकार किया गया है,तथा छान्दोग्य में इस जीव को आत्मपद से सम्बोधित किया गया है,अत: विज्ञानमय की उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। तैत्तिरीय तथा छान्दोग्य दोनों ही में विज्ञानमय या जीव के सन्दर्भ में भूतविकारात्मक मन,प्राण वाणी,इन्द्रियादि का कोई कथन नहीं किया गया है,अत: जीव का नामरूपविशेषों से सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता।[3]

संसार में जीव का भूतविकारात्मक शरीरेन्द्रियों से जो सम्बन्ध देखने में आता है, उससे भ्रम में नहीं पड़ना चाहिए। देहेन्द्रियादि से जीव का सम्बन्ध सहज या स्वाभाविक नहीं अपितु आविद्यक है। भौतिक नामरूप से जीव का जो संयोग है, वह अविद्या सम्बन्ध का ही फल है। अपने मौलिक रूप में ब्रह्मस्वरूप होने से वस्तुत: जीव का भौतिक नामरूप विशेषों से कोई सम्बन्ध नहीं है,इसलिये उसकी उत्पत्ति स्वीकार करना भ्रमपूर्ण और असंगत है।

---

१ 'तस्य जीवस्य त्वंशत्वेनैव न नामरूपसम्बन्ध:' -- अणुभा० २।३।१

२ 'विस्फुलिंगवदुच्चरणं नोत्पत्ति: ।नामरूपसम्बन्धाभावात्' --अणुभा०२।३।१७

३ '---- अतस्तयोरुत्पत्तिर्वक्तव्येति चेन्न । अविशेषात् । नामरूपविशेषवतामेवोत्पत्तिरुच्यते, न त्वनयो: । विज्ञानमयस्य जीवत्वात्, मनोमयस्य च वेदत्वात् । अतो भूतभौतिक प्रवेशाभावान्न तयोरुत्पत्तिर्वक्तव्या ।'

--अणुभा० २।३।१५

जीव की उत्पत्ति इसलिये भी सम्भव नहीं है, क्योंकि वह 'आत्मा' है, और आत्मा की उत्पत्ति कहीं नहीं सुनी गई। 'देवदत्तो जातः'; 'विष्णुमित्रो जातः' इत्यादि से देह की ही उत्पत्ति कही जाती है; देहोत्पत्ति से पृथक् जीव की उत्पत्ति कहीं नहीं कही गई।[1]

जन्म-मरणधर्म शरीर के हैं, और जीव के शरीरसम्बन्ध के कारण इनका जीव में व्यपदेश होता है, अतः जीव की उत्पत्ति और विनाश 'भाक्तप्रयोग' हैं। जीव शरीराभिमानी है, अतः शरीरधर्मों का जीव में उपचाररूप से कथन किया जाता है। इस दृष्टि से ही जीव की उत्पत्ति कही जाती है, वस्तुतः होती नहीं। भगवदंश होने के कारण जीव स्वरूपतः विधिनिषेध का विषय नहीं है, तथापि देहानुकूल आगन्तुक विधिनिषेध उसे स्वीकार करने होते हैं।[2] वल्लभ के अनुसार जो देह सम्बन्धी है, वही जीव है। देह के अभाव में तो कोई भी पुरुषार्थ सिद्ध नहीं हो सकता। यह देह स्वयं आत्मरूप नहीं है, अपितु आत्मा का आवरण मात्र है। जिस प्रकार घट आकाश का परिच्छेदक है, उसी प्रकार शरीर आत्मा का परिच्छेदक है। इस शरीर के सम्बन्ध से ही जीव का सुखदुःखभोग होता है।[3]

जीव की नित्यता तथा अनुत्पत्ति के विषय में वल्लभ, शंकर तथा वैष्णव आचार्यों का ऐकमत्य है। शंकर, भास्कर, रामानुज तथा वल्लभ सभी जीव को नित्य स्वीकार करते हैं। जीव की इस नित्यता से एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा में भी कोई बाधा नहीं पहुंचती, क्योंकि जीव और ब्रह्म में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है, केवल न्यूनाधिक्य है। शंकर तो वास्तविक अर्थ में न्यूनाधिक्य भी स्वीकार नहीं करते हैं। यहां रामानुज के विषय में दो शब्द कहना आवश्यक है।

यद्यपि वल्लभ और रामानुज का सिद्धान्त एक ही है, तथापि रामानुज जीव को शब्दतः कार्य कहते हैं और वल्लभ नहीं कहते। रामानुज के अनुसार द्रव्य की अवस्थान्तरापत्ति कार्यत्व है। इस दृष्टि से जीव भी ब्रह्म की अवस्थान्तरापत्ति होने के कारण ब्रह्म का कार्य है; किन्तु

---

१ '----- न हि आत्मन उत्पत्तिः श्रूयते। देवदत्तो जातो, विष्णुमित्रो जात इति देहोत्पत्तिरेव। न तु तद्व्यतिरेकेण पृथग् जीवोत्पत्तिः श्रूयते ---'। अणुभा० २।३।१७

२ (क) 'चराचरव्यपाश्रयस्तु स्यात् तद्व्यपदेशो भाक्तस्तद्भावभावित्वात्' -- वे०सू०२।३।१६

'--- शरीरस्य जन्ममरणधर्मवत्त्वेन जीवव्यपदेशो भाक्तो लाक्षणिकः कुतः तद्भावभावित्वात्। शरीरस्य अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेव जीवस्य तद्भावित्वम्। देहधर्मो जीवस्य भाक्तः, तत्सम्बन्धे-नैवोत्पत्तिव्यपदेश इति सिद्धम् --' अणुभा० २।३।१६

(ख) 'अनुज्ञापरिहारौ विधिनिषेधौ जीवस्य देहसम्बन्धाद्, यो देहो यदा गृहीतस्तत्कृतो --'
--अणुभा० २।३।४८

३ ' यो देहवान् स जीव इति लोकवेदप्रसिद्ध्या देहसम्बन्धी जीव इति निश्चीयते।---अशरीरं वावसंतं न प्रियाप्रिये स्पृशत इति देहाभावे न कोऽपि पुरुषार्थः सिद्ध्यति। अयं हि देहो नात्मा, किन्त्वात्मन आवरणरूपः। तत्सम्बन्धेनैव तस्य सुखदुःखजननात् --'
-- सुबो० २।७।४६

इससे जीव की उत्पत्ति वियदादि की भांति नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि दोनों में अन्तर है। वियदादि का जैसा अन्यथाभाव होता है, वैसा अन्यथाभाव जीव का नहीं होता है। जीव का अन्यथाभाव ज्ञानसंकोचविकासलक्षण है, जब कि जड़ वियदादि में स्वरूपत: विकारापत्ति होती है। रामानुज के मत में इस स्वरूपान्यथाभावलक्षणा उत्पत्ति का ही जीव में निषेध है।[1] जीव को ब्रह्म का अवस्थान्तर तो वल्लभ भी स्वीकार करते हैं, परन्तु उसे 'कार्य' संज्ञा से सम्बोधित नहीं करते।

वल्लभ की भांति भास्कर और रामानुज भी जन्म-मरण, विधि-निषेध आदि धर्मों को जीव में शरीरसम्बन्ध के कारण व्यपदिष्ट मानते हैं।[2] ये जीव के सहजधर्म नहीं हैं।

इसके पूर्व कि जीव के स्वरूप की विवेचना प्रारम्भ की जाये, यह जानना अत्यन्त आवश्यक है कि जीवभाव सत्य और वास्तविक है। शंकर जीव भाव को औपाधिक और असत्य मानते हैं, और भास्कर सत्य किन्तु औपाधिक : रामानुज और वल्लभ इसके विपरीत जीवभाव को न असत्य मानते हैं, और न ही औपाधिक। जीव ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्तिविशेष है, अत: उतना ही सत्य है जितना कि ब्रह्म स्वयं है। वल्लभ ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते हैं। नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव ब्रह्म के स्वरूप में किसी उपाधि के लिए अवकाश नहीं है। वह जब विश्वरूप से अपनी लीला का विस्तार करता है, तब अपनी सर्वभवनसामर्थ्य से स्वयं ही जीव रूप से अवतीर्ण होता है। इस आविर्भाव में उपाधिसम्बन्ध का लेश भी नहीं है। इस प्रकार जीवभाव औपाधिक नहीं अपितु सहज या स्वाभाविक है। ब्रह्म ही इस जागतिक प्रपंच में भोक्ता जीवरूप से आविर्भूत होता है; जीव ब्रह्म की एक अवस्थाविशेष है[3]: अत: जीव मिथ्या या मायिक नहीं है, अपितु उतना ही वास्तविक है जितना स्वयं ब्रह्म।

जीव के नित्य और सत्य होने पर भी अद्वितीयश्रुति का विरोध नहीं होता, क्योंकि जीव-ब्रह्म-विभाग अनादि नहीं है। जीवभाव को हम भी अनादि स्वीकार करलेने पर ब्रह्म के

---

१ 'कार्यत्वं हि नामैकस्य द्रव्यस्यावस्थान्तरापत्ति:, तज्जीवस्याप्यस्त्येव। इयांस्तु विशेष:, वियदादेरचेतनस्य यादृशोऽन्यथाभावो न तादृशो जीवस्य, ज्ञानसंकोचविकासलक्षणो जीवस्यान्यथाभाव:। वियदादेस्तु स्वरूपान्यथाभावलक्षण:। सेयं स्वरूपान्यथाभावलक्षणोत्पत्तिर्जीवे प्रतिषिध्यते।'
--श्रीभा० २।३।१८

२(क) 'यो ह्ययमुत्पत्तिप्रलयव्यपदेशो लौकिक:, स भाक्त: गौण इत्यर्थ: '--भा०भा०२।३।१६

(ख) 'सर्वेषां ब्रह्मांशत्वज्ञत्वादिनैकरूपत्वे सत्यपि ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रादिरूपशुच्यशुचिसम्बन्धनिबन्धनावनुज्ञापरिहारौ उपपद्येते'-- श्रीभा० २।३।४७

(ग) 'परमात्मना चेदभिन्नो जीव:, कस्यानुज्ञापरिहारौ स्याताम् ? ---अत्रोच्यते स्यातामनुज्ञापरिहारौ अंशस्य देहसम्बन्धमधिकृत्य'-- भा०भा० २।३।४८

३ ' --- न नु के ते जीवा: तत्राह आत्मकल्पितानामिति आत्मनैव कल्पिता: (~~कल्पिता:~~)। भगवतोऽवस्थाविशेषो जीव:, प्राकृतभोगार्थं तामवस्थां सम्पादितवानित्यर्थ:'
-- श्रीमद्भा० सुबो०१।६।४२

अद्वितीयत्व का विरोध होता है । वल्लभ के अनुसार जीवभाव न तो अनादि है, और न ही बुद्धिकृत; दोनों में ही कोई प्रमाण नहीं है । और फिर जीवभाव को अनादि या बुद्धिकृत मानने पर 'सदेव सौम्येदमग्राऽऽसीदेकमेवाद्वितीयम्' इस श्रुति का भी विरोध होगा।[1]

इस प्रमाणभाव को और अधिक स्पष्ट करते हुए भाष्यप्रकाशकार लिखते हैं कि यदि जीवब्रह्म विभाग को बुद्धिकृत मानें तो वह किसकी बुद्धि होगी ? जीव की, ब्रह्म की, या स्वयं बुद्धि की ही ? जीवबुद्धिकृत इसलिये नहीं हो सकता, क्योंकि जीव की तो अभी स्थिति ही नहीं है । ब्रह्मबुद्धिकृत विभाग मानने पर एक तो विभाग का अनादित्व समाप्त हो जाता है, दूसरे बुद्धि की सत्ता होने से अद्वितीयत्व का भी विरोध होता है । स्वयं बुद्धिकृत हो नहीं सकता, क्योंकि बुद्धि जड और अचेतन है।[2]

इस प्रकार जीवभाव न तो बुद्धि आदि उपाधिकृत है और न ही उसका अनादित्व है । उपनिषद् में व्युच्चरणश्रुति के माध्यम से उसके सादित्व का ही प्रतिपादन किया गया है, अत: जीवभाव को सादि ही स्वीकार करना चाहिए ।

ब्रह्म की सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म से ही जीवों का प्राकट्य होता है । मुण्डकोपनिषद् में एक श्रुति आई है--

'तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा:
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा: ।
तथाऽक्षराद्विविधा: सौम्यभावा:,
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ।।' (मुण्डक० २।४।१)

जिसप्रकार सुदीप्त अग्नि से, अग्नि के ही स्वरूपवाले विस्फुलिंग सहस्रश: उत्पन्न होते हैं, वैसे ही इस अक्षर से द्विविध(जीवजडात्मक) सृष्टि उत्पन्न होती है, और उसमें ही विलीन होती है । यह व्युच्चरणश्रुति ही वल्लभ के मत में जीव के स्वरूपसम्बन्धी सिद्धान्तों का आधार है । इस श्रुति के आधार पर वल्लभ जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशीभाव स्वीकार करते हैं । जीव अंश है और ब्रह्म अंशी है, उसी प्रकार, जिस प्रकार अग्निस्फुलिंग अंश और अग्नि अंशी है । जैसे अग्निस्फुलिंग अग्नि के गुणों से युक्त और अग्निस्वरूप होता है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म के गुणों से युक्त और ब्रह्मस्वरूप होता है । स्फुलिंग तत्त्वत: अग्नि से अभिन्न होता है; जीव भी तत्त्वत: ब्रह्म से अभिन्न है : जो अन्तर है वह अभिव्यक्ति या रूपाकार का ही है । इसके अतिरिक्त स्फुलिंग अग्नि से अल्प और

---

१ 'न चानादिरयं जीवब्रह्मविभागो बुद्धिकृत:, प्रमाणाभावात् । सदेव सौम्येदमग्राऽऽसीदेकमेवाद्वितीयमिति श्रुतिविरोधश्च' -- अणुभा० २।२।१८

२ '----किंच, बुद्धिकृत इति कस्य बुद्धिकृत: । जीवस्य, ब्रह्मणो वा स्वस्यैव वा । तत्र न तावदाद्य: । जीवस्यैवाभावात् । द्वितीये तु बुद्धिकृतत्वाद् गतमनादित्वम् । तदानीं बुद्धिसत्त्वादद्वितीयश्रुतिविरोधश्च । तृतीयेत्वसम्भव एव । तस्या जडत्वात् । '-- भा०प्र०२।३।१८

न्यून होता है; जीव भी ब्रह्म की अपेक्षा अल्पसामर्थ्यशाली और हीन है। जीव और स्फुलिंग की इन समान विशेषताओं के आधार पर ही जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशीभाव के सन्दर्भ में अग्नि-स्फुलिंग और अग्नि का दृष्टान्त दिया जाता है। अंशांशिभाव के स्वरूप की विस्तृत पर्यालोचना; शंकर, भास्कर, रामानुज तथा वल्लभ के द्वारा स्वीकृत अंशांशिभाव की तुलना; इसी सन्दर्भ में प्रतिबिम्बवाद आदि का खण्डन; तथा वाल्लभमत में अंशांशिसम्बन्ध के महत्त्व का आकलन इसी परिच्छेद में आगे विस्तारपूर्वक किया जायेगा। यहाँ उसके स्वरूप का संक्षिप्त परिचय मात्र दिया गया है।

जीव ब्रह्म का अंश है, परन्तु निरवयव और निरंश ब्रह्म के अंश कैसे हो सकते हैं? इसके उत्तर में वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म का अंशत्व या निरंशत्व लोकसिद्ध नहीं है, वह तो वेदैकगम्य है;अत: श्रुति जैसा कथन करती है, उसका उल्लंघन न करते हुए ही युक्ति देनी चाहिए[1]। इस युक्ति का स्वरूप है-- "विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गता:।

सर्वत: पाणिपादान्तात् सर्वतो क्षिशिरोमुखात्।।"

जिस प्रकार श्रुति के आधार पर ब्रह्म में लोकविरुद्ध 'सर्वत: पाणिपादत्व' को स्वीकार किया जा सकता है, उसी प्रकार श्रुति के आग्रह से निरंश ब्रह्म में सांशत्व भी स्वीकार किया जा सकता है। ब्रह्म का विरुद्धधर्माश्रयत्व[2] इसमें युक्ति है। श्रुतिमूलक युक्ति के आधार पर विशुद्धाद्वैतमत में अंशपक्ष ही समादृत है।

जीव ब्रह्म का अंश है-- इससे इतना तो सिद्ध होता है कि ब्रह्म जीव का आत्मभूत है,किन्तु दोनों में परस्पर कुछ वैशिष्ट्य या अन्तर भी होना आवश्यक है नहीं तो जीव का अस्तित्व और अंशत्व ही उपपन्न नहीं होगा; अत: ब्रह्म जीव में अपने आनन्दांश का तिरोभाव कर देता है। जीव ब्रह्म का सच्चित्प्रधानरूप है, और जड केवल सत्प्रधान[3]। आनन्दांश का तिरोभाव होने के कारण ही जीव और जड 'निराकार' कहलाते हैं। इस 'निराकारत्व' पर आगे विचार किया

---

१ "न हि ब्रह्म निरंशं सांशमिति वा क्वचिल्लोके सिद्धम्। वेदैक समधिगम्यत्वात्। सा च श्रुतिर्यथोपपद्यते तथा तदनुल्लंघनेन वेदार्थ ज्ञानार्थं युक्तिर्वक्तव्या" -- अणुभा०२।३।४३

२ द्रष्टव्य : अणु भा०२।३।४३ तथा भा०प्र०

३ "सच्चिदानन्दरूपेषु पूर्वयोरन्यलीनता।
अतएव निराकारौ पूर्वावानन्दलोपत:।
जडो जीवोऽन्तरात्मेति व्यवहारस्त्रिधा मत:।।"
-- त०दी०नि० १।३४

जायेगा ।

जीवस्वरूप में आनन्दांश का तिरोभाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है । इस आनन्द के तिरोभाव से ही जीवभाव होता है । इसी कारण जीव कामनाओं से संयुक्त हो जाता है,क्योंकि आनन्दांश ही निष्कामत्व में प्रयोजक है ।[1] आनन्दांश के तिरोहित होने पर ऐश्वर्य,वीर्य, यश,श्री, ज्ञान तथा वैराग्य इन छः दैवी गुणों का भी तिरोभाव हो जाता है । आनन्द तथा इन दैवी गुणों के तिरोभाव में भगवदिच्छा ही नियामिका है । 'पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ' (वे०सू०३।२।५) पर भाष्य करते हुए वल्लभ इस हेतु का उल्लेख करते हैं । ब्रह्म की स्वयं तथा जीवसंबंधी जो भोगेच्छा है,उस भगवदिच्छा से ही जीव के भगवद्धर्मों का तिरोभाव होता है ।[2]

ऐश्वर्य के अभाव में जीव में दीनत्व और पराधीनत्व आ जाते हैं; वीर्य के अभाव में वह समस्त दुःखों का विषय बनता है : यश के तिरोभाव से वह सब प्रकार से हीन हो जाता है तथा श्री के तिरोभाव से जन्मादि के आवर्त में पड़ जाता है । ज्ञान के तिरोहित होने के कारण देहादि में अहंबुद्धि तथा समस्त वस्तुओं का विपरीतज्ञान होता है और वैराग्य के अभाव में जीव विषयों में लिप्त और आसक्त हो जाता है । आनन्द तो पहिले ही तिरोभूत हो गया था, जिसके अभाव में जीवभाव होता है । इन षड्गुणों के तिरोभाव से ही जीव के बन्ध मोक्ष होते हैं,स्वभावतः नहीं । इनके तिरोभाव से ही ब्रह्म और जीव का लीलासम्बन्धी समस्त भोग सम्पन्न होता है । ऐश्वर्यादि का सद्भाव बने रहने पर वैचित्र्य के अभाव में लीला ही उपपन्न नहीं होगी ।

आनन्द का तिरोभाव होने पर भी आत्मा व में जो प्रियत्व की अनुभूति होती है,उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं है,क्योंकि प्रियत्वभान तो आनन्द की सत्तामात्र से ही सम्भव है । जीव में आनन्द का तिरोभाव भले ही हो, अमाव तो नहीं ही होता ।[3]

ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते हुए हम देख चुके हैं कि ब्रह्म के स्वरूपभूत धर्मों में आनन्द का विशेष महत्त्व है, और इसकी बहुविध भूमिकाएं हैं । आनन्दांश का सबसे बड़ा गुण है

----

१ "---- आनन्दांशस्तु पूर्वमेव तिरोहितो, येन जीवभावः । अत एव काममयः । अकामरूपत्वादानन्दस्य"
--अणुभा०३।२।५

२ "अस्य जीवस्यैश्वर्यादि तिरोहितम् । तत्र हेतुः पराभिध्यानात् । परस्य भगवतोऽभितो ध्यानं स्वस्यैतस्य च सर्वतो भोगेच्छा, तस्मादीश्वरेच्छया जीवस्य भगवद्धर्मतिरोभावः ।" अणुभा०३।२।५

३ (क) "ऐश्वर्यतिरोभावाद्दीनत्वं पराधीनत्वं; वीर्यतिरोभावात् सर्वदुःखसहनं; यशस्तिरोभावात् सर्वहीनत्वं, श्रीतिरोभावाज्जन्मादिसर्वापद्विषयत्वं; ज्ञानतिरोभावादेहादिष्वहंबुद्धिः सर्वविपरीतज्ञानं चापस्मारसहितस्यैव: वैराग्यतिरोभावाद्विषयासक्तिः ।"
--अणुभा० ३।२।५

(ख) "--- न च प्रियत्वभानं बाधकमिति वाच्यम् तस्यानन्दसत्तामात्रादप्युपपद्यते । ज्ञानसत्तामात्रेण भातीति भानवत् ।" -- त०दी०नि० १।३४ आ०भं०

विरुद्धधर्माश्रयत्व । जीव में आनन्द का तिरोभाव होने से विरुद्धधर्माश्रयत्व का भी अभाव है । जब जीव का ब्रह्मभाव होता है, और आनन्दांश आविर्भूत होता है, तो पुन: विरुद्धधर्माश्रयत्व प्रकट हो जाता है । विरुद्धधर्माश्रय न होने के कारण ही जीव ब्रह्म की भांति `सर्वभवनसामर्थ्य` तथा `अनन्त शक्तिमान्` नहीं है ।

आनन्द के अभाव में जड और जीव को `निराकार` कहा गया है । जड निराकारत्व क्या है, इस बात पर विचार करना आवश्यक है । निराकार का अर्थ यहां आकारहीनता करना उचित नहीं है, क्योंकि जड और जीव दोनों ही आकारवान् रूप में प्रत्यक्ष होते हैं : अत: जीव के पक्ष में निराकार का अर्थ `आनन्दाकारता` अर्थात् `आनन्दमयता` का अभाव ही लेना चाहिए ।

विशुद्धाद्वैतमत में आनन्द को `आकारसमर्पक`[१] कहा गया है । वल्लभ सर्वत्र ब्रह्म को आनन्दाकार कहते हैं । आनन्द ब्रह्म में रूपस्थानीय है[२] । ब्रह्म की आनन्दाकारता का अर्थ है कि उनका विग्रह भौतिक या प्राकृत नहीं है, अपितु विशुद्ध आनन्दमय तथा उनके स्वरूप से अभिन्न है। इसके विपरीत जीव की शरीरेन्द्रियां आनन्दमय न होकर प्राकृत और भौतिक हैं तथा जीव के स्वरूप से भिन्न है । आनन्द के अभाव में आनन्दाकारता न रहने से ही सम्भवत: जीव को `निराकार` कहा गया है । अन्यत्र एक स्थल पर वल्लभ जीव के निराकार होने का अर्थ भगवान् के चतुर्भुजादि रूपों से रहित होना करते हैं[३] । बात घूमफिरकर वहीं आती है । चतुर्भुजादिस्वरूप अप्राकृत और आनन्दमय हैं, इनका अभाव प्रकारान्तर से आनन्दमयता या आनन्दाकारता का ही अभाव घोतित करता है । अत: जीव के पक्ष में निराकार का अर्थ, आनन्दमय भगवदाकार से रहित होना ही है ।

जीव ब्रह्म का चिदंशप्रधानरूप है । जीव के चिद्रूपत्व पर वल्लभ ने कोई विशेष चर्चा नहीं की है । किन्तु इतना तो स्पष्ट है कि वे चैतन्य को `स्वयंज्योतिष्ट्व` श्रुति के आधार पर जीव का स्वरूप तथा `गुणाद्वालोकवत्` के आधार पर जीव का गुण स्वीकार करते हैं । `ज्ञोऽतएव` सूत्र का भाष्य करते हुए वल्लभ लिखते हैं --`ज्ञश्चैतन्यस्वरूप: । अत एव श्रुतिभ्यो विज्ञानमय इत्यादिभ्य:/ `ज्ञ:` अर्थात् जीव को चैतन्यस्वरूप कहा गया है । भाष्यप्रकाशकार के अनुसार जीव को चैतन्यस्वरूप कहना

---

१ `आनन्दो ब्रह्मादे आकारसमर्पक:` — त०दी०नि० १।४७ पर `प्रकाश`

२ `आनन्द एव ब्रह्मणि रूपस्थानीय:` -- त०दी०नि० १।७५ पर `प्रकाश`

(क) `आनन्दमात्रकरपादमुखोदरादि:`

(ख) `आनन्दरूपममृतं यद्विभाति`

३ ` -----अतएव निराकाराविति ।।भगवदाकारश्चतुर्भुजत्वादिराकारशब्देनोच्यते`

--त०दी०नि० १।३४ `प्रकाश`

उसे चैतन्यगुणयुक्त स्वीकार करना है।[1] वह ज्ञानधर्मक होने पर भी ज्ञानस्वरूप है। वस्तुत: चैतन्य जीव का स्वरूपभूत धर्म है, अत: उसे जीव का स्वरूप भी कहा है और स्वरूपभूत गुण भी। इस मान्यता के कारण वल्लभ का सिद्धान्त न्याय और सांख्य से पर्याप्त भिन्न हो जाता है। न्याय के अनुसार जीव चैतन्यधर्मक है और सांख्य के अनुसार चैतन्य स्वरूप है। वल्लभ जीव को केवल `चैतन्यधर्मक' या केवल `चैतन्यस्वरूप' नहीं स्वीकार करते, अपितु दोनों ही मानते हैं। इसके अतिरिक्त न्याय के अनुसार जीव का चैतन्यगुण आगन्तुक है, किन्तु वल्लभ के मत में चैतन्य उसका स्वरूपभूत सहजगुण है, आगन्तुक धर्म नहीं। जीव नित्य चैतन्यस्वरूप है।

वस्तुत: किसी भी दार्शनिक की जीव की चिद्रूपत्वसम्बन्धी धारणा उसके ब्रह्मसम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुकूल होती है। जीव ब्रह्म का ही अंश है, अत: उसका मौलिक स्वभाव ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकता। यहीं आकर शंकर, भास्कर तथा वैष्णव आचार्यों में कुछ वैमत्य हो जाता है। शंकर जीव को चैतन्यस्वरूप तो मानते हैं, किन्तु चैतन्यधर्मक स्वीकार नहीं करते। इसका कारण उनकी ब्रह्म सम्बन्धी धारणा है। सत्, चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूप हैं, किन्तु गुण नहीं हैं। उनका ब्रह्म सन्मात्र, चिन्मात्र तथा आनन्दमात्र है; सत्ताशाली, सर्वज्ञ और आनन्दप्रचुर नहीं; इसीलिए वे `आनन्दमय' के ब्रह्मत्व का भी निषेध करते हैं। शंकर के ब्रह्म और उसके चैतन्य में गुण-गुणी सम्बन्ध नहीं है। यह शुद्ध ब्रह्म ही अविद्योपाधि के संसर्ग से जीवभाव से अवस्थित होता है,[2] अत: जीव भी चैतन्यरूप ही होगा, चैतन्यधर्मक नहीं हो सकता।

इसके विपरीत भास्कर तथा रामानुज, वल्लभ आदि वैष्णव आचार्य परमवस्तु को सविशेष स्वीकार करते हैं, शंकर की भांति निर्विशेष नहीं। सत् चित् और आनन्द ब्रह्म के स्वरूपभूत धर्म हैं, तथा ब्रह्म और इनके बीच धर्मधर्मी का भी सम्बन्ध है। ब्रह्म सन्मात्र, चिन्मात्र और आनन्दमात्र ही नहीं है, अपितु सत्ताशाली, सर्वज्ञ और आनन्दी है। इसी के आधार पर इन आचार्यों ने ब्रह्म को `आनन्दमय' सिद्ध किया है। जीव ब्रह्म का अंश है, अत: ब्रह्म का मौलिक स्वभाव उसमें भी अनुवर्तित होता है; इसलिए ब्रह्म की भांति जीव भी चैतन्यस्वरूप और चैतन्यधर्मक दोनों ही है। इस विषय में

---

१ --तद्गुणान् धर्मान्निरूपयन् प्रथमतो मुख्यतया चैतन्यगुणं चैतन्यं गुणो यस्य तादृशं, यो यज्जनक: स तद्गुणको, यो यद्गुणक: स तदविनाभूतो, यो यदविनाभूत: स तदात्मक इति व्याप्तीनां समन्वयसूत्रे सिद्धत्वादत्र चैतन्यगुणकत्वेन चैतन्यात्मकमात्मानमाहेत्यर्थ:। --भा०प्र०२।३।१८

२क ---परमेव ब्रह्माविकृतमुपाधिसंपर्काज्जीवभावेनावतिष्ठते। परस्य हि ब्रह्मण: चैतन्यस्वरूपत्वमाम्नातं-- `विज्ञानमानन्दं ब्रह्म', `सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म', `अनन्तरो बाह्य: कृत्स्न: प्रज्ञानघन एव' इत्यादिषु श्रुतिषु। तदेव चेत्परं ब्रह्म जीव:, तस्माज्जीवस्यापि नित्यचैतन्यस्वरूपत्वमग्न्यौष्ण्यप्रकाशवदिति गम्यते --शां०भा० २।३।१८

~~ख ---[illegible]~~

ख `चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपं अग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ। नात्र गुणगुणिविभागो विद्यत इति'
--शां०भा० २।३।१८

वल्लभ के साथ भास्कर और रामानुज का ऐकमत्य है[१]। दोनों ही चैतन्य को जीव का स्वरूपभूतधर्म स्वीकार करते हैं।

किन्तु कहीं-कहीं जीव का स्वरूप चिन्मात्र कहा गया है, जैसे 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै०उ० २।५) 'ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलम्' (वि०पु०१।२।६) इत्यादि। इस पर टिप्पणी करते हुए रामानुज लिखते हैं कि ज्ञान जीव का सारभूत गुण है, अतः उसे ज्ञानरूप भी कह दिया जाता है[२]।

वल्लभ वेद ने यद्यपि इस विषय पर विस्तार से चर्चा नहीं की है, तथापि इतना निश्चित है कि उनके अनुसार भी जीव चिन्मात्र नहीं है।

अपने इस चैतन्य[३] से जीव तेज के समानभासित होता है, अतः उसके लिए 'ज्योतिः' शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु जीव तैजस कदापि नहीं है। तैजसत्व के अभाव में जीव में रूप की भी शंका नहीं करनी चाहिए। रूप न होने से इन्द्रियार्थसन्निकर्षादि भी नहीं होते, अतः प्राकृत इन्द्रियों से जीव का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यह अन्य किसी वस्तु के द्वारा भी प्रकाश्य नहीं है। इसका[४] दर्शन योगसाधितमन, (के द्वारा) दिव्यदृष्टि, अथवा भावदर्शन में समर्थ दृष्टि के द्वारा ही सम्भव है।

जीव की चिद्रूपता से घनिष्ठ रूपसे सम्बद्ध प्रश्न है, जीव के परिमाण का। जीव अणुपरिमाण है या महत्परिमाण ? अणुपरिमाण है तो सर्वदेहव्यापिचैतन्य की उपलब्धि किस प्रकार सम्भव है? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते हैं।

----

१ (क) '---- जीवो ज्ञः। कस्मादतएव श्रुतिभ्य एवात्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः ----ब्रह्मांशत्वाच्च विस्फुलिंगन्यायेन। --- किंच स्वप्रत्यक्षं चास्यचैतन्यं ज्ञातृस्वरूपस्य सर्वदाऽपरोक्षत्वात्।'
--भा०भा० २।३।१८

(ख) '--- ज्ञोऽत एव। ज्ञ एवाऽयमात्माज्ञातृस्वरूपः एव न ज्ञानमात्रं नापि जडस्वरूपः।कुतः।अतएव। श्रुतेरेवेत्यर्थः।' --श्रीभा० २।३।१८

(ग) 'आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यावस्थितः ----' श्रीभा० २।३।२६

२ ' तद्गुणसारत्वाद्विज्ञानगुणसारत्वादात्मनो विज्ञानमिति व्यपदेशः।विज्ञानमेवास्य सारभूतो गुणः'
--श्री भा० २।३।२६

३ 'प्रकाशकं तच्चैतन्यं तेजोवत्तेन भासते'--त०दी०नि०१।५८

'प्रकाशकं तद्रूपं,तस्य चैतन्यगुणो वा, तेन तेजोवद् भासते' --'प्रकाश'

४ ' न प्राकृतेन्द्रियैर्ग्राह्यं न प्रकाश्यं च कैनचित्।
योगेन,भावदृष्ट्या,दिव्यया वा प्रकाशते ।।'-- त०दी०नि०१।५८

विशुद्धाद्वैतमत में जीव को अणुपरिमाण स्वीकार किया गया है। अणुत्व चिद्‌अंश का धर्म है, अत:जीव का अणु होना स्वाभाविक है । `स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय:` इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जीव को महत्‌परिमाणयुक्त स्वीकार करना उचित नहीं है, क्योंकि ये श्रुतियां जीवस्वरूप की प्रख्यापिका नहीं हैं,अपितु ब्रह्म के स्वरूपविवेचन के प्रसंग में कही गई हैं । अर्थ में प्रकरण[1] ही नियामक होता है; ब्रह्म के प्रकरण में पठित श्रुतियों का जीवपरक अर्थ नहीं ग्रहण करना चाहिए ।

इसके अतिरिक्त बृहदारण्यक के ज्योतिर्ब्राह्मण में `स्वयं विहृत्य स्वयं निर्माय स्वेन भासा स्वेन ज्योतिषा प्रस्वपिति` इत्यादि श्रुति में `स्व`शब्द से अणुपरिमाण जीव का ही कथन किया गया है । स्वप्न में व्यापक या शरीरपरिमाण जीव का विहरण सम्भव नहीं है । श्वेताश्वतर में भी अन्यवस्तुनिरासपूर्वक जीव का जो लक्षण दिया गया है वह भी उसे अणु ही सिद्ध करता है-- `बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीव: स विज्ञेय: ---` , तथा `आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट: ---` -- इन लक्षणों में स्पष्टरूप से जीव को अणु ही कहा गया है[2] । जीव को अणु स्वीकार करने पर श्रुति तथा गीता में जीव की जो शाश्वतता कही गई है, वह भी उपपन्न हो जायेगी । जीव को महत्परिमाणयुक्त स्वीकार करने पर ब्रह्म का ईशितृत्व और जीव का ईशितव्यत्व बाधित होगा । इस प्रकार जीव को अणुपरिमाण ही स्वीकार करना चाहिए ।

इस विषय में वल्लभ का शंकर से विसंवाद है । शंकर के अनुसार जीव अणुपरिमाण नहीं हो सकता, वह महत्परिमाण ही है । यदि परब्रह्म ही उपाधिसम्पर्क से जीवरूप में स्थित होता है, तो जो परिमाण ब्रह्म का है, वही जीव का भी होना चाहिए । परब्रह्म का सर्वत्र महत्परिमाण कहा गया है,अत: जीव का परिमाण भी महत् ही है ।ऐसा स्वीकार करने पर`स वा एष,महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु ---`इत्यादि जीव सम्बन्धी जो विभुत्वकथन हैं,वे

१` --- इतराधिकारात् । इतर: परब्रह्म तस्याधिकारे महानज इति वाक्यम् । प्रकरणेन शब्दाश्च नियम्यन्ते ।` -- अणुभा० २।३।२१

२` स्वयंविहृत्य --- प्रस्वपितीति स्वशब्दोऽणुपरिमाणं बोधयति । न हि स्वप्ने व्यापकस्य वा शरीरपरिमाणस्य वा विहरणं सम्भवति । `बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु । भागो जीव: स विज्ञेय: इति ।`आराग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट:` इति चोन्मानम् ।`

--अणुभा० २।३।२२

भी उपपन्न हो जायेंगे[१]। किन्तु जीव को महत्परिमाण स्वीकार करने पर, श्रुति जो उसका 'एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्य:' इत्यादि से अणुपरिमाणयुक्त रूप से कथन करती है, उसकी संगति किसतरह होगी? इसका उत्तर देते हुए शंकर कहते हैं कि जीवका अणुत्व-व्यपदेश उपाधिसम्पर्क के कारण है। बुद्धि-उपाधि के इच्छा-द्वेष, सुख-दु:ख आदि जो गुण हैं, वे ही जीव के संसारित्व में कारण हैं। बुद्धि के धर्मों का आत्मस्वरूप में जो अध्यास है वही नित्यमुक्त अकर्ता, अभोक्ता आत्मा के कर्तृत्वभोक्तृत्व-लक्षण संसारित्व में निमित्त बनता है। बुद्धिधर्मों से स्वयं को एकात्म कर लेने के कारण बुद्धि के परिमाण का ही जीव में व्यपदेश होता है। 'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीव: स विज्ञेय: स चानन्त्याय कल्पते' में जीव का अणुत्व कहकर फिर उसी का आनन्त्य कहा गया है। अत: यही मानना उचित है कि जीव का अणुत्व उपाधिसम्बन्ध से होने के कारण औपचारिक है, और महत्परिमाण ही वास्तविक है[२]।

इसके विपरीत वल्लभ तो जो भी परिमाण मानते हैं, वास्तविक ही मानते हैं; औपचारिकत्व के लिए उनके मत में कोई अवकाश नहीं है, क्योंकि वे ब्रह्म अथवा जीव की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार जीव का परिमाण अणु ही है। 'नित्य: सर्वगत: स्थाणु:', तथा 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' इत्यादि श्रुतियों के आधार पर जीव का आराग्रमात्रत्व अवास्तविक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि श्रुति जीव का ब्रह्मत्वकथन उसके ज्ञानसम्पन्न होने के पश्चात् ही करती है। जीव का ब्रह्मभाव आनन्द के अभिव्यक्त होने पर ही होता है। वल्लभ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं -- 'व्यापकत्वश्रुतिस्त्वस्य भगवत्त्वेन युज्यते'[३]। इस पंक्ति की व्याख्या करते हुए वे लिखते हैं कि वस्तुत: जीव व्यापक नहीं है, अपितु भगवद्भाव होने पर सभी भगवद्धर्मों का उसमें कथन होने लगता है[४]। जिसप्रकार अयोगोलक दाहक होने पर भी केवल अयोरूप से दाहक नहीं होता, उसी प्रकार जीव भगवदंश होने पर

----

१ --- कथं तर्हि अणुत्वादिव्यपदेश: इत्यत आह-- तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश इति। ---नहि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मन: संसारित्वमस्ति। बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्वभोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वं अकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मन:। तस्मात्तद्गुणसारत्वाद्बुद्धिपरिमाणेनास्यपरिमाणव्यपदेश:' -- शां०भा० २।३।२९

२ 'परमेव चेद्ब्रह्म जीव:, तस्माद्यावत्परं ब्रह्म तावानेव जीवो भवितुमर्हति: परस्य च ब्रह्मणो विभुत्वमाम्नातम्। तस्माद्विभुर्जीव:। तथा च 'स वा एष महानज आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु' इत्येवंजातीयका जीवविषया विभुत्ववादा: श्रौता: स्मार्ताश्च समर्थिता भवन्ति।'

-- शां०भा०२।३।२९

३ त०दी०नि० १।५७

४ 'भगवदावेशे भगवद्धर्मा व्यापकत्वादय: तत्र श्रूयन्ते, न तु जीवो व्यापक:'

-- त०दी०नि०१।५७ 'प्रकाश'

भी जीवरूप से व्यापक नहीं होता, अणु ही होता है[१]।

अणुत्व जिस प्रकार चिदंश का धर्म है, व्यापकत्व उसी प्रकार आनन्दांश का धर्म है। जीव का ब्रह्मभाव आनन्दाभिव्यक्ति के पश्चात् होता है। आनन्दाभिव्यक्ति होने पर जीव भी व्यापक हो जाता है। व्यापकत्व में अधिकपरिमाणवत्ता की आवश्यकता नहीं, अपितु आनन्दाविर्भाव की आवश्यकता होती है[२]। ब्रह्म अणु होते हुए भी व्यापक है, क्योंकि उसमें निरवधि, निरतिशय आनन्द सर्वदा प्रकट है। वल्लभ की दृष्टि में ब्रह्मत्व की अपेक्षा अधिक परिमाणवत्ता नहीं, अपितु विरुद्धधर्माश्रयता है[३]। व्यापकत्व और अणुत्व ये दोनों परस्पर विरुद्ध धर्म ब्रह्म के हैं-- 'अणोरणीयान् महतोमहीयान्'। विरुद्धधर्माश्रयत्व आनन्दांश का विशेष गुण है; इसीलिए ब्रह्मविरुद्धधर्माश्रय है और ब्रह्मभाव होने पर जीव भी विरुद्धधर्माश्रय हो जाता है। किन्तु इससे अणुत्व की अवास्तविकता सिद्ध नहीं होती। ब्रह्मभाव होने पर भी इस अणुत्व का नाश नहीं होता, दोनों ही वास्तविक हैं। केवल ब्रह्मत्व कथन के अनुरोध पर जीव का अणुत्व औपचारिक नहीं मान लेना चाहिए। जीव का अपना परिमाण तो अणु ही है; यद्यपि ब्रह्मभावोपरान्त वह व्यापक भी हो जाता है, तथापि वह ब्रह्मसम्बन्ध से ही है, स्वत: नहीं। इस प्रकार निर्गलितार्थ यह है कि जीवअणुपरिमाण है तथा आनन्दाभिव्यक्ति के पश्चात् आनन्द के विरुद्धधर्मसमर्पक होने के कारण व्यापक भी हो जाता है[४]।

भास्कर का मत वल्लभ से थोड़ा भिन्न है। भास्कर अवस्थाभेद से द्विविध परिमाण स्वीकार करते हैं। वल्लभ से इनका साम्य यह है कि संसारावस्था में ये जीव का परिमाण अणु ही स्वीकार करते हैं। वैषम्य यह है कि भास्कर अणुत्व को वल्लभ की भांति स्वाभाविक न

----

१ 'तथा च यथाऽयोगोलकेस्यदाहकत्वेऽपि, नायोरूपेण तथात्वमेवं जीवरूपेणास्य न व्यापकत्वमतो नाणुत्वसाधनं व्यर्थमित्यर्थ:' --त०दी०नि०१।५७ आ०भं०

२ 'तथा च ज्ञाने सति श्रुत्या ब्रह्मत्वं तत्र बोध्यते। तच्चानन्दांशाभिव्यक्तौ भवतीति तस्यैवायं धर्मो न चिदंशस्येति, नाणुत्वस्यावास्तवत्वं शक्यशंकमित्यर्थ:' --त०दी०नि०१।५७ आ०भं०

३ 'ब्रह्मत्वेऽपि नाधिकपरिमाणता वक्तव्या' -- त०द०नि०१।५७ 'प्रकाश'

४(क) 'अण्वपि ब्रह्म व्यापकं भवति। यथा कृष्णो यशोदाक्रोडे स्थितोऽपि सर्वजगदाधारो भवति। तथा जीवस्याप्यानन्दांशश्चेदभिव्यक्तस्तदा तस्मिन् ब्रह्माण्डकोट्यो भवन्ति। अतएव परिच्छेदेऽपि व्यापकत्वसिद्धेर्न तदनुरोधेनाधिकपरिमाणत्वमंगीकर्तव्यम्। --- अलौकिकेषु धर्मेषु प्रमाणमेवानुसर्तव्यं न तु लौकिकी युक्ति:। अतो व्यापकत्वेऽपि नाराग्रमात्रत्वं दोषाय'। --
--तत्त्व०नि०१।५७'प्रकाश'

(ख) 'तत् परस्परविरुद्धं धर्मद्वयं तस्य ब्रह्मण इति ब्रह्मत्वे उभयं वास्तवमित्यर्थ:'
--त०दी०नि०१।५७ आ०भं०

मानकर जीव का औपाधिक परिमाण मानते हैं,जो अन्त:करण प उपाधि के सम्पर्क से उसमें व्यपदिष्ट होता है । जीव का जो अनुपहित और स्वाभाविक स्वरूप है, वह तो महत्परिमाणशाली है,क्योंकि वह ब्रह्म से अभिन्न है, और जो औपाधिक जीवस्वरूप है, वह अणुपरिमाणयुक्त है,क्योंकि वह ब्रह्म से भिन्न है ।यह ज्ञातव्य है कि यह औपाधिक अणुपरिमाण[1] शंकर की भांति मिथ्या नहीं है,अपितु उतना ही सत्य है,जितना मुक्तावस्था का व्यापकत्व । भास्कर जीव की उपाधि को सत्य स्वीकार करते हैं, अत: उसके सम्बन्ध से जीव में आये सभी धर्म भी वास्तविक होते हैं । भास्कर और वल्लभ में एक अन्तर और भी है । यद्यपि ब्रह्मभाव के अनन्तर वल्लभ भी जीव का व्यापकत्व स्वीकार करते हैं,तथापि वे जीव के अणुत्व का बाध नहीं मानते । वह भी ब्रह्म की भांति विरुद्धधर्माश्रय हो जाता है । भास्कर, इसके विपरीत, जीव की ब्रह्मस्वरूपाभिव्यक्ति होने पर उसके अणुत्व का बाध स्वीकार करते हैं ।

जहां तक रामानुज का प्रश्न है, वे जीव को स्पष्ट स्वर से अणु ही स्वीकार करते हैं । इस अणुत्व को वे जीव का सहज और स्वाभाविक परिमाण[2] स्वीकार करते हैं । इस विषय में उनकी युक्तियां लगभग वहीं हैं, जो वल्लभ ने प्रस्तुत की हैं ।

जीव को अणु मानने पर समस्या सामने आती है सकलशरीरगत-चैतन्यव्याप्ति की । भास्कर, वल्लभ,रामानुज आदि जो आचार्य जीव को वस्तुत: अणु मानते हैं, उन्हें यह समस्या भी सुलझानी पड़ी है । शंकर के समक्ष यह समस्या ही नहीं है । वे तो अणुपरिमाण को औपचारिक मानते हैं; महत् परिमाण ही जीव का भी वास्तविक परिमाण है । अणु जीव के चैतन्य की उपलब्धि समस्त शरीर में नहीं हो सकती । अत: जीव को विभु परिमाण ही स्वीकार करना चाहिए। विभु परिमाणशाली जीव का स्वरूप ही चैतन्य है, जैसे अग्नि का स्वरूप औष्ण्य और प्रकाश है[3] ।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, वल्लभ जीव का परिमाण अणु ही स्वीकार करते हैं । अणु होते हुए भी जीव के चैतन्य की सकलशरीरगत उपलब्धि में कोई अनुपपत्ति नहीं है । इस विषय में सूत्रकार ने तीन सूत्रों से तीन दृष्टान्त प्रस्तुत किए हैं । सूत्र इस प्रकार हैं--`अविरोधश्चन्दनवत्`,`गुणाद्वाऽऽलोकवत्` तथा `व्यतिरेको गन्धवत्` : ये सारे सूत्र द्वितीय अध्याय के तृतीय पाद में हैं । प्रथम दृष्टान्त चन्दन का है । जिस प्रकार चन्दन एक देश में स्थित होता हुआ भी अपनी सामर्थ्य से सारे शरीर में शैत्य का प्रसार करता है, उसी प्रकार जीव अणु होता हुआ भी समस्त देह में चैतन्य-सामर्थ्य से व्याप्त होता है । यहां शंका होती है कि चन्दन का एकदेशवर्तित्व तो प्रत्यक्ष बल से गृहीत होता है, परन्तु जीव की किसी निश्चित देश में स्थिति का ग्रहण प्रत्यक्ष से नहीं होता । इसके उत्तर में कहा गया है कि `कतम आत्मा योऽयं विज्ञानमय: प्राणेषु, हृद्यन्तर्ज्योति: पुरुष: स वा एष

१(क) "गृह्णीय एतत्संसारावस्थायामणुरात्मेति । न तुतदेवास्य निजं रूपं तत्त्वमसीति ब्रह्मात्मत्वोपदेशात् स्वाभाविकम् ।" --भा०भा०२।३।२९

(ख) "इदमिदानीं चिन्त्यते किमणुपरिमाण: किं वा महापरिमाण:इति । किं तावत्प्राप्तमणुपरिमाण इति ।कस्मादुत्क्रान्तिगत्यागतीनां श्रवणादित्यध्याहार: । न च सर्वगतस्यैतत्त्रयमुपपद्यते" --भा०भा०२।३।१९

(शेष अगले पृष्ठ पर देखें)

आत्मा हृदि ह्येष आत्मा` इत्यादि श्रुतियों में जीव की एकदेशस्थिति भी कही गई है[1]। अत: चन्दन की भांति सामर्थ्य के आधार पर सकलदेहवर्ती चैतन्यव्याप्ति स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

यह दृष्टान्त, किन्तु : वैशेषिकमतवादियों को मान्य नहीं होगा, क्योंकि वे चैतन्य को आत्मा का स्वरूप नहीं, केवल गुण स्वीकार करते हैं। गुण की गुणी से व्यतिरिक्त स्थिति नहीं होती। अत: एकदेशस्थ जीव का चैतन्यगुण सकलदेहव्यापी नहीं हो सकता --इस अनुपपत्ति को ध्यान में रखते हुए तेजोद्रव्य और उसकी प्रभा का उदाहरण दिया गया है। दीपक अथवा मणि की प्रभा तदधिकदेशवर्ती होती है। प्रभा गुण है। इस तरह यदि चैतन्य जीवका गुण भी माना जाय तो भी उसके सर्वदेहव्यापित्व में कोई बाधा नहीं है।

तीसरा दृष्टान्त पुष्पगन्ध का है, जो `व्यतिरेको गन्धवत्`-- इस सूत्र में प्रस्तुत किया गया है। पुष्प की गंध का पुष्पद्रव्य से अधिकदेशवर्ती होना सर्वविदित है। यह दृष्टांत वेदोक्त भी है --` यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद् गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद् गन्धो वाति तीनों दृष्टान्तों में वल्लभ को यही सर्वाधिक समीचीन ज्ञात होता है, अत: इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने `सिद्धं दृष्टान्तमाह` इस शब्दावली का प्रयोग किया है[2]।

अपने स्वतन्त्र ग्रन्थ `तत्त्वदीपनिबन्ध` में वल्लभ ने केवल इसी एक हेतु का उल्लेख किया है। सूत्रकार की शब्दावली को लगभग दोहराते हुए वे कहते हैं--`जीवस्त्वाराग्रमात्रो हि गन्धवद् व्यतिरेकवान्`। जीव का यह चैतन्य गन्ध की भांति प्रसरणशील है। जिसका विशेषरूप से अतिरेक हो वह `व्यतिरेक` है, अर्थात् `आधार द्रव्य की अपेक्षा अधिक स्थान में रहने वाला`।

(पूर्व पृष्ठ की अवशिष्ट टिप्पणी सं०२,३)

२ द्रष्टव्य श्रीभा०२।३।२०,२।३।२२,२।३।२३,२।३।२६ इत्यादि

३ द्रष्टव्य शां०भा० २।३।२६-- --- यदि च चैतन्यं जीवस्य समस्तं व्याप्नुयान्नाणुर्जीव:स्यात्। चैतन्यमेव ह्यस्य स्वरूपं अग्नेरिवौष्ण्यप्रकाशौ। ---शरीरपरिमाणत्वं च प्रत्याख्यातम्। परिशेषाद्विभुर्जीव:।`

---

१ `अवस्थितिवैशेष्यादितिचेन्नाभ्युपगमाद्धृदि ब` --वे०सू० २।३।२४ पर अणुभा०

२ `सिद्धं दृष्टान्तमाह। यथा चम्पकादिगन्धश्चम्पकव्यवहितस्थलेऽप्युपलभ्यते। वेदोक्तत्वादस्य दृष्टान्तत्वम्। यथा वृक्षस्य सम्पुष्पितस्य दूराद्गन्धो वात्येवं पुण्यस्य कर्मणो दूराद्गन्धो-वातीति।`

-- अणुभा०२।३।२६

उदाहरण के लिए गन्ध धर्मी-द्रव्य पुष्प की अपेक्षा अधिक देशवती होती है; इसी प्रकार जीव का चैतन्यगुण भी जीव की अपेक्षा अधिक देशवर्ती होने के कारण सर्वदेहव्यापी है।[1] चैतन्य की यह विसर्पिगुणशीलता ही `व्यतिरेको गन्धवत्' सूत्र के द्वारा सिद्ध की गई है। `व्यतिरेक' शब्द यों तो अभाव के अर्थ में प्रसिद्ध है, परन्तु प्रसिद्धि सूत्र से हीन है, अत: सूत्रानुसारी अर्थ ही करना चाहिए। निर्गलितार्थ यह है कि जीव का स्वरूपभूत चैतन्य गन्ध की भाँति अधिकदेशवर्ती है, अत: जीव के अणु होते हुए भी चैतन्य के सकलशरीरव्याप्त होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है। श्रुति भी जीव का `हृदयायतनत्व' तथा अणुपरिमाण कहकर इसी का `आलोमभ्य आनखाग्रेभ्य:' से चैतन्यगुण के द्वारा समस्त शरीरव्यापित्व कहती है।[2]

भास्कर तथा रामानुज का भी मत यही है। वे भी जीव को अणुपरिमाण स्वीकार करते हैं; तथा अणु स्वीकार करते हुए भी उसके चैतन्य की सकलदेहवर्ती वेदना स्वीकार करते हैं, चन्दन, मणिप्रभा अथवा पुष्पगन्ध की भाँति।[3]

जीव से सम्बन्धित एक और महत्त्वपूर्ण प्रश्न है उसके कर्तृत्व और भोक्तृत्व का। उसका कर्तृत्व-भोक्तृत्व है अथवा नहीं? है तो कैसा है, स्वाभाविक अथवा औपचारिक? स्वायत्त है अथवा परायत्त? और उसकी इयत्ता कहाँ तक है? -- इत्यादि अनेकविध प्रश्न इस संदर्भ में उठते हैं, जिनपर यहाँ विचार किया जा रहा है।

भास्कर तथा वल्लभप्रभृति वैष्णवआचार्यों के सिद्धान्तों की दो प्रमुख विशेषताएं हैं-- जागतिक व्यवहारकी सत्यता; तथा श्रुति के प्रत्येक शब्द की असंदिग्ध प्रामाण्यवत्ता पर विश्वास। इन दोनों बातों के आधार पर ही जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व की सिद्धि की जाती है। वल्लभ की दृष्टि में जीव वास्तविक अर्थों में कर्त्ता और भोक्ता है; वे स्पष्ट शब्दों में

---

१ "विशेषेणातिरिच्यते इति व्यतिरेको द्रव्यापेक्षयाधिकदेश:। यथा गन्ध: पुष्पापेक्षयाधिकदेशं व्याप्नोति, तथा चैतन्यगुण:सर्वदेहव्यापीत्यर्थ:।" -- त०दी०नि०१।५६ `प्रकाश'

२ `हृदयायतनत्वमणुपरिमाणत्वंचात्मनोऽभिधाय तस्यैवालोमभ्य आनखाग्रेभ्य इति चैतन्येन गुणेन समस्तशरीरव्यापित्वं दर्शयति' । -- अणुभा० २।३।२७

३(क) "कथमणो: सकलशरीरव्यापिनी सम्पत्तिरिति चेन्नायं विरोधो यथा हरिचन्दनबिन्दु: शरीरैकदेशे निपातित: कृत्स्नं शरीरमाह्लादयति तथेति"।--भा०भा०२।३।२३

(ख) "आत्मा स्वगुणेन ज्ञानेन सकलदेहं व्याप्यावस्थित:। आलोकवत्। यथा मणिद्युमणिप्रभृतीनामेकदेशवर्तिनामालोको नैकदेशव्यापी दृश्यते तद्वत् हृदयस्थस्यात्मनो ज्ञानं सकलदेहं व्याप्य वर्तते।" -- श्रीभा० २।३।२६

औपाधिक कर्तृत्व का करते हैं । वस्तुत: लगभग सभी वैष्णव-सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में पूर्वपक्ष के रूप में शांकरमत रहता है, अत: प्राय: उनके सिद्धान्तों के साथ शांकरमत की तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक हो जाती है । वल्लभ ने भी औपाधिक कर्तृत्व का खण्डन करते समय शंकर का उल्लेख बार-बार किया है: अत: वल्लभ के सिद्धान्तप्रतिपादन की दिशा को समझने के लिए शांकरमत का संक्षिप्त परिचय आवश्यक है ।

लौकिक-वैदिक व्यवहार तथा श्रुतिप्रामाण्य के आधार पर ही शंकर भी जीव के कर्तृत्व-भोक्तृत्व की सिद्धि करते हैं: परन्तु शंकर और वल्लभ के मत में जो सबसे बड़ा अन्तर है,वह यह है कि जिन अपेक्षाओं से और जिन आग्रहों पर जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व स्वीकार किया जाता है, वे अपेक्षाएं और आग्रह जहां एक ओर वल्लभ की दृष्टि में अत्यन्त वास्तविक हैं, वहीं दूसरी ओर शंकर की दृष्टि में व्यावहारिकसत्य मात्र हैं, इससे अधिक और कुछ नहीं । शंकर के अनुसार जीव के कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वाभाविक नहीं,अपितु औपचारिक हैं और बुद्धिउपाधि के सम्पर्क से जीव में उनका व्यपदेशमात्र होता है । `तद्गुणसारत्वात्तु तद्व्यपदेश: प्राज्ञवत्` (२।३।२९) सूत्र के भाष्य में शंकर ने सिद्ध किया है कि बुद्धि के इच्छा-द्वेष,सुख-दु:ख आदि गुण ही आत्मा के संसारित्व में प्रमुख कारण हैं । बुद्धि-गुणों के अभाव में `केवली` आत्मा का संसरण ही सम्भव नहीं है । नित्यमुक्त अकर्ता अभोक्ता और असंसारी आत्मा का कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षण जो संसारित्व है वह आत्मा में बुद्धि-उपाधि के धर्मों के अध्यास के कारण ही होता है[1] । न केवल संसारित्व,अपितु आत्मा का जीवत्व भी उपाधि-निमित्तक ही है । जब तक उपाधिसम्बन्ध है, तभी तक जीवभाव भी है और संसारित्व भी[2] । जीव के प्रमातृत्व,कर्तृत्व,भोक्तृत्व आदि धर्म भी बुद्ध्युपाधिनिमित्तक ही हैं । जीव का कर्तृत्व सिद्ध करते हुए `कर्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्` सूत्र के भाष्य की प्रथम पंक्ति में ही शंकर इस बात का संकेत कर देते हैं कि यह कर्तृत्व औपाधिक है[3] । आत्मा का स्वाभाविक कर्तृत्व सम्भव नहीं है,अन्यथा उसका मोक्ष ही नहीं होगा । शंकर कहते हैं कि यदि कर्तृत्व आत्मा का स्वाभाविक धर्म मान लेंगे तो उससे आत्मा की कभी मुक्ति नहीं हो सकेगी , वैसे ही जैसे उष्णता अग्नि का स्वभाव है और अग्नि कभी

----

१ `---- न हि बुद्धेर्गुणैर्विना केवलस्यात्मन: संसारित्वमस्ति । बुद्ध्युपाधिधर्माध्यासनिमित्तं हि कर्तृत्व-भोक्तृत्वादिलक्षणं संसारित्वमकर्तुरभोक्तुश्चासंसारिणो नित्यमुक्तस्य सत आत्मन:`।
-- शां०भा०२।३।२९

२ `---- यावदेव चायंबुद्ध्युपाधिसम्बन्ध: तावदेवास्य जीवत्वं संसारित्वं च ।परमार्थतस्तु न जीवो नाम बुद्ध्युपाधिसम्बन्धपरिकल्पितस्वरूपव्यतिरेकेणास्ति ।`-- शां०भा०२।३।३०

३ `तद्गुणसारत्वाधिकारेणैव अपरोऽपि जीवधर्म: प्रपंच्यते ---`। --शां०भा०२।३।३३

उससे रहित नहीं होती। कठिनाई तो यह है कि कर्तृत्व से वियुक्त हुए बिना जीव का मोक्ष नहीं[1] हो सकता, क्योंकि कर्तृत्वमात्र दुःखरूप है। शंकर के अनुसार समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार भी व्यावहारिक स्तर पर ही है, पारमार्थिक स्तर पर उसकी कोई सत्ता नहीं है। सभी विधिशास्त्र जीव के यथाभूत कर्तृत्व को स्वीकार करके ही कर्तव्यों का विधान करते हैं, अलग से कर्तृत्व प्रतिपादित नहीं करते। विधिशास्त्र जीव के अविद्यामूलक कर्तृत्व को आधार बनाकर ही प्रवर्तित होते हैं।[2]

ऐसी बात नहीं है कि शंकर जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व प्रतिपादित ही नहीं करते। वे विधिविधानपूर्वक जीव का कर्तृत्व सिद्ध करते हैं और जीवकर्तृत्वसम्बन्धी उनके भाष्य में तथा कर्तृत्व आदि जीवधर्मों को सत्य स्वीकार करने वाले अन्य आचार्यों के भाष्यों में कोई विशेष अन्तर भी नहीं है; किन्तु शंकर की विशेषता यह है कि वे इस कर्तृत्व-भोक्तृत्व को केवल व्यावहारिक स्तर पर ही स्वीकार करते हैं और तभी तक स्वीकार करते हैं, जब तक जीव का अविद्योपाधि से सम्बन्ध है। 'यथा च तक्षोभयथा' (ब्र०सू०२।३।४०) सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकर जीव के स्वाभाविक कर्तृत्व-भोक्तृत्व का विस्तारपूर्वक खण्डन करते हुए औपाधिक कर्तृत्वादि की स्थापना करते हैं।[3]

वल्लभ का मत इसके बिल्कुल ही विपरीत है। सबसे बड़ा अन्तर तो यह है कि जिस कर्तृत्व को शंकर केवल व्यावहारिक स्वीकार करते हैं, उसे वल्लभ वास्तविक घोषित करते हैं। दोनों के मतों में प्रमुख वैषम्य इस सत्यत्व और मिथ्यात्व का ही है। शंकर के अनुसार जीवभाव भी मिथ्या है और जीवधर्म भी; वल्लभ के अनुसार जीवभाव भी सत्य है और जीवधर्म भी। यह सत्यत्व और मिथ्यात्व ही विशेष है, अन्यथा तो सामान्यतः सिद्धान्त एक जैसे ही हैं। वल्लभ न तो सांख्य के समान जीव का अकर्तृत्व मानते हैं और न ही न्याय के समान आगन्तुक कर्तृत्व : उनके अनुसार जीव ही कर्ता है और कर्तृत्व उसका आगन्तुक नहीं, अपितु सहज धर्म है।

जीव को लक्ष्य कर वेद में अभ्युदय और निःश्रेयस सम्बन्धी कर्मों का वर्णन और विधान किया गया है; न तो ब्रह्म का उनसे कोई प्रयोजन है और न जड का। अतः यदि जीव

---

१ " न स्वाभाविकं कर्तृत्वमात्मनः संभवति, अनिर्मोक्षप्रसंगात। कर्तृत्वस्वभावत्वे ह्यात्मनो न कर्तृत्वान्निर्मोक्षः संभवति, अग्नेरिवौष्ण्यात्। न च कर्तृत्वादनिर्मुक्तस्यास्ति पुरुषार्थसिद्धिः, कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात्। --शां०भा०२।३।४०

२ " ---- विधिशास्त्रं तावद्यथाप्राप्तं कर्तृत्वमुपादाय कर्तव्यविशेषमुपदिशति न कर्तृत्वमात्मनः प्रतिपादयति। न च स्वाभाविकमस्य कर्तृत्वमस्ति, ब्रह्मात्मत्वोपदेशात्, इत्यवोचाम। तस्मादविद्याकृतं कर्तृत्वमुपादाय विधिशास्त्रं प्रवर्तिष्यते।" --शां०भा०२।३।४०

३ द्रष्टव्य -- शां०भा० २।३।४०

को कर्ता स्वीकार नहीं करेंगे तो शास्त्रवैयर्थ्य का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा[१]। इसके अतिरिक्त छान्दोग्योपनिषद् के दहरविद्याप्रकरण में 'स यदि पितृलोककामो भवति ---' (छा०८।१।१) से प्रारम्भ कर 'यं कामं कामयते सोऽस्य संकल्पादेव समुत्तिष्ठन्ति तेन संपन्नो महीयते' (छा०८।२।१०) इत्यादि से जीव का स्वेच्छाक्रियात्मक जो भोग कहा गया है, उससे भी जीव ही कर्ता सिद्ध होता है, क्योंकि[२] 'साधुकारी साधुर्भवति' आदि से श्रुति कर्तृत्व और भोक्तृत्व का सामानाधिकरण्य कहती है। कर्तृत्व सिद्ध हो जाने पर यह प्रश्न उठता है कि यह कर्तृत्व कैसा है? यह तो ज्ञात है कि वल्लभ जीव का सहज कर्तृत्व मानते हैं; वह न तो प्रकृतिगत है और न ही आगन्तुक धर्म है। विशुद्धाद्वैतमत में ब्रह्म और जीव की कोई उपाधि स्वीकृत नहीं की गई है, उनके सारे धर्म स्वाभाविक हैं; इसलिए जीव के कर्तृत्व को भी औपाधिक नहीं माना जा सकता। औपाधिक अथवा आगन्तुक कर्तृत्व का निराकरण करते हुए वल्लभ प्रतिवादियों से प्रश्न करते हैं कि यदि बुद्धि उपाधि के सम्बन्ध से जीव में कर्तृत्व स्वीकार करें तो यह कर्तृत्व किसका है? बुद्धिगत है या बुद्धिसम्बन्ध से उद्बुद्ध होने वाला कोई जीवगत धर्म है; अथवा दोनों का सम्बन्ध होने पर अब तक अविद्यमान कोई कर्तृत्व आ जाता है? इनमें से प्रथम पक्ष तो असम्भव है। बुद्धि जड है, और उसका कर्तृत्व स्वयं सूत्रकार 'रचनानुपपत्त्यधिकरण' आदि में निराकृत कर चुके हैं। दूसरे पक्ष में इष्टापत्ति है; कर्तृत्व जीवगत तो सिद्ध होता है, किन्तु श्रुति में प्राणों के उपादेयरूपसे सिद्ध होने के कारण बुद्धिसम्बन्ध से कर्तृत्व का उद्गम मानने पर प्राणों के उपादानत्व का विरोध होगा। तीसरा पक्ष स्वीकार करने में शास्त्रविरोध होता है, क्योंकि श्रुति ब्रह्म में कर्तृत्व का कथन करती है: इसके अतिरिक्त अविद्यमान कर्तृत्व की उत्पत्ति या प्राकट्य स्वीकार करने पर सत्कार्यवाद का भी विरोध होगा। इन असंगतियों[३] पर विचार करते हुए जीव का कर्तृत्व बुद्धिजन्य नहीं, अपितु स्वाभाविक ही स्वीकार करना चाहिए।

---

१ 'कर्ता जीव एव। कुतः? शास्त्रार्थवत्त्वात्। जीवमेवाधिकृत्य वेदेऽभ्युदयनिःश्रेयसफलार्थं सर्वाणि कर्माणि विहितानि ब्रह्मणोऽनुपयोगात्। जडस्याशक्यत्वात्।' --अणुभा०२।३।३३

२ 'ततश्च कर्तृत्वभोक्तृत्वयोः साधुकारी साधुर्भवति इति सामानाधिकरण्यश्रवणाज्जीव एव कर्ता।' --अणुभा०२।३।३४

३ 'यस्तु मन्यते बुद्धिसम्बन्धाज्जीवस्य कर्तृत्वमिति। स प्रष्टव्यः। किं बुद्धिकर्तृत्वं जीवे समायाति? अथवा जीवगतमेव कर्तृत्वं बुद्धिसम्बन्धादुद्गच्छति? अथवा शशविषाणायितमेव कर्तृत्वं सम्बन्धे समायाति। नाद्यः। जडत्वात्। अनंगीकारात् पूर्वं निराकृतत्वाच्च। द्वितीये त्विष्टापत्तिः। उपादानविरोधश्च। तृतीये शास्त्रविरोधः। ब्रह्मणि सिद्धत्वाच्च। असत्कार्यस्य निराकृतत्वात्।' --अणुभा० २।३।३५

यहाँ सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि यदि कर्तृत्व जीव का ही है तो वह ऐसे कार्य ही क्यों करता है, जिसके परिणामस्वरूप उसे कष्ट उठाना पड़ता है और दु:खप्रद परिणाम भोगने होते हैं। इसका उत्तर देते हुए वल्लभ कहते हैं कि जीव ब्रह्म की अपेक्षा हीनशक्ति और अल्पज्ञ है अत: कभी-कभी अपना अहित भी कर बैठता है। जैसे चक्षु से इष्ट और अनिष्ट दोनों की प्राप्ति होती है, वैसे ही जीव भी इन्द्रियों से कार्य करता हुआ इष्ट और अनिष्ट दोनों ही प्रकार के फलों को प्राप्त करता है[1]।

जीव का स्वाभाविक कर्तृत्व मानने में शंकर की ओर से जो सबसे बड़ी आपत्ति है, वह यह है कि स्वाभाविक कर्तृत्व मान लेने पर जीव की उससे मुक्ति सम्भव नहीं होगी, जैसे अग्नि की कभी औष्ण्य से मुक्ति नहीं होती ; और इस स्थिति में जीव का मोक्ष कभी सम्भव नहीं हो सकेगा। वल्लभ को ऐसी कोई आपत्ति नहीं है। उनके अनुसार कर्तृत्वमात्र दु:खरूप नहीं है। सहज कर्तृत्व मानने पर अनिर्मोक्ष होता हो, ऐसी बात नहीं, वस्तुत: तो अध्यासजन्य कर्तृत्व ही दु:खरूप है[2]। इससे यह स्पष्ट होता है कि वल्लभ अध्यास को ही बन्धनकारी मानते हैं, कर्तृत्व को नहीं। कर्तृत्वमात्र को दु:खरूप मान लेने पर दु:ख का सबसे बड़ा बोझ स्वयं ब्रह्म पर ही आ पड़ेगा, क्योंकि वह तो सर्वकर्ता और सर्वकारयिता है।

'यथा च तक्षोभयथा' सूत्र के भाष्य में वल्लभ ने सिद्ध किया है कि एक ही जीव के कर्ता और भोक्ता होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है, साथ ही इस बात का खण्डन भी किया है कि कर्तृत्व और भोक्तृत्व भिन्न-निष्ठ ही होने चाहिए। अत: जीव का स्वार्थ और परार्थ - कर्तृत्व तथा कारयितृत्व दोनों ही सिद्ध हैं[3]। इस प्रकार वल्लभ का निश्चित सिद्धान्त यह है कि जीव कर्ता और भोक्ता है तथा कर्तृत्व और भोक्तृत्व उसके स्वाभाविक और वास्तविक धर्म हैं औपाधिक अथवा अवास्तविक नहीं।

इसके पूर्व कि इस विषय की आलोचना समाप्त की जाय इस महत्त्वपूर्ण तथ्य का निर्देश आवश्यक है कि जीव का यह कर्तृत्व और भोक्तृत्व सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं

---

१ (क) " --- यथा चक्षुषेष्टमनिष्टं चोपलभते, स्वमिन्द्रियै: कर्म कुर्वन्निष्टमनिष्टं वा प्राप्नोति"
--अणुभा० २।३।३७

(ख) द्रष्टव्य -- अणुभा० २।३।३८ और २।३।३९

२ (क) " न च कर्तृत्वमात्रं दु:खरूपम्। पय:पानादे: सुखरूपत्वात्।" --अणुभा० २।३।४०

(ख) " न च सहजकर्तृत्वेऽनिर्मोक्ष:। पराधीनकर्तृत्व एवैतदिति।" --अणुभा० २।३।३९

३ द्रष्टव्य अणुभा० २।३।४०

है। जीव के सारे धर्म ब्रह्म के सम्बन्ध से ही हैं। जीव ब्रह्म का ही अंश है, अतः वह न तो स्वरूपतः ब्रह्म से स्वतन्त्र है और न धर्मतः । वस्तुतः कर्तृत्व ब्रह्मगत ही है और जीव के ब्रह्मांश होने के कारण जीव में भी संक्रान्त हो जाता है, वैसे ही जैसे ब्रह्म के ऐश्वर्यादि अन्य धर्म संक्रान्त होते हैं[1]। इसीलिए श्रुति ब्रह्म को ही सर्वकर्ता और सर्वकारयिता रूप में प्रतिष्ठित करती है। यद्यपि जडादि भी ब्रह्म का अंश है तथापि जड और जीव में परस्पर वैलक्षण्य बनाये रखने के लिए ब्रह्म ने अपना कर्तृत्व जीव में ही प्रकट किया है, जड में नहीं ; वैसे ही जैसे पृथिवी में ही सुगन्धि का प्राकट्य है, जल आदि तत्वों में नहीं।

इस विषय में रामानुज का मत वही है, जो वल्लभ का है। रामानुज भी अचेतन प्रकृति का कर्तृत्व अस्वीकार कर चेतन जीवात्मा का ही कर्तृत्व और भोक्तृत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार शास्त्रों से तात्पर्य है, उनसे जो शासन करें या जिनमें शासन हो। शासन का अर्थ है-- प्रवर्तन। शास्त्रों का प्रवर्तकत्व बोध-जनन के ही द्वारा होता है और अचेतनप्रधान को बोध हो नहीं सकता, अतः शास्त्रों की अर्थवत्ता चेतन भोक्ता का कर्तृत्व स्वीकार करने पर ही संभव है[2]। रामानुज भी वल्लभ की भांति जीव का कर्तृत्व ईश्वरसम्बन्ध से ही मानते हैं[3]। दोनों की मान्यताओं में कोई अन्तर नहीं है, जो भिन्नता है, वह बलाबल की ही है; रामानुज अपने मत का प्रतिपादन अधिक विस्तार से और अधिक अभिनिवेशपूर्वक करते हैं।

भास्कर का मत अवश्य वल्लभ से थोड़ा भिन्न है। भास्कर समस्त जागतिक व्यवहार औपाधिक मानते हैं। जीव का कर्तृत्व भी स्वाभाविक नहीं, अपितु औपाधिक है। अपने स्वाभाविकरूप में तो वह ब्रह्म से नितान्त अभिन्न है। भास्कर के अनुसार स्वाभाविक कर्तृत्व स्वीकार करने पर जीव का मोक्ष सम्भव नहीं हो सकेगा, अतः औपाधिक कर्तृत्व ही मानना उचित है[4]। यह ज्ञातव्य है कि औपाधिक होते हुए भी यह कर्तृत्व असत् नहीं है। यही भास्कर का शंकर से भेद है। वल्लभ से भास्कर का विसंवाद इस बात पर है कि वल्लभ जीव के कर्तृत्वादि व्यवहार को औपाधिक

---

१ '--- कर्तृत्वं ब्रह्मगतमेव। तत्सम्बन्धादेव जीवे कर्तृत्वं तदंशत्वादैश्वर्यादिवत्। ---- अतो नान्योऽतोऽस्तीति सर्वकर्तृत्वं घटते। कुत स्तत्। तच्छ्रुतेः। तस्यैव कर्तृत्वकारयितृत्वश्रवणात्।'

--अणुभा० २।३।४१

२ द्रष्टव्य श्रीभा० २।३।३३

३ ,, श्रीभा० २।३।४१

४ '--- न स्वाभाविकं कर्तृत्वम्। अनिर्मोक्षप्रसंगात्। --न चौपाधिकं कर्तृत्वमपारमार्थिकम्। यथाग्निगतेन उष्णगुणेन दाहोऽनुभूयते; किमसावपारमार्थिको भवति, यद्यपि स्वात्मन्योष्ण्यं स्वतो नास्ति? स्वमुपाधिवशात् कर्तृत्वमुपजायते।' -- भा०भा० २।३।४०

नहीं,अपितु वास्तविक मानते हैं, और संवाद इस बात पर है कि भास्कर कर्तृत्व को औपाधिक मानते हुए भी उसे शंकर की भांति असत् न मानकर वल्लभ की भांति सत् मानते हैं । इसके अतिरिक्त सभी की यह समान मान्यता है कि जीव का कर्तृत्व स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं,अपितु ईश्वर के अधीन और उसके सम्बन्ध से ही है ।

जीव कर्ता होते हुए भी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र और निरंकुश नहीं है; उसकी गति-विधियों की नियन्त्रक रश्मियां ईश्वर के ही हाथों में रहती हैं और वल्लभ के दर्शन में तो ये रश्मियां कुछ अधिक ही कसी हैं । जीव का कर्तृत्व है, इसका अर्थ है कि कर्तृत्व जडप्रधान का नहीं है,अन्यथा कर्तृत्व होने पर भी अपने जीवन की दिशा निर्धारित करने में उसे विशेष स्वतन्त्रता नहीं है ।आचार्य वल्लभ के मत से न केवल जीव की कर्तृत्व-शक्ति प्रभु के अधीन है,अपितु वे ही उसके करणीयाकरणीय का भी निश्चय करते हैं । ईश्वर सर्वकारयिता है,अत: जीव के कर्तृत्व का नियमन भी वही करता है और इस विषय में उसकी इच्छा ही नियामिका है ।

वस्तुत: जीवों का प्राकट्य भगवत्क्रीड़ा के लिए ही हुआ है : उसकी शरीरेन्द्रियां भगवदर्थ हैं और वह जो भी करता है, वह भगवत्कार्य ही होता है, अत: जीव को मिथ्याभिमान कर दु:खी-सुखी नहीं होना चाहिए[1] ।सभी जीव भगवान् की क्रीडा-प्रतिमाएं हैं : जिस तरह बालक खिलौनों से खेलता है, वैसे ही ईश्वर इस जीवजडात्मक सृष्टि के माध्यम से क्रीडा करता है । जीवन में जो सुख-दु:ख,संयोग-वियोग हों,उनसे जीव को दु:खी नहीं होना चाहिए; जीवन जैसा भी हो, जो भी हो भगवदिच्छा समझकर उसे स्वीकार कर लेना चाहिए[2] ।इस प्रकार ईश्वर के सर्वकर्तृत्व और सर्वकारयितृत्व के सन्दर्भ में जीव के कर्तृत्व की आलोचना की जाय तो उन सीमाओं की संकीर्णता स्पष्ट हो जाती है,जिनमें वह जकड़ा हुआ है । फिर भी जीव स्वयं को सर्वेसर्वा और सर्वसमर्थ समझकर अपनी तथाकथित उपलब्धियों में भूला रहता है-- यही उसका भ्रम है,जो अन्तत: उसके बन्धन का कारण बनता है ।

आचार्य जीव को होने वाले भ्रम का कारण `सन्निपात` को मानते हैं । दोष और गुण जब स्वीभूत होकर स्वत्व प्राप्त करते हैं, तो अहंताममतात्मक व्यवहार होने लगता है।

---

१ `इन्द्रियाणि बलीवर्दा: वेदो मर्यादारज्जु:, भगवदिच्छा स्तम्भ: ।--- इन्द्रियाणां भगवदर्थं सृष्टत्वात् तैर्भगवत्कार्ये क्रियमाणे स्वयं वृथाध्यासं कृत्वा शोको न कर्तव्य इत्यर्थ:` --सुबो० १।१३।४१

२ `किंच भगवता हि क्रीडार्थं सृष्टा:,यथा बाल: प्रतिमादिभि: क्रीडति स यथासुखं प्रतिमां स्थापयति, कुतश्चिच्च्यावयति तथा सर्वे पुरुषा: भगवत: क्रीडाप्रतिमा: । ते केनचित्संयुज्यन्ते वियुज्यन्ते च अत स्वसंबन्धी संबन्धित्वेन ममतया शोकश्चर्या न विधेय:` ।

श्रीमद्भा०--सुबो० १।१३।४२

यह अहंताममतात्मक व्यवहार ही सन्निपात है--"सन्निपातस्त्वहमिति ममेत्युद्धव या मति:"[१]। इस सन्निपात को और अधिक स्पष्ट करते हैं, पुरुषोत्तम अपने 'सुबोधिनी-प्रकाश' में -- रजस् और तमस् की वृत्तियां दोषभूत हैं और सत्त्व की वृत्तियां गुणरूपा हैं। ये जब एकीभूत होकर, यथासंभव उद्भूत-अनुद्भूत रूप से एकत्र संहत होती हैं तो इनका यह 'पिण्डीभाव' ही सन्निपात कहलाता है। यह सन्निपात दो प्रकार का होता है--'सन्निपातस्त्वहमिति' के अनुसार अहंताममताभिमान रूप संकल्पात्मक, तथा 'व्यवहार: सन्निपातो मनोमात्रेन्द्रियासुभिरिति' के अनुसार इन्द्रियव्यापारात्मक। इनमें से जो प्रथम प्रकार का सन्निपात है, उसके ही कारण मरणकाल में मति-विभ्रम होता है; किन्तु जो व्यक्ति भगवदीयकथा का श्रवण करते हैं और जिनका मन-मधुप भगवान् के चरणकमलों में ही निरत रहता है, उनका यह सन्निपात नष्ट हो जाता है और वे भ्रमबुद्धि से मुक्त हो जाते हैं।[२]

भ्रम के कारण जीव जगत् को ब्रह्मस्वरूप न समझकर ब्रह्म से भिन्न समझने लगता है और इसका परिणाम यह होता है कि वह जागतिक पदार्थों में भगवदीयबुद्धि न रखकर आत्मबुद्धि स्थापित कर लेता है। स्वयं को भी ईश्वर से स्वतन्त्र समझकर निरंकुश और स्वेच्छाचारी हो जाता है। यह अहंताममतात्मक बुद्धि ही संसार है और जीव के बन्धन का कारण।

वल्लभ के अनुसार विद्या और अविद्या दोनों जीव को ही अपना विषय बनाते हैं। ब्रह्म अन्तर्यामी या जड से इनका विषयविषयीभाव नहीं है; इस कारण जीव के भी दु:खित्व और अनीशत्वादि होते हैं, अन्य किसी के नहीं[३]। ये विद्या और अविद्या जीवधर्म नहीं, अपितु ब्रह्म की शक्तियां हैं। जीव के देहलाभ और स्वरूपलाभ में क्रमश: अविद्या और विद्या कारणभूता हैं। अन्त:करणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास और स्वरूपविस्मरण इन पांच पर्वों वाली अविद्या के ही कारण जीव इस ब्रह्मात्मक जगत् को ब्रह्म से भिन्न और स्वतन्त्र समझने लगता है और उसकी दृष्टि सर्वत्र द्वैत ही देखने लगती है। अविद्या से मोहित होकर वह जन्म-मरण के संसरण-चक्र में घूमता रहता है[४]। वल्लभ के अनुसार गुण, हर्ष आदि अन्त:करण के धर्म हैं, आत्मा के नहीं; अन्त:करणाध्यास के कारण ही इनका अनुभव होता है। यही संक्षेप में जीव के बन्ध का स्वरूप है।

---

१ श्रीमद्भा० --सुबो० ३।१८।४

२ श्रीमद्भा० --सुबो० प्र० ३।१८।४

३ 'ते जीवस्यैव नान्यस्य, दु:खित्वं चाप्यनीशता'
'ते उभे जीवरूपस्यैवांशस्य भवत:। नान्यस्य जडांशस्यान्तर्यामिणो वा। जीवस्यैव दु:खित्वमनीशित्वंच'। -- त०दी०नि० १।३५ 'प्रकाश'

४ 'आत्मन: स्वरूपलाभो विद्या, देहलाभोऽविद्या'
--त०दी०नि० १।३५ 'प्रकाश'

विद्या से इस अविद्या का अपगम हो जाता है, और जीव जन्म-मरण के चक्र से मुक्त हो जाता है। विद्या से व्यक्ति हरि के साक्षात्कार के योग्य बनता है। देहेन्द्रियादि सभी निरध्यस्त हो जाते हैं, तथा उसे अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान हो जाता है; किन्तु इस विद्या से अविद्या का सर्वथा नाश नहीं होता, क्योंकि विद्या और अविद्या दोनों ही माया का कार्य हैं। जब तक माया का नाश नहीं होगा, अविद्या पूर्णरूप से नष्ट नहीं हो सकती और विद्या के द्वारा अपनी समवायिकारण माया का नाश सम्भव नहीं है; अतः विद्या के द्वारा अविद्या का केवल उपमर्द ही होता है। अविद्याजन्य अध्यासादिका भी उपमर्द मात्र होने के कारण जन्म-मरणाभावरूप मोक्ष ही होता है, विश्वमाया निवृत्ति रूप मोक्ष नहीं[1]।

सर्वथा मोक्ष का साधन एकमात्र भक्ति ही है। विद्या से ब्रह्मभाव होने पर कृष्णसायुज्य होगा, या अक्षरसायुज्य अथवा पुनः संसार ही होगा, इस विषय में केवल भगवदिच्छा ही नियामिका है। प्रयत्नपर्यन्त ही जीव के कर्तृत्व की व्यवस्था है; फल देने में ईश्वर सर्वथा स्वतन्त्र है। मोक्ष के स्वरूप पर आगे स्वतन्त्र परिच्छेद में विस्तारपूर्वक विचार किया जायगा।

बन्ध से मुक्ति पाने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग भक्तिमार्ग ही है। भक्तिमार्ग का दो प्रमुख विशेषताएं हैं-- भगवान् के प्रति जीव का दैन्य तथा सर्वात्मना आत्मसमर्पण। अपने ग्रन्थ 'तत्त्वदीपनिबन्ध' के प्रथम श्लोक की व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं--'भगवति जीवैर्नमनमेव कर्त्तव्यं, नाधिकं शक्यमिति सिद्धान्तः। 'किमासनं ते गरुडासनाय किं भूषणं कौस्तुभभूषणाय। लक्ष्मीकलत्राय किमस्ति देयं वागीश किं ते वचनीयमस्ति'।

वल्लभ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि सर्वरूप सर्वात्मक श्रीकृष्ण के प्रति सर्वथा दैन्य रखना चाहिए और अहंकार तथा मानापेक्षा का परित्याग कर देना चाहिए[2]। वैराग्य तथा परितोषपूर्वक जीवनयापन करने पर देहावसान के पश्चात् निश्चय ही कृतार्थता प्राप्त होगी --मन में ऐसा दृढ़ विश्वास रखकर, चित्त स्थिर कर सदैव श्रीकृष्ण में ही ध्यान लगाना चाहिए। सभी आशा-आकांक्षाओं का परित्याग कर भगवान् में ही मन रमा देना चाहिए[3]। चित्त की श्रीकृष्णस्वरूप में

---

१ 'कार्यस्य सर्वथा नाशो हि समवायिनाशात्। प्रकृते च विद्यायाः सात्त्विकीत्वेन स्वजनकमायानाशकत्वाभावान्मायासत्त्वात् तत्र सूक्ष्मरूपेणाविद्यायाः सत्त्वे तस्या उपमर्द एव, न तु नाशः। तेन तत्कार्यस्यापि देहादिधर्माध्यासस्योपमर्द एवेति जन्ममरणाभावरूप एव मोक्षः, न तु विश्वमाया-निवृत्तिरूपो मोक्षः'। -- त०दी०नि० १।३७ आ०भं०।

२ 'कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना।
अहंकारं न च कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ।।--त०दी०नि०२।२३६

३ 'वैराग्यं परितोषं च सर्वथा न परित्यजेत्।
एवं देहावसाने तु कृतार्थः स्यान्न संशयः ।।--त०दी०नि०२।२३१
इति निश्चित्य मनसा कृष्णं परिचरेत् सदा।
सर्वापेक्षां परित्यज्य दृढं कृत्वा मनःस्थिरम् ।।--त०दी०नि०२।२३२

अखण्डतैलधारावत् जो तदाकाराकारितता है, वही सर्वोत्कृष्ट भक्ति है। इसे ही वल्लभ मानसी सेवा कहते हैं। जीव के लिए यही उचित है कि वह न केवल स्वयं को, अपितु जो कुछ उसकी अहंता-ममता की परिधि में आता है, वह सबकुछ श्रीकृष्ण की सेवा में अर्पित कर दे, और उनमें भगवदीयबुद्धि रखे।[1]

इस प्रकार समस्त आसक्तियों और आकांक्षाओं का परित्याग कर जो अनन्य भाव से, केवल श्रीकृष्ण का ध्यान, चिन्तन और परिचर्या करता है, उसे शीघ्र ही श्रीकृष्ण का सायुज्य प्राप्त होता है, और वह विश्वमायानिवृत्तिरूप आत्यन्तिक मोक्ष का अधिकारी बनता है।[2]

समस्त साधनों का इतना प्रयोजन है कि जीव को यह ज्ञान हो जाय कि समस्त सृष्टि ब्रह्म से अभिन्न और उसका ही स्वरूप है। वह स्वयं ब्रह्मात्मक है: साथ ही जो कुछ भी है, वह भगवान् का ही है, उसका कुछ भी नहीं है, अत: जागतिक पदार्थों में अपनी अहंता-ममता स्थापित करना सबसे बड़ा भ्रम है। वल्लभ के अनुसार `अखण्डं कृष्णवत् सर्वम्` सबसे बड़ा ज्ञान है, और `श्रीकृष्ण: शरणं मम` सबसे बड़ा मन्त्र। श्रीकृष्ण के साथ नित्य गोलोक में निवास और उनकी अहर्निश सेवा ही जीव का चरम प्राप्य है।

जीव का यह बन्ध और मोक्ष ब्रह्म की इच्छा से ही होता है। `पराभिध्यानात्तु तिरोहितं ततो ह्यस्य बन्धविपर्ययौ` (बै०सू०३।२।५) इस सूत्र के भाष्य में वल्लभ ने प्रतिपादित किया है कि भगवदिच्छा से ही जीव का आनन्दांश तथा ऐश्वर्यादि गुण तिरोहित होते हैं, जिसके फलस्वरूप उसके बन्ध और मोक्ष होते हैं। यह सृष्टि ईश्वर की क्रीडास्थली है और वह इच्छानुसार क्रीडा करता है, अत: सृष्टि के प्रत्येक व्यापार में अन्तत: उसकी इच्छा ही नियामिका है।

जीव के स्वरूप-विवेचन के पश्चात् हम जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध पर विचार करने की स्थिति में आ जाते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि अंशांशिभाव पर विस्तार से विचार किया जाय, क्योंकि जीव और ब्रह्म के सम्बन्धों का स्वरूप इस अंशांशिभाव के स्वरूप पर ही निर्भर है।

आचार्य वल्लभ जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं: जीव अंश है और ब्रह्म अंशी। इस सन्दर्भ में वल्लभ द्वितीयमुण्डक के प्रथमखण्ड में स्थित `व्युच्चरण` श्रुति को प्रमाण मानते हैं-- `तदेतत्सत्यं यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगा:,
सहस्रश: प्रभवन्ते सरूपा:।
तथाक्षराद्विविधा: सौम्य भावा:
प्रजायन्ते तत्र चैवापि यान्ति ॥`

---

१ `यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मन:।
येन स्यान्निर्वृतिश्चित्ते तत् कृष्णे साधयेद् ध्रुवम् ॥`--त०दी०नि०२।२३४

२ `सर्वत्यागेऽनन्यभावे कृष्णमात्रैकमानसे।
सा मुक्तं कृष्णदेवेन श्रीकृष्णेन ध्रुवं फलम् ॥`- त०दी०नि० २।२१५

जिस प्रकार अग्नि से अग्नि के लक्षणों से युक्त सहस्रों स्फुलिंग निकलते हैं, उसी प्रकार अक्षर से इन त्रिविध पदार्थों की सृष्टि होती है और अक्षर में ही इनका लय होता है । जिस प्रकार अग्निस्फुलिंग अग्नि के गुणों से युक्त और अग्निस्वरूप होता है, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्म के गुणों से युक्त और ब्रह्मरूप होता है । अग्निस्फुलिंग तत्त्वत: अग्नि से भिन्न नहीं होता: जीव भी इसी प्रकार अपने अंशी ब्रह्म से तत्त्वत: अभिन्न होता है ।

ब्रह्म के निरवयव होने से जीव का अंशत्व कैसे सिद्ध होगा, यह शंका नहीं करनी चाहिए । ब्रह्म का सांशत्व या निरंशत्व लोकसिद्ध तो है नहीं, केवल श्रुतिगम्य ही है । श्रुति सर्वत्र जीव के ब्रह्मांशत्व का प्रतिपादन करती है, अत: श्रुत्यर्थ की अवहेलना न करते हुए ही युक्ति देनी चाहिए[1] । वल्लभ के अनुसार युक्ति का स्वरूप इस प्रकार है--

'तत्रैषा युक्ति:
विस्फुलिंगा इवाग्नेर्हि जडजीवा विनिर्गता: ।
सर्वत: पाणिपादान्तात् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखात् ।।
निरिन्द्रियात् स्वरूपेण तादृशादिति निश्चय: ।
सदंशेन जडा: पूर्वं चिदंशेनेतरेऽपि ।।
अन्यधर्मतिरोभावा मूलेच्छातो स्वतन्त्रिण इति ।।'

(अणुभा० २।३।४२)

इस प्रकार ब्रह्मवाद में अंशपक्ष ही समादृत है । विट्ठलेश्वर ने अपने ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्' में इस अंशांशिभाव पर विस्तृत रूप से विचार किया है । अग्नि अंशी है और स्फुलिंग अंश है । उस अंश में जो धर्म दिखाई देते हैं, उनका ही कथन श्रुति जीव में भी करती है; अत: जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध स्पष्ट करने के लिए अग्नि और स्फुलिंग का दृष्टांत ही सर्वाधिक उपयुक्त है । अग्नि के अंश स्फुलिंग तथा ब्रह्म के अंश जीव में जो समानधर्म हैं, वे इस प्रकार हैं:--

(१) अंशत्व

(२) अंशी से विभाग

(३) अणुत्व

(४) अंशी का अंश से महत्त्व

(५) अंश की अंशी में पुन: प्रवेशयोग्यता

(६) प्रविष्ट होने पर अभेदप्रतीतिविषयता , तथा

---

१ 'ननु ब्रह्मणो निरवयवत्वात् कथं जीवस्यांशत्वमिति वाच्यम् । न हि ब्रह्म निरंशं सांशमिति वा क्वचिल्लोके सिद्धम् । वेदैकसमधिगम्यत्वात् । सा च श्रुतिर्यथोपपद्यते तथा तदनुल्लंघनेन वेदार्थज्ञानार्थं युक्तिर्वक्तव्या।' -- अणुभा० २।३।४३

(७) प्रविष्ट होने पर पुनर्निर्गमनयोग्यता[१]

ये सारी अपेक्षाएं अंशांशिभाव की हैं तथा जीव के द्वारा सभी पूरी भी होती हैं। श्रुति जीव का अंशत्व प्रतिपादित करती है। स्मृतिवाक्य भी इस तथ्य की पुष्टि करते हैं। `ममैवांशो जीवलोके जीवभूत: सनातन:` (गीता१५।७) इत्यादि वाक्यों में स्पष्टरूप से श्रुति जीव को अंश कहा गया है। `अंशो नानाव्यपदेशात् ---` (वेदांतसूत्र २।३।४३) सूत्र में बादरायण ने भी जीव का अंशत्व प्रतिपादित किया है।

व्युच्चरण श्रुति से अंश जीव का अंशी ब्रह्म से विभाग कहा गया है। `वालाग्रमात्रो ह्यपरोऽपि दृष्ट:` में जीव के अणुपरिमाण होने की बात कही गई है। `अधिकं तु भेदनिर्देशात्` -- इस सूत्र में अंश जीव की अपेक्षा अंशी ब्रह्म का महत्त्व कहा गया है। `ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति` तथा `अस्मिन्नस्य च तद्योगं शास्ति` इत्यादि श्रुति-सूत्रों में जीव की ब्रह्म में पुन:प्रवेश-योग्यता कही गई है। ब्रह्मभाव होने पर श्रुति जीव की ब्रह्म से `अभेदप्रतीतिविषयता की बात भी कहता है--`स यथा सैन्धवखिल्य उदके प्रास्त एव उदकमेवानुविलीयते`। `गतिसामान्यात्` सूत्र में बादरायण ने भी इसी बात का समर्थन किया है। `गति`का अर्थ है मोक्ष; मोक्ष में जीव और ब्रह्म की अभिन्नरूप से प्रतीति होती है। `यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति`- ऐसा उपक्रम कर `विज्ञातारमरे केन विजानीयात्` इत्यादि से जीव का भिन्नप्रतीतिराहित्य ही द्योतित किया गया है। जिस समय भगवान् अवतारग्रहण करते हैं, उस समय उनके साथ क्रीडा करने योग्य मुक्तात्मा जीव ही होते हैं अत: भगवान् उन्हें पुन: अवतरित करते हैं; यही जीव की पुनर्निर्गमन-योग्यता है। `न स पुनरावर्तते`और `अनावृत्ति: शब्दात्` से इसका कोई विरोध नहीं है,क्योंकि श्रुति जीव के मुक्त हो जाने पर पुन: उसके`संसार`का ही निषेध करती है, दिव्यविग्रह धारण कर भगवदीयलीला में सम्मिलित होने का नहीं। `मुक्ता अपि लीलाविग्रहं कृत्वा भजन्ते`--यह भागवतवाक्य इस विषय में प्रमाण है।[२]

यहां यह शंका होती है कि प्रवेश और निर्गमन तो परिच्छिन्न पदार्थों में ही होते हैं; ब्रह्म जो सर्वथा अपरिच्छिन्न हैं,उसमें किसी का प्रवेशादि कैसे सम्भव है? इसका उत्तर देते हुए विट्ठलेश्वर कहते हैं कि इस तरह तो विभागत्व,अंशत्व आदि भी उपपन्न नहीं होंगे,परन्तु श्रुति की

----

१ `जीवानां ब्रह्मण: सकाशाद्विभागो तदंशत्वे च वाच्ये सति तदबोधत्वं जानन्ती श्रुतिरंशत्वमंशिन: सकाशाद्विभागवत्त्वं, अणुत्वमंशिनोऽशान्महत्त्वं पुनरंशस्यांशिनि प्रवेशयोग्यत्वं, प्रवेशे सत्यभेदप्रतीतिविषयत्वं पुनर्निर्गमनयोग्यत्वं चाग्निविस्फुलिंगे प्रसिद्धमिति सर्वधर्मबोधसौकर्यार्थमग्निविस्फुलिंगदृष्टान्तेनोक्तवती` -- वि०मं०,पृ०१७१

२ द्रष्टव्य -- विद्वन्मण्डनम्,पृ०१७१-१७६।

संस्तुति के आधार पर वे स्वीकृत हैं । जिस प्रकार `सर्वत: पाणिपादान्तम्` आदि के आधार पर पाणिपादत्व स्वीकृत है, उसी प्रकार अन्तस्त्व[१] और बहिष्ट्व भी स्वीकार करने चाहिए; इस भांति प्रवेश और निर्गमन में कोई दोष नहीं है ।

इस रूप का अंशांशिभाव वल्लभ को मान्य है । उन्होंने आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद का तीव्र विरोध किया है, क्योंकि ये दोनों ही मान्यतायें जीवभाव को अवास्तविक घोषित करती हैं । वल्लभ जीव को ब्रह्म की इच्छाभिव्यक्ति स्वीकार करते हुए जीवभाव को वास्तविक स्वीकार करते हैं । इस विषय पर इस परिच्छेद के प्रारम्भ में विचार किया जा चुका है ।

आचार्य शंकर के विचार से मायोपहित ब्रह्म ही जगत्कारण है; शुद्ध ब्रह्म तो कार्य-कारण आदि सभी सम्बन्धों से अतीत है । समस्त व्यवहार मायिक है और जीवभाव औपाधिक है । शांकरमत में शुद्धसत्त्वप्रधाना माया ब्रह्म की उपाधि है तथा मलिनसत्त्वप्रधाना माया जीव की ।इस उपाधि की उपस्थिति के कारण शांकरमत में आभासवाद, प्रतिबिम्बवाद और अध्यारोपापवाद सभी के लिए अवकाश हो सका है । मायोपाधि की कल्पना से चाहे स्रष्टा हो चाहे सृष्टि , सब अंतत: अवास्तविक ही ठहरते हैं : किन्तु इससे शंकर को कोई क्षति नहीं उठानी पड़ी,अवास्तविकता की सिद्धि ही तो उनका प्रयोजन है । वल्लभ के लिए इस अवास्तविकता का भार उठाना सम्भव नहीं था। उनके अनुसार ब्रह्म को कर्ता और अकर्ता कहने वाली दोनों प्रकार की श्रुतियों में प्रामाण्यवत्ता असंदिग्ध है,क्योंकि श्रुतित्व तो दोनों में समान ही है । ऐसी दशा में ब्रह्म के एक रूप को औपाधिक ठहराना श्रुतिविरोध होता, इसलिए वल्लभ ने ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं की है ।वल्लभ ने शुद्धब्रह्म को ही कारण माना है अत? किसी उपाधि के अभाव में आभासवाद और प्रतिबिम्बवाद के लिए उनके मत में कोई अवकाश नहीं है । माया-संस्पर्श से रहित ब्रह्म से जिस जीव का आविर्भाव होता है, उसे मायिक प्रतिबिम्ब या आभास नहीं माना जा सकता,क्योंकि ऐसा मानने पर ब्रह्म भी अवास्तविक हो जायेगा । इन सब बातों पर विचार करते हुए वल्लभ जीव और ब्रह्म के बीच बिम्बप्रतिबिम्बभाव या आभास्यआभासकभाव न स्वीकार कर अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं । अंश अंशी से तत्त्वत: अभिन्न होता है,अत: जीव भी ब्रह्म से अभिन्न ब्रह्मस्वरूप ही है ।

वल्लभ के अनुसार आनन्दांश के तिरोहित होने के कारण ही जीव को आभास कहा गया है, प्रतिबिम्ब की भांति सर्वथा मिथ्यात्व अभिप्रेत नहीं है । `एक एव हि भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थित: । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत्`-- यहां एक का अनेकत्व ही दृष्टान्त का विषय है

१`---- वस्तुतस्तु यथा सर्वत: पाणय: पादा अन्ताश्चेति श्रुत्या ब्रह्मणि निरूप्यन्ते, तथा प्रवेशनिर्गमोक्त्याऽन्तस्त्वबहिष्ट्वे अपि तत्र स्त इति मन्तव्यम् । एवं सति यथेमे, तथा प्रवेशनिर्गमावपीति नोक्तानुपपत्ति: ---` वि०मं०,पृ०१८० ।

मिथ्यात्वरूप आभास यहां विवक्षित नहीं है[1]।

प्रतिबिम्बवाद का खण्डन करते हुए वल्लभ ने जो युक्तियां दी हैं, उनमें से चुनी हुई कुछ प्रमुख युक्तियां यहां प्रस्तुत की जा रही हैं :--

यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो यह प्रतिबिम्ब उपाधिसम्पर्क से ही होगा । यह उपाधि अविद्या ही हो सकती है । पहली बात तो यह है कि असत् अविद्या का सत् ब्रह्म से सम्बन्ध[2] ही स्थापित नहीं हो सकता; दोनों का सम्बन्ध स्वीकार करने पर ब्रह्म भी जीवतुल्य हो जायेगा ।

इस युक्ति को और स्पष्ट करते हुए विट्ठलेश्वर कहते हैं कि अंगुल्यादि उपाधि के कारण एक चन्द्र ही अनेक चन्द्रवत् आभासित होता है, ठीक इसी प्रकार अविद्यासम्पर्क से ब्रह्म भी अनेक रूपों में आभासित होता है -- मायावादी का यह सिद्धान्त उचित प्रतीत नहीं होता । अविद्यासम्बन्ध से अनेकरूपों में आभास किसका होगा? ब्रह्म का हो नहीं सकता, क्योंकि उसमें भ्रम के लिए अवकाश ही नहीं है; और जीव तो स्वयं आभास का विषय ही है । इसके अतिरिक्त अविद्या और ब्रह्म का सम्बन्ध क्या होगा? संयोग नहीं हो सकता, क्योंकि दोनों ही विभु हैं । अध्यास भी सम्भव नहीं है । स्वरूपसम्बन्ध भी नहीं हो सकता, अन्यथा मुक्तजीव भी अविद्याग्रस्त ही रहेंगे । साथ ही दोनों के मध्य जो भी सम्बन्ध होगा, वह अनादि होगा । इस प्रकार ब्रह्म और अविद्या के सम्बन्ध के अनादि होने से जीव-ब्रह्म-विभाग भी अनादि होगा, और तब दोनों के समानकालिक होने से उनमें कारणकार्यभाव ही उपपन्न नहीं होगा[3]।

एक अन्य समस्या यह है कि जो सर्वव्यापक है, उसका प्रतिबिम्ब कैसे पड़ेगा? जो सबकुछ स्वयं में स्थापित करके और सबकुछ आवृत कर स्थित है, वह कहां प्रतिबिम्बित होगा ? सर्वव्यापक आकाश तो प्रतिबिम्बित होता है -- यह युक्ति उचित नहीं है; क्योंकि प्रतिबिम्ब तो

----

१ "आभास एव जीवः आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात् ------- न तु सर्वथा प्रतिबिम्बवन्मिथ्यात्वं, जलचन्द्रवदित्येकस्यानेकत्वे दृष्टान्तः -----"

-- अणुभा० २।३।५०

२ "अज्ञानं नाम चैतन्यान्तर्भूतं तच्छक्तिरूपमनादि, उतबहिर्भूतम् ।सांख्यवत् ।न। बहिर्भूतं चेत् । सांख्य-निराकरणेनैव निराकृतम् ।अन्तःस्थितायाः शक्तिरूपायाः स्वरूपाविरोधिन्या न स्वरूपविभेदकत्वम् । आश्रयनाशप्रसंगात् । "-- अणुभा०१।३।१५

~~३ "------तथा च ब्रह्माविद्यासम्बन्धानामनादित्वेन जीवविभागस्याप्यना~~

३ "------अविद्यासम्बन्धाद्ब्रह्मणोऽनेकवदाभासः कस्येतिविचारणीयम् । -----तथा च ब्रह्माविद्यातत्सम्बन्धानामनादित्वेन जीवविभागस्याप्यनादित्वादविद्यासम्बन्ध जीवविभागयोः कार्यकारणभावासंगतिः, एककालीनत्वात् । "--वि०मं०,पृ०६६-६८

आकाशस्थ रूपवान् प्रभामण्डल का ही पड़ता है,आकाश का नहीं, उसमें तो रूप ही नहीं है । इसी प्रकार ब्रह्म का प्रतिबिम्ब भी सम्भव नहीं है,क्योंकि प्रतिबिम्ब सदैव रूपवान् का ही पड़ता है और ब्रह्म निरूप है । अत: यह सिद्ध होता है कि सर्वव्यापक ब्रह्म प्रतिबिम्बित नहीं होता, उसी प्रकार जिस प्रकार दर्पण में पड़ी रेखा दर्पण में प्रतिबिम्बित नहीं होती[१] ।

`द्वा सुपर्णा` श्रुति में `तयोरन्य: पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्न्योऽभिचाकशीति` में कही गई प्रतिबिम्ब की क्रिया और बिम्ब का तुष्णीम्भाव असंगत है ।प्रतिबिम्ब की क्रिया सदैव बिम्ब के अधीन और उसके अनुकूल ही होती है ।इसके अतिरिक्त `द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया` तथा `गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे` आदि श्रुतियों में जीव और परमात्मा की जो एकत्रस्थिति कही गई है, वह भी बिम्ब-प्रतिबिम्बभाव में सम्भव नहीं होगी[२] ।

जीव को ब्रह्म का प्रतिबिम्ब मानने में जो सबसे बड़ी कठिनाई है, वह यह है कि ऐसा स्वीकार करने पर जीवन्मुक्ति का विरोध होता है । यदि जीव ब्रह्म का प्रतिबिम्ब है तो यह प्रतिबिम्ब या तो अविद्या में पड़ेगा या फिर तदुपहित अन्त:करण में । दोनों ही मलिन हैं, उनमें प्रतिबिम्ब नहीं पड़ सकता; पड़ेगा भी तो अन्त:करण में उपाधि के वर्तमान रहने से संसार ही फलित होगा ।यदि उपाधि नष्ट हो गई तो उपाधि के अभाव में परमुक्ति ही प्राप्त होगी ।दोनों ही स्थितियों में जीवन्मुक्ति सम्भव नहीं है ।ब्रह्म की अपरोक्षानुभूति होने पर अविद्या नष्ट हो जायेगी और अविद्याकृत प्रतिबिम्बरूप जीवभाव भी : ऐसी स्थिति में जीवन्मुक्ति की देह कैसे बनी रह सकती है ।

प्रारब्धरूप जो अविद्या शेष रहती है, उससे जीवन्मुक्त पुरुष के देहादि-सम्बन्धी व्यवहार होते रहते हैं-- यह सिद्धान्त ठीक नहीं है ।ऐसा मानने पर अविद्या का ज्ञाननाश्यत्व खण्डित होता है ।यदि यह मानें कि प्रारब्ध भोग से ही नष्ट होता है, तो निश्चय ही प्रारब्ध अविद्याकार्य नहीं है ।एक बार रज्जुज्ञान हो जाने पर फिर सर्पज्ञान और तज्जन्य भय आदि नहीं रहते; और जो कम्पन आदि होते रहते हैं,वे `वेग` नामक संस्कार के कारण होते हैं ।

---

१ `यो यत्र वर्तते स तत्र न प्रतिबिम्बते ।उपरिस्थितस्य भ्रान्त्या प्रतीत आकाश: प्रतिबिम्बते । वस्तुतस्तु प्रभामण्डलस्यैव रूपत: प्रतिबिम्ब: ।सर्वथा दर्पणरेखावत् तत्र विद्यमानं न प्रतिबिम्बते ।`
--त०दी०नि०१।६० पर `प्रकाश`

२(क) `--- द्वासुपर्णाश्रुतेरपि विरुध्यते । गुहां प्रविष्टावित्युक्तेर्भगवद्वचनादपि ।। -----प्रतिबिम्बस्य क्रिया,बिम्बस्य च तुष्णीम्भावो विरुध्यते । प्रतिबिम्बक्रियाया: बिम्बाधीनत्वादेकत्रास्थितेश्च। श्रुत्याच च तथा बोध्यते इति प्रतिबिम्बकल्पना श्रुतिविरुद्धा।` --त०दी०नि०१।६० पर प्रकाश

(ख) `जीवो यदि ब्रह्मप्रतिबिम्बं स्यात्, ब्रह्मानुविधायि स्यात् यदि तथा स्याद्,द्वासुपर्णश्रुतिस्तथावदेत्, अननुविधायित्वं न वदेद्वा । यतो नैव मतो नैवम् । जीवो न च ब्रह्मप्रतिबिम्ब: ब्रह्माननुविधायित्वात् घटादिवत्` — त०दी०नि० १।६० आ०भं०

प्रारब्ध में तो संस्कार होते नहीं, अत: प्रारब्ध से देहादि की स्थिति स्वीकार करना असंगत है। यदि `दुर्जनस्तुष्यतुन्याय` से देह की स्थिति स्वीकार भी कर ली जाय तो प्रारब्ध के द्वारा केवल देह की वर्तमानता ही सम्भव हो सकेगी, भोजनादिकार्य सम्पादित नहीं होंगे, जैसा कि सुषुप्ति में देखा जाता है। अत: जीव न तो प्रतिबिम्ब है और न ही आभास, क्योंकि ऐसा मानने पर श्रुति-स्मृतियों में प्रतिपादित जीवन्मुक्ति का विरोध होता है : और फिर यदि जीव अविद्या में पड़ा ब्रह्म-प्रतिबिम्ब है तो मोक्ष का अर्थ जीवस्वरूपनाश ही हो गया। ऐसी स्थिति में मोक्ष का पुरु-षार्थरूप होना ही संदिग्ध हो जायेगा, क्योंकि `आत्महानमपुरुषार्थम्` ऐसा श्रुति का कथन है।[1]

इसलिये इन सब असंगतियों पर विचार करते हुए वल्लभ ने अंशांशिभाव ही स्वीकार किया है। जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशिसम्बन्ध भास्कर और रामानुज ने भी स्वीकार किया है। शंकर यद्यपि पारमार्थिक स्तर पर जीव की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं, तथापि व्याव-हारिक स्तर पर जीव और ब्रह्म के बीच जो सम्बन्ध वे मानते हैं, वह अंशांशिसम्बन्ध ही है। विशेष बात यह है कि अंशांशिभाव स्वीकार करते हुए भी निष्कर्ष सबके अलग-अलग हैं। अब वल्लभ का इस सन्दर्भ में अन्य तीन आचार्यों से जो सारस्य और वैरस्य है, उसकी एक संक्षिप्त आलोचना प्रस्तुत की जायेगी।

शंकर का मत तो सर्वविदित ही है। वे पारमार्थिक स्तर पर ब्रह्म के अति-रिक्त और किसी वस्तु का अस्तित्व स्वीकार न करते हुए भी लोकबुद्धि के आग्रह से व्यावहारिक स्तर पर समस्त जागतिक व्यवहार को स्वीकृति देते हैं। इसके लिए आवश्यक है कि वे जीव और ब्रह्म के बीच किसी सम्बन्ध का निर्देश करें, और यह सम्बन्ध अंश और अंशी का ही हो सकता है। शंकर के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश उसी प्रकार है, जिस प्रकार विस्फुलिंग अग्नि का। अंशांशिभाव स्वीकार करते हुए भी शंकर इस बात का निर्देश करना नहीं भूलते कि जीव का यह अंशत्व गौण अर्थ

----

१ `जीवहानिस्तदामुक्तिर्जीवन्मुक्तिर्विरुद्ध्यते।
लिंगस्य विद्यमानत्वादविद्यायां ततोऽपि हि ।।६१।।
अधिष्ठातुर्विनष्टत्वान्न देह: स्पन्दितुं क्षम:।
प्रारब्धमात्रशेषत्वे सुषुप्तस्येव न व्रजेत् ।।६२।।

प्रतिबिम्बपक्षे जीवहानिर्मुक्ति: स्यात्। आत्महानमपुरुषार्थं इति मोक्षस्यापुरुषार्थत्वमापद्येत। -----दूषणान्तरमाह--जीवन्मुक्तिर्विरुद्ध्यते इति। तत्र हेतु:। लिंगस्य विद्यमानत्वादिति। क्व प्रतिबिम्बत इति वक्तव्यम्। अन्त:करणे अविद्यायां वा ? उभयोरशुद्धत्वात् तत्प्रतिबिम्ब एव नोपपद्यते। अस्तु वा तथापि लिंगपक्षे उपाधेर्विद्यमानत्वात् संसार एव तदभावे परममुक्तिरेव। न तु कथंचन जीव-न्मुक्तिरित्यर्थ:। ------ अधिष्ठातुर्विनष्टत्वादिति ।।देह: स्पन्दितुं चलितुं न समर्थ: स्यात्।---- प्रारब्धमात्रशेषत्व इति ।। तत्राधिष्ठाता वर्तत एव परं नानुसन्धत्ते। प्रारब्धं देहविद्यमानतामेव सम्पा-दयति, नाधिकं भोजनादिकार्यम्। सुषुप्तौ तथोपलम्भात्। तस्माज्जीवो नाभासो, न वा प्रतिबिम्ब:।

-- त०दी०नि० १।६१,६२ पर `प्रकाश`

में ही है, क्योंकि वस्तुत: निरवयव ब्रह्म के अंश नहीं हो सकते । तो फिर आवश्यकता ही क्या है इस अंशत्व-कल्पना की ? इसकी आवश्यकता इसलिए है क्योंकि जीव और ब्रह्म के मध्य 'सोऽन्वेष्टव्य: स विजिज्ञासितव्य:', 'य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमंतरो यमयति'-- ऐसे जो भेदनिर्देश हैं वे भेद की अपेक्षा रखते हैं । केवल भेदनिर्देश के अनुरोध से ही नहीं, अपितु इसलिये भी अंशत्वकल्पना की आवश्यकता पड़ती है, क्योंकि दोनों के मध्य केवल भेद ही नहीं, अपितु अभेद का भी कथन श्रुति करती है । जीव और ईश्वर में चैतन्य अविशिष्ट है, जैसे विस्फुलिंग और अग्नि में औष्ण्य अविशिष्ट है। इस प्रकार[1] जीव और ब्रह्म के मध्य भेद और अभेद की उपपत्ति जीव को ब्रह्म का अंश मानकर ही हो सकती है ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि शंकर भी वल्लभ की भांति अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं, किन्तु दोनों में सबसे बड़ा अन्तर यही है कि शंकर के लिए यह केवल एक व्यावहारिक सत्य है, जब कि वल्लभ इसे वास्तविक स्वीकार करते हैं । वैसे दृष्टि का यह अन्तर शंकर और अन्य वैष्णव भाष्यकारों के बीच सर्वत्र ही है ।

वल्लभ जीवस्वरूप के प्रश्न पर भास्कर के पर्याप्त निकट हैं, किन्तु उनके मत को अविकल रूप में स्वीकार नहीं करते । शंकर जीव को 'अंश' नहीं अपितु 'अंश इव' कहते हैं और रामानुज उसे ब्रह्म का प्रकार तथा अपृथग्सिद्ध-विशेषण सिद्ध करते हैं : भास्कर इन दोनों ही नितान्त अमूर्त और मूर्त धारणाओं को स्वीकार नहीं करते । उनके अनुसार अंशांशिभाव का तात्पर्य है--उपाधि के माध्यम से ब्रह्म का स्व-विभक्तीकरण । जीव ब्रह्म की एक वास्तविक अभिव्यक्ति है -- 'ब्रह्म च कारणात्मना कार्यात्मना जीवात्मना च त्रिधाऽवस्थितम्' । जीव के प्राकट्य के विषय में भी वे मुण्डकस्थ व्युच्चरणश्रुति को ही प्रमाण मानते हैं । भास्कर के अनुसार इस प्रकार विस्फुलिंग न तो अग्नि से सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न; इसी भांति जीव भी ब्रह्म से न सर्वथा भिन्न है और न सर्वथा अभिन्न । स्फुलिंगश्रुति से विकारभाव अपेक्षित नहीं है, इसका तात्पर्य उपाधिकृतभेद

---

१ 'जीव: ईश्वरस्यांऽशो भवितुमर्हति, यथाग्नेर्विस्फुलिंग: । अंश इवांशो, नहि निरवयवस्य मुख्योंऽश: सम्भवति । कस्मात्पुनर्निरवयवत्वात्स एव न भवति ? नानाव्यपदेशात् । 'सोऽन्वेष्टव्य: स विजिज्ञासितव्य'; 'एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति'; य आत्मनि तिष्ठन्नात्मानमंतरो यमयति' इति चैवं जातीयको भेदनिर्देशो नासति भेदे युज्यते । --- न च नानाव्यपदेशादेव केवलादंशत्वप्रतिपत्ति: । किं तर्हि अन्यथा चापि व्यपदेशो भवत्यनानात्वस्य प्रतिपादक: । चैतन्यं चाविशिष्टं जीवेश्वरयो:, यथाऽग्निविस्फुलिंगयोरौष्ण्यम् । अतो भेदाभेदावगमाभ्यामंशत्वावगम: ।'

--शां०भा०२।३।४३

में ही है । जिस प्रकार पार्थिव द्रव्य के सम्बन्ध से विस्फुलिंग का अग्नि से विच्छेद हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या, काम और कर्म रूप उपाधि से संयोग होने पर जीव का भी ब्रह्म से विच्छेद हो जाता है । इस प्रकार जीव और ब्रह्म के मध्य भेद जितना सत्य है, अभेद भी उतना ही सत्य है।[१]

यों तो 'अंश' शब्द कारणवाची भी है और द्रव्यविभागवाची भी, किन्तु इस प्रसंग में 'अंश' शब्द ब्रह्म के उपाध्यवच्छिन्न रूप का ही वाचक है । निरवयव ब्रह्म के अंश कैसे हो सकते हैं, यह शंका व्यर्थ है, क्योंकि ब्रह्म[२] श्रुत्येकगम्य है, तथा श्रुति विस्फुलिंग के दृष्टान्त से निरवयव ब्रह्म के अंशों का भी कथन करती है ।

भास्कर के विचार से परमसत्ता भिन्नाभिन्नस्वभाव है । उसका अभिन्न रूप स्वाभाविक है और भिन्न रूप औपाधिक । उपाधियों से सम्पर्क होने पर उपाधियों के गुणों को स्वयं पर आरोपित कर ब्रह्म ही जीवरूप से संसरण करता है।[३] 'तत्त्वमसि'-इस श्रुति के आधार पर जीव भी भिन्नाभिन्न सिद्ध होता है । उपाधियों के सत्य होने से उसका औपाधिकरूप भी उतना ही सत्य है, जितना स्वाभाविक रूप, किन्तु भास्कर दोनों में अन्तर भी करते हैं । ब्रह्म से अभिन्न जीव का जो स्वाभाविक रूप है, वह 'नित्यसिद्ध' है, तथा ब्रह्म से भिन्न जो 'औपाधिकरूप है, वह 'प्रवाह-नित्य' है : किन्तु हैं दोनों ही सच।[४] वल्लभ और भास्कर के मतों में परस्पर उतना भेद नहीं है, जितना वल्लभ और शंकर के मतों में है । दोनों के मतों में सबसे बड़ा साम्य यह है कि दोनों जीव को वास्तविक अर्थ में ब्रह्म का अंश स्वीकार करते हैं ; जीव ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है । अन्तर आ जाता है, तब जब भास्कर उपाधि की बात कहते हैं । वल्लभ के मत में अंशत्व औपाधिक नहीं है, स्वाभाविक है, जब कि भास्कर अंशत्व को, भले ही वह सत्य हो, औपाधिक ही मानते हैं । यद्यपि वल्लभ और भास्कर दोनों व्युच्चरणश्रुति को ही स्वीकार करते हैं तथापि दोनों में तात्पर्यभेद अवश्य है । जहां भास्कर इस श्रुति के आधार पर जीव और ब्रह्म के बीच भेदाभेदसम्बन्ध का कथन मानते हैं,

----

१ '---- न चात्रापि विकारभावो विवक्षित: किन्तूपाधिकृतभेदाभिप्राया हि सा । तेष्वप्यग्निसामान्यानुगमात्पार्थिवद्रव्यविश्लेषवशाद्विच्छेदमात्रं नान्यत्र भेद: ।'--भा०भा० २।३।१७

२ द्रष्टव्य भा०भा० २।३।४३

३ '---- स च भिन्नाभिन्नस्वरूप: । अभिन्नरूपं स्वाभाविकम् औपाधिकं तु भिन्नरूपम् । उपाधीनां च बलवत्वात् सम्मूर्च्छितस्तन्मय: संसरतीति । भेदोऽप्युपपद्यते ।'-- भा०भा० २।३।४३

४ '-----'तत्त्वमसि' इतिश्रुतेर्भिन्नाभिन्नो जीव: । स्वाभाविकं नित्यसिद्धमभिन्नं रूपम् इतरदौपाधिकं प्रवाहनित्यमिति विवेक: ।'

-- भा०भा० ३।२।६

वह। वल्लभ तारतम्यविशिष्ट अभेदसम्बन्ध का ग्रहण करते हैं । यों अंशी और अंश के बीच जितने भेद की आवश्यकता है,उतना भेद वल्लभ ने भी स्वीकार किया है; किन्तु उन्होंने कहीं भेद का प्रतिपादन नहीं किया । भेद तो गौण है, अभेद ही मुख्य है अत: वे भेदाभेद का प्रतिपादन न कर सर्वत्र अभेद को ही सिद्धांतरूप में प्रतिपादित करते हैं ।

शंकर की और भास्कर की अपेक्षा रामानुज अपनी मान्यताओं में वल्लभ के अधिक समीप हैं तथा दोनों को अभिमत अंशांशिभाव में अपेक्षाकृत अधिक समानतायें हैं ; फिर भी दोनों के सिद्धान्त बिल्कुल ही एक नहीं हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट होगा । रामानुज के अनुसार जीव ब्रह्म का अंश है,क्योंकि उसका ब्रह्म से भेदपूर्वक और अभेदपूर्वक - दोनों ही प्रकार से निर्देश किया गया गया है । स्रष्टृत्व-सृज्यत्व, नियामकत्व-नियाम्यत्व आदिपूर्वक भेदनिर्देश है तथा 'तत्त्वमसि', 'अयमात्मा ब्रह्म' इत्यादिपूर्वक अभेदनिर्देश । भेदव्यपदेश और अभेदव्यपदेश दोनों के मुख्यत्व की सिद्धि के लिए जीव को ब्रह्म का अंश ही स्वीकार करना चाहिए ।[१]

इस अंशांशिसम्बन्ध के माध्यम से रामानुज जीव और ब्रह्म का विशेषण-विशेष्यसम्बन्ध निश्चित करते हैं । उनके अनुसार किसी वस्तु का एकदेश होना 'अंशत्व' है । विशिष्ट वस्तु का विशेषण उसका अंश ही होता है, इसीलिए विशिष्ट वस्तु में 'विशेषणांशोऽयम्', 'विशेष्यांशोऽयम्' ऐसा व्यपदेश किया जाता है । विशेषण-विशेष्य का अंशांशित्व होने पर भी दोनों का स्वभाववैलक्षण्य देखा जाता है । इस प्रकार जीव और परमात्मा के विशेषण-विशेष्य-सम्बन्धकृत वैलक्षण्य का आश्रय लेकर भेदकथन किया गया है और विशेषणों की विशेष्य से पृथक् सत्ता के अभाव को लेकर अभेदकथन किया गया है ।[२]

जैसे प्रभा,शक्ति और शरीर क्रमश: प्रभावान्,शक्तिमान् तथा आत्मा से अर्थान्तरभूत हैं,किन्तु उनसे व्यतिरिक्त उनकी कोई सत्ता नहीं है,[३] वैसे ही अंशजीव अंशी ब्रह्म से भिन्न होता हुआ भी उससे पृथक् अपनी कोई सत्ता नहीं रखता ।

वल्लभ और रामानुज में जो सबसे बड़ा साम्य है, वह यह है कि दोनों ही अंशत्व को वास्तविक और स्वाभाविक मानते हैं; शंकर और भास्कर की भांति औपाधिक नहीं ।

---

१ 'ब्रह्मांश इति श्रुत:,नानात्वव्यपदेशात् । अन्यथा च एकत्वेन व्यपदेशात् । उभयथा हि व्यपदेशो दृश्यते -----एवमुभयव्यपदेशमुख्यत्वसिद्धये जीवोऽयं ब्रह्मणोंऽश इत्यभ्युपगन्तव्य:' --श्रीभा०२।३।४२

२ ' एकवस्त्वेकदेशत्वं ह्यंशत्वम् । विशिष्टस्यैकस्य वस्तुनो विशेषणमंशएव । तथा च विवेका विशिष्टे वस्तुनि विशेषणांशोऽयं विशेष्यांशोऽयमिति व्यपदिशन्ति । विशेषणविशेष्ययोरंशांशित्वेऽपि स्वभाववैलक्षण्यं दृश्यते । ---एवं जीवपरयोर्विशेषणविशेष्यत्वकृतं स्वभाववैलक्षण्यमाश्रित्य भेदनिर्देशा: प्रवर्तन्ते । अभेदनिर्देशास्तु पृथक् सिद्ध्यनर्हविशेषणानां विशेष्यपर्यन्तत्वमाश्रित्य मुख्यत्वेनोपपद्यते ।' --श्री०भा०२।३।४५

३ 'एवं प्रभाप्रभावद्रूपेण,शक्तिशक्तिमद्रूपेण, शरीरात्मभावेन चांशांशिभावं जगद्ब्रह्मणो: पराशरादय स्मरन्ति ।' --श्री०भा०[illegible]।३।४

दोनों के मतों में स्वरूप-साम्य होने पर भी इस अंशांशिभाव से वे जो निष्कर्ष निकालते हैं, वे भिन्न-भिन्न हैं-- वल्लभ विशुद्धाद्वैत की सिद्धि करते हैं, और रामानुज विशिष्टाद्वैत की। वल्लभ जीव को ब्रह्म का प्रकार या अपृथग्सिद्ध-विशेषण स्वीकार नहीं करते; इसका कारण उनके द्वारा मान्य परम-सत्ता का स्वरूप है, जिसपर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में विस्तार से विचार किया जा चुका है। रामानुज जीव को ब्रह्मात्मक स्वीकार करते हुए भी उसकी `विशेषण` अथवा `प्रकार` रूप से ब्रह्म से पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं, किन्तु वल्लभ इसका समर्थन नहीं करते। जीव की ब्रह्म से पृथक् कोई सत्ता नहीं है; वह ब्रह्मरूप से ही सत्य है, जीवरूप से नहीं, अत: विशेष्यविशेषणभाव के लिए दोनों में जैसी भिन्नता की आवश्यकता है, वैसी भिन्नता उनमें नहीं हो सकती। यही वल्लभ का रामानुज से सबसे बड़ा अन्तर है।

इस तरह शंकर, भास्कर, रामानुज और वल्लभ चारों ही जीव और ब्रह्म के बीच अंशांशिभाव को मान्यता देते हैं; किन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त और निष्कर्ष अलग अलग हैं। शंकर तादात्म्य का; भास्कर भेदाभेद का; रामानुज अपृथग्सिद्धि का; तथा वल्लभ तदात्मकता का प्रतिपादन करते हैं। इस तुलनात्मक समीक्षा के पश्चात् वल्लभ के सिद्धान्त की वैयक्तिक रूपरेखा बहुत स्पष्ट हो जाती है।

इस सन्दर्भ में जो अन्तिम विचारणीय प्रश्न है, वह यह है कि इस अंशांशिभाव से वल्लभ के किस प्रयोजन की सिद्धि होती है? अथवा, वल्लभ की सिद्धांतनिर्मिति में इसका क्या योगदान है?

इस सिद्धान्त की उपयोगिता का विवेचन संक्षेप में इस प्रकार किया जा सकता है।

रामानुज और वल्लभ को मान्य अंशांशिभाव से प्रेरित जो अद्वैत है, वह मूलत: `अद्वयता` तथा `ऐक्य` का पोषक होते हुए भी स्वयं में न्यूनाधिक-भाव के लिए पर्याप्त अवकाश रखता है। अंश और अंशी में भले ही तत्वात्मक अन्तर न हो, परिमाणात्मक (माणा) अन्तर तो है ही-- अंश अंशी का एकदेश मात्र है। जीव अंश होने के कारण अंशी ब्रह्म से तत्वत: अभिन्न अवश्य है; परन्तु वह ब्रह्म का आंशिक प्रकाशन मात्र है, पूर्ण अभिव्यक्ति नहीं। यहां यह जानना आवश्यक है कि जीव और ब्रह्म के मध्य यह जो न्यूनाधिक-भाव है, वह वस्तुत: ब्रह्म की शक्ति और सामर्थ्य में नहीं, अपितु उस शक्ति और सामर्थ्य के प्रकाशन में है। ब्रह्म के प्रत्येक रूप में उसकी शक्तियां, उसके गुण पूर्ण और समान हैं, किन्तु आवश्यकतानुसार कहीं प्रकट, कहीं अप्रकट और कहीं ईषत्प्रकट हैं। गुणों का तिरोभाव ही अंशत्व का प्रयोजक है। वल्लभ के अनुसार जीव में ब्रह्म का आनन्दांश तिरोभूत रहता है; इसलिए जीव में हीनत्व, अल्पज्ञत्व, संसारित्व, बन्ध और मोक्ष--ये सारे धर्म हो सकते

जब कि ब्रह्म में इनका संस्पर्श तक सम्भव नहीं है । आनन्दांश के प्रकट होने पर जीव का ब्रह्मभाव होता है । आनन्द के इस आविर्भाव-तिरोभाव में भगवदिच्छा ही नियामिका है; भगवान् की सन्तुष्टि ही मोक्ष का द्वार है इसलिये सहज ही भक्ति ब्रह्मभाव का प्रमुख साधन कही गई है । ज्ञान आदि अन्य साधन भी वल्लभ ने अंगरूप से स्वीकार किए हैं, किन्तु भक्ति ही मुख्य है । भक्ति की जो अपेक्षाएं हैं, वे अंशांशिभाव के द्वारा ही पूरी होती हैं । उपास्य और उपासक, आराध्य और आराधक के बीच जिस अन्तर की आवश्यकता होती है, वह अंशांशिभाव से सहज ही सम्पन्न हो जाता है । विट्ठलेश्वर ने अंशांशिभाव की व्याख्या करते हुए `अंशत्वम्`, `अंशिनोऽशान्महत्त्वम्` आदि जो धर्म परिगणित किए हैं, उनसे यह बात स्पष्ट है ।

इस प्रकार वल्लभ ने जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशिभाव स्वीकार कर, उपनिषदों की महिमाशालिनी परम्परा से पोषित अद्वैत के साथ, द्वैत की अपेक्षा रखने वाली किन्तु जनमानस के उन्नयन में सर्वाधिक सहायिका वैष्णव भक्ति का सुललित समन्वय किया है । इस अंशांशिभाव के कारण ही अखण्ड अद्वैत में भी `तू दयालु, दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी`-- जैसी उक्ति के लिए अवकाश प्राप्त हो सका ।

अंशांशिभाव की इस आलोचना के पश्चात् जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध निर्धारित करना बहुत सरल हो जाता है ।

जीव ब्रह्म की एक वास्तविक अभिव्यक्ति है । ब्रह्म सृष्टीच्छा होने पर अपने आनन्दांश को तिरोभूत कर भोक्ता जीवरूप से अवतीर्ण होता है; अत: इस अभिव्यक्ति में माया-सम्बन्ध का लेश भी नहीं है । जीव ब्रह्म से भिन्न `जीवरूप` से अपनी कोई सत्ता नहीं रखता, अत: वह ब्रह्मात्मक होकर ही `सत्` है । जीव ब्रह्मात्मक तो है, किन्तु स्वयं ब्रह्म नहीं है । वल्लभ जीव को `तदात्मक` कहते हुए भी, उसका ब्रह्म से तादात्म्य स्वीकार नहीं करते; दोनों में प्रत्येक स्तर पर अन्तर अवश्य बना रहता है । जीव शासित है और ब्रह्म शासक; जीव आराधक है और ब्रह्म आराध्य; जीव नियम्य है और ब्रह्म नियामक; और इन सम्बन्धों के लिए जिस अन्तर की आवश्यकता पड़ती है, वह वल्लभ द्वारा स्वीकृत अद्वैत में सर्वदा ही वर्तमान रहता है । मुक्तदशा में ऐक्य की अभिव्यक्ति के बाद भी, जीवों की भगवन्नियम्यता बनी रहती है, वैसे ही जैसे पुरुष प्रत्येक स्थिति में अपने अंगों का नियामक और संचालक रहता है । जीव के अंश होने के कारण परापर-भावघटित ऐकात्म्यवाद ही वाल्लभमत में अभिप्रेत है । भाष्यप्रकाशकार स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि

---

१ `अतोऽशत्वेन नानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावघटित स्वैकात्म्यवादो भगवदभिमत इति न सिध्यति । तैर्मध्यमुक्तिदशायामैक्याभिव्यक्तावपि पुरुषस्य स्वांगेष्विव भगवतो जीवेषु नियम्यता न निवर्तते ।`

—भा०प्र० २।३।५३

`चैथे च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्टे` इत्यादि वाक्यों के आधार पर हमारे मत में मोक्ष में भी चरणों में ही ऐक्य होता है, अत: अंशांशिभाव स्वामिसेवकभाव ही है।[1]

जीव के अंश होने के कारण सजातीयत्व की शंका नहीं करनी चाहिए। जन्य न होने के कारण स्वरूपत: कार्याभाव होने पर भी ब्रह्म से विभाग तथा शरीरप्रवेशादि होने के कारण जीव का प्रकारभेदरूप कार्यत्व तो है ही, अत: जीव के स्थूलसूक्ष्मशरीराभिमानी होने के कारण सजातीयत्व की शंका नहीं करनी चाहिए। आनन्दांश के तिरोहित होने के कारण भी सजातीयत्व सम्भव नहीं है। अन्य चित्स्वरूपत्व नित्यत्व आदि धर्मों से दोनों में जो साम्य है, वह तो इष्ट है ही।[2]

वल्लभ `तत्त्वमसि` इस श्रुति का अर्थ भी शंकर की भाँति `जीव और ब्रह्म का तादात्म्य` नहीं लेते। उनके अनुसार इसका पर्यवसान ब्रह्म के `सर्वरूपत्व` में है। जीव ब्रह्मैक्य मानने पर उपक्रमविरोध होता है। उपक्रम में `सन्मूला सौम्येमा:प्रजा ----` में समवायित्वबोध की ही प्रतिज्ञा की गई है। `अपि वा तमादेशमप्राक्ष्य: येनाऽश्रुतं श्रुतं भवति` में जो एक विज्ञान से सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, वह तभी उपपन्न हो सकती है, जब सब कुछ एकात्मक हो; जिसप्रकार सुवर्णकार्य कुण्डलकेयूरादि सब सुवर्ण ही हैं, और सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर उन सब का ज्ञान हो जाता है। इसीलिए `सदेव सौम्य ---` से निरूपण प्रारम्भ कर श्रुति ने `ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्` से समस्त जडजगत् का तदात्मकत्व अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व प्रतिपादित किया है। पूर्वोत्तर जड और जीव का तदात्मकत्व ज्ञापित करने के लिए ही बीच में हेतु दिया है--`स आत्मा`। परमेश्वर ~~सबका~~ सबका स्वरूपभूत है, जैसे स्वर्ण आभूषणों का : सब कुछ तदात्मक है अत: सत्य है। इस प्रकार जड का ब्रह्मात्मकत्व कहकर, `तत्त्वमसि` से जीव का भी ब्रह्मात्मकत्व कहा गया है।[3]

वस्तुत: केवल `तत्त्वमसि` नहीं, अपितु `तत्त्वमसि` इस पद से युक्त सम्पूर्ण वाक्य ही `महावाक्य` है। इस महावाक्य में जिस प्रकार `ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्` -- इस सदंश में भागत्यागलक्षणा नहीं है, उसी प्रकार आगे चिदंश परक `तत्त्वमसि` में भी नहीं माननी चाहिए। इसमें `सर्वं ब्रह्म` यह कहने के लिए ही जीव की ब्रह्मता निरूपित की गई है।[4]

---

१ `---ब्रह्मत्वपक्षे तु मोक्षेऽपि चरण एवैक्यम्। चैथे च सात्वतपतेश्चरणं प्रविष्ट इत्यादिवाक्यात्। अतोंऽशांशिभाव: स्वामिसेवकभाव: ---` भा०प्र०२।३।५३

२ `स्वरूपत: कार्याभावेऽपि प्रकारभेदेन कार्यत्वात्। तथा च न साजात्यम्। आनन्दांशस्य तिरोहितत्वात्। धर्मान्तरेण तु साजात्यमिष्टमेव। ---` अणुभा०२।३।४३

३ द्रष्टव्य -- त०दी०नि०१।६३ पर `प्रकाश`

४ `तत्त्वमसीति। उपदेशवाक्यम्। आवृत्तिरसकृदुपदेशादिति ब्रह्मसूत्रात्। अत: सम्पूर्णं महावाक्यमुपदेश:। तत्र यथा ऐतदात्म्यमित्यत्र न भागत्यागलक्षणा सदंशे तथोत्तरत्रापि चिदंशेऽवगन्तव्यम्। ---जडजीवौ पृथक्कृत्य सर्वं ब्रह्मेति वक्तुं जीवस्य ब्रह्मता निरूपिता` --त०दी०नि० १।६३ पर `प्रकाश`

जिस प्रकार 'ऐतदात्म्यम्' एतदात्मा का भाव है, वैसे ही 'तत्त्वम्' तत् का भाव है। 'तत्त्वमसि' का पदच्छेद 'तत्त्वम् असि' इस प्रकार है। 'असि' यह मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है; इससे ही 'त्व' पद का बोध हो जाने से 'तत्त्वम्' एक पूरा पद है, जिसका तात्पर्य है (जीव की) 'तत्त्वात्मकता' अर्थात् ब्रह्मात्मकता। इस 'तत्त्वमसि' पद से जीव की तदात्मकता अंश रूप से उसी प्रकार कही गई है, जिस प्रकार जड की कार्यरूप से। जीव में अल्पज्ञत्वादि जो ब्रह्मविरुद्ध धर्म हैं, वे तो ब्रह्म की इच्छा से ही हैं, अत: विरुद्धांशपरित्याग और भागत्यागलक्षणा के लिए कोई अवकाश नहीं है।[1]

इस प्रकार प्रकरण, प्रतिज्ञा और उपक्रमोपसंहार के आधार पर वल्लभ जीव की ब्रह्मात्मकता सिद्ध करते हैं, ब्रह्मैक्य नहीं।

जीव और ब्रह्म की परस्पर सापेक्ष स्थिति तथा सम्बन्ध के सन्दर्भ में 'हानौ तूपायनशब्दशेषत्वात् -----' (ब्र०सू०३।३।२६) पर वल्लभ का मत सिद्धान्त की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

सर्वप्रथम वे जीव और ब्रह्म के आत्यन्तिक अभेद का खण्डन करते हुए कहते हैं कि मुण्डक में कहा गया है—'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरंजन: परमं साम्यमुपैति'। यहाँ परम शब्द ब्रह्मवाची है। व्यक्ति अविद्या और उसके कार्यों से मुक्त होकर इस 'परम' को प्राप्त करता है और इस परप्राप्ति के अनन्तर 'साम्य' की स्थिति पर पहुँचता है। 'साम्य' का अर्थ अभेद नहीं, अपितु 'समानजातीयधर्मवत्त्व' अर्थात् 'तुल्यत्व' है।[2] अब प्रश्न उठता है कि यह साम्य अशेष धर्मों से है या कतिपय धर्मों से? वल्लभ के अनुसार अशेष धर्मों से साम्य नहीं हो सकता, क्योंकि श्रुति ब्रह्म के विषय में 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'--- ऐसा कथन करती है। इसलिए कतिपय धर्मों से ही साम्य मानना उचित है। जीव का ब्रह्म से जो विभाग होता है, वह 'हानि' कहलाता है। इसके होने पर जीवनिष्ठ जो आनन्द, ऐश्वर्य आदि धर्म हैं, वे तिरोहित हो जाते हैं। ब्रह्म सम्बन्ध होने पर ये पुन: आविर्भूत

---

१ "-----तथा च यथैतदात्म्यमेतदात्मनो भावस्तथा तत्त्वं तस्य भावस्त्वं भवसि। असीति मध्यमपुरुषेणैव त्वम्पदलाभात् तत्त्वमित्येकं पदम्। तेन जीवस्य तदात्मकत्वांशत्वेन रूपेण बोध्यते। यथा जडस्य तत्कार्यत्वेनरूपेण। न भागत्यागलक्षणा। धर्मतिरोधानस्य भगवदिच्छया जातत्वादिति"।
--त०दी०नि० १।६३ पर आ०भं०

२(क) "'तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय परमं साम्यमुपैति' त्याथर्वणिकै: पठ्यते। परमपदेन ब्रह्मोच्यते। तथा च सकार्याऽविद्या रहित: परममुपैति। तदनन्तरं साम्यमुपैति इति योजना। तच्च द्विधा-[illegible]। साम्यं हि समानजातीयधर्मवत्त्वम्।" --अणुभा० ३।३।२६

(ख) "समग्रधर्मस्य सर्वधर्मायित्वे साम्यं सर्वत्वं, तुल्यधर्मायित्वे तौल्यं, न पुनरद्वैतं निर्विशेषत्वलक्षणं, लक्षणाप्रसंगात्"
— भा०प्र०३।३।२६

होते हैं : और इन धर्मों से ही जीव का ब्रह्म से साम्य कहा जाता है[१]।

इनसे ही क्यों? यह भी एक समस्या है, इसका उत्तर देते हुए वल्लभ कहते हैं कि इस साम्य का 'उपायनशब्दशेषत्व' है --'परममुपैति'। 'उपायन' का अर्थ ब्रह्मप्राप्ति है। आनन्दांश और ऐश्वर्य आदि धर्मों का आविर्भाव ही ब्रह्मप्राप्ति में कारण बनता है, अत: इनके आविर्भाव के उपरान्त ही साम्य कथन होने से, इनसे ही साम्य कहा जाता है, अन्य धर्मों से नहीं[२]। [किन्तु] ऐसा मानने पर जीव और ब्रह्म में अभेद हो जायेगा, क्योंकि आनन्द ऐश्वर्यादि भगवद्धर्म हैं, अत: वल्लभ इस तादात्म्य की चरम सीमा पर भी दोनों में अन्तर बनाये रखते हैं। ब्रह्मधर्मों से युक्त होना ब्रह्म से अभिन्न हो जाना नहीं है : जीवधर्म भगवद्धर्मों से न्यून ही रहते हैं। अत: भगवान् के आनन्दादि धर्मों के पूर्ण होने से तथा जीवनन्दादि के न्यून होने से जीव में ब्रह्मसाम्य उपचरित मात्र होता है, वस्तुत: होता नहीं[३]। इस प्रकार 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' आदि श्रुतियों का विरोध नहीं होता।

'तत्त्वमसि' 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादि वाक्यों के आधार पर मिथ्यावादियों के द्वारा जीव का ब्रह्म से जो अभिन्नत्व प्रतिपादित किया गया है, वह तो व्यपदेशमात्र है। ब्रह्म के प्रज्ञा, द्रष्टृत्वादि जो गुण हैं, ये ही जीव का जड से वैलक्षण्य द्योतित करने वाले धर्म हैं; अत: अमात्य में जैसे 'राज' पद का व्यपदेश होता है, उसी तरह जीव में ब्रह्मत्व का व्यपदेश होता है[४]। किन्तु व्यपदेश के लिए भी कुछ समानता होनी आवश्यक है; इसी दृष्टि से वल्लभ कहते हैं कि व्यपदेशदशा में जीव में आनन्द का सर्वथा अभाव नहीं रहता। अत्यन्त अभाव होने पर मोक्षदशा में भी उसका प्राकट्य नहीं होगा[५]। ऐसी व्यवस्था मानना आवश्यक है, अन्यथा आनन्दांश यदि नित्य उपलब्ध ही मानेंगे तो

----

१ '---- ब्रह्मण: सकाशाद्विभागो जीवस्य हानिशब्देन उच्यते। तथा च तस्यां सत्यां ये धर्मा जीवनिष्ठा आनन्दांशैश्वर्यादयो भगवदिच्छया तिरोहितास्ते ब्रह्मसम्बन्धे सति पुनराविर्भूता इति तैरेव तथेत्यर्थ:'। -- अणुभा० ३।३।२६

२ 'ननु तैरेव धर्मै: साम्यं नेतरैरितित्यत्र को हेतुरित्याकांक्षायामाह। उपायनशब्दशेषत्वादिति। परममुपैतीति य उपायनशब्दस्तच्छेषत्वात् साम्योपायनस्येत्यर्थ:। ब्रह्मसम्बन्धहेतुकत्वादानन्दांशास्याविर्भावस्य, तदैव साम्योपायनकथनात्तैरेव धर्मै: साम्यमभिप्रेतमिति भाव:'। --अणुभा०३।३।२६

३(क) 'भगवदानन्दादीनां पूर्णत्वाज्जीवानन्दादीनामल्पत्वान्नाम्नैव समैर्धर्मै: कृत्वा ब्रह्मसाम्यं जीव उपचर्यते। साम्यमुपैति इति। वस्तुतस्तु नेतरैरपि धर्मै: साम्यमिति भाव:। अत एव न तत्सम इति श्रुतिरविरुद्धा'। --अणुभा०३।३।२६

(ख) 'पूर्णानन्दैश्वर्यादय: प्रधानस्य धर्मिणो ब्रह्मण एव धर्मा:'। --अणुभा०३।३।११

४ 'तस्य ब्रह्मणो गुणा प्रज्ञाद्रष्टृत्वादयस्त एवात्र जीवे सारा इति जडवैलक्षण्यकारिण इति अमात्ये राजपदप्रयोगवज्जीवे भगवद्व्यपदेश:। मैत्रेयीति सम्पूर्णे ब्राह्मणे भगवत्त्वेन जीव उक्त:।'
--अणुभा० २।३।२९

५ 'व्यपदेशदशायामपि आनन्दांशस्य नात्यन्तमसत्त्वम्' पुंस्त्वादिवत्।'
--अणुभा०२।३।३१

संसारावस्था नहीं होगी और नित्य अनुपलब्ध मानेंगे तो मोक्षावस्था नहीं होगी । ब्रह्म को सानन्द और जीव को निरानन्द मानेंगे तो `ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति` -- इस श्रुति का विरोध होगा : अतः व्यपदेशदशा में आनन्द का तिरोभाव मानना ही उचित है ।

जब तक जीव का ब्रह्मभाव नहीं होता, तभी तक उसमें ब्रह्मधर्मों का व्यपदेश होता है; ब्रह्मभाव होने पर तो वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है । यह व्यपदेश मोक्षावस्था में जीव के ब्रह्मत्व का सूचक है जैसे राजा के ज्येष्ठपुत्र में राजत्वव्यपदेश आगामी राजत्व का सूचक होताहै । जीव के विषय में व्यापकत्वादि का कथन करने वाली श्रुतियाँ ब्रह्मभावप्राप्त जीवों की अपेक्षा से हैं, और तब भी ये धर्म भगवत्सम्बन्ध के कारण ही होते हैं, स्वयं जीव के धर्म ये सब नहीं हैं[१] । इस विवेचन से स्पष्ट है कि वल्लभ कभी भी जीव और ब्रह्म के मध्य आत्यन्तिक अभेद की पुष्टि नहीं करते । जीव अपनी प्रकृति में भले ही ब्रह्मात्मक हो, स्वयं ब्रह्म नहीं है । ब्रह्म प्रत्येक अवस्था में जीव से श्रेष्ठ है : जीव सदैव ही भक्त है और ब्रह्म भजनीय । वल्लभ का सिद्धान्त शंकर के तो बिल्कुल विपरीत है ही, भास्कर से भी इस विषय में उनका पर्याप्त मतवैभिन्न्य है,क्योंकि भास्कर मोक्षावस्था में शंकर की भांति जीव और ब्रह्म का अत्यन्त-अभेद मानते हैं । रामानुज अवश्य वल्लभ के बहुत समीप हैं;दोनों ही जीव और ब्रह्म के बीच का अन्तर हरस्थिति में, हर स्तर पर अक्षुण्ण रखते हैं ।

वल्लभ जीवों की प्रकृति के आधार पर उनका वर्गीकरण भी करते हैं । वल्लभ के सिद्धान्त में मायिकत्व के लिए तो कोई स्थान है नहीं,अतः यह वर्गीकरण भी वास्तविक ही है । जीवों का यह वर्गीकरण निश्चित रूप से जीव-बहुत्व की अपेक्षा रखता है ।

यद्यपि वल्लभ ने कहीं भी स्वतन्त्र रूप से `एकजीववाद` और `बहुजीववाद` पर चर्चा नहीं की है, तथापि अन्यान्य सूत्रों के भाष्यों से तथा उनके समग्रसिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में बहुजीव-वाद ही उनका अभिमत सिद्धान्त प्रतीत होता है । शंकर की भांति `एकजीववाद` स्वीकार करने की स्थिति में वे नहीं हैं,क्योंकि वे अपने मत में किसी उपाधि को स्थान नहीं देते । जीव ब्रह्म की औपा-धिक अभिव्यक्ति नहीं, अपितु वास्तविक अभिव्यक्ति है,और श्रुति इस अभिव्यक्ति का निर्देश बहुत्व-विशिष्ट रूप से ही करती है--

` ---- यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिंगाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः`

`अंशो नानाव्यपदेशात् -----` सूत्र पर भाष्य करते हुए वल्लभ कहते हैं--`जीवो नाम ब्रह्मणोंऽशः ,कुतः ?

१(क) `व्यपदेशो वा नात्यन्तमयुक्तस्य । यावदात्मा ब्रह्म भवत्यानन्दांशप्राकट्येन तावदेव तद्व्यपदेशः। राजज्येष्ठपुत्रवत् । -----व्यापकत्वश्रुतिस्तस्य भावत्वेन युज्यते ----`।अणु०भा०२।३।३०

(ख) `तस्य ब्रह्मभावं प्राप्तस्य जीवस्य भावत्वेन व्यापकत्वश्रुतिर्युज्यते, न तु जीवत्वेन रूपेण` ।

--भा०प्र० २।३।३०

नानाव्यपदेशात् । सर्वस्वात्मानो व्युच्चरन्ति कपूयचरणा रमणीयचरणा इति च । भाष्यप्रकाशकार के अनुसार 'नानाव्यपदेशात्' पद का अर्थ 'नानात्वेनव्यपदेशात्' लेना चाहिए । श्रुति में बहुत्वसंख्या-विशिष्ट रूपसे कथन होने से तथा ब्रह्म से विस्फुलिंगवत् विभाग होने के कारण जीवबहुत्व ही स्वीकार करना चाहिए । वल्लभ ने जो 'कपूयचरणा,रमणीयचरणा'-- यह उदाहरण दिया है, वह भी नानात्व ही सिद्ध करता है । वस्तुत: यदि जीव को ब्रह्म का स्वाभाविक अंश माना जाये तो जीवबहुत्व स्वीकार करना भी अनिवार्य हो जाता है । वल्लभ न केवल जीव को प्रतिशरीरभिन्न मानते हैं,अपितु जीव के साथ एक ही शरीर में अन्तर्यामी का प्रवेश होने के कारण वे अन्तर्यामी-बहुत्व भी स्वीकार करते हैं । अत: जीव के अंश होने के कारण जीवस्वरूप की दृष्टि से नानात्मवाद और ब्रह्मस्वरूप की दृष्टि से एकात्मवाद की सिद्धि होती है[1] । विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त में जीवों में परस्पर भेद भी स्वीकार कियागया है । वल्लभ इस वैलक्षण्य को सोदाहरण स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार हीरक, माणिक्य आदि रत्नों में तथा पलाश,चम्पक चन्दन आदि वृक्षों में पृथिवीत्व समान होते हुए भी उच्चत्व,नीचत्व[2] रूप भेद होता है; वैसे ही जीवों में अंशत्व अविशेष होते हुए भी उच्चनीचादि का भेद होता है । हस्तपादादि का परस्पर भेद और देही से अभेद लोक में देखा जाता है । जिस प्रकार हस्तादि का तत्तन्नामकत्व है, वैसे ही जीवों का जीवनामकत्व और ब्रह्मनामकत्व दोनों ही सम्भव हैं । सिद्धान्त में भेदसहिष्णु-अभेद की ही मान्यता है[3] ।

जीवों के इस स्वभावभेद को ही आधार बनाकर जीवों का वर्गीकरण किया गया है । वल्लभ का एक बहुतमहत्वपूर्ण प्रकरणग्रन्थ है --'पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद'; इस प्रकरण ग्रन्थ में उन्होंने बहुत विस्तार से इस विषय पर विचार किया है । जीवों के वर्गीकरण की तीन दिशाएं प्रस्तुत की गई हैं--

(१) शुद्ध,संसारी और मुक्त जीव
(२) पुष्टि,मर्यादा और प्रवाही जीव
(३) अज्ञ,दुर्ज्ञ और सम्बन्धी जीव

---

१ 'एवं जीवानामंशत्वे जीवस्वरूपविचारेण नानात्मवादो, भगवत्स्वरूपविचारेण चैकात्मवाद इत्यपि प्रांजलमेव सिद्ध्यति ।' --भा०प्र०२।३।५३

२ 'पार्थिवत्वाविशेषेऽपि हीरमाणिक्यपाषाणानां पलाश चम्पकचन्दनानामुच्च नीचत्वमेवं जीव-स्यांशत्वाऽविशेषेऽपि ब्रह्मादिस्थावरान्तानामुच्चनीचत्वम् ।' --अणु०भा०२।१।२३

३ '---यथा हस्तादीनां तत्तन्नामकत्वं,तद्वज्जीवानामंशानां जीवनामकत्वमात्मनामकत्वं च निर्बाधम् ।---स्वगतद्वैतं तु न दोषाय । भेदसहिष्णोरेवाभेदस्य सिद्धान्तेऽङ्गीकारात् ।'
--भा०प्र०२।३।५३

इनमें से शुद्ध, संसारी और मुक्त वाला वर्गीकरण एक सामान्य वर्गीकरण है, और इस पर वल्लभ ने विशेष कुछ नहीं कहा है : वाल्लभसम्प्रदाय के एक परवर्ती विद्वान् श्री बालकृष्ण ने अवश्य इस वर्गीकरण की विशद् विवेचना की है । स्वयं वल्लभ पुष्टि, प्रवाह, मर्यादा वाले वर्गीकरण को अधिक महत्त्व देते हैं; और इसी के आधार पर उन्होंने अपने ग्रन्थ का नाम `पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद` रखा है । यह वर्गीकरण जीव की विभिन्न साधनामार्गों में अभिरुचि तथा मोक्ष की दृष्टि से उनकी स्थिति के आधार पर किया गया है । सब के चिद्रूप होने पर भी असाधारण धर्म-भेद से ये जीवभेद भी उपपन्न हैं । इस प्रकृतिभेद के ही कारण ये विभिन्नफलगामी होते हैं ।

वल्लभ के अनुसार वैष्णवत्व अर्थात् भगवदाज्ञाकारित्व पुष्टि जीवों का सहज गुण है । वैदिकत्व और लौकिकत्व ये क्रमशः मर्यादा और प्रवाही जीवों के सहज स्वभाव हैं ।[1]

पुष्टिजीव भगवत्प्रेम और भगवदाराधन को ही साधन और साध्य--दोनों समझते हैं, अन्य वैदिक लौकिक साधनों में उनका विश्वास नहीं होता । मर्यादा जीव, पुष्टिजीव और प्रवाही जीवों के बीच की स्थितिवाले हैं । इनमें दैवी और मानवीय गुणों का सम्मिश्रण रहता है। ये जहां एक ओर समस्त वैदिक कर्मकाण्डोक्त कर्मों के अनुष्ठान और फल में विश्वास रखते हैं, वहीं उन कर्मों के भगवच्चरणारविन्दों में समर्पण के प्रति भी आस्थावान् होते हैं ।

भगवान् से द्वेष जिनका असाधारण धर्म होता है, वे प्रवाही जीव हैं और इनका अत्यन्त घोर संसार होता है । प्रवाही जीव सब आसुर होते हैं । इन प्रवाही जीवों के भी दो भेद होते हैं-- अज्ञ और दुर्ज्ञ । दुर्ज्ञ जीव प्रकृति से ही अत्यन्त दुष्ट होते हैं और अज्ञ जीव इनकी संगति से दोषग्रस्त हो जाते हैं । अज्ञ जीव विशेष प्रयत्न करने पर मुक्ति के अधिकारी हो सकते हैं ।[2] प्रवाही जीव भगवत्प्रेम तथा किसी भी भगवदनुष्ठान में आस्था नहीं रखते ।

इसी प्रसंग में वल्लभ ने जीवों के एक चौथे प्रकार का भी उल्लेख किया है-- सम्बन्धी जीव । `सम्बन्धी` का अर्थ है उक्त त्रिविधमार्ग-सम्बन्धी । ये सम्बन्धी जीव और इनसे भी हीन कुछ प्रवाही जीवों की प्रकृति ऐसी होती है कि ये तीनों ही मार्गों में परिभ्रमणशील

---

१ `वैदिकत्वं लौकिकत्वं कापट्यात्तेषु नान्यथा ।
वैष्णवत्वं हि सहजं ततोऽन्यत्र विपर्ययः ॥` --पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद १८

२ `प्रवाहस्थान् प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतान् ।
जीवास्ते ह्यासुराः सर्वे प्रवृत्तिं चेति वर्णिताः ॥
ते च द्विधा प्रकीर्त्यन्ते ह्यज्ञदुर्ज्ञविभेदतः ।
दुर्ज्ञास्ते भगवत्प्रोक्ता ह्यज्ञास्ताननु ये पुनः ॥`

-पुष्टिप्रवाह-- -- २१,२२

होते हैं। किसी मार्गविशेष के प्रति इनकी रुचि नहीं होती[1]। ये फल भी अपने कर्मों के अनुकूल ही पाते हैं।

वल्लभ के अनुसार पुष्टि जीव दो प्रकार के होते हैं--शुद्ध और मिश्र। मिश्र पुन: तीन प्रकार के हैं--पुष्टिपुष्ट, मर्यादापुष्ट और प्रवाहपुष्ट।

शुद्धपुष्ट जीवों का अभिज्ञापक निरतिशय, निरुपधिक प्रेम है, और ये अत्यन्त दुर्लभ हैं। ये भगवान् के अनुग्रह पर ही अवलम्बित रहते हैं, अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं रखते। भगवान् के प्रति सर्वात्मना आत्मसमर्पण ही इनका स्वभाव है। गोकुल के गोप-गोपिकाएं शुद्धपुष्ट जीवों का उदाहरण हैं। भगवान् इनका कभी भी परित्याग नहीं करते --`ये दारागार-पुत्राप्तप्राणान्वित्तमिमं परम्। हित्वा मां शरणं याता: कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे`।

पुष्टिजीवों के जो मिश्रभेद हैं, वे साधनों की अपेक्षा से हैं। भक्ति, ज्ञान और कर्म जब अपने शुद्ध अर्थात् अमिश्रितरूप में रहते हैं, तब उनका भगवद्धर्मत्व होता है; और जब वे परस्पर मिश्रित हो जाते हैं, तब उनका मार्गत्व होता है[2]। उदाहरणार्थ भक्ति जब कुछ अंशों में विजातीय ज्ञान, कर्म आदि से युक्त होती है, तो उसका मार्गत्व हो जाता है, अन्यथा अपने शुद्धरूप में वह भगवद्धर्म ही है।

'एते मामभिजानन्तु' इस अभिध्यापूर्वक जो पुष्टि है, उससे मिश्र होकर जो पुष्टि में अंगीकृत होते हैं, वे `सर्वज्ञ` कहलाते हैं, तथा ये भगवत्स्वरूप के ज्ञाता होते हैं। ये ज्ञानमिश्र जीव परमभक्त होते हैं। `मदुपासादिपरा एते भवन्तु` इस अभिध्यापूर्वक प्रवाह से मिश्र होकर जो पुष्टि में अंगीकृत होते हैं, वे `क्रियारत` कहलाते हैं : तथा भगवदुक्तपंचरात्रादि ग्रन्थों में निर्दिष्ट कर्मों को करते हैं। ये प्रावाहिक भक्त हैं।

`मद्गुणान् जानन्तु` इस अभिध्यापूर्वक, भगवदुक्तब्रह्मवादसरणिरूप जो मर्यादा है उससे मिश्रित होकर जो पुष्टि में अंगीकृत होते हैं, वे 'गुणज्ञ' हैं। ये भगवान् के पुष्टत्व

----

१ `सम्बन्धिनस्तु ये जीवा: प्रवाहस्थास्तथाऽपरे।
चर्षणीशब्दवाच्यास्ते ते सर्वे सर्ववर्त्मसु ।।
क्षणात् सर्वत्वमायान्ति रुचिस्तेषां न कुत्रचित्।
तेषां क्रियानुसारेण सर्वत्र सकलं फलम् ।। `पुष्टिप्रवाह --`१६, २०

२ `अत्र पुष्ट्यादिशब्दैर्मार्गा उच्यन्ते। तत्र भक्तिज्ञानकर्मणां विजातीयसंवलितानां मार्गत्वं, केवले भगवद्धर्मत्वमित्येकावबुद्धौ भिन्नां स्थितम्।`
--`पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद` पर `विवरण`, पृ०३२

ऐश्वर्यादि गुणों के ज्ञाता हैं[1]। शुद्ध पुष्ट भक्तों का उपलक्षक केवल निरुपाधि प्रेम है।

इस जीवभेद के कारण फलभेद भी हैं। प्रवाही जीवों का घोर संसार होता है और इनकी कभी मुक्ति नहीं होती। प्रलय होने पर इनका अन्धतमस् में प्रवेश होता है। अन्य दो अर्थात् मर्यादा और पुष्टि जीवों में से मर्यादाजीवों को अक्षरप्राप्ति तथा पुष्टिजीवों को पुरुषोत्तमप्राप्ति होती है[2]।

श्रीबालकृष्ण ने जीवों को शुद्ध,संसारी और मुक्त-इस रूप से वर्गीकृत किया है। अपने व्याख्यान में इन्होंने सिद्ध किया है कि जीवों की इन विभिन्न अवस्थाओं में भगवदिच्छा ही कारण है।

अक्षरब्रह्म से जीव के व्युच्चरित होने के पश्चात्,आनन्दांशतिरोधान होने पर, अविद्यासम्बन्ध से पूर्व की अवस्था में जीव में शुद्धत्व का व्यवहार होता है।

तब इन्हीं में से किन्हीं में,रमणेच्छा से बहुत्वभवन की सिद्धि के लिए उच्चभावेच्छाविषयीभूत, मुक्त्यधिकार[3] रूप सूक्ष्मसद्वासनाविशिष्ट दैवत्व की सृष्टि भगवान् करते हैं। तभी ये जीव मुक्ति के योग्य होते हैं। इसके पश्चात् अविद्या सम्बन्ध से इनका बन्ध होता है,और ये दुःखी और कष्टापन्न होते हैं। यह इनकी संसारावस्था है। स्थूलसूक्ष्म देह सम्बन्ध से जन्म-मरण आदि संसारधर्मों का अनुभव करते हुए भगवत्कृपा से सत्संग आदि प्राप्त कर विद्यालाभ के अनन्तर परमानन्दलक्षणा मुक्ति को प्राप्त करता है।

मुक्त जीव द्विविध होते हैं--जीवन्मुक्त व मुक्त। सनकादि जो आविद्यारहित पुरुष हैं,वे जीवन्मुक्त हैं तथा जो व्यापिवैकुण्ठेतरभगवल्लोकनिवासी हैं वे मुक्त हैं। कुछ उत्तम दैव जीव सत्संगादिप्राप्त कर स्वतंत्रभक्ति को, जो स्वयं फलरूप है, प्राप्त कर भगवान् की नित्यलीला में प्रवेश करते हैं।

---

१ "ते हि द्विधा शुद्धमिश्रभेदान्मिश्रास्त्रिधा पुनः।
प्रवाहादिविभेदेन भगवत्कार्यसिद्धये ॥
पुष्ट्या विमिश्राः सर्वज्ञाः प्रवाहेण क्रियारताः।
मर्यादया गुणज्ञास्ते शुद्धाः प्रेम्णाऽतिदुर्लभाः॥" --पुष्टिप्रवाह --- १३,१४

२ "तानहं द्विषतो वाक्याद्भिन्ना जीवाः प्रवाहिणः।
अत एवेतरौ भिन्नौ सान्तौ मोक्षप्रवेशतः ॥" --पुष्टि प्रवाह १०

३ "तदा तेषां मध्ये केषुचिज्जीवेषु रमणेच्छया विचारितस्य बहुत्वभवनस्य सिद्ध्यै उच्चभावेच्छा विषयीभूतं मुक्त्यधिकाररूपं सूक्ष्मसद्वासनाविशिष्टं दैवत्वं सम्पादयति भगवान्। तदैव जीवा मुक्तियोग्या भवन्ति।" --प्रमेयरत्नार्णव पृ. ७२.

जो दैवेतर जीव हैं, उनमें ऐश्वर्यादि षड्गुणों के तिरोधान के अनन्तर अविद्या सम्बन्ध होने पर भगवान् उनमें नीचभावेच्छाविषयीभूत मुक्ति प्रतिबन्धक असद्वासनाविशिष्ट आसुरत्व सम्पादित करते हैं, तब ये आसुरजीव कहलाते हैं। ये निन्दित कर्मों में निरत रहकर नीचयोनियों में संसरण करते हैं[१]। आसुरजीव सदैव संसारी ही रहते हैं। इनका अविद्यावत्त्व तभी नष्ट होता है, जब ब्रह्म आत्मरति की इच्छा से अविद्याकृत संसार को जीवकृतसाधनों से निरपेक्ष ही नष्ट करता है। दैव जीव भी द्विविध होते हैं--मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय। मर्यादामार्गीय जीव ज्ञानकर्मभक्तियोगादि के भेद से बहुविध हैं। ये मर्यादा और पुष्टिजीव ही मुक्ति के अधिकारी हैं। इस प्रकार वाल्लभमत में रुचिभेद और अधिकारभेद से जीवों के अनेक भेद-प्रभेदों का निर्देश है, जिनमें एकमात्र भगवदिच्छा ही नियामिका है। जीवों का वर्गीकरण स्पष्ट करने के लिए उसका एक रेखा-चित्र प्रस्तुत किया जा रहा है:--

---
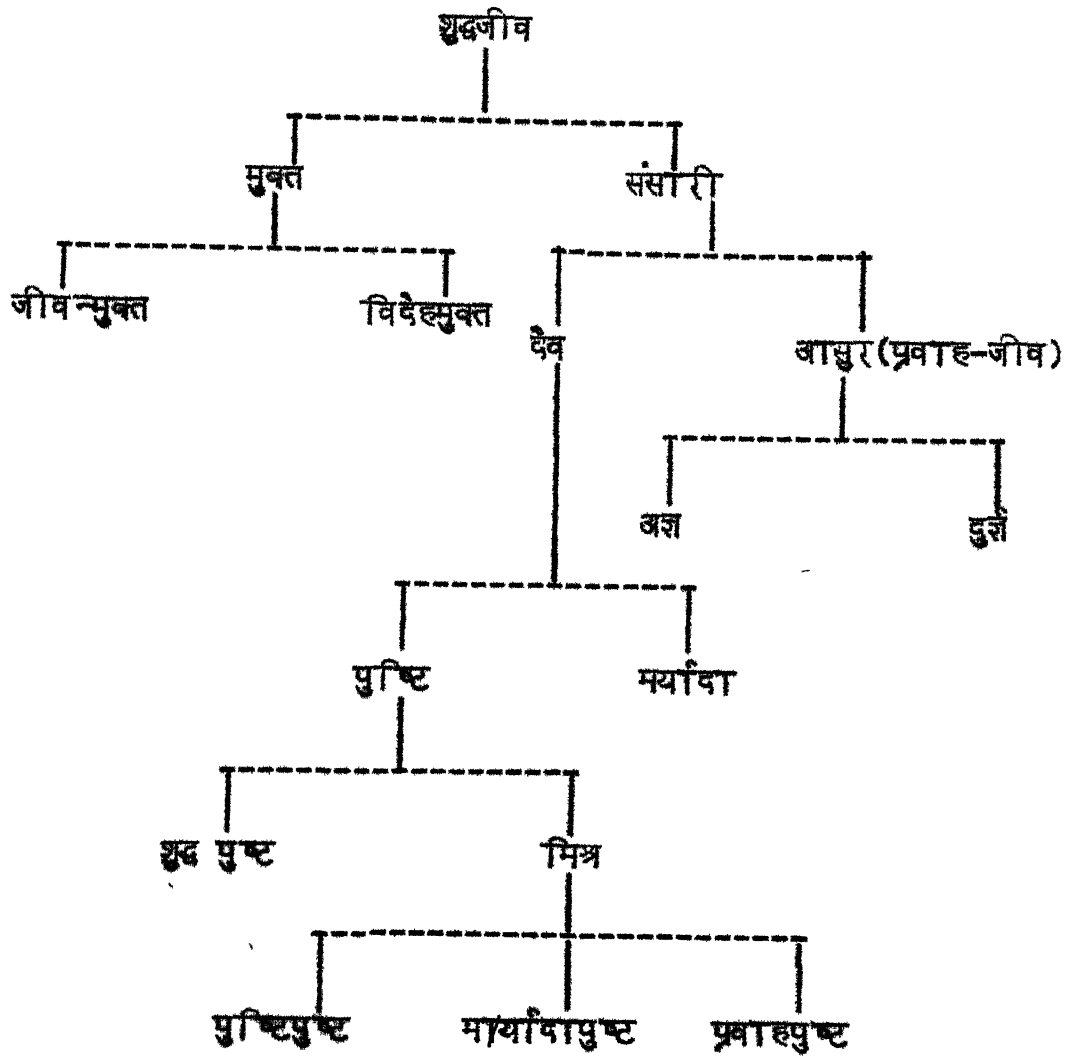
१ ये तु दैवजीवेभ्यो व्यतिरिक्तास्तेषां षड्गुण तिरोधानानन्तरम्, अविद्यासम्बन्धे नीचभावेच्छाविषयीभूतं मुक्तिप्रतिबन्धकमसद्वासनाविशिष्टमासुरत्वं सम्पादयति भगवान्। तदा त आसुरजीवा उच्यन्ते। ते दुष्टवासनावशात्तादृशं स्थूलदेहं प्राप्य निन्दितकर्मनिरताः सन्तो नीचयोनिगा भवन्ति।" -- प्रमेयरत्नार्णव पृ०-७४

इस विस्तृत आलोचना के पश्चात् वल्लभ के जीवसम्बन्धी सिद्धान्तों का जो रूपरेखा निश्चित होती है, वह संक्षेप में इस प्रकार है--

वल्लभ के अनुसार एकमात्र तत्व ब्रह्म ही है और सृष्टि में जो कुछ भी है, उसका ही रूपान्तर है। जीव भी ब्रह्मात्मक है : ब्रह्म ही इच्छा होने पर भोक्ता जीवरूप से प्रकट होता है। जीव-भाव सत्य और स्वाभाविक है : वल्लभ इसे शंकर की भांति असत्य और औपाधिक नहीं मानते। जीव ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है, अतः उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म।

वल्लभ जीव और ब्रह्म के मध्य अंशांशिभाव स्वीकार करते हैं। ब्रह्म से जीवों का प्राकट्य उसी प्रकार होता है, जिसप्रकार अग्नि से विस्फुलिंगों का। जिस प्रकार अग्निस्फुलिंग अग्नि के गुणों से युक्त और अग्निस्वरूप होता है, वैसे ही जीव भी ब्रह्म के गुणों से युक्त और ब्रह्मस्वरूप होता है।

जीव में आनन्द तिरोभूत है और वह ब्रह्म का संचितप्रधान रूप है। आनन्दांश के तिरोभूत होने के कारण ही जीवभाव होता है। आनन्दांश के तिरोभाव के कारण ऐश्वर्यादि छः दैवी गुणों का भी तिरोभाव हो जाता है और जीव दीन, अल्पज्ञ तथा समस्त दुःखों का विषय बन जाता है।

जीव चिदंशप्रधान है तथा उसका चैतन्य उसका स्वरूपभूत धर्म है। आचार्य चैतन्य को स्वयं-ज्योतिष्ट्व श्रुति के आधार पर जीव का स्वरूप तथा `गुणाद्वालोकवत्` के आधार पर उसका गुण स्वीकार करते हैं।

विशुद्धाद्वैत मत में जीव का परिमाण अणु है: और यह परिमाण वास्तविक है। अणु-त्व चिदंश का धर्म है अतः उसका अणु होना स्वाभाविक है। आनन्दांशाभिव्यक्ति होने पर ब्रह्मभाव होने के पश्चात् वह व्यापक भी हो जाता है, क्योंकि आनन्दांश विरुद्धधर्मसमर्पक है। जीव का स्वरूप-भूत चैतन्य गन्ध की भांति अधिकदेशवर्ती होता है।

जीव कर्ता और भोक्ता भी है; और ये कर्तृत्व-भोक्तृत्व सहज और वास्तविक हैं, किन्तु अपने कर्तृत्व और भोक्तृत्व में जीव सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष नहीं है। उसके सभी धर्म ब्रह्म के संबंध से हैं, और वह ब्रह्म से न स्वरूपतः स्वतन्त्र है, न धर्मतः। अविद्या से वशीभूत होकर जीव अपने कर्तृत्व और अधिकार की सीमाएं भूल जाता है, और जगत् और जागतिक पदार्थों में भगवद्बुद्धि न रखकर अपनी अहन्ता-ममता स्थापित कर लेता है। यही उसका भ्रम है और यही उसका बन्धन। इस बन्धन से मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय है भगवान् के चरणारविन्दों में ऐकान्तिक आत्मसमर्पण। `ब्रह्म अखण्डं कृष्णवत्सर्वम्`-- यही वह ज्ञान है, जिसकी इस जीवन-मरण के आवर्त से मुक्ति पाने के लिए जीव को अपेक्षा है।

विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर जीव का ब्रह्म भाव हो जाता है। ब्रह्म-भावोपरान्त इसे पुरुषोत्तमप्राप्ति होती है या अक्षरप्राप्ति इसमें भगवदिच्छा ही नियामिका है।

वल्लभ के अनुसार मोक्षदशा में भी जीव और ब्रह्म में भिन्नता तथा तारतम्य बना रहता है। मोक्ष में जीव को अपनी ब्रह्मात्मकता का बोध हो जाता है, किन्तु वह ब्रह्म से अभिन्न नहीं होता, अपितु जीवरूप से ही अवस्थित रहता है। तादात्म्य के अभाव में मुक्तदशा में भी जीव भगवान् की आराधना करते हैं। वाल्लभ मत में अंशांशिभाव का अर्थ आराध्य-आराधक या सेव्य-सेवक भाव ही है।

गोलोक में अहर्निश प्रवर्तमान श्रीकृष्ण की दिव्यलीला का रसास्वादन ही वल्लभ के अनुसार जीवों का परमप्राप्य है। इसके पूर्व कि जीवसम्बन्धी यह आलोचना समाप्त की जाय, वल्लभ के जीवसम्बन्धी सिद्धान्तों का एक संक्षिप्त मूल्यांकन आवश्यक है।

वल्लभ की जीवसम्बन्धी मान्यताओं पर एक समीक्षात्मक दृष्टि डालने पर समग्र सिद्धांत का नियमन करने वाले तीन तथ्य सामने आते हैं--

(१) जीव का ब्रह्मांशत्व

(२) जीव की प्रत्येक दशा में ब्रह्म से हीनता; तथा

(३) जीव और ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य का अभाव

यही वे तीन तथ्य हैं, जो वल्लभ के ब्रह्मसम्बन्धी सिद्धान्तों के आधार हैं, तथा उनके स्वरूप के लिए उत्तरदायी हैं।

जीव और ब्रह्म में अंशांशिभाव की स्वीकृति सभी वैष्णव-दार्शनिकों की विशिष्टता है। शंकर को भी व्यावहारिक सत्यता और पारमार्थिक सत्यता के बीच की खाई पाटने के लिए; तथा, भास्कर को परमसत्ता का भिन्नाभिन्नरूपत्व सिद्ध करने के लिए इस अंशांशिभाव की आवश्यकता पड़ी है। वल्लभ के लिए तो इसे स्वीकार करना एक अनिवार्यता है।

विश्व में एकमात्र सत्ता केवल ब्रह्म की है, अत: जीव और जड भी उससे भिन्न नहीं, अपितु उसका रूपान्तर मात्र हैं। ब्रह्म की चूंकि कोई उपाधि नहीं है, अत: जीवभाव भी औपाधिक और असत्य नहीं है; सहज और वास्तविक है। साथ ही वल्लभ जीव-बहुत्व भी स्वीकार करते हैं। ऐसी स्थिति में जब कि जीवबहुत्व भी है, और, उपाधि के अभाव में जीवभाव वास्तविक भी है, तब अंशांशिसम्बन्ध स्वीकार करना आवश्यक हो जाता है। यह अंशांशिभाव ही एक तरह से वल्लभ के जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों की आधारशिला है। जीव का ब्रह्मांश होना जीव और ब्रह्म के बीच मौलिक एकता सिद्ध करता है, तथा किसी तत्वान्तर की सत्ता का निषेध करता है। जीव का ब्रह्मांश होना ही मुक्तावस्था में जीव के ब्रह्मरूपत्व का प्रयोजक है, अन्यथा जो कुछ भी तत्वत: वह ब्रह्म नहीं है, उसका ब्रह्म होना असम्भव है और अनेक तार्किक अनुपपत्तियों से ग्रस्त है।

वल्लभ के मत में अंशांशिभाव की स्थिति वही है, जो अविकरण सिद्धान्त की होती है। इसके आधार पर ही जीवसम्बन्धी अनेक सिद्धान्तों की सिद्धि होती है। जीव की वास्तविकता; जीव

की ब्रह्मात्मकता; जीवबहुत्व; ब्रह्म से जीव की न्यूनता; ब्रह्म और जीव के मध्य आराध्य-आराधकभाव; तथा ब्रह्म और जीव के मध्य सदैव ही एक निश्चित अन्तर का निर्वाह; ये सारी बातें अंशांशिभाव के कारण ही सम्भव हो सकी हैं। वल्लभ को मान्य अंशांशिभाव के स्वरूप की विस्तृत विवेचना इसी परिच्छेद में की जा चुकी है।

वल्लभ के जीवसम्बन्धी सिद्धान्तोंकी दूसरी प्रमुख विशेषता है-- जीव की ब्रह्म से न्यूनता। संसारावस्था में जीव ब्रह्म से न्यून रहता है-- ऐसा तो सभी स्वीकार करते हैं, किन्तु वल्लभ की विशेषता यह है कि वे मुक्तावस्था में भी जीव को ब्रह्म से हीन ही स्वीकार करते हैं। अंशांशिभाव के द्वारा जहां एक ओर जीव की ब्रह्मात्मकता सिद्ध होती है, वहीं दूसरी ओर दोनों के मध्य एक निश्चित अन्तर की भी विज्ञप्ति होती है। जीव का अंशत्व इस बात का ज्ञापक है कि जीव सदैव ही ब्रह्म से हीन है, क्योंकि अंश अंशी के सारे गुणों से युक्त रहते हुए भी उससे न्यून ही रहता है। दोनों में तत्त्वात्मक अन्तर भले ही न हो, परिमाणात्मक अन्तर तो होता ही है।

संसारावस्था में तो जीव ब्रह्म के तुल्य हो ही नहीं सकता, क्योंकि आनन्दांश तथा षड्-गुणों का तिरोभाव रहता है; मुक्तावस्था में ब्रह्म भाव के उपरान्त भी उसकी ब्रह्म-तुल्यता नहीं होती। वह आध्यात्मिक परमोत्कर्ष की उस अवस्था में भी ब्रह्म से हीन और नियमित होता है; क्योंकि वल्लभ के अनुसार मोक्षावस्था में भी जीवनन्दादि धर्म भगवद्धर्मों से न्यून ही होते हैं; अत: जीव में भगवत्साम्य उपचरित मात्र होता है, वस्तुत: होता नहीं। 'न तत्समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते' इत्यादि श्रुतियों से ब्रह्म का ही श्रेष्ठ्य द्योतित होता है। ब्रह्म और जीव के मध्य जो सम्बन्ध है, वह मुख्यत: उपास्य-और उपासक का है, अत: ब्रह्म में इतना श्रेष्ठ्य और जीव में इतना दैन्य सदैव ही रहना चाहिए कि जीव के द्वारा ब्रह्म की आराधना सम्भव हो सके।

वल्लभ के दर्शन में जीव को स्वाधीनता नहीं के बराबर है। वह स्वरूपत: और धर्मत: तो पराधीन है ही, अपने किसी संकल्प; और किसी गतिविधि में भी स्वतन्त्र नहीं है। इसका उदाहरण जीव का कर्तृत्व-भोक्तृत्व सम्बन्धी सिद्धान्त है। यह सिद्धान्त न केवल इस सन्दर्भ में, अपितु अपने-आप में भी आलोच्य है।

जीव के कर्तृत्व की एक इयत्ता तो हर भाष्यकार ने निश्चित की है; किन्तु वल्लभ ने ये सीमाएं इतनी संकुचित कर दी हैं कि जीव का कर्तृत्वविधान नियमविधि न रहकर परिसंख्याविधि बन गया है जिसका तात्पर्य जीव के कर्तृत्व में उतना नहीं है, जितना जड प्रकृति, परमाणु आदि के कर्तृत्व-निषेध में। न केवल जीव की कर्तृत्वशक्ति ईश्वर के अधीन है, अपितु उसके करणीयाकरणीय का भी निश्चय वही करता है। जीवों के वर्गीकरण में इस बात का विवेचन किया जा चुका है। ईश्वर ही जीवों में सद्वासनाविशिष्ट दैवत्व और असद्वासनाविशिष्ट आसुरत्व की सृष्टि करता है और तदनुसार

जीव देव अथवा आसुर कहलाते हैं। वही यह निश्चय करता है कि अमुक जीव पुष्टिजीव होगा, अमुक प्रवाही जीव; अमुक मुक्ति का अधिकारी होगा, अमुक अन्धतमस् का : और इस निश्चय का आधार एकमात्र उसकी इच्छा है। वल्लभ के अनुसार जीवों का यह भगवत्कृत वैषम्य सृष्टि में वैविध्य की अपेक्षा से है, अन्यथा वैचित्र्य के अभाव में लीला ही सम्भव नहीं होगी। यह सृष्टि ब्रह्म की आत्म-सृष्टि है, अत: नैर्घृण्य आदि दोषों की सम्भावना नहीं करनी चाहिए : कोई अपने ही प्रति क्रूर और विषम नहीं होता।

यहां सहज ही यह जिज्ञासा होती है कि क्या जीव को स्वतंत्ररूप से अपनी उन्नति के लिए किसी श्रेयस्कर मार्ग को चुनने का अधिकार नहीं है? उत्तर नकारात्मक ही होगा। यदि ईश्वर ने पहिलेसे ही प्रत्येक जीव के लिए विशिष्ट कर्म और विशिष्ट फल नियत कर रखे हैं; यदि उसने पहिले से ही यह निश्चित कर रखा है कि अमुक जीव मुक्ति का अधिकारी होगा, और अमुक जीव जन्मजन्मांतर तक जन्म-मरण के आवर्त में दिग्भ्रमित होता रहेगा; तो फिर जीव के लिए इसके अतिरिक्त और क्या मार्ग है कि यदि ईश्वर ने उसे पुण्यात्मा बनाया है, तो अधिकाधिक पुण्य करे, और पापात्मा बनाया है, तो अधिकाधिक पाप। दुर्ज्ञ जीव इसका उदाहरण हैं। ये अत्यन्त निम्नकोटि के जीव हैं। भगवद्द्वेष इनका असाधारण धर्म है, और इन्हें कभी सद्गति प्राप्त नहीं होती; कारण? वही भगवदिच्छा।

ईश्वर पर लगे इस लांछन का एक सम्भावित परिहार यह हो सकता है-- जीव के सभी धर्म ब्रह्म-सम्बन्ध से ही हैं। जीव का कर्तृत्व भी 'परात्तुतच्छ्रुते:' सूत्र के द्वारा ईश्वर द्वारक ही सिद्ध किया गया है। जीव ईश्वरप्रदत्त कर्तृत्व को अपने कर्तृत्व के रूप में स्वीकार कर उसे पुण्यकार्यों अथवा पापकार्यों में नियोजित करने में स्वतंत्र है। इस प्रकार जीव की ब्रह्माधीनता और अपने कर्तृत्व में उसका स्वातन्त्र्य दोनों ही उपपन्न हो जाते हैं। 'कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषिद्धावैयर्थ्यादिभ्य:(ब्र०सू०२।३।४२) के भाष्य में जीव के कर्तृत्व और सर्वकारयितृत्व की सिद्धि करते हुए वल्लभ लिखते हैं-- प्रयत्नपर्यन्त ही जीवकर्तृत्व की इयत्ता है; इसके आगे उसका सामर्थ्य न होने से ईश्वर ही उसके कार्य सम्पादित करता है। जैसे यत्न करते हुए पुत्र के समक्ष पदार्थों के गुणदोषों की विवेचना कर देने पर भी, पिता उसकी रुचि तथा प्रयत्न को देखते हुए उसके वांछित कार्य को ही कराता है, वैसे ही ब्रह्म भी जीव के अभिनिवेश को ध्यान में रखकर उसके इच्छित कार्य का ही सम्पादन करता है। तब इन जीवाभिलषित कर्मों के अनुसार उसकी जो फलदायिका इच्छा होती है, उसी का श्रुति 'उन्निनीषति' 'अधो निनीषति' से कथन करती है[१]।

---

१ "प्रयत्नपर्यन्तं जीवकृत्यम्। अग्रे तस्याशक्यत्वात् स्वयमेव कारयति। यथा बालं पुत्रं यतमानं पदार्थगुणदोषौ वर्णयन्नपि तत्प्रयत्नाभिनिवेशं दृष्ट्वा तथैव कारयति। सर्वत्र तत्कारणत्वाय तदानीं फलदातृत्वे या इच्छा तामेवानुवदति। उन्निनीषति अधो निनीषतीति।"
अणुभा०२।३।४२

वल्लभ ईश्वर के विषय में प्रसक्त होने वाले वैषम्य और नैघृर्ण्य दोषों का निराकरण यह कहकर करने की चेष्टा करते हैं कि यह सृष्टि भगवान् की आत्मसृष्टि है और कोई अपने ही प्रति क्रूर और विषम नहीं होता । कर्मफलसिद्धान्त को भी उन्होंने मर्यादामार्ग में स्थान दिया है । वे कहते हैं कि ब्रह्म फलदान में जीवकृत कर्मों की; कर्म कराने में जीवप्रयत्न की; प्रयत्न में जीवेच्छा की; और जीवेच्छा में लौकिक व्यवहार की अपेक्षा रखता है । व्यवहारमर्यादा के नियमन के लिए उसने वेदों का निर्माण किया है । इसप्रकार ब्रह्म में किसी दोष की प्रसक्ति नहीं होती और न ही वह ईश्वर से अनीश्वर होता है । उसने मर्यादामार्ग की रचना ही कर्मसापेक्ष मार्ग के रूप में की है और इसमें वह जीवकृत कर्मों की अपेक्षा रखकर ही फल देता है । यह ज्ञातव्य है कि यह स्थिति मर्यादा-मार्ग में हा है; पुष्टिमार्ग में (जिसकी वल्लभ मर्यादामार्ग की अपेक्षा श्रेष्ठता प्रतिपादित करते नहीं थकते)ईश्वर कर्मनिरपेक्ष होकर ही फल देता है[1] । इस तरह घूम-फिरकर बात उसी 'भगवदिच्छा' पर आकर अटक जाती है ।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि मर्यादामार्ग में ईश्वर जीव के जिस अभिनिवेश की अपेक्षा रखता है,वह अभिनिवेश भी तो उसी का दिया हुआ है । जीवों की रुचियां और उनके स्व-भाव तो ईश्वर ने पहले से ही निश्चित कर रखे हैं । जीव के अभिनिवेश और उसके द्वारा किए गए कर्मों की यह अपेक्षा भी अन्ततः वल्लभ को सह्य नहीं हो पाती और वे भारतीयदर्शन के अत्यन्त समा-दृत कर्म-सिद्धान्त के महत्त्व को घटाते हुए कर्म को ब्रह्म की एक अवर अभिव्यक्ति स्वीकार कर लेते हैं, जिसके प्राकट्य और अप्राकट्यमें उसकी इच्छा ही नियामिका है । इच्छा होने पर ब्रह्म इस कर्म-मर्यादा को भंग भी कर सकता है, क्योंकि वह सर्वतन्त्रस्वतन्त्र है । और अन्त में, ब्रह्म की फलप्रदायिका इच्छा को कर्मसापेक्ष सिद्ध करने के इस महत् सम्भार के पश्चात् भाष्यप्रकाशकार ईश्वर की निरपेक्षता भंग होने के भय से पुनः ईश्वर के जीवसम्बन्धी पूर्वनिर्णयों को सिद्धान्ततः स्वीकार कर लेते हैं --'फलदाने भगवान् जीवकृतप्रयत्नापेक्षोऽपि न स्वातन्त्र्याद्धीयते तथैवालोचितत्वात् । आलोचनानुसारेण विविधं फलं जीवेभ्यो दददपि न वैषम्यादिदोषभाग् भवति,सर्वरूपत्वात् ।' (अणुभा०२।३।४२ पर भा०प्र०)

इस आलोचना के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि जीव का कर्तृत्व कितना असहाय और सीमाबद्ध है, तथा मानवीय प्रयत्नों की अर्थवत्ता कितनी लांछित है । शंकर ने मानवीय प्रयत्नों की गरिमा को सुरक्षित रखा है और ब्रह्म को फलदान में सर्वथा जीवकर्म-सापेक्ष ही स्वीकार किया है; इसके विपरीत वल्लभ के लिए ब्रह्म की इच्छा ही विश्व का सबसे बड़ा विधान है । यह एक उदाहरण है केवल; वल्लभ ने सर्वत्र ही जीव के स्वातन्त्र्य पर ब्रह्म की अप्रतिहत आज्ञाशक्ति का अंकुश रखा है । ऐसा वल्लभ ने क्यों किया है, इसका भी एक कारण है। अविद्या से मोहित चित्तवाला जीव सामान्यतः अपने कर्तृत्व की क्षमता और अपनी सीमाएं नहीं पहचानता । अपने कर्तृत्व के मद में

वह हर ऐसा काम करता है, जो उसे नहीं करना चाहिए । दूसरी बात यह है कि कर्तृत्व का स्वातन्त्र्य और अति-विस्तृत सीमाएं उसके 'अहम्' को बढ़ावा देती हैं तथा उसमें वह ऋजुता, वह दैन्य नहीं आ पाता जो भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी अपेक्षा है । व्यक्ति का अहम् प्राय: उसके कर्तृत्व के रूप में ही व्यक्त होता है और विवेक के थोड़े से भी असन्तुलित होने पर अहंकार का रूप ले लेता है : इसीलिए वल्लभ ने सर्वप्रथम जीव के कर्तृत्व को ही ईश्वर के चरणों में प्रणत किया है । जीव के कर्तृत्व को भगवदिच्छा और भगवदाज्ञा से नियंत्रित रखने और जीव को भगवत्संकल्पों के निर्वाह का निमित्तमात्र मानने की यह प्रवृत्ति सभी वैष्णव-दार्शनिकों में समानरूप से वर्तमान है ।

वल्लभ की जीवसम्बन्धी मान्यताओं की तीसरी महत्त्वपूर्ण विशेषता है-- जीव और ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य का अभाव । प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में ब्रह्माद्वैत के सन्दर्भ में तथा इस परिच्छेद में अंशांशिभाव के प्रसंग में वल्लभ के सिद्धान्त की इस विशेषता पर विस्तार से विचार किया जा चुका है । वल्लभ जड और जीव को ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं तथा उनके बीच 'तदात्मकता' स्वीकार करते हुए भी 'तादात्म्य' का निषेध करते हैं; यही वल्लभ का शंकर से सबसे बड़ा भेद है । वाल्लभदर्शन में जीव की वैयक्तिकता को प्रत्येक स्तर पर सुरक्षित रखा गया है; मुक्तावस्था अथवा ब्रह्मात्मैक्य की गहन अनुभूति के क्षणों में भी जीव और ब्रह्म में अनुभविता और अनुभवनीय का सम्बन्ध बना रहता है । वस्तुत: तो वल्लभ के मत में मोक्ष भी उपासनारूप है जिसमें उपास्य और उपासक की परस्पर भिन्न सम्वेदना आवश्यक होती है । इस भिन्न-सम्वेदना की उपस्थिति के कारण ही वल्लभ को स्वीकृत अभेद भेदसहिष्णु-अभेद कहलाता है ।

वल्लभ के जीवसम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुशीलन के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि वल्लभ की जीवसम्बन्धी मान्यतायें वैष्णवदर्शन की उस सर्वसामान्य प्रवृत्ति की परिचायिका हैं, जो जीव की सत्यता और वैयक्तिक सत्ता के प्रति अत्यन्त सजग और आस्थावान् है ।

षष्ठ परिच्छेद

आचार्य वल्लभ की सृष्टि-सम्बन्धी मान्यताएँ

यदि सारी दार्शनिक-प्रक्रिया को संक्षिप्त कर दें तो वह दो प्रश्नों में सिमट जाती है; और वे दो प्रश्न हैं-- क्या इस व्यक्त जगत् से अतीत, इससे अतिरिक्त कुछ ऐसा भी है, जो अव्यक्त है?और यदि है तो इस व्यक्त और उस अव्यक्त का परस्पर सम्बन्ध क्या है ?

ये वे दो प्रश्न हैं जिनका उत्तर सभी दार्शनिक अपनी-अपनी ओर से देने का प्रयत्न करते हैं। व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्धों का विश्लेषण सभी दार्शनिक मतवादों का प्रमुख विवेच्य-विषय रहा है। देखा जाय तो सत्य की गवेषणा में जितनी महत्त्वपूर्ण भूमिका अव्यक्त की है,उतनी ही व्यक्त की भी है। यह व्यक्त ही तत्त्वजिज्ञासा का प्रेरक है। व्यक्त अव्यक्त की ओर एक संकेत है तथा अपने मूलसत्य के रूप में किसी अतीन्द्रिय चेतन तत्त्व की ओर इंगित करते हुए आध्यात्मिक गवेषणाओं को गति और दिशा देता है। इस व्यक्त के आधार और स्पष्टीकरण के रूप में हमें अव्यक्त का साक्षात्कार होता है।

यहां व्यक्त और अव्यक्त का परिचय भी आवश्यक है। व्यक्त का अर्थ है यह समस्त इन्द्रिय-गोचर जगत् तथा इसके अन्तर्गत आने वाला पदार्थ-संघात जिसके द्वारा समस्त व्यवहार होता है।भोग्य-संघात के अतिरिक्त भोक्ता जीवात्मा भी सृष्टि से घनिष्ठ रूप से सम्बद्ध है, इतना और इस तरह कि वह भी सृष्टि का ही एक भाग प्रतीत होता है। इस प्रकार व्यक्त की स्वरूप-सीमा मेंभोक्ता और भोग्य दोनों ही आते हैं। इस व्यक्त सृष्टि के मूलभूत सत्य और आधारभूमि के रूप में जिस अतीन्द्रिय चेतन सत्ता की परिभावना की जाती है, वह सामान्यत: स्थूल इन्द्रियों की सीमाओं से परे होने के कारण 'अव्यक्त'कहलाती है। वेदान्तदर्शन में इस सत्ता को प्राय: ब्रह्म,परमात्मा,ईश्वर आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। व्यक्त और अव्यक्त के सम्बन्धों की मान्यता विभिन्न दर्शनों में विभिन्न रूप की है; उन सब की आलोचना यहां प्रकृत नहीं है। हमारा आलोच्य विषय वेदान्तदर्शन की एत-द्विषयक सर्वसामान्य प्रवृत्तियों का स्वरूप ही है,क्योंकि आचार्य वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित विशुद्धाद्वैत वेदान्त-परम्परा के ही अन्तर्गत है।

वेदान्तदर्शन में परिगणित होने वाले सभी मतवादों की एक सामान्य विशेषता है कि वे व्यक्त या विश्व को अव्यक्त की ही अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं। इस अभिव्यक्ति के अपने स्वरूप तथा वैयक्तिक-विशेषताओं के विषय में भले ही कुछ मत-वैभिन्य हो,किन्तु विश्व के ब्रह्म की अभि-व्यक्ति होने में कोई सन्देह नहीं है।

विश्व ब्रह्म की अभिव्यक्ति है, इसका अर्थ है कि ब्रह्म विश्व का मूलसत्य है,अर्थात् कारण है। पुनश्च यह कारणता किस रूप की है, इस बात को लेकर वेदान्त-सम्प्रदायों में कुछ मत-पार्थक्य अवश्य है, किन्तु किसी-न-किसी रूप में, किसी-न-किसी दृष्टि से विश्व के प्रति ब्रह्म की कारणता एक सुनिश्चित

तथ्य के रूप में स्वीकार की गई है। वेदान्तदर्शन की यह एक विशिष्ट मान्यता है कि विश्व का मूल तत्व ब्रह्म ही है, उसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

आचार्य वल्लभ के दर्शन में वेदान्त-परम्परा की यह विशेषता पूर्णतया सुरक्षित है। उनके अनुसार ब्रह्म न केवल सृष्टि का कारण अपितु कर्त्ता भी है। सृष्टि के स्वरूप, तथा सृष्टि और ब्रह्म की सापेक्ष स्थिति का विश्लेषण सृष्टि के ब्रह्म-कर्तृत्व से ही प्रारम्भ किया जाना चाहिए,क्योंकि सृष्टि के इस चित्र-विचित्र रूप को देखकर उसके विषय में जो पहिली जिज्ञासा होती है, वह उसके कर्त्ता के विषय में ही होती है। यों ब्रह्म के कर्तृत्व पर ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते समय विस्तारपूर्वक आलोचना की जा चुकी है, किन्तु विषय के आग्रह पर यहां पुन: उसकी चर्चा की जा रही है।

आचार्य वल्लभ के अनुसार ब्रह्म सविशेष और सधर्मक है। ब्रह्म को यावद्धर्मरहित नहीं कह सकते अन्यथा उसका ज्ञान ही नहीं होगा। कर्तृत्व ब्रह्म का विशेष गुण है। श्रुति अनेकश: उसके कर्तृत्व का प्रतिपादन करती है--`तदैक्षत,बहु स्याम् प्रजायेयेति,तत्तेजो सृजत (छां०६।२।३); `तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत तदनुप्रविश्य सच्चत्यच्चाभवत्(तै० २।६।१);`यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते (तै० ३।१) इत्यादि। परमाप्त वेद के प्रामाण्य के आधार पर ब्रह्म का सृष्टिकर्त्ता होना सर्वथा उपपन्न है। ब्रह्म में यह कर्तृत्व-कथन भाक्तप्रयोग अथवा उपचार भी नहीं है। ब्रह्म में कर्तृत्व का उपचार तब सम्भव था, जब कर्तृत्व वास्तव में किसी और का होता। जड़ प्रधान तथा पराधीन जीव के कर्तृत्व का निषेध तो स्वयं सूत्रकार ने कर दिया है और इन दोनों का निषेध होने पर अन्य सब का निराकरण स्वयमेव ही हो जाता है, अत: पारिशेष्यात् साक्षात् ब्रह्म का ही कर्तृत्व सिद्ध होता है। वल्लभ के अनुसार जहां-जहां अस्थूलादि वाक्यों में ब्रह्म के कर्तृत्व का निषेध किया गया है, वहां प्राकृत और परिच्छिन्न कर्तृत्व का ही निषेध है, दिव्य और अलौकिक कर्तृत्व का नहीं। इस प्रकार विशुद्धाद्वैत मत में विशुद्ध ब्रह्म का ही कर्तृत्व है। यहां यह भी उल्लेखनीय है कि ब्रह्म का यह कर्तृत्व सर्वथा स्वाभाविक और सत्य है,औपाधिक और मिथ्या नहीं। इसके अतिरिक्त नाना प्रकार के भूत-भौतिक,देव,तिर्यक्,मनुष्य,पशुपक्षियों से युक्त; मन से भी जिसकी कल्पना नहीं की जा सकती, ऐसी अद्भुत संरचना वाली इस सृष्टि का निर्माण सीमित शक्तिवाले किसी लौकिक कर्त्ता के वश की बात नहीं है। इसका निर्माण तो किसी सर्वशक्तिमान्, अनन्तसामर्थ्यशाली,अलौकिक कर्त्ता के द्वारा ही सम्भव है और वह असाधारण सामर्थ्यवान् कर्त्ता ईश्वर के अतिरिक्त और कोई नहीं हो सकता; अत: वल्लभ का निश्चित मत है कि सृष्टि का कर्त्ता ब्रह्म ही है। ब्रह्म का यह सृष्टि-कर्तृत्व सर्वथा निरपेक्ष और स्वयंसिद्ध है।

यहां पर सहज ही मन में एक प्रश्न उठता है कि इस बहुरंगी सृष्टि की निर्मिति में ब्रह्म का प्रयोजन क्या है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए वल्लभ कहते हैं कि सृष्टि का एकमात्र प्रयोजन लीला ही है,इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।`लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्` (वे०सू०२।१।३३) पर भाष्य करते

हुए वल्लभ लिखते हैं --`न हि लीलायां किंचित्प्रयोजनमस्ति । लीलाया एव प्रयोजनत्वात्, ईश्वरत्वादेव न लीला पर्यनुयोक्तुं शक्या`(अणुभा०१ २।१।३३)। संसार में राजा आदि मृगया करते हैं, अन्यान्य कार्य भी करते हैं, किन्तु उनका उद्देश्य केवल मनोरंजन ही होता है; इसी प्रकार ब्रह्म भी लीला के लिए ही इस समस्त प्रपंच[1] का विस्तार करता है, अन्य किसी प्रयोजन से नहीं--`देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा`।

वल्लभ न केवल ब्रह्म को सृष्टि का कर्ता मानते हैं, अपितु कारण भी स्वीकार करते हैं; और वह भी निमित्तकारण, उपादानकारण, साधारणकारण सभी कुछ । सृष्टि के सन्दर्भ में ब्रह्म का कारणत्व विशेष महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि सृष्टि के ब्रह्म-कार्य होने के कारण उसका स्वरूप और स्थिति पूरी तरह से कारण के स्वरूप और स्थिति पर ही अवलम्बित है । जिस प्रकार तन्तुनाभ अपने जाल का निमित्तकारण भी है और उपादान कारण भी, उसी प्रकार ब्रह्म भी इस प्रपंच का उपादान और निमित्तकारण दोनों ही है । श्रुति `आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् , नान्यत् किंचन मिषत्` इत्यादि से केवल ब्रह्म की ही सत्ता और सत्यत्व का कथन करती है, अत: ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कोई तत्त्व न होने के कारण अन्य किसी के निमित्त या उपादान होने का प्रश्न ही नहीं उठता । ब्रह्म के अभिन्ननिमित्तोपादानकारणत्व का प्रतिपादन करते हुए वल्लभ `निबन्ध में लिखते हैं--

> `जगत:समवायि स्यात् तदेव च निमित्तकम् ।
> कदाचिद्रमते स्वस्मिन् प्रपंचेऽपि क्वचित्सुखम्।`[2]

इस जगत् का समवायि इस जगत् का और निमित्तकारण ब्रह्म है । जब वह स्वयं में रमण करता है, तब प्रपंच का संवरण कर लेता है और जब प्रपंच में रमण करने की इच्छा होती है, तब प्रपंच का विस्तार कर लेता है । यह प्रपंचभाव ब्रह्म से ही प्रकट तथा उसी में लीन होता है[3]।

रमण, किन्तु, एकाकी तो हो नहीं सकता, उसके लिए अन्य की अपेक्षा होती है । अब समस्या है कि यह `अन्य` कहां से आये ? यह अन्य तत्त्वान्तर नहीं हो सकता, क्योंकि इससे द्वैतापत्ति होती है और ब्रह्म की एकराट् प्रभुसत्ता खण्डित होने लगती है । ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि इस अन्य को तत्त्वान्तर न मानकर उस एक और अद्वितीय ब्रह्म का ही रूपान्तर मानें । यही आचार्यों ने माना भी है : यह बात और है कि उन्होंने यह रूपान्तर किस रूप का माना-आभास, प्रतिबिम्ब

१`जगत: पतिर्भगवान् जगत्करोति तत्र क्रीडार्थमेव करोति ।` सुबो०२।६।१४

२ त०दी०नि० १।६६

३ `यदा स्वस्मिन् रमते तदा प्रपंचमुपसंहरति । यदा प्रपंचे रमते तदा प्रपंचं विस्तारयति । प्रपंचभावो भगवत्येव लीन: प्रकटीभवतीत्यर्थ: ।`

--त०दी०नि०१।६६ पर `प्रकाश`

या परिणाम । वल्लभ भी सृष्टि को ब्रह्म का ही रूपान्तर स्वीकार करते हैं; यह सृष्टि ब्रह्म से भिन्न कुछ नहीं,अपितु ब्रह्मस्वरूप है । ब्रह्म स्वयं को ही इस जीव-जडात्मक सृष्टि के रूप में अभिव्यक्त करता है, इसलिए वल्लभ उसे एकसाथ सृष्टि का अभिन्ननिमित्तोपादान और साधारण कारण मानते हैं ।ब्रह्म का निमित्तकारणत्व तो लगभग सभी को स्वीकार है,किन्तु उसके समवायिकारणत्व को लेकर थोड़ा मतभेद है; कुछ विद्वान् उसे समवायिकारण भी मानते हैं और कुछ नहीं मानते । वल्लभ का स्पष्ट मत है कि श्रुति ब्रह्म के ही उपादानकारणत्व का प्रतिपादन करती है ।उन्होंने `तत्तु समन्वयात्` सूत्र की व्याख्या इसी दृष्टिकोण से की है; उनकी दृष्टि में इस सूत्र का एकमात्र प्रयोजन ब्रह्म का समवायित्व सिद्ध करना है । इस विषय में उन्होंने जो युक्तियां प्रस्तुत की हैं, उनमें तीन विशेष महत्त्वपूर्ण हैं:--

पहिली तो यह है कि श्रुति सर्वत्र पर और विशुद्ध ब्रह्म को ही जगत् का समवायिकारण कहती है ।श्रुति तत्त्व के प्रतिपादन और अविद्या की निवृत्ति के लिए ही प्रवृत्त हुई है और इस स्थिति में उसके लिए एक ही वस्तु के स्वभाव के विषय में परस्पर विरोधी कथन करना न तो स्वाभाविक ही है और न उचित ही ।श्रुति अध्यारोपापवादन्याय से पहले ब्रह्म का कर्ता रूप से कथन करती है और फिर उसका ही निषेध कर देती है, यह मानने में कोई युक्ति नहीं है । ऐसा मानने पर तो अनेक वेदान्तवाक्य `स्वार्थ` में बाधित हो जायेंगे, जो कि सर्वथा अवांछित है,क्योंकि प्रामाण्य तो सभी वेदान्तवाक्यों का समान है[1] ।

दूसरी बात जो वे कहते हैं, वह यह कि सूत्रकार समस्त वेदान्तवाक्यों के समाधान के लिए प्रवृत्त हुए हैं, और समस्त वेदान्तवाक्यों का ब्रह्म में समन्वय तब तक सम्भव नहीं है, जब तक ब्रह्म का समवायित्व न स्वीकार कर लिया जाय । यदि समवायित्व स्वीकार नहीं किया जायेगा तो अनेक उपनिषद्-भाग व्यर्थ हो जायेंगे,क्योंकि वे `इदं सर्वं यदयमात्मा ---` (बृ०२।४।४-५);`आत्मैवेदं सर्वं--`(छां०७।२५।२); `स आत्मानं स्वयमकुरुत---` (तैत्ति०२।७) इत्यादि से अनेकशः ब्रह्म के ही उपादानत्व का प्रतिपादन करते हैं[2] ।

उपर्युक्त युक्तियों की प्रस्तावना के पश्चात् जो युक्ति वल्लभ ने दी है, वह सिद्धांत की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । ब्रह्म ही समवायिकारण है,क्योंकि उसका ही जगत् में `समन्वय` अर्थात् `सम्यगनुवृत्ति` है । वही सब में अनुस्यूत है, जैसे पट में तन्तु अथवा घट में मृत्तिका ।

---

१ द्रष्टव्य अणुभा० १।१।४

२ `सर्वोपनिषत्समाधानार्थं प्रवृत्तः सूत्रकारः । तद्यदि ब्रह्मणः समवायित्वं न ब्रूयाद् भूयानुपनिषद्भागो व्यर्थः स्यात् । इदं सर्वं यदयमात्मा; आत्मैवेदं सर्वम्; स आत्मानं स्वयमकुरुत; एकमेवाद्वितीयम् इत्यादि । एवमादीनि वाक्यानि स्वार्थे बाधितानि भवेयुः ।`

—अणुभा० १।१।४

'अनुवृत्ति' का अर्थ है अनारोपित और अनागन्तुकरूप से सब के प्रति वर्त्तमानता[1]। सच्चिदानन्द ब्रह्म 'अस्ति-भातिप्रियत्वेन' सब में अनुगत है, अर्थात् सत्ता, ज्ञान और आनन्दरूप से समस्त विश्व में व्याप्त है। जड जीव और अन्तर्यामी में एक-एक अंश का विशेष प्राकट्य है; जड में अस्तित्व अर्थात् सत् का, जीव में ज्ञान अर्थात् चित् का, तथा अन्तर्यामी में प्रियत्व अर्थात् आनन्द का विशेष प्रकाशन है। यह नानात्व ऐच्छिक है और उच्चनीचभाव से सच्चिदानन्दस्वरूप के आविर्भाव में भगवदिच्छा ही नियामिका है,[2] अत: सृष्टि में जो नानात्व, वैषम्य अथवा दोष आदि की प्रतीति होती है, उससे ब्रह्म का समवायित्व खण्डित नहीं होता।

ब्रह्म को केवल निमित्तकारण नहीं माना जा सकता, इससे श्रुति में एकविज्ञान से जो सर्वविज्ञान की प्रतिज्ञा की गई है, वह व्यर्थ हो जायेगी। 'अपि वा तमादेशमप्राक्ष्य: येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातं भवति' (छां०६।१।३)-- ऐसी प्रतिज्ञा कर श्रुति 'यथैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृण्मयं विज्ञातं स्यात् ---' (छां०६।१।४) इत्यादि से मृत्तिका और मृण्मय, सुवर्ण और सुवर्णमय आदि का दृष्टान्त देती है। जिस प्रकार उपक्रमोपसंहार एकार्थक होते हैं, उसी प्रकार प्रतिज्ञा और दृष्टान्त भी एकार्थक होते हैं। यदि ब्रह्म को समवायिकारण नहीं मानेंगे तो प्रतिज्ञा और दृष्टान्त दोनों ही व्यर्थ हो जायेंगे। समवायिकारण का ज्ञान होने पर ही कार्य का ज्ञान होता है[3]।

कार्यकारण की ही एक अवस्थाविशेष होता है, अत: विभिन्न कार्यों में तत्तदवस्थाविशिष्ट कारणस्वरूप ब्रह्म का ही ज्ञान होता है। इसी प्रकार समस्त कार्यजाति की भी ब्रह्म से अभिन्नरूप में प्रतीति होती है[4]। ब्रह्म का साक्षात् परिणाम होने से जगत् को विवर्त नहीं कह सकते। यह सत्य है किन्तु ब्रह्मरूप से विवर्तरूप से नहीं। 'मृत्तिकेत्येव सत्यम्' से श्रुति का यही अभिप्राय है अत: ब्रह्मरूप से सत्य इस जगत् का ब्रह्म ही समवायिकारण है, प्रकृति नहीं।

---

१ 'सम्यगनुवृत्तत्वं अनारोपितानागन्तुकरूपेण सर्वं लक्ष्यीकृत्य वर्तमानत्वम्' --अणुभा०१।१।३-भा०प्र०

२ ' -----तद्ब्रह्मैव समवायिकारणं, कुत:, समन्वयात् सम्यगनुवृत्तत्वात्। अस्तिभातिप्रियत्वेन सच्चिदानन्दरूपेणाऽन्वयात्। --नानात्वं त्वैच्छिकमेव जडजीवान्तर्यामिष्वेकैकांशप्राकट्यात्। कथमेवं इति चेन्न --- भगवदिच्छाया: नियामकत्वात्' -- अणुभा० १।१।३

३ 'प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात्'

'उभयोर्ग्रहणमुपचारव्यावृत्त्यर्थम्, उपक्रमोपसंहारवत्' -- अणुभा० १।४।२३

४ 'कार्यस्यैवमवस्थाविशेषविशिष्टकारणरूपत्वे ज्ञाते सति यत्र क्वचित्कार्ये केनचिदवस्थावैशिष्ट्येन भगवान् ज्ञात: सर्वत्र कार्ये तत्तदवस्थाविशिष्टत्वेन ज्ञातो भवति, सर्वं च कार्यं तदभिन्नत्वेन ज्ञातं भवतीति।'

-- अणुभा० १।४।२३ भा०प्र०

स्वयं सूत्रकार आचार्य बादरायण ने ब्रह्म का समवायित्व सिद्ध करने के लिए अनेक युक्तियां और प्रमाण दिये हैं। `अभिध्योपदेशाच्च`(१।४।२४); `साक्षाच्चोभयाऽऽम्नात्`(१।४।२५); `आत्मकृतेः परिणामात्`(१।४।२६); `योनिश्च हि गीयते`(१।४।२७) आदि सूत्रों में सूत्रकार ने ब्रह्म का समवायित्व ही प्रदर्शित किया है। श्रुति इस समस्त वस्तुजात का ब्रह्म से ही उद्भव और ब्रह्म में ही लय कहती है और यह निमित्तकारण में सम्भव नहीं है। साथ ही ब्रह्म का `बहु स्याम्` यह जो अभिध्यान है, वह तभी सिद्ध हो सकता है, जब ब्रह्म स्वयं सृष्ट हो।[1] सुवर्ण का अनेकरूपत्व सुवर्ण के समवायिकारण होने पर ही सम्भव होता है। वल्लभ सदैव सुवर्ण का ही उदाहरण देते हैं, क्योंकि सुवर्ण अविकृत ही परिणमित होता है, जब कि दुग्ध आदि विकारग्रस्त हो जाते हैं। ब्रह्म भी इसी प्रकार अविकृत रहकर ही जगद्रूप से परिणमित होता है, अतः ब्रह्मपरिणामलक्षण जगत् का समवायिकारण ब्रह्म ही है[2]।

प्रथम सृष्टि में ब्रह्म की इच्छा मात्र से, ब्रह्मभूत चिदंशप्रधान जीवों की तथा सदंशप्रधान जड जगत् की उत्पत्ति हुई। ब्रह्म ही अपने आनन्द अंश को तिरोभूत कर जीव रूप से तथा आनन्द और चिदंशों को तिरोहित कर जड रूप से अवतीर्ण होता है। पूर्वपक्षी यहां पर एक शंका उपस्थित करते हैं, और वह यह कि ब्रह्म सृष्टि से विलक्षण होने के कारण सृष्टि का कारण नहीं हो सकता। ब्रह्म चेतन, निर्दोष और ज्ञानात्मक है, उसके लिये जाड्यमोहात्मक तुच्छ जगत् का, और अज्ञत्व, दुःखित्वादि से युक्त जीव का कारण होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वह उनसे विलक्षण है। जो जिससे विलक्षण होता है, वह उसका कारण नहीं होता, जैसे तन्तु कभी घट का कारण नहीं हो सकता।

ब्रह्म को जगत् का समवायिकारण स्वीकार करने वाले आचार्य इस तथाकथित अनुपपत्ति का उत्तर `दृश्यते तु`(ब्र०सू०२।१।६) के आधार पर देते हैं। जगत् में कारण और कार्य का वैसादृश्य देखा जाता है; जैसे चेतनत्वविशिष्ट देह से अचेतन केश तथा अचेतन गोमय से चेतन वृश्चिकादि की उत्पत्ति होती है। चेतन से अचेतन की उत्पत्ति सर्वथा असम्भव मानने पर तो चेतन के ही अंशविशेष अचेतन का निषेध हो जायेगा[3]।

---

१ `बहु स्यामिति स्वस्यैव बहुरूपत्वाभिध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति। सुवर्णस्यानेकरूपत्वं सुवर्णप्रकृतिकत्व एव ---`। अणुभा० १।४।२४

२ `आत्मकृतेः परिणामात्`
`---- परिणमते कार्याकारेणेति। अविकृतमेव परिणमते सुवर्णम् तस्माद् ब्रह्मपरिणामलक्षणं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम्।` अणुभा० १।४।२६

३ `दृश्यते हि कार्यकारणयोर्वैरूप्यम्। केशगोमयवृश्चिकादौ चेतनादचेतनोत्पत्तिनिषेधे तदंशस्यैव निषेधः।`
--अणुभा० २।१।६

कारण और कार्य के स्वरूप में सर्वथा सादृश्य की असम्भावना को भाष्यप्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम ने सुन्दर रीति से स्पष्ट किया है । वे पूर्वपक्षी से प्रश्न करते हैं कि कारण और कार्य का सारूप्य कैसा है? दोनों के समस्त धर्मों से है, अथवा किसी एक धर्म से है, अथवा कारणगत अन्य-व्यावर्तक धर्म से है? पहिला विकल्प मानने पर तो कारण-कार्य-भाव ही सम्भव नहीं होगा, क्योंकि कारण और कार्य में परस्पर वैसादृश्य होना आवश्यक है । दूसरा विकल्प मानने पर ब्रह्मकारणत्व में कोई दोष नहीं है, क्योंकि यदि किसी एक ही धर्म से सादृश्य आवश्यक है तो क्रमश: सदंश, चिदंश और आनन्दांश से व्युच्चरित जड जीव और अन्तर्यामी में सदंश , चिदंश और आनन्दांश वर्तमान हैं ही । कारणगत व्यावर्तक धर्म से सादृश्य मानने पर देह के देहत्व और गोमय के गोमयत्व आदि विशेष धर्म उनके कार्य केश, वृश्चिक आदि में हैं ही नहीं । अत: चाहे जो विकल्प स्वीकार किया जाय, कारण और कार्य का सर्वथा सादृश्य असम्भव है, फलत: किंचित् वैसादृश्य होने पर भी ब्रह्म सृष्टि का कारण सिद्ध होता है[1] ।

यदि यह कहा जाय कि कार्य के कारण में लय होने पर कार्य के स्थौल्य, सावयवत्व, परिच्छिन्नत्व, अशुद्धत्व आदि दोष कारण ब्रह्म में भी प्रसक्त हो जायेंगे, तो यह अनुचित है । लोक में कभी कारण में कार्य के लय होने पर, उसके दोषों से कारण को दूषित होते नहीं देखा जाता । मृत्तिका और सुवर्ण आदि से उत्पन्न घट, शराव और कुण्डल आदि जब अपने कारण मृत्तिका और सुवर्ण में लीन होते हैं, तब परमाणु-भाव हो जाने पर कार्यावस्था के स्थौल्य, सावयवत्व, परिच्छिन्नत्व आदि दोष वर्तमान ही नहीं रहते, उनसे कारण के दूषित होने का प्रश्न ही नहीं उठता है[2] । इस प्रकार ब्रह्म के जगत् के समवायिकारण होने में कोई अनुपपत्ति नहीं है । वल्लभ के अनुसार जगत् और ब्रह्म में कोई तात्त्विक अन्तर नहीं है : चित् और आनन्द का आत्यन्तिक अभाव जगत् में

----

१ "विलक्षणत्वेन ब्रह्मणो जगत्कारणत्वं दूषयतो भवत: किं कार्यकारणयो: सर्वधर्मै: सारूप्यं विवक्षितम् । उत् केनचिद् धर्मेण । अथवा येन धर्मेण कारणं वस्त्वन्तराद् व्यावर्तते तेन धर्मेण : नाद्य: । लोकविरुद्धत्वात्, सर्वांशसारूप्ये कार्यकारणभावहानिप्रसंगात् ------ न द्वितीय: । अतिप्रसंगापत्ते: सच्चिदानन्दरूपाद् ब्रह्मण: सदंशाज्जडानां चिदंशाज्जीवानाम् आनन्दांशादन्तर्यामिणां व्युच्चरणमिति तत्तत्सारूप्यस्य तत्र तत्र विद्यमानत्वाद् भवदुक्तहेतो स्वरूपासिद्धत्वाच्च । न तृतीय:। देहादीनां येन धर्मेण वस्त्वन्तराद् व्यावृत्तिस्तेषां धर्माणां देहत्वगोमयत्वादीनां केशवृश्चिकादिषु अभावेन तेषामप्यकारणत्वप्रसंगात् । ---तस्मान्नानेन ब्रह्मकारणत्वदूषणं न वा मृदादीनां ब्रह्मकार्यत्वदूषणमिति ।"--भा०प्र०२।१।६

२ "----तत्र उत्पन्नस्य तत्र लये न कार्यावस्थाधर्मसम्बन्ध: शरावरुचकादिषु प्रसिद्ध: ।"
--अणुभा०२।१।६

नहीं है । उसमें जो जड़त्व की प्रतीति होती है, वह चित् और आनन्द के तिरोभूत रहने के कारण ही होती है, अभाव के कारण नहीं । दोनों के स्वरूप में जो अन्तर है उतना तो, जैसा कि भाष्य-प्रकाशकार ने कहा है, कार्य-कारण-भाव के लिये आवश्यक ही है । साथ ही यह भी विचारणीय है कि यह विश्व तो ब्रह्म का आंशिक प्रकाशन मात्र है; उसके स्वभाव का आंशिक उन्मीलन भर है; अतः यदि ब्रह्म उससे अधिक और श्रेष्ठ है, तो इसमें अस्वाभाविक क्या है? फलतः किंचित्वैसादृश्य होने पर भी ब्रह्म जगत् का समवायिकारण है, यह सिद्ध होता है ।

ब्रह्म को निमित्त और समवायिकारण मानने के साथ-साथ वल्लभ उसे सृष्टि का साधारण कारण भी मानते हैं । श्रीमद्भागवत में "कालं कर्म स्वभावंच मायेशो मायया स्वया ।
आत्मन् यदृच्छया प्राप्तं विबुभूषुरुपाददे ।।" (श्रीमद्भा०२।५।२१)-
यह श्लोक आया है । इस श्लोक में काल, कर्म और स्वभाव का कथन किया गया है । ये तीनों ब्रह्म की अभिव्यक्तियां हैं तथा विभिन्न प्रयोजनों का सम्पादन करते हैं । ब्रह्म के ये तीनों रूप सृष्टि के साधारण कारण हैं; अथवा यह कहना वल्लभ की विचारधारा के अधिक अनुकूल होगा कि इन तीन रूपों के माध्यम से ब्रह्म ही सृष्टि का साधारण कारण भी है ।

इस सन्दर्भ में इनका संक्षिप्त परिचय आवश्यक है:--

काल ब्रह्म का क्रियाशक्तिप्रधान रूप है : क्रिया सदंश की शक्ति है, अतः इसमें चित् और आनन्द तिरोभूत रहते हैं । इस प्रकार इसका अन्तर्यामी और जीव से वैलक्षण्य दिखाया गया है । सदंशप्रधान जड़ से भिन्नता दिखाने के लिये इसे ईषत्सत्त्वांशप्रकट कहा है; किन्तु यह व्यवहार मात्र के लिये है, तत्त्वतः यह भी प्रकटसच्चिदानन्द ही है[1] । इन्द्रियातीत होने के कारण यह कार्यानुमेय है । क्रिया-शक्ति प्रधान रूप होने के कारण इसे सकलोद्भव कहा गया है । यह चलनैकस्वभाव और सकलाश्रय है, तथा समस्त जगत् को स्वयं में स्थापित कर निरन्तर गतिशील है[2] ।

काल की भांति कर्म भी ब्रह्म का ही एक रूप है । इसमें काल की अपेक्षा यह वैशिष्ट्य है कि काल तो स्वतः प्रकट है, किन्तु यह पुरुषों के द्वारा विधिनिषेध प्रकार से प्रकट किया

---

१ "---- अन्तःसच्चिदानन्दो व्यवहारे ईषत्सत्त्वांशेन प्रकटः काल इति कालस्य स्वरूपलक्षणम्"
--"प्रमेयरत्नार्णव", पृ०१६६

२ " रूपान्तरं तु रु तस्यैव सर्वसामर्थ्य संयुतम् ।।
चिदानन्दतिरोभावस्तत्रदुद्गम स्व च ।
ईषत्सत्त्वांशप्राकट्यं बहिरन्तस्तु सर्वतः ।।
चिदानन्दावधि तथा स कालः सकलोद्भवः ।
क्रियाशक्तिप्रधानत्वाच्चिरत्नः सकलाश्रयः ।।"

जाता है : अत: काल की अपेक्षा मनुष्यों का हिताहित करने में इसका साधकत्व अधिक है । इसमें भी चिदानन्दतिरोभाव आदि काल के ही समान है; विशेष[1] बात यह है कि यह काल की भांति नित्यप्रकट नहीं है और फलदानपर्यन्त ही स्थित रहता है ।

कर्म एक और भगवद्रूप है । कर्म के एकत्व में प्रमाण है कि वह `काल कर्म स्वभावंच` से सृष्टि के साधारण कारण के रूप में परिगणित किया गया है । वल्लभ कर्म का प्रतिपुरुष भेद स्वीकार नहीं करते । कर्म प्रतिपुरुष भिन्न नहीं है,अपितु एक ही है, और अंशभेद से भिन्न-भिन्न फलों को प्रदान करता है ।एक व्यक्ति के द्वारा जिस काल में वह विधिप्रकार से प्रकट किया जाता है; उसी काल में दूसरे व्यक्ति के द्वारा वह निषेध प्रकार से[2] प्रकट किया जाता है; इस भांति प्राकट्यभेद से वह भिन्न व्यक्तियों को भिन्नफल प्रदान करता है ।

स्वभाव भगवदिच्छा रूप से आविर्भूत होता है । सच्चिदानन्दरूप से इसका स्वरूप व्यवहारोपयोगी नहीं है, अत: इसमें सत् चित् और आनन्द का सर्वथा तिरोभाव रहता है । यह भी एक व्यापक है । लोक में मृत्तिका, तन्तु और दुग्ध,क्रमश: घट,पट और दधि रूप से ही परिणत होते हैं, अन्य रूप से नहीं; इसमें भगवदिच्छा ही हेतु है । यह इच्छा ही स्वभाव है । किन्तु `काल कर्म स्वभावंच ---` में स्वभाव का काल की भांति भिन्नरूप से उपादानतया कथन किया गया है,अत: इच्छा को ही स्वभाव मानना असंगत प्रतीत होता है; इसलिये स्वभाव को भगवदिच्छा नहीं,अपितु भगवदिच्छाकारक अर्थात् भगवदिच्छा के रूप का स्वीकार करना[3] चाहिए । स्वभाव इच्छा रूप से प्रकट होता है, जैसे बुद्धि विज्ञानरूप से-- यही मानना उचित है ।

---

१ `यथा कालो रूपमदारस्य तथा कर्मापि । परमेतावान् विशेष: । काल स्वतश्च प्रकट:, अयं तु पुरुषैर्विधिनिषेधप्रकारेण प्रकटी क्रियते । अत: कालापेक्षया लोकानां हिताहितप्रदाने विशिष्यते। ----- कालवन्न स नित्यप्रकट; किन्तु फलदानपर्यन्तमेव` । --त०दी०नि०२।१०६ `प्रकाश`

२ द्रष्टव्य -- त०दी०नि० २।११० `प्रकाश` `न प्रतिपुरुषमदृष्टरूपकर्मभेद: इत्यर्थ: । तथा वा दृष्टापूर्वादिशब्दैनैतदंश एवोच्यते । प्रारब्ध संचितक्रियमाण त्वमेतस्यैवाऽवस्थाभेदेन भवतीति कर्मनानात्वकल्पनमतिगौरवग्रस्तमेवेतिभाव: ।` -- त०दी०नि० २।११०आ०मं०

३ द्रष्टव्य त०दी०नि० २।११२

(क) `भगवदिच्छारूपेण प्रकटो भवति न सच्चिदानन्दरूपेण तस्य स्वरूपं व्यवहारोपयोगी ।`
-- त०दी०नि० २।११२ पर `प्रकाश`

(ख) `इच्छामात्रेण रूपेण प्रकटनं प्राकट्यं यस्येति । --- तथा च सैव परिणामहेतुभूता स्वभाव इति वक्तुं शक्यं यद्यपि, तथापि कालं कर्म स्वभावंच ---- इति वाक्ये उपादानगोचरतया कालवद्भिन्नतया च निर्देशान्नेच्छा स्वभाव:, किन्तु इच्छाकारेण प्रकटो भवति बुद्धिरिव विज्ञानरूपेण`
-- त०दी०नि० २।११२ आ०मं०

इस प्रकार काल,कर्म और स्वभाव के रूप में ब्रह्म ही इस सृष्टि का साधारण कारण है। वल्लभ ने 'सदेव सौम्येदमग्राऽऽसीत् ---'; तथा 'एकोऽहं बहुस्याम्' के आधार पर ब्रह्म को एकमात्र तत्त्व, तथा सृष्टि को उसकी अभिव्यक्ति स्वीकार कर ब्रह्म को हि सृष्टि का एकमात्र कारण माना है; और प्रत्येक दृष्टि से माना है,अर्थात् वही निमित्त कारण है, वही समवायि तथा वही साधारण कारण भी है।

प्रस्थानत्रयी का अनुसरण करने वाले आचार्यों ने निश्चित रूप से विश्व को ब्रह्म की अभिव्यक्ति स्वीकार किया है; किन्तु इस विषय में दो मत हैं-- एक आभासवाद और दूसरा परिणामवाद। आभासवाद शंकर तथा उनके अनुयायियों द्वारा स्वीकृत है, तथा परिणामवाद भास्कर,रामानुज, वल्लभ आदि के द्वारा। यद्यपि दोनों मतों के अनुसार विश्व की कोई पृथक् सत्ता नहीं है और वह ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति मात्र है, तथापि अभिव्यक्ति के स्वरूप में अन्तर है।

आभासवाद के अनुसार विश्व ब्रह्म का आभास या प्रतिबिम्बमात्र है। इसकी अपनी कोई वास्तविक सत्ता नहीं है; यह तो विकल्पमात्र है और विकल्प होने के कारण विकल्पास्पद ब्रह्म से अभिन्न है।इसके विपरीत परिणामवाद में विश्व ब्रह्म से अपनी पृथक् सत्ता न रखते हुए भी उतना ही सत्य है,जितना स्वयं ब्रह्म।

दृष्टि के इस मौलिक अन्तर के ही कारण शंकर तथा वैष्णव दार्शनिकों की सृष्टि संबंधी मान्यताओं में इतना अन्तर है। वल्लभ वैष्णव आचार्यों की परम्परा में हैं, और सृष्टि को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हैं। सृष्टीच्छा होने पर ब्रह्म ही इस नामरूपात्मक जगत् में परिणत होता है। जिस प्रकार सुवर्ण कटक,कुण्डल आदि विभिन्न रूपों में परिणत होता है,उसी प्रकार ब्रह्म अपने सत् चित् और आनन्द इन स्वरूपभूत धर्मों में परिवर्तन कर जीव-जडादि रूप से आविर्भूत होता है। उसका यह प्राकट्य प्रातीतिक अथवा औपाधिक नहीं,अपितु स्वेच्छाजन्य और वास्तविक है।

अपने इस परिणाम में ब्रह्म को अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा नहीं है।वह अचिन्त्यानन्तशक्तिमान् है तथा माया उसकी सर्वभवनसामर्थ्यरूपा कार्यकरणात्मिका शक्ति है।अपनी इस शक्ति के द्वारा ही वह इन विविध नामरूपों में अवतीर्ण होता है। इन परिणामों के होने पर भी ब्रह्म के सच्चिदानन्द अखण्ड स्वरूप में कोई परिवर्तन नहीं होता; वह नित्य-अपरिवर्तनशील और नित्य अविकारी ही रहता है। वाल्लभ मत में सुवर्ण का दृष्टान्त विशेष प्रयोजन से दिया जाता है। वास्तविक परिणाम यों तो दुग्ध और दधि का भी होता है,किन्तु दधिरूप में परिणत होने पर दुग्ध तत्त्वत: विकारग्रस्त हो जाता है, इसके विपरीत सुवर्ण विभिन्न आभूषणादि के रूप में

परिणत होने पर भी तत्वत: विकृत नहीं होता ; इसलिये ब्रह्म और उससे उत्पन्न जगत् की तुलना सुवर्ण और उससे निर्मित आभूषणादि से की जाती है । वल्लभ के अनुसार नानारूपों में परिणत होते हुए भी ब्रह्म विकारग्रस्त नहीं होता, अत: वल्लभ का परिणामसिद्धान्त `अविकृत-परिणामवाद` कहलाता है ।

`परिणाम` शब्द का प्रयोग यों तो शंकर ने भी किया है, किन्तु उस अर्थ में नहीं, जिस अर्थ में वल्लभ ने किया है । `आत्मकृते: परिणामात्` (वे०सू०१।४।२५) इस सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकर लिखते हैं-- "पूर्वसिद्धोऽपि हि सन्, आत्मा विशेषेण विकारात्मना परिणमयामासात्मानम् । विकारात्मना च परिणामो मृदाद्यासु प्रकृतिषूपलब्ध:" --(शां०भा० १।४।२५) किन्तु शंकर के द्वारा कहा गया यह परिणाम वल्लभ को स्वीकृत परिणाम से बहुत भिन्न है: शब्दसाम्य होने पर भी प्रतिक्रियाओं में बहुत अन्तर है । शंकर के अनुसार जिस भांति घटादि विकार मृत्तिका से व्यतिरिक्त अपनी कोई सत्ता नहीं रखते, अपितु मृत्तिका ही स्वात्मरूप से स्थित होते हुए घटादि रूप से प्रतीत होती है; उसी भांति यह प्रपंच भी ब्रह्म का ही आभास है और ब्रह्म से भिन्न इसका कोई अस्तित्व नहीं है । परिणाम का जो अर्थ शंकर लेते हैं, वह लाक्षणिक है; ब्रह्म का वास्तविक परिणाम उन्हें मान्य नहीं है । ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करने में उनकी ओर से अनेक आपत्तियां हैं । उनके कथनानुसार एक वस्तु एक ही समय में दो विभिन्न स्थितियों में नहीं रह सकती, या तो वह परिणत होगी या अपरिणामी रहेगी ; अपरिणामी भी है और परिणत भी होती है-- यह कहना `वचो-व्याघात` होगा । अत: कारण और कार्य दोनों की सत्यता कम से कम एकस्तर पर तो असम्भाव्य ही है । इस प्रकार विश्व की सत्यता सापेक्ष-सत्यता हो जाती है, और सापेक्ष सत्य कभी अंतिम सत्य नहीं होता । इसके अतिरिक्त ब्रह्म निरवयव है । वास्तविक परिणाम मानने पर सावयवत्व की प्रसक्ति होती है, और सावयव वस्तु भी एक अंश से परिणत हो और एक अंश से न हो- इसमें कोई तार्किक उपपत्ति नहीं है ।

इस नामरूपात्मक जगत् को यदि उतना ही सत्य माना जाय जितना ब्रह्म है, तो स्पष्टरूप से द्वैतापत्ति होती है, और यदि नामरूपात्मक सृष्टि ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार की जाय तो सर्वातीत, निर्विशेष, असीम और अपरिच्छिन्न ब्रह्म को सविशेष, सीमाबद्ध और परिच्छिन्न मानना होता है, जो किसी भी स्थिति में स्वीकार्य नहीं है । फिर भी सृष्टि तो है ही, और समस्त व्यवहार विषय होने से अपने आप में पर्याप्त महत्त्वपूर्ण भी है, अत: उसकी स्थिति स्पष्ट करना आवश्यक है । शंकर अखण्ड-अद्वैत के समर्थक हैं, अत: उनके अनुसार भी सृष्टि ब्रह्म से भिन्न नहीं हो सकती, वह ब्रह्म का ही एक रूपान्तर है । यह रूपान्तर वास्तविक परिणामस्वरूप नहीं है, क्योंकि शंकर की ब्रह्मवस्तुसम्बन्धी धारणा में वास्तविक परिणाम के लिए कोई अवकाश नहीं है । उनके अनुसार ब्रह्म सर्वथा निर्विशेष

और निर्धर्मक एक तत्त्व है, तथा उसके सभी धर्म आरोपित हैं; सर्वशक्तिमत्त्व,सर्वकर्तृत्व आदि भी। कार्यकारण-विवेकप्रक्रिया,कार्य-कारण सम्बन्ध,यह सभी कुछ व्यावहारिक स्तर पर है, अत: परिणाम भी व्यावहारिक ही है। ऐसी स्थिति में वास्तविक परिणमन के अभाव में विश्व ब्रह्म का आभासमात्र है। आभास आभास्य से अनन्य होता है,अत: सृष्टि भी ब्रह्म से अनन्य है। ब्रह्म और विश्व के बीच इस आभास्य-आभासक अथवा बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव के आधार पर शंकर ब्रह्म के सर्वातीतत्व और सर्वदोषराहित्य की भी सिद्धि करते हैं।

वल्लभ की दृष्टि शंकर से बहुत भिन्न है। वे विशुद्ध और समस्त उपाधियों से रहित ब्रह्म का ही परिणाम स्वीकार करते हैं और वह भी तथ्यत: परिणमित होता है।वल्लभ के अनुसार दार्शनिक विचारणा में व्यवहार और परमार्थ जैसे दो भिन्न स्तर नहीं हैं,जहां वास्तविकता का मूल्यांकन दो भिन्न दृष्टियों से किया जा सके। उनके मत में परमार्थ और व्यवहार में सत्यता और असत्यता का नहीं,अपितु बाह्य रूपाकार और अभिव्यक्ति का अन्तर है; व्यवहार परमार्थ की ही अभिव्यक्ति है और उतनी ही सत्य है।

शंकर के अनुसार ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करने में जो तार्किक अनुपपत्तियां हैं,उनका वल्लभ की दृष्टि में कोई अस्तित्व ही नहीं है।उनका[1] ब्रह्म वास्तविक अर्थ में सविशेष,समस्त दिव्य गुणों से युक्त,सर्वशक्तिमान् और विरुद्धधर्माश्रय है। ब्रह्म के स्वरूप की इन विशेषताओं पर तृतीय परिच्छेद में सविस्तर विचार किया जा चुका है।

सर्वशक्तिमान् होने के कारण वह अन्य किसी के साहाय्य की अपेक्षा न रख,निरपेक्ष ही परिणत होता है, तथा विरुद्धधर्माश्रयी होने के कारण उसका एक साथ परिणामी और अपरिणामी होना भी सम्भव है। इस विषय में शंका करना उचित नहीं है,क्योंकि ब्रह्मवस्तु का स्वरूप ही ऐसा है[2]। श्रुति 'अणोरणीयान्महतोमहीयान् -----' (कठ०२।२०); 'तदेजतितन्नैजति --' (ईशा०१।५) इत्यादि से ब्रह्म को विरुद्धधर्माश्रय ही सिद्ध करती है; और श्रुति का ब्रह्म के विषय में

---

१ (क) 'निर्दोषा: पूर्णा गुणा विग्रहरूपा यस्य' -- त०दी०नि०१।४७ प्रकाश'
(ख) 'सत्यादिगुणसाहस्रैर्युक्तमौत्पत्तिकै: सदा' -- त०दी०नि० १।६८
(ग) 'अनन्तमूर्ति तद्ब्रह्म कूटस्थं चलमेव च।
विरुद्धसर्वधर्माणामाश्रयं युक्त्यगोचरम् ।। -- त०दी०नि० १।७२
(घ) '---पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते।
स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च ।। -- श्वे० ६।८

२ ' भगवति सर्वे विरुद्धधर्मा दृश्यन्ते। -----तादृशमेव तद्वस्तु इति स्वध्यवसाय: प्रामाणिक:'
--अणु०भा० ३।२।२१

सर्वोच्च प्रामाण्य होने से उसके विषय में सन्देह करना उचित नहीं है[१]।

ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करने में एक अन्य आपत्ति है, ब्रह्म के परिच्छिन्न और विकारी होने की। जो ब्रह्म वस्तुत: सृष्टिरूप में परिणत होता है और जीवरूप से अभिव्यक्त होता है, वह निश्चय ही विकारी भी है और परिच्छिन्न भी। इसका निराकरण करते हुए वल्लभ कहते हैं कि इस नामरूपात्मक जगत् से ब्रह्म तब परिच्छिन्न होता, जब वह विश्वमात्र होता, विश्व से अतिरिक्त उसकी सत्ता ही न होती; परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है। यह सृष्टि ब्रह्म की एक अभिव्यक्ति मात्र है, उसके स्वभाव का आंशिक और सीमित प्रकाशन; उसका समग्र रूप नहीं है। विश्व ब्रह्म के एकदेश में स्थित है, ब्रह्म विश्व से अतिरिक्त और अतीत है[२]।

इसी प्रकार वल्लभ ब्रह्म में विकारापत्ति की सम्भावना का भी निराकरण करते हैं। ब्रह्म अपने अविक्रियमाण आनन्दघन स्वरूप में स्थित रहते हुए ही भोक्ता और भोग्य रूप से प्रकाशित होता है। भोक्ता जीवरूप से आविर्भूत होने पर और भोग्य जगत् रूप से परिणत होने पर भी उसके सच्चिदानन्द स्वरूप में कोई विकार नहीं आता, क्योंकि परिणाम का अर्थ विकारापत्ति नहीं, अपितु यथास्थितस्वभाव का प्राकट्य मात्र है[३]। इसके अतिरिक्त श्रुति सर्वत्र ही ब्रह्मतत्त्व को नित्य अपरिवर्तनीय, कूटस्थ और अविकारी रूप में ही प्रतिपादित करती है। ब्रह्म के अविकारित्व पर, ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते समय विस्तृत आलोचना की जा चुकी है; यहां पुन: कहने का तात्पर्य केवल इतना है कि सृष्टि को ब्रह्म का साक्षात् परिणाम स्वीकार करने में कोई अनुपपत्ति नहीं है।

इस प्रकार ब्रह्मपरिणामवाद में मुख्यरूप से जो तीन दोष प्रसक्त होते हैं--कृत्स्नप्रसक्ति, स्वरूपच्युति और ब्रह्म की सावयवत्वापत्ति-- उनमें से प्रथम दो तो निराकृत हो गये। एक और आशंका बचती है, और वह है ब्रह्म की सावयवत्वापत्ति। इसका निराकरण भी विशुद्धाद्वैत में श्रुति के प्रामाण्य के आधार पर ही किया गया है। यह सच है कि लोक में समवायि सावयव और विकृत देखे जाते हैं, किन्तु ब्रह्म का समवायित्व लोकसिद्ध नहीं, अपितु श्रुतिसिद्ध है। प्रमाण सदैव यथास्थित वस्तु का ही ज्ञान कराता है, उसमें अपनी ओर से कुछ जोड़ता-घटाता नहीं। श्रुति भी यथास्थित निरवयव ब्रह्म का

----

१ "ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्। अणुमात्राऽन्यथाकल्पनेऽपि दोष: स्यात्"।
--अणुभा० १।१।१

२ "विश्वेन न भगवानावृत: परिच्छिन्न:, किन्तु विश्वमेव तेनावृतं परिच्छिन्नम्। ---तस्माद्यावान् भगवान् सर्वं तावानधिकस्ततोऽप्यधिक इति न परिच्छेद: सम्भवति"। --
--श्रीमद्भा० २।६।१५ सुबो०

३ "---- तत्र यथास्थितप्राकट्यस्यैव परिणामत्वेन विवक्षितत्वात्"।
अणुभा० २।३।१७- भा०प्र०

ही समवायित्व प्रख्यापित करती है, अत: ब्रह्म के सावयवत्व की शंका नहीं करनी चाहिए[१]।

वल्लभ तो इस विषय में केवल श्रुति का ही सहारा ले कर रह जाते हैं, किन्तु भास्कर तो यहां तक कहते हैं कि सावयव का परिणाम सम्भव ही नहीं है । भास्कर भी परिणामवाद के कट्टर समर्थक हैं और ब्रह्म का वास्तविक परिणाम सिद्ध करते हुए यह कहते हैं कि वस्तुत: निरवयव का ही परिणाम होता है ।सावयव का परिणाम स्वीकार करने में तो अनेक दोष हैं । भास्कर के अनुसार परिणाम में सावयवत्व और निरवयत्व प्रयोजक नहीं हैं, अपितु स्वभाव ही एकमात्र कारण है ।जिस प्रकार दूध का यह स्वभाव ही है कि वह दधिरूप में परिणत होता है, उसी प्रकार ब्रह्म का भी यह स्वभाव है कि वह जगद्रूप से परिणत होता है[२]।

वल्लभ ने भास्कर की भांति यद्यपि कोई तर्कमूलक खण्डन प्रस्तुत नहीं किया है, तथापि वे भी निरवयव ब्रह्म का परिणाम स्वीकार करते ही हैं ।इस प्रकार सभी शंकाओं का निराकरण कर वल्लभ विश्व को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हैं । `बहुस्याम्` अभिध्यापूर्वक ब्रह्म स्वयं ही सृष्ट होता है । जिस प्रकार नाना आभूषणादि के रूप में परिवर्तित होकर भी स्वर्ण तत्त्वत: विकृत नहीं होता; उसी प्रकार ब्रह्म[३] भी अविकृत ही परिणमित होता है, और इस प्रकार अविकृत परिणामवाद की सिद्धि होती है ।

जहां तक परिणामवाद का प्रश्न है, उसे भास्कर और रामानुज भी स्वीकार करते हैं; किन्तु तीनों के सिद्धान्तों में थोड़ा-थोड़ा अन्तर है । वल्लभ की स्थिति स्पष्ट करने के लिए रामानुज तथा भास्कर के परिणामसिद्धान्तों के साथ उनके परिणामसिद्धान्त की एक तुलनात्मक समीक्षा आवश्यक है ।

----

१ `---- प्रमाणस्य ह्ययं स्वभावो यद् यथास्थितं वस्तु प्रमापयति, न तु स्वनिरूपकप्रकारं निर्मिमीते । तथा च श्रुतिरपि यथास्थितं ब्रह्म प्रतिपादयतीति न पर्यनुयोगार्हा । विकृतत्वादिधर्मांश्च लोके समवायिषु दृश्यन्ते । तथा चौमयरक्षायै ब्रह्माविकृतमेव समवायि । --- अतएव सूत्रकारो ब्रह्मण:समवायित्वं न युक्तिगम्यम्, किन्तु श्रुत्येकगम्यमित्याह `श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वा`दिति`--वि०मं०,पृ०१६५।

२ द्रष्टव्य -- भा०भा० २।१।१४

३ (क) `बहु स्यामिति स्वस्यैव बहुरूपत्वाभिध्यानेन सृष्टं स्वयमेव भवति । सुवर्णस्यानेकरूपत्वं सुवर्णप्रकृतिकत्व एव -----` अणुभा० १।४।२४

(ख) `------ परिणमते कार्याकारेणेति । अविकृतमेव परिणमते सुवर्णम् । तस्माद्ब्रह्मपरिणामरूपार्थं कार्यमिति जगत्समवायिकारणत्वं ब्रह्मण एवेति सिद्धम् ।`

— अणुभा० १।४।२६

भास्कर, रामानुज तथा वल्लभ की एक सामान्य विशेषता है कि वे ब्रह्म को जगत् का अभिन्न निमित्तोपादानकारण तथा जगत् को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हैं। उनके लिए जगत्-प्रत्यय को भ्रम अथवा आभास स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता।

भास्कर, शंकर के विपरीत, यह स्वीकार करते हैं कि ब्रह्म वस्तुत: जगत् के रूप में परिणत होता है। उनका कथन है कि ब्रह्म परिणामवाद सूत्रकार को भी अभिप्रेत है, और 'आत्मकृतेश्च परिणामात्' (वे०सू०१।४।२५) में उन्होंने इस परिणाम को ही सूत्रबद्ध किया है। रामानुज तथा वल्लभ की भांति भास्कर भी यह स्वीकार करते हैं कि जगत् की रचना में ब्रह्म को किसी बाह्य उपकरण की आवश्यकता नहीं होती; अचिन्त्यानन्तशक्तिमान् तथा परिणाम-स्वभाव होने के कारण वह स्वेच्छा से और स्वत: ही जगत् के रूप में परिणमित होता है।[1]

भास्कर के अनुसार ब्रह्म की दो अवस्थाएं हैं-- एक स्वरूपावस्था या कारणावस्था तथा दूसरी कार्यावस्था। वे ब्रह्म की दो शक्तियों का उल्लेख करते हैं--भोग्यशक्ति और भोक्तृशक्ति। भोग्यशक्ति आकाशादिक्रम से अचेतन जगत् के रूप में अवस्थित होती है, तथा भोक्तृशक्ति जीवरूप में।[2] ब्रह्म के इस परिणाम-व्यापार का फल ही यह जगत् है। वल्लभ अलग से ब्रह्म की भोग्य और भोक्तृ-शक्तियों का उल्लेख नहीं करते, अपितु सर्वभवनसामर्थ्यरूप मायाशक्ति को ही स्वीकार करते हैं।

यद्यपि भास्कर का रामानुज और वल्लभ के साथ जगत् के सत्यत्व को लेकर मतैक्य है, तथापि परिणाम के स्वरूप पर किंचित् वैमत्य है। भास्कर के अनुसार यह परिणाम वास्तविक तो है, परन्तु औपाधिक है; समस्त व्यवहार ही औपाधिक है। इसके विपरीत वल्लभ और रामानुज दोनों की दृष्टि में परिणाम न केवल वास्तविक है, अपितु स्वाभाविक भी है। वल्लभ और रामानुज दोनों ही ब्रह्म की कोई उपाधि स्वीकार नहीं करते। इस विषय में भास्कर शंकर के अधिक समीप हैं, किंतु दोनों में बहुत बड़ा अन्तर यह है कि जहां एक ओर शंकर ब्रह्म की अविद्योपाधि को मिथ्या स्वीकार करते हैं; वहीं भास्कर अविद्या, काम और कर्मरूप ब्रह्म की उपाधियों को सत्य स्वीकार करते हैं, जो कारणावस्था में सूक्ष्म रूप से उसमें ही लीन रहती हैं। सर्गकाल में ब्रह्म इनके ही संसर्ग से जीवादि रूप से अवस्थित होता है।

---

१ "परिणामस्वाभाव्यात् क्षीरवत् सर्वज्ञत्वाच्च सर्वशक्तित्वाच्च स्वेच्छया परिणमयेदात्मानम्"

-- भा०भा० २।१।१४

२ "शक्तिविक्षेपलक्षण: परिणाम इति। ईश्वरस्य द्वे शक्ती भवतो। भोग्यशक्तिरेकाभोक्तृशक्तिश्चापरा। या भोग्यशक्ति: सा आकाशादिरूपेणाचेतनपरिणाममापद्यते:। या भोक्तृशक्ति: सा चेतनजीवरूपेणावतिष्ठेत।"

--भा०भा० १।१।२७

जहाँ तक परिणमन-प्रक्रिया का प्रश्न है, वल्लभ भास्कर के बहुत समीप हैं। दोनों ही ब्रह्म का साक्षात् परिणाम मानते हैं। वल्लभ भी ब्रह्म की ही जड-जीवादि रूप से परिणति स्वीकार करते हैं। वही अपने चित् और आनन्द अंशों का तिरोभाव कर जड़ और जीव रूप से आविर्भूत होता है। रामानुज की परिणमनप्रक्रिया दोनों से भिन्न है।

परिणामवाद के विरोध में उठाई गई अनेक शंकाओं में से सबसे महत्त्वपूर्ण शंका थी कि यदि वास्तविक परिणाम स्वीकार किया जाय तो ब्रह्म के स्वयं जडादिरूप से परिणत होने पर जगत् के सभी दोषों और अपूर्णताओं से ब्रह्म भी दूषित होगा : और यह भी सम्भव नहीं है कि ब्रह्म एक अंश से परिणमित हो, एक से न हो। रामानुज के मत में इस अनुपपत्ति के लिए कोई अवकाश नहीं है। उनकी ब्रह्म सम्बन्धी धारणा इसमें विशेष सहायक है, जिस पर ब्रह्म के सन्दर्भ में विचार किया जा चुका है। वे तीन सत्ताएं स्वीकार करते हैं-- ईश्वर, चित् और अचित्। चित् और अचित् ब्रह्म से नियमित और उस पर आश्रित सत्ताएं हैं। इन्हें रामानुज ब्रह्म का अपृथग्सिद्ध विशेषण, प्रकार अथवा शरीर कहते हैं, तथा ब्रह्म इनका आत्मभूत और अन्तर्यामी है।

रामानुज के अनुसार सारी परिणमनप्रक्रिया ब्रह्म के शरीरभूत इन चित् और अचित् अंशों में ही होती है तथा वह इनके अन्तर्यामी रूप में नित्य-अविकारी तथा अपरिणामी ही रहता है। ब्रह्म से इनका पृथग्व्यपदेश न हो सकने के कारण चिदचिद्वस्तुशरीर वाले अद्वितीय ब्रह्म से ही, चिदचिद्वस्तुरूप शरीर के माध्यम से श्रुति जगदाकार परिणाम का कथन करती है[1]। रामानुज के अनुसार सूक्ष्मचिदचित्-विशिष्ट ब्रह्म कारण है तथा स्थूलचिदचित्विशिष्ट कार्य[2]। सूक्ष्मदशापन्न अविकृत चिदचित् का आत्मभूत ब्रह्म स्थूलदशापन्न विकृत चिदचित् का भी आत्मभूत होने के कारण उनके माध्यम से परिणमित होता कहा जाता है[3]। इस प्रकार भास्कर और वल्लभ को स्वीकृत ब्रह्म के साक्षात्परिणाम के विपरीत रामानुज को अभिमत परिणाम 'सद्वारक' अथवा शरीर के माध्यम से है। इस रीति से रामानुज ब्रह्म का अपरिणामित्व और अविकारित्व बहुत सरलता से सिद्ध कर लेते हैं। आत्मा और शरीर में घनिष्ठ

---

१ 'एवं स्वस्माद्विभागव्यपदेशानर्हतया परमात्मन्येकीभूतात्यन्तसूक्ष्मचिदचिद्वस्तुशरीरादेकस्मादेवाद्वितीयान्निरतिशयानन्दात्सर्वज्ञात्सर्वशक्तेः सत्यसंकल्पाद्ब्रह्मणो नामरूपविभागार्हस्थूलचिदचिद्वस्तुशरीरतया बहुभवनसंकल्पपूर्वको जगदाकारेण परिणामः श्रूयते ---'।-- श्रीभा०१।४।२७

२ '-----अतः स्थूलसूक्ष्मचिदचित्प्रकारकं ब्रह्मैव कार्यं कारणं चेति ब्रह्मोपादानं जगत्' --श्रीभा०१।१।१

३ ' --- कारणावस्थायामात्मतयावस्थितः परमात्मैव कार्यरूपेण विक्रियमाणद्रव्यस्याप्यात्मतयावस्थाय तद्रूपमभवदित्युच्यते।'

— श्री भा० १।४।२७

सम्बन्ध होने पर भी दोनों में स्पष्ट अन्तर होता है और शरीर के दोषों और अपूर्णताओं से आत्मा संस्पृष्ट नहीं होती; इसी प्रकार चित् और अचित् अर्थात् जीव और जडगत दोषों से उनका आत्मभूत शरीरी ब्रह्म भी दूषित नहीं होता । इस भांति अपने चिदचिदंशवस्तुरूप शरीर में होने वाली परिणमन-प्रक्रिया के द्वारा ब्रह्म का जगद्रूप परिणाम होता है तथा शरीरी और सर्वात्मभूत अन्तर्यामी के रूप में वह चिदंशगत अपुरुषार्थ और अचिदंशगत विकारों से अतीत और असम्पृक्त रहता है[1] ।

वल्लभ की स्वीकृत प्रक्रिया रामानुज से भिन्न तथा भास्कर के समान है । दोनों ही चित्-अचित् को ब्रह्म का शरीर न मान कर स्वरूपाभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं, और प्रलयावस्था में ब्रह्म उन्हें समालिंगित न रखकर स्वयं में विलीन कर लेता है । भास्कर और वल्लभ दोनों ब्रह्म का साक्षात्परिणाम स्वीकार करते हैं, किन्तु साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि अपने विश्वरूपपरिणाम से वह निश्शेष नहीं हो जाता, अपितु अपने विश्वात्मक रूप से अतिरिक्त, अतीत और अपरिच्छिन्न भी रहता है । यह कूटस्थ और अविकारी ब्रह्म ही आराध्य और उपास्य है । ब्रह्म अपने कार्यरूप जगत् से परिच्छिन्न नहीं है, अपितु जगत् ही ब्रह्म से परिच्छिन्न और नियमित है । इसका कारण यह है कार्य-भूत जगत् की अपने कारण ब्रह्म से निरपेक्ष[2] कोई सत्ता नहीं है, जब कि ब्रह्म अपनी सत्ता और सत्यता के लिए जगत् की अपेक्षा नहीं रखता । अचिन्त्यसामर्थ्यशाली होने के कारण ब्रह्म परिणत होते हुए भी अविकारी है । इस प्रकार वल्लभ रामानुज की अपेक्षा भास्कर के अधिक निकट हैं । यों वल्लभ ब्रह्म का मूलस्वरूप 'पुरुषोत्तम' को स्वीकार करते हैं, जो कूटस्थ, सर्वातीत और 'रसात्मकलीलामात्रैककार्य' हैं; और सृष्टि के कारणरूप से 'अक्षर' नामक ब्रह्म की एक अवर अभिव्यक्ति का प्रतिपादन करते हैं, जो प्रकृतिपुरुषसमष्टिरूप है : किन्तु अक्षर और पुरुषोत्तम में जो अन्तर है वह नाममात्र का ही है, और उतना और वैसा नहीं है, जितना रामानुज के चिदचित् तथा अन्तर्यामी ब्रह्म में है । अक्षर ब्रह्म की ही एक स्वरूपाभिव्यक्ति है, अतः ब्रह्म-परिणाम को सद्वारक नहीं, अपितु साक्षात् ही स्वीकार करना होगा ।

इन कुछ परिवर्तनों के साथ भास्कर, रामानुज और वल्लभ की स्वीकृत परिणामसिद्धान्तों

---

१ श्रीभा० १।४।२७

२ (क) "भोक्तृभोग्यनियन्तृरूपस्य प्रपंचस्य ब्रह्मात्मता, न प्रपंचरूपता ब्रह्मणः" --भा०भा०३।२।१३

(ख) "विश्वेन न भगवानावृतः परिच्छिन्नः किन्तु विश्वमेव तेन आवृतं परिच्छिन्नम्" ।
--सुबो०२।६।१५

(ग) "ब्रह्म कारणं जगत्कार्यमिति स्थितम् । तत्र कार्यधर्मा यथा कारणे न गच्छन्ति तथा कारणा-साधारणधर्मा अपि कार्ये । तत्रापहतपाप्मत्वादयः कारणधर्मास्ते यत्र भवन्ति तद्ब्रह्मेत्येवाव-गन्तव्यम् ।" — अणुभा० १।१।१६

की सामान्य रूपरेखा एक जैसी ही है । यद्यपि शंकर और वास्तविक परिणामवादी आचार्य-- दोनों ही सत्कार्यवाद स्वीकार करते हैं, तथापि वास्तविक परिणामवादी आचार्यों का सत्कार्यवाद शंकर के अद्वैत की अपेक्षा सांख्य के अधिक समीप है । परिणामवाद की विशेषता है कि यह कार्य को भी कारण जितना ही सत्य स्वीकार करता है । यद्यपि यह सत्यता कारण से स्वतंत्र नहीं होती, क्योंकि कार्य कारण की ही विकृति या अवस्थान्तरापत्ति है, तथापि कारण और कार्य दोनों का ही यह आत्यन्तिक सत्त्व इस शांकरीयमत का निषेध करता है कि श्रुति में प्रतिपादित कार्यकारणप्रक्रिया 'आत्मैकत्व' में बुद्धि प्रतिपादित करने के लिए ही है, कार्यसत्यत्व की सिद्धि के लिए नहीं । परिणामवाद की यह विशिष्टता है कि वह आत्मतत्त्व के साथ-साथ उसकी अभिव्यक्तिरूप वैश्व पदार्थों की सत्यता भी प्रतिपादित करता है, क्योंकि परिणामस्वरूपत: विवर्त न होकर विकार है तथा अनेकत्व में अनुस्यूत एकत्व का सिद्धान्त है[1] ।

इस प्रकार सृष्टि के ब्रह्मात्मक होने के कारण उसे मिथ्या और अनित्य नहीं माना जा सकता । यदि सृष्टि ~~सृष्टि~~ ब्रह्म का आभास, प्रतिबिम्ब या मायाजन्य-भ्रम होती तो उसे मिथ्या या भ्रमात्मक स्वीकार किया जा सकता था; किन्तु जब वह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम ही है, तब उसे मिथ्या स्वीकार करने का प्रश्न ही नहीं उठता, इसलिये वल्लभ ने शंकर के मायावाद की तीव्र भर्त्सना की है । शंकर के अनुसार अविद्या ही समस्त प्रमाणप्रमेय व्यवहार तथा शास्त्रप्रवृत्ति का हेतु है । यह सृष्टि-प्रत्यय भी आविद्यक है । सृष्टि की सत्ता व्यावहारिक स्तर पर ही है; यह प्रातिभासिक स्वप्न की अपेक्षा सत्य होते हुए भी परमार्थसत्य नहीं है । जब तक कारकपदार्थों का समर्थक्रियाकारित्व अनुभव होता है, और नामरूपोपाधि से भिन्न ब्रह्मस्वरूप अधिगत नहीं होता, तभी तक कार्य का भी सत्यत्व होता है; किन्तु है यह नितान्त व्यावहारिकस्तर पर ही । जिस प्रकार अनिश्चितस्वरूपवाली रज्जु में सर्पादिविकल्प होते हैं, उसी प्रकार अनिर्धारितस्वरूप ब्रह्म में भी नामरूपात्मक जगत् की कल्पना होती है और स्वरूपनिश्चय होने पर इसका बाध भी हो जाता है[2] । इस तरह प्रतीयमानस्वरूप होने के कारण वस्तुत: इस नाम रूपात्मक जगत् का उत्पत्ति-स्थिति-भंग कुछ भी नहीं होता । अज और अद्वय

---

१ पी०एन० श्रीनिवासाचारी : 'द फिलासफी आफ भेदाभेद', पृ०३१,४०, ४४ इत्यादि ।

२ 'अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पित: ॥
निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चय : ॥'
--गौ० का० १७।१८

ब्रह्म का अपने स्वरूप में विकल्प्यमान नामरूपात्मक जगत् रूप से जो अवभास है,वही उसका `माययाजन्म`[1] कहलाता है ।

वल्लभ ने शंकर के इस मायावाद का प्रबल विरोध किया है । उनके मत में शुद्ध अर्थात् मायोपाधिरहित ब्रह्म ही सृष्टि का कारण है । माया प्रपंच के निर्माण में करणभूता अवश्य है, किन्तु इस आधार पर सृष्टि को मायिक नहीं कहा जा सकता ,क्योंकि माया ब्रह्म की शक्ति है तथा उससे अभिन्न है । शुद्ध ब्रह्म ही अपनी कार्यकरणसामर्थ्यरूप माया शक्ति से इस अचिन्त्यरचनात्मक सृष्टि की रचना करता है, अत: सृष्टि को भ्रमात्मक कहना सर्वथा असमीचीन है ।

श्रुति साक्षात् ब्रह्म में ही जगत्कारणत्व का कथन करती है । जहां कहीं कर्तृत्व का निषेध है वह लौकिक कर्तृत्व का ही है; अलौकिक कर्तृत्व तो श्रुति को स्वयं ही अभिप्रेत है । उपक्रमोपसंहारपूर्वक जो विशुद्ध ब्रह्मप्रकरण हैं, उनमें मायावाचक पद का अभाव होने से तथा ईश्वरकर्तृत्वप्रख्यापक वाक्यों से --`जगत् का कारण शबल ब्रह्म है`-- इस मत का विरोध होता है ।

पुराणों में `विद्धिमायामनोमयम्` इत्यादि से सृष्टि का जो मायिकत्व कहा गया है,[2] वह मात्र वैराग्यसिद्धि के लिए है । पुराण तो मित्रसंमित होते हैं; लोकरीति से ज्ञान कराते हुए जगत् को मायिक कह देते हैं । उनका प्रयोजन केवल आसक्तिनिवृत्ति है । जिस प्रकार `प्रियं यथा विषं भुङ्क्ष्व , माचास्यगृहे भुङ्क्था:` में तात्पर्य वस्तुत: विषभोजन में नहीं, अपितु सर्वथा भोजनाभाव में है, उसी प्रकार[3] जगत् को मायामात्र कहने का प्रयोजन आसक्तिनिवृत्ति है, न कि उसका मायिकत्वप्रख्यापन ।

और फिर सृष्टि को मायिक मानने पर समस्त लौकिकवैदिक व्यवहार की अर्थवत्ता ही लांछित हो जाती है; शास्त्रप्रवृत्ति और मुक्त्यर्थ प्रयत्न भी निष्प्रयोजन हो जाते हैं । ऐसी दशा में प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनों मार्ग तथा पूर्वोत्तरकाण्ड भी व्यर्थ ही हैं ।

वल्लभ का कहना है कि यदि जगत् का मायिकत्व अभिप्रेत होता तो काण्डद्वय के मध्य कहीं तो कहा जाता, किन्तु जितनी भी दृश्यमान् श्रुतियां हैं, अर्थात् सम्प्रति जो ग्यारह शाखाएं

---

१ `सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादे: सर्पादिवन्मायया जन्म युज्यते । न तु तत्वतो यथा,तथा ग्राह्यस्यापि सत स्वात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते । न तु तत्वत स्वाजस्य आत्मनो जन्म ।` -- शां०मा०गौ० का ३।२७

२ `मायिकत्वं पुराणेषु वैराग्यार्थमुदीर्यते ` । -- त०दी०नि० १।६०

३ `पुराणं तु मित्रसंमितमिति लोकरीत्या प्रबोधयत् कदाचिन्मायिकत्वं बोधयतीत्याह मायिकत्वं पुराणेष्विति । आसक्तिनिवृत्त्यर्थं तथा बोध्यते ।`

--त०दी०नि० १।६० प्रकाश

प्रचलित हैं, उनमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं है । सामशाखा के उत्तरकाण्ड में वाचारम्भण श्रुति है,वह भी ब्रह्म और जगत् के अनन्यत्व का ही कथन करती है : सृष्टि का मिथ्यात्वकथन उसका प्रयोजन नहीं है । `कतम: स आदेश:`-- इस प्रश्न पर `यथैकेनमृत्पिण्डेन` से `सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति` कही गई है । सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति वहां होती है, जहां किसी एक ही जातिगत वैशिष्ट्य के आधार पर उस जाति के समस्त पदार्थों का एक ही साथ बोध कराया जाता है । मृत्तिका के ज्ञान से समस्त मृण्मय पदार्थों का ज्ञान सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्ति के आधार पर ही होता है । दृष्टान्त में कारणमृत्तिका तथा कार्य मृण्मय पदार्थ दोनों ही प्रत्यक्षसिद्ध हैं, इसके विपरीत दार्ष्टान्तिक में कार्यजगत् प्रत्यक्षसिद्ध और कारण ब्रह्म श्रुतिसिद्ध है ।यहां कारणता-प्रकार अनुमेय ही है । यह कारणता-प्रकार अभेदरूप का ही होना चाहिए, नहीं तो एकविज्ञान से सर्वविज्ञान की उपपत्ति नहीं हो सकती,क्योंकि कार्य तो अनन्त और असंख्य हैं और प्रत्येक का स्वतन्त्र ज्ञान सम्भव नहीं है । यह अभेदज्ञान ही वाचारम्भण श्रुति का प्रतिपाद्य है । इसमें जगत् के मिथ्यात्व का प्रतिपादन नहीं किया गया है, अन्यथा मृत्तिका के स्थान पर शुक्ति-रजत का दृष्टान्त दिया गया होता; और फिर भ्रमों[1] के अनन्त और अनियत रूप होने के कारण उनमें सामान्यलक्षणा प्रत्यासत्ति भी सम्भव नहीं है ।

वल्लभ के अनुसार `वेदान्तवाक्य दो प्रकार से सृष्टि-बोध कराते हैं-- कहीं कार्यांश को समादृत कर और कहीं कार्यांश को अनादृत कर । `एकोऽहं बहुस्याम्` तथा `प्रजायेय` श्रुतियों के द्वारा कार्यरूपजगत् का भगवद्रूपत्व और सत्यत्व सिद्ध किया गया है : अथवा, कहीं-कहीं `विकार वाणीमात्र में स्थित हैं`-- इस प्रकार कार्यांश को अनादृत कर, वस्तुस्वरूप से विचार करते हुए `जगत् सत् मात्र है` ऐसा भी प्रतिपादित किया गया है । कार्यभाव को अनादृत करने वाले पक्ष में भी कोई दोष नहीं है। जिस प्रकार सुवर्ण की इच्छा रखने वाला व्यक्ति स्वर्ण-आभूषणों को सुवर्णरूप से ही ग्रहण करता है, कटक,कुण्डल रूप से नहीं; उसी प्रकार वस्तुस्वरूप से विचार करते हुए अधिकारी को जब अखण्ड अद्वैत का बोध होता है,तो वह समस्त जगत् को ब्रह्मरूप से ही ग्रहण करता है तथा अवान्तरविकल्पविषयिणी बुद्धि नष्ट हो जाती है । यह ज्ञातव्य है कि यह विकल्पबुद्धि ही नष्ट होती है, विकल्प नहीं,

---

१ `नास्तिश्रुतिषु तद्वार्ता दृश्यमानासु कुत्रचित् ।
वाचारम्भणवाक्यानि तदनन्यत्वबोधनात्।
न मिथ्यात्वाय कल्पन्ते जगतो व्यासगौरवात् ।।`-- त०दी०नि०१।८५

`अत्रोपक्रमे,कतम: स आदेश इति प्रश्ने यथैकेन मृत्पिण्डेनेत्यादिदृष्टान्तै: सामान्यलक्षणाप्रत्यासत्तिरेव निरूपिता ---- -- तस्माद्वाचारम्भणवाक्यानि जगतो मिथ्यात्वाय न कल्पन्ते ।`

१।८५ `प्रकाश`

अर्थात् स्वरूपत: घट पट आदि नष्ट नहीं होते, उनका ज्ञान घट पट[1] रूप से नहीं, अपितु ब्रह्मरूप से होने लगता है, बस! इस प्रकार यह सृष्टि मिथ्या कदापि नहीं है ।

वल्लभ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मायावाद तो प्रतारणाशास्त्र है । सर्वेश्वर, सर्वकर्ता और सर्वकारणकारणरूप से जो सबका उपास्य है, यह उसी की माहात्म्य-हानि करता है । असद्-[2] भावना से स्वयं अपनी ही बुद्धि का नाश होता है, अत: यह भगवद्भक्तों द्वारा सर्वथा उपेक्ष्य है ।

अब तक विवेचित वल्लभ के सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में यह सहज ही अनुमेय है कि वे सृष्टि को सत्य मानते हैं । अब यह देखना शेष है कि यह सत्यता किस रूप की है ।

वल्लभ सत्कार्यवाद के समर्थक हैं । उनका सत्कार्यवाद शांकर अद्वैत के सत्कार्यवाद की अपेक्षा सांख्याभिमत सत् कार्यवाद के अधिक निकट है । वे यह स्वीकार करते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में सत्-रूप से वर्तमान रहता है तथा उत्पत्ति और विनाश ,आविर्भाव और तिरोभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं । अन्तर इतना है कि सांख्य मूलकारण के रूप में प्रकृति को स्वीकार करता है तथा श्रुति-सूत्रपरम्परा के अनुयायी वल्लभ तथा अन्य आचार्य ब्रह्म को ।सांख्य में अचेतन प्रकृति के पुरुष से संसृष्ट हो, चेतनवत् होकर परिणमित होने की लम्बी प्रक्रिया है,जब कि ब्रह्म को मूलकारण स्वीकार करने वाले वल्लभ के मत में चेतन ब्रह्म ही साक्षात्परिणमित होता है । त्रिगुणात्मिका प्रकृति को वे भी स्वीकार करते हैं,किन्तु ब्रह्म की अनेक शक्तियों में से एक मान-कर । जहां तक सृष्टि-प्रक्रिया और कार्य तथा कारण की सापेक्ष स्थिति का सम्बन्ध है,वह सांख्य की ही भांति है ।

---

१ द्रष्टव्य-- १।६१,६२ पर 'प्रकाश'

(क) " द्वेधा हि वेदान्तानां बोधनप्रकार: ------- सर्वत्र ब्रह्मैवेति । न तु स्वरूपतोऽपि घटादिपदार्थोऽपि धर्मी बाध्यत इत्यर्थ:"

(ख) " --------- यथा बहुसुवर्णापेक्षायां तत्कार्याणि कटककुण्डलघटशरावादीन्यानीयैता-वादिदं सुवर्णमिति सुवर्णत्वेनैव तानि गृह्यन्ते, 'न तु कटकादिरूपेणेति विकल्पबुद्धेरेव बाधो, न तु स्वरूपस्यापीति तादृशमानातुरोधेनाऽपि न मिथ्यात्वं प्रपंचस्य सिद्ध्यती-तिभाव: " । -- त०दी०नि० १।६१,६२ पर आ०भं०

२ "एवं प्रतारणाशास्त्रं सर्वमाहात्म्यनाशकम् ।
उपेक्ष्यं भगवद्भक्तै: श्रुतिस्मृतिविरोधत:।।"
--त०दी०नि० १।८२

सृष्टि के पूर्व यह समस्त कार्यजात सूक्ष्मावस्था या कारणावस्था में ब्रह्म में वर्त्तमान था; और उसकी इच्छा होने पर इन विविधरूपों में प्रकट हुआ[१]। विशुद्धाद्वैतमत में शुद्ध ब्रह्म ही कार्य और कारणरूप है--`कार्यकारणरूपं हि शुद्धं ब्रह्म न मायिकम्` (शुद्धाद्वैतमार्तण्ड,श्लो०२४) -- अत: कार्यजात के भी ब्रह्मरूप होने से सृष्टि सत्य और नित्य है। `स आत्मानं स्वयमकुरुत`; `ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्`; `आत्मकृते: परिणामात्` इत्यादि श्रुतिसूत्रों के आधार पर सृष्टि ब्रह्मात्मक सिद्ध होती है; इसलिये प्रपंच में जो नाशोत्पत्ति की प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिजन्य है। आविर्भाव-तिरोभाव-युक्त होने के कारण जगत् नित्य है। जगत् का यह आविर्भाव-तिरोभाव ही सामान्यतया उत्पत्ति और नाश शब्दों से कहा जाता है, किन्तु वास्तविकता तो यह है कि किसी भी वस्तु की उत्पत्ति और विनाश नहीं होता,अपितु भगवदिच्छा से आविर्भाव और तिरोभाव मात्र होता है।

आविर्भाव और तिरोभाव को वल्लभ ब्रह्म की शक्तियाँ स्वीकार करते हैं[२]। आविर्भाव और तिरोभाव की वे दो प्रकार से व्याख्या करते हैं-- शक्तिरूप से और धर्मरूप से। शक्तिपक्ष में, कारण में अन्त:स्थित कार्य को प्रकट करने वाली निमित्तगत अथवा उपादानगत जो शक्ति है, वह आविर्भावशब्द वाच्य है; धर्मपक्ष में, कार्यगत जो आविर्भवनरूपधर्म है, वह `आविर्भाव` शब्द का अभिधेय है। इसप्रकार आविर्भाव को कारणगत शक्ति अथवा कार्यगत धर्म माना जा सकता है। तिरोभाव को भी इसी तरह कारणगतशक्ति या कार्यगत धर्म के रूप में स्वीकार किया जाना चाहिए[३]। दोनों ही रूपों में आविर्भाव और तिरोभाव ब्रह्म की शक्तियाँ हैं। आविर्भाव और तिरोभावात्मिका यह शक्ति, चाहे कारणगत हो चाहे कार्यगत, सदैव भगवत्त्व के साथ ही अन्वित होती है।

---

१ `यत्र येन यतो यस्मै यस्य यद् यथा यदा।
स्यादिदं भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वर: ।।` -- त०दी०नि० १।७०

२ `आविर्भावतिरोभावौ शक्ती वै मुरवैरिण:` -- त०दी०नि० २।१३८

३ (क) `आवि: प्रकटं भावयतीत्याविर्भाव: ।आविर्भवनं वा धर्म:। तथा तिरोभवनम्। एते भगवत: शक्ती अनन्तशक्तित्वाद्भगवत:।` --त०दी०नि० २।१३८--`प्रकाश`

(ख) `आवि: प्रकटम्भावयति कारणान्त:स्थं कार्यं बहि: प्रकटीकरोति या शक्तिर्निमित्तगतौपादानगता च सा आविर्भावशब्दवाच्येत्यर्थ:। सत्कार्यवादे शक्तस्य शक्यकरणांगीकारात् सा कारणगता। आविर्भावनं वा धर्म इति। प्राकट्यरूपो धर्म: कार्यगत: स आविर्भाव इत्यर्थ:। तथा तिरोभवनम्। --- एतौ शक्तित्वेन धर्मत्वेन च व्यवस्थाप्यमाना उक्ताश्चत्वारोऽपि भगवच्छक्तिइच्छाऽवान्तरभेदरूपत्वाद्भगवत: शक्ती इत्यर्थ:।`

-- त०दी०नि०२।१३८ आ०भं०

अत: कारणरूप मृदादि तथा उससे उत्पन्न कार्यरूप घटादि ब्रह्मरूप ही हैं[१]।

जगत् की वस्तुओं में परस्पर जो भेदप्रतीति होती है,वह भी वास्तविक नहीं,अपितु प्रातीतिक ही है । उनमें अभिव्यक्ति-भेद ही है, तात्त्विक भेद नहीं; कटक और कुण्डल में सर्वथा भेद नहीं हो सकता,क्योंकि दोनों का उपादान एक ही है । इसी प्रकार सृष्टि के समस्त पदार्थों का भी उपादान ब्रह्म होने से उनमें तत्त्वत: कोई भेद नहीं है । वस्तुत: भेद जगत् में नहीं, जीवबुद्धि में होता है । इस प्रकार सृष्टि की अखण्ड ब्रह्मरूपता सिद्ध होती है ।

इस विषय में भास्कर और रामानुज का भी मत यही है । दोनों ही सत्कार्यवाद के पोषक हैं और यह स्वीकार करते हैं कि कार्य कारण की ही विशिष्ट अभिव्यक्ति है । यह समस्त कार्यजात उत्पत्ति से पूर्व ब्रह्म में सूक्ष्मरूप से वर्तमान थे, और प्रलयवेला में उसमें ही विलीन हो जायेगा। कार्यभूत सृष्टि ब्रह्मात्मक होने से सत्य और नित्य है । रामानुज,भास्कर और वल्लभ तीनों ही जगत् को ब्रह्म का वास्तविक परिणाम स्वीकार करते हुए उसे सत् और ब्रह्मरूप स्वीकार करते हैं । सूत्रकार ने 'तदनन्यत्वमारम्भणशब्दादिभ्य: (वे०सू०२।१।१४) से इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है । सूत्र का प्रयोजन कार्य का कारण से अभिन्नत्व प्रतिपादित करना है, मिथ्यात्व नहीं[२]।

यहां यह बात विशेष महत्त्व की है कि सृष्टि की सत्ता व सत्यता ब्रह्म से स्वतन्त्र नहीं है । सृष्टि सृष्टि-रूप से नहीं,अपितु ब्रह्मरूप से ही सत्य है, और ब्रह्म से भिन्न उसका कोई अस्तित्व नहीं है[३]। वाल्लभमत में सत्य होने की प्रथम और अन्तिम अपेक्षा ब्रह्मात्मक होना है: जो कुछ भी सत् है, ब्रह्मात्मक होकर ही सत् है । इस तथ्य पर बल देते हुए वल्लभ कहते हैं कि वस्तुत: तो सब कुछ ईश्वर ही है, जीव जड़बुद्धि तो गौण और आविद्यक है[४]।

कारण और कार्य के अनन्यत्व, तथा कार्य की कारणाधीन सत्ता पर प्रकाश डालते हुए

---

१ "---- तत: सामर्थ्यं भगवत्त्वेन संगच्छते । अतो मृदादिकं भगवद्रूपमेव । घटादिकार्यं च तत्रैव लीनं तिष्ठति । तदपि भगवद्रूपं प्रपञ्चस्थानीयम्" । -- त०दी०नि० २।१४०

२ "आरम्भणशब्दादिभ्य: तदनन्यत्वं प्रतीयते । कार्यस्य कारणानन्यत्वं न मिथ्यात्वम् ---" --अणुभा० २।१।१४

३ "कारणगतमेव सत्यत्वं प्रपञ्चे भासते इति वाच्यम्"--अणुभा०१।१।२

४(क) "वस्तुतस्तु सर्वो भगवानेव न जीवो नापि जड:,प्रतीतिस्त्वाविद्यकी" ।

श्रीमद्भा० --सुबो०१।३।३३-श्रीमद्भा०

(ख) "स्वं प्रपञ्चे जड़बुद्धिर्भ्रान्त्या भगवद्बुद्धिर्मुख्या ।" --सुबो०१।३।३२-श्रीमद्भा०

भाष्यप्रकाशकार श्री पुरुषोत्तम लिखते हैं कि यदि विकार का वाङ्०मात्रत्व ही अभिप्रेत होता ,तो 'वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकेव सत्यम्' इतना कहने से ही मिथ्यात्व सिद्ध हो जाता 'नामधेयम्' पद की क्या आवश्यकता थी ? अत: श्रुति का तात्पर्य है कि वागारब्ध विकार कारण का ही नामधेय है । कारण ही तत्तत् अर्थ और क्रिया की सिद्धि के लिये 'तत्तत्' नाम से व्यवहृत होता है । इस भांति कार्य कारण से अभिन्न है; अपने स्वतंत्ररूप से कारण से भिन्न उसकी कोई सत्ता नहीं है । यही बात 'मृत्तिकेत्येवसत्यम्' से कही गई है । कार्य कारणरूप से सत्य होने के कारण मिथ्या नहीं हो सकता : कार्य का असत्यत्व होने पर ब्रह्म का कारणत्व किसकी अपेक्षा से होगा? और इस स्थिति में 'यतो वा इमानि -- -' आदि समस्त श्रुतियां भी व्यर्थ हो जायेंगी[1] ।

इस प्रकार वल्लभ के अनुसार सृष्टि सत्य तो है, किन्तु ब्रह्म की अभिव्यक्ति होने के कारण । ब्रह्म से स्वतंत्र द्रव्यान्तर रूप से उसका सत्यत्व नहीं है । इस विषय में रामानुज और भास्कर का वल्लभ से मतैक्य है ।

इस सन्दर्भ में यह विचारणीय है कि यद्यपि शंकर और वल्लभ की सृष्टिसम्बन्धी मान्यताओं में बहुत बड़ा अन्तर है, तथापि सृष्टि और ब्रह्म की सापेक्ष स्थिति पर शंकर जो कुछ कहते हैं, वह लगभग वल्लभ के समान ही है । शंकर जिस समय सृष्टि के सत्यत्व का निषेध कर रहे होते हैं, तब वे इस स्वतंत्र सत्ता के अभाव की ही बात कर रहे होते हैं । शंकर और वल्लभ दोनों ही जगत् और ब्रह्म का अनन्यत्व प्रतिपादित करते हैं, तथा जगत् के ब्रह्मभिन्न स्वतंत्र अस्तित्व का निषेध करते हैं । वस्तुत: इस बिन्दु पर दोनों बहुत समीप आ जाते हैं और दोनों के बीच बहुत सूक्ष्म अन्तर रह जाता है ।

शंकर ने जो द्वैत का मिथ्यात्व और ज्ञानबाध्यत्व कहा है, वह द्वैत को ब्रह्म से भिन्न वस्त्वन्तर मान कर नहीं, अपितु परमार्थत: अभिन्न मान कर ही कहा है । नैयायिक सृष्टि को आत्मा से भिन्न,उत्पत्ति के पूर्व और विनाश के पश्चात् जिस दृष्टि से असत् मानते हैं,उससे शंकराभिमत

---

१ '------ तथा च यदि विकारे वाङ्०मात्रतामभिप्रेयाद् वाचारम्भणं विकारो मृत्तिकेव सत्यमित्येव वदेत् । तावतैव कार्यस्य मिथ्यात्वसिद्धे: । वदतित्वेवम् । ---वागारब्धं कारणस्यैव नामधेयम् । कारणमेवहि तत्तदर्थक्रियासिद्ध्यर्थं तेन तेन नाम्ना व्यवह्रियते इति कारणादभिन्नमेव कार्यं, नतु स्वेन रूपेण कारणाद् भिन्नम् । तदाह मृत्तिकेत्येव सत्यमिति । कारणरूपेणैव सत्यम्---' ।

--अणुभा० २।१।१४ पर भा०प्र०

असत्ता अत्यन्त भिन्न है । उनके अनुसार सत् से भिन्न किसी पदार्थ की कल्पना भी असम्भव है; सत् ही नाना विकल्पों के रूप में भासित और अभिहित होता है[१] । इसी आधार पर वे शून्यवादी बौद्धों का भी खण्डन करते हैं,तथा सर्वशून्यता का निराकरण करते हुए कहते हैं कि यदि शून्यवादी समस्त प्रमाणप्रमेयव्यवहार--विषयता से युक्त जगत् का मिथ्यात्व कहता है, तो उसे समस्त वस्तुजात का विकल्पत्व कहते हुए समस्त विकल्पों का विकल्पास्पद[२] परमार्थतत्त्व भी स्वीकार करना चाहिए अन्यथा सर्वशून्यता-दुराग्रह ही छोड़ देना चाहिए । शंकर दृष्टार्थ का वैसा अपलाप नहीं करते, जैसा महावैनाशिकमत में किया गया है । यद्यपि शंकर जगत् की पारमार्थिक सत्ता स्वीकार नहीं करते, तथापि व्यावहारिक स्तर पर यह जगत् असत् नहीं है ।तत्त्वज्ञान से पूर्व यथादृष्ट समस्त लौकिक-वैदिक व्यवहार इष्ट है । वे पृथिवी इत्यादि का तदनन्यत्व न्याय से ब्रह्मकार्यत्व और ब्रह्मरूपत्व भी स्वीकार करते हैं ।

शंकर एवं वल्लभ में इस बात पर भी मतैक्य है कि जगत् ब्रह्मरूप से ही सत्य है, और उसकी कोई स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । जगत् की ब्रह्म से अनन्यता तथा स्वतंत्र अस्तित्व के प्रश्न पर शंकर और वल्लभ में ऐकमत्य है, यहां तक कि कभी-कभी लगता है कि दोनों एक ही मत का प्रतिपादन कर रहे हैं; किन्तु जगत् के वैयक्तिक स्वरूप के प्रश्न पर दोनों पुन: अलग हो जाते हैं । इसके दो मुख्य कारण हैं--जगत् का विकल्पत्व और व्यावहारिकत्व ।

जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है कि शंकर की ब्रह्मवस्तु सम्बन्धी धारणा ही ऐसी नहीं है कि उसमें वास्तविक परिणाम के लिए अवकाश हो । जगत् ब्रह्म का वास्तविक परिणाम नहीं, अपितु उसमें कल्पित एक विकल्प मात्र है । विकल्प विकल्पास्पद से अनन्य होता है: इस दृष्टि से भले ही सृष्टिरूप विकल्प ब्रह्मात्मक हो ,किन्तु उसकी यह ब्रह्मात्मकता भी एक विकल्प ही है । शंकर स्पष्ट शब्दों में कहते हैं[३] कि प्रपंच तो एक मायिक द्वैत मात्र है, वस्तुत: न तो इसका अस्तित्व है और न ही जन्मस्थिति भंग : किन्तु फिर भी शांकरभाष्य का अधिकांश भाग इस मिथ्यासृष्टि की चर्चा से व्याप्त है,क्योंकि वे इसे व्यावहारिक स्तर पर सत्य मानते हैं, और[२] ब्रह्मज्ञान से पूर्व समस्त लौकिक-

---

१ "---- यथा सतोऽन्यद्वस्त्वन्तरं परिकल्प्य पुनस्तस्यैव प्रागुत्पत्ते: प्रध्वंसाच्चोर्ध्वमसत्त्वं ब्रुवते तार्किका: न तथाऽस्माभि: कदाचित् क्वचिदपि सतोऽन्यदभिधानमभिधेयं वा वस्तु परिकल्प्यते । सदेव तु सर्वमभिधानमभिधीयते च यदन्यबुद्ध्या ---" । -- शां०भा० ६।१।३

२ "न ह्ययं सर्वप्रमाणप्रसिद्धो लोकव्यवहारोऽन्यत्तत्त्वमनधिगम्य शक्यतेऽपह्नोतुम् । अपवादाभावे उत्सर्गप्रसिद्धे: ।" --शां०भा० २।२।३१

३ "रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु सविद्यते । विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशय: । --- इदं प्रपंचाख्यं मायामात्रं द्वैतम्, रज्जुवन्मायाविकल्पाद्वैतं परमार्थत: । तस्मान्न कश्चित् प्रपंच: प्रवृत्तो निवृत्तो वाऽस्तीत्यभिप्राय: ।" -- शां०भा० मां०का० १।१७

वैदिक क्रिया-कलापों का आश्रय और साधन स्वीकार करते हैं ।

वल्लभ तथा भास्कर, रामानुजादि अन्यान्य दार्शनिकों, जो वास्तविक अर्थ में जगत् और ब्रह्म का कार्यकारणभाव स्वीकार करते हैं, की स्थिति इससे बहुत भिन्न है । उनके पास व्यावहारिक और पारमार्थिक जैसे विचारणा के दो स्तर नहीं हैं और न ही स्थिति सापेक्ष द्विविध दृष्टियां और शब्दावलियां हैं । उनके अनुसार परमार्थ और व्यवहार में जो अन्तर है, वह सत्यत्व और मिथ्यात्व का नहीं, अपितु सत्य की अभिव्यक्ति का है । वल्लभ के लिये सृष्टि प्रत्येक स्तर पर सत्य है तथा उसका जन्म-स्थिति-भंग वास्तविक प्रक्रियाएं हैं ।

दूसरा अन्तर यह है कि वल्लभ सृष्टि को ब्रह्म में कल्पित विकल्प नहीं, अपितु उसकी वास्तविक अभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं । ब्रह्म और जगत् में जो भेद है, वह अवस्था भेद है । द्वैत मिथ्या और मायिक नहीं, अपितु अद्वयता का ही एक पार्श्व है । अपनी अचिन्त्यानन्त शक्तियों के माध्यम से ब्रह्म तथ्यत: ही परिणमित होता है । इस विषय पर परिणामवाद के सन्दर्भ में विस्तृत विचार किया जा चुका है । इसी कारण `अनन्यता` का अर्थ भी बदल जाता है; बिम्ब और प्रतिबिम्ब की, तथा सुवर्ण और कुण्डल की अनन्यता में जो अन्तर है, वही शंकर और वल्लभ द्वारा स्वीकृत अनन्यता में है । वल्लभ सृष्टि और ब्रह्म की एकात्मता को `विकल्प` नहीं अपितु `चरमसत्य` स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार `अनन्यता` का अर्थ सृष्टि के द्रव्यान्तर होने का निषेध है, द्रव्य होने का नहीं । सृष्टि उतनी ही सत्य है, जितना स्वयं ब्रह्म; जब कि शांकर मत में सृष्टि का अस्तित्व ही अस्तित्वहीन है । दृष्टि का यह अन्तर ही दोनों की मान्यताओं को भिन्न कर देता है ।

वल्लभ के अनुसार श्रुतियों में इस जगत् का जो लय कहा गया है, तथा पुराणों में नित्य, नैमित्तिक तथा प्राकृतिक आदि जो प्रलय-भेद कहे गये हैं, वे सब जगत् के नहीं, अपितु संसार के हैं । संसार के भावनानिष्ठ होने के कारण ये सब भी भावनानिष्ठ हैं तथा मन:शुद्धि के हेतु हैं । इस प्रपंच का लय तभी होता है, जब ब्रह्म आत्मरमण की इच्छा से इसका संवरण कर लेता है; अन्य सभी लय-कथन संसार-विषयक हैं, जगत्-विषयक नहीं ।

आचार्य वल्लभ की दृष्टि में जगत् और संसार दो भिन्न वस्तुएं हैं । जगत् और संसार में एक तरह से आधाराधेय-सम्बन्ध है, जो इन दोनों के तुलनात्मक स्वरूप-विवेचन से स्पष्ट हो जायेगा ।

जगत् अथवा प्रपंच तो उतना ही सत्य है, जितना ब्रह्म, क्योंकि ब्रह्म ही अपने चित् और आनंद अंशों को तिरोभूत कर जगत् रूप से आविर्भूत होता है; किन्तु जब जीव इस ब्रह्मभूत जगत् को ब्रह्म से भिन्न समझकर उसमें वास्तविक द्वैत देखने लगता है, तब यह द्वैतबुद्धि ही उसके संसार का निर्माण करती है । यह संसार अविद्याकार्य है । यह अविद्या पंचपर्वा है : अन्त:करणाध्यास, प्राणाध्यास, इन्द्रियाध्यास, देहाध्यास तथा स्वरूपविस्मरण -- ये इसके पांच पर्व हैं । अविद्या के स्वरूप पर चतुर्थ परिच्छेद में

विस्तृत चर्चा की जा चुकी है । अविद्या का कार्य जीवबुद्धि का व्यामोहन करना है । जीव का व्यामोहन कर अविद्या उसकी बुद्धि में प्रापंचिक सद्वस्तु के सदृश मायिक पदार्थ की सृष्टि कर पुर:स्थित वस्तु में प्रदिप्त कर देती है । पदार्थज्ञान के साथ उसका भी ज्ञान होने से तद्विशिष्ट भ्रमात्मक ज्ञान ही होता है । जीव,जगत् के पदार्थों का वास्तविक स्वरूप अर्थात् ब्रह्मात्मकस्वरूप नहीं देख पाता; वह उन्हें ब्रह्मभिन्न पदार्थों के रूप में देखकर उनमें अहंबुद्धि और ममत्व आरोपित कर लेता है । ये पदार्थ उसके राग और द्वेष का विषय बन जाते हैं । यह विषयासक्ति ही जीव का संसार है । इस प्रकार यह संसार भ्रम अथवा विपर्यास रूप है । यहां इस`विपर्यास` के स्वरूप पर किंचित् विस्तार से विचार करना आवश्यक है ।

यह संसार अविद्याकार्य है । अविद्याग्रस्त व्यक्ति को पदार्थों का वास्तविक ज्ञान नहीं हो पाता । अविद्या जीव का व्यामोहन कर उसकी बुद्धि में प्रापंचिकवस्तुसदृश एक मायिक पदार्थ का निर्माण करती है और जीव को जो ज्ञान होता है, वह एतद्विशिष्ट ही होता है ।

आचार्य वल्लभ ने अणुभाष्य और निबन्ध में तो ख्याति-प्रक्रिया पर कुछ विशेष नहीं कहा, किन्तु भागवत की अपनी टीका`सुबोधिनी` में स्थान-स्थान पर जगत् और संसार का भेद प्रतिपादित करते हुए इस विषय पर पर्याप्त चर्चा की है । वाल्लभसम्प्रदाय के दो परवर्ती विद्वानों श्री पुरुषोत्तम तथा श्री बालकृष्ण भट्ट (जो सम्प्रदाय में लालू भट्ट के नाम से अधिक प्रसिद्ध हैं) ने तृतीय स्कन्ध- सुबोधिनी के आधार पर इस ख्याति-प्रक्रिया को बहुत अच्छी तरह समझाया है ।

व्यक्ति को विषयज्ञान दो प्रकार से होता -- सामान्यज्ञान और विशेषज्ञान ।मन:संयुक्त चक्षुरिन्द्रिय का जब शुक्ति से संयोग होता है, तब व्यक्ति को शुक्ति-पदार्थ का जो ज्ञान होता है, वह सामान्यज्ञान कहलाता है । यह इन्द्रियार्थसंयोगजन्य सामान्यज्ञान भ्रम,संशय आदि सभी प्रकार के विशेषज्ञान का पूर्ववर्ती होता है । इस सामान्यज्ञान के पश्चात् भगवान् की अविद्या-शक्ति तमोगुण का उद्भव कर जीव की बुद्धि का व्यामोहन कर लेती है । तब शुक्ति-पदार्थ का `इयम् शुक्ति:` इस रूप का यथार्थज्ञान नहीं होता । पदार्थ के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान न होने से माया-मोहित बुद्धि रजत-सम्बन्धी संस्कारों के प्राबल्य से तथा चाकचिक्य आदि धर्मों के सादृश्य के आधार पर शुक्ति में रजत का निर्माण कर लेती है । विशेषज्ञान में इस[1] बौद्ध या बुद्धि-स्थित रजत का ही ज्ञान होता है,जिसे बुद्धि अर्थभूत शुक्ति में प्रदिप्त कर देती है । शुक्ति-रजतादि स्थलों में अविद्या के द्वारा बहि:दिप्त बुद्धिवृत्तिरूप ज्ञान ही अर्थरूप से भासित होता है, स्वयं वस्तुभूत अर्थ का

---

१ `तथा च पदार्थयाथात्म्यस्फुरणाभावान्मायामोहिता बुद्धि: रजतसंस्कारप्राबल्याच्चाकचिक्यादि-धर्मसादृश्यमादाय रजतं तत्र निर्मीते । तदिदं बौद्धमेव रजतं बुद्ध्या विषयीक्रियते । `

--`ख्यातिविवेक:`,पृ०३(वादावलि:)

ग्रहण नहीं होता।[1] यहां यह ज्ञातव्य है कि यह विशेषज्ञान बुद्धिकरणक होता है, इन्द्रियकरणक नहीं। सामान्यज्ञान में शुक्ति ही विषयभूत होती है और चक्षुरिन्द्रिय के द्वारा उसका ही ज्ञान होता है। विशेषज्ञान में इन्द्रिय कारण नहीं बनती; विशेषज्ञान बुद्धिकल्पितरजतविषयक होने के कारण बुद्धि के ही द्वारा गृहीत होता है, इन्द्रिय के द्वारा नहीं। इस प्रकार सामान्यज्ञान का विषय अर्थरूप शुक्ति है तथा विशेषज्ञान का विषय शुक्ति में अवकल्पित अनर्थरूप बौद्ध रजत।[2]

तृतीयस्कन्ध के 'अनुमितमन्तरा त्वयि विभाति मृषैकरसः' --इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं --"रजतं तु तदनन्तरं बुद्ध्या जन्यते। विषयीक्रियते। तत्र सा बुद्धिरेव कारणम्। इन्द्रियार्थयोर्मध्ये भाति तन्मृषा" -- इन्द्रिय और उसके विषयभूत अर्थ के मध्य में स्थित इस मायिक-पदार्थ का ज्ञान ही असत्य है, स्वयं विषय असत्य नहीं है। इस प्रकार इन्द्रिय के द्वारा गृह्यमाण विषय शुक्त्यादिरूप पदार्थ से अन्य रजतादि पदार्थ का ज्ञान होने से यह ख्याति 'अन्यख्याति' या 'अन्यथाख्याति' है। बुद्धिवृत्तिरूप यह भ्रमात्मक ज्ञान ही विपर्यास-शब्दवाच्य है।

यह तो दृष्टान्त-कथा हुई, इसे ही दार्ष्टान्तिक पर घटित करते हुए श्री बालकृष्ण भट्ट लिखते हैं कि इन्द्रिय-विषय-सम्बन्ध होने पर सामान्यज्ञान के अनन्तर माया बुद्धि में मायिकपदार्थ का निर्माण कर उसे बुद्धि का विषय बनाती है। यह बौद्ध-ज्ञान भ्रमात्मक है; इस ज्ञान का विषय भी बुद्धिस्थित मायिक पदार्थ ही है। बुद्धि में भासित होने वाले ये प्रापंचिकसद्वस्तुसदृश मायिक पदार्थ ही 'आन्तरालिकी सृष्टि'[3] कहलाते हैं, और इनका ही मिथ्यात्व है। भगवत्कृत प्रापंचिक पदार्थ तो सत्य और वस्तुभूत हैं। जीव को ब्रह्मभूत प्रपंच का ब्रह्मभिन्न रूप से जो ज्ञान होता है, वही अन्यथाख्याति है। अविद्या जीव की बुद्धि में प्रापंचिक पदार्थ के सदृश एक मायिक पदार्थ की सृष्टि कर उसे पुरःस्थित सद्वस्तु पर आरोपित कर देती है, और जीव को वस्तुभूत पदार्थ का ज्ञान न होकर इस मायिक पदार्थ का ज्ञान होता है। अविद्याजन्य यह भ्रमात्मिका बुद्धि ही विषय

---

१ "अतः शुक्तिरजतादिस्थले मायया बहिःक्षिप्तबुद्धिवृत्तिरूपं ज्ञानमेवार्थाकारेण ख्यायत इति मन्तव्यम्"। -- 'ख्यातिवादः', पृ०१२१ (वादावलिः)

२ "अतः सामान्यज्ञाने तु शुक्तिरेव विषयीभूता। तस्या एव सामान्यज्ञानम्। विशेषज्ञानं तु बुद्धिकृतमिति तत्र बौद्धमेव रजतं विषयीभवतीति निष्कर्षः।"

--'ख्यातिविवेकः', पृ०३ (वादावलिः)

३ "अतो ज्ञायते इन्द्रियविषययोः सम्बन्धे सामान्यज्ञानानन्तरं यद्बुद्धौ माया मायिकं पदार्थं निर्माय बुद्धिविषयीकारयति तद्बौद्धं ज्ञानं भ्रमात्मकम्। तद्विषयश्च मायिको बौद्धो घटादिः। अयमेव बुद्धौ भावः पदार्थ आन्तरालिकी सृष्टिरित्युच्यते। तस्यैव मिथ्यात्वम्। न तु भगवत्कृतप्रापंचिकघटपटादेः" --'ख्यातिविवेकः', पृ०५ (वादावलिः)

से सम्बद्ध होने के कारण 'विषयता' कहलाती है । यह विषयता या 'वास्तविकपदार्थसदृशमायिक-सृष्टि' जगत् से भिन्न होते हुए भी जगत्समानाकारा होती है । विषयता अनिवार्यत: जगद्रूपा होती है, किन्तु जगत् स्वयं विषयतारूप[१] नहीं है । विषयभूत जगत् भगवद्रूप और विषयता माया-जन्य है, अत: दोनों परस्पर भिन्न हैं । विषयता के स्वरूप पर चतुर्थ परिच्छेद में अविद्या के अन्तर्गत विचार किया जा चुका है ।

इस मायाजन्य विषयता के कारण पदार्थ अन्यथा न होते हुए भी अन्यथा प्रतीत होते हैं, जैसे चक्कर खाते हुए व्यक्ति को स्थिर घटादिपदार्थ भी घूमते हुए दिखायी देते हैं । घटगत आकृति इत्यादि विषयभूत वस्तु हैं तथा 'भ्रमण' विषयता रूप है; इसी प्रकार विषयभूत जगत् ब्रह्मवस्तुरूप है और[२] उसमें जो जडत्व, कुत्सितत्व, वैषम्य आदि की प्रतीति होती है, वह विषयता-रूप मायिक धर्म हैं ।

अविद्या के कारण जीव को ब्रह्मभूत जगत् का ब्रह्मभिन्न रूप से द्वैतबुद्धिपूर्वक जो अन्यथाज्ञान होता है, वही 'संसार' है । यह संसार मिथ्या और मायिक है । जब विद्या से अविद्या का अप-गम होने पर जगत् का भगवद्रूप से वास्तविक ज्ञान होता है, तब इस मायाकार्य संसार[३] का नाश हो जाता है । इस भांति विषयताजनित ज्ञान भ्रम है और विषयजनित ज्ञान प्रमा ।

उपर्युक्त विवेचन का निष्कर्ष यह है कि संसार अविद्याजन्य भ्रम मात्र है, वास्तविकता नहीं । जगत् में ब्रह्मभिन्न-बुद्धि होने पर जीव जगत् में स्वात्मबुद्धि और स्वीयबुद्धि स्थापित कर लेता है तथा उसे अपनी अहन्ता-ममता का केन्द्र बना लेता है । इसीलिए वल्लभ संसार को अहन्ता-ममतात्मक अथवा आसक्ति रूप भी कहते हैं ।

---

१ "काचिद्विषयता विषयासम्बद्धोऽपि सम्बद्धत्वेन भासमान: कश्चित्पदार्थ: स्वीकर्त्तव्य:" ।

--श्रीमद्भा० २।६।३३ सुबो० पृ०

२(क) "अतो विषये विषयता काचित्स्वीकर्त्तव्या यया दृष्टि: सविषया भवति । अन्यथा पदार्थानां स्थिरत्वाद्भ्रमिदृष्टिर्निर्विषया स्यात् । अतोऽन्यत्रैव सिद्धभ्रमिर्माययया पुन:स्थिते विषये समानीयते ।" -- श्रीमद्भा० २।६।३३ सुबो०

(ख) "विषयतारूपं विकृतं जगत्कृत्वा ब्रह्मरूपे जगति जडमोहात्मकत्वं तुच्छत्वं प्रत्याययते, आत्मरूपेऽनात्मत्वं च प्रत्याययत इत्यर्थ: ।" -- श्रीमद्भा० ३।७।१५ पर सुबोधिनी प्रकाश

३ "विषयता मायाजन्या, विषयो भगवान् । ---- अतो विषयताजनितंज्ञानं भ्रान्तिं, विषय-जनितं प्रमेति ।"

-- श्रीमद्भा० २।६।३३ सुबो०

अविद्या के कारण अन्त:करणाध्यास होने पर जीव में कर्तृत्वादिरूप अहंकार उत्पन्न हो जाता है, जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है--`अहंकारविमूढात्मा कर्ताऽहमिति मन्यते`।कर्तृत्व-भोक्तृत्वाभिमान होने पर वह जागतिक पदार्थों को अपनी अहंता और ममता की परिधि में समेट लेता है और उनसे उत्पन्न होने वाले सुख से सुखी और दु:ख से दु:खी होने लगता है। यह अहंता-ममता रूप संसार ही जीव के बन्धन का कारण है, जगत् नहीं। इस प्रकार वल्लभ के मत से जगत् के पदार्थों का जो अविद्याजन्य भ्रमात्मक ज्ञान जीव को होता है, वही मिथ्या है न कि जगत् जो स्वयं ब्रह्मरूप है।

तत्त्वज्ञान होने पर जागतिक पदार्थों में अहन्ताममताबुद्धिरूप संसार का ही निवारण होता है; जगत् का नहीं। विषयासक्ति का नाश ही विषयनाश के रूप में उपचरित होता है।

अब प्रश्न उठता है कि प्रपंच और संसार की परस्पर सापेक्ष स्थिति क्या है? यदि संसार भी ब्रह्मात्मक है, तो उसमें और जगत् में अन्तर ही क्या है? और, यदि ब्रह्मात्मक न होकर अविद्यात्मक है,तो इस अविद्या की क्या स्थिति है, ब्रह्म भिन्न अथवा ब्रह्माभिन्न ?

इस स्थिति का स्पष्टीकरण देते हुए वल्लभ कहते हैं कि `स वै नैव रेमे, तस्मादेकाकी न रमते, स द्वितीयमैच्छत` इस श्रुति में कहा गया है कि ब्रह्म ही रमणेच्छा से आविर्भूत होता है : और वैचित्र्य के बिना रमण सम्भव नहीं है, अत: ब्रह्म की शक्ति अविद्या के द्वारा जीवसंसार उत्पन्न होता है[1]। इस भांति यह तो सिद्ध हुआ कि अविद्या ब्रह्म से स्वतंत्र नहीं, अपितु उसकी एक शक्ति-मात्र है।

जगत् की भांति संसार को ब्रह्मात्मक नहीं कहा है,क्योंकि भ्रमरूप होने से इसका कोई वास्तविक अस्तित्व नहीं है। जगत् रूप में तो ब्रह्म स्वयं परिणमित होता है,किन्तु उसकी अविद्या नामिका शक्ति से जीव संसार कहा भर जाता है, वस्तुत: होता नहीं[2]। जीव-संसार केवल भावना-निष्ठ है,क्योंकि उसका स्वरूप ही है, अहन्ता-ममतात्मक बुद्धि। जीवबुद्धि से व्यतिरिक्त संसार का कोई अस्तित्व नहीं है। यह संसार मिथ्या है। असत् इत्यादि शब्द अहन्ताममतारूपी संसार के लिए ही प्रयुक्त होते हैं, प्रपंच के लिए नहीं[3]। प्रपंच और संसार का भेद न कर पाने के कारण ही जीव मोहित होता है।

---

१ `प्रपंचो भगवत्कार्यस्तद्रूपो माययाऽभवत्।
तच्छक्त्याऽविद्यया त्वस्य जीवसंसार उच्यते ।।` -- त०दी०नि० १।२७

२ `भगवत: शक्त्या विद्यया जीवस्य संसार उच्यते, न तु जायते अभिमत्यात्मकत्वात्। असत्त्वेनास्य गणनात्।`-- त०दी०नि०१।२७`प्रकाश`

३ `अज्ञानं,भ्रम:, असदित्यादिशब्दा अहंममेतिरूपे संसार एव प्रवर्तन्ते न तु प्रपंचे, इत्यर्थ:। तस्य ब्रह्मात्मकत्वात्।`
-- त०दी०नि० १।२७ प्रकाश

आविर्भाव तिरोभाव भी प्रपंच के ही होते हैं, संसार के नहीं, क्योंकि इनकी सत्ता विद्यमान-वस्तु में ही होती है, असद्वस्तु में नहीं । श्रुति प्रपंच की ही ब्रह्मात्मता प्रतिपादित करती , संसार की नहीं । संसार तो आविद्यक होने[1] से असत् है, अत: उसका आविर्भाव-तिरोभाव नहीं होता, अपितु भगवद्भजन से समूल नाश हो जाता है ।

यहां सहज ही जिज्ञासा होती है कि जब माया भी ब्रह्म की शक्ति है, और अविद्या भी, तो मायाकृत प्रपंच ब्रह्मात्मक क्यों है और अविद्याकृत संसार ब्रह्मात्मक क्यों नहीं है? इसका सम्भावित हल कुछ इस प्रकार हो सकता है-- जगत् का उपादान ब्रह्म है और करण माया है, इसके विपरीत संसार का उपादान और करण दोनों ही अविद्या है; अत: जगत् को ब्रह्मात्मक और संसार को अविद्यात्मक कहा है[2] । जगत् रूप से ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होता है, संसार रूप से नहीं । संसार तो अपने-आप में एक भ्रममात्र है, जिसका अस्तित्व जीव की अविद्याच्छन्न बुद्धि में ही होता है; और जिसके कारण वह प्रपंच को ईश्वर से भिन्न अपनी अहन्ता-ममता और रागद्वेष का आश्रय समझता है । जो भ्रम है, उसका ब्रह्मात्मक होना और जो ब्रह्मात्मक है उसका भ्रम होना, सूर्य-किरण और ओसबिन्दु के सहभाव के समान असम्भव है ।

अविद्या ब्रह्म की अनेक शक्तियों में से एक है, तथा ब्रह्म के जीवरूप से विशेषतया सम्बद्ध है । सृष्टि में वैचित्र्य उत्पन्न करने के लिए ब्रह्म की विभिन्न शक्तियां विविध कार्य करती हैं । अविद्या का यही कार्य है कि वह जीव की बुद्धि में भ्रम उत्पन्न करे और जन्म-मरण के चक्र को गतिशील रखे । सृष्टिकाल में अविद्या ब्रह्म के जीवरूप से ही सम्बद्ध रहती है, अत: अविद्या के माध्यम से संसार को परम्परया भी ब्रह्मात्मक नहीं कहा जा सकता ।

वल्लभ के अनुसार जीवन्मुक्ति के समय भी यह संसार ही नष्ट होता है, प्रपंच नहीं । प्रपंच का लय तो तभी होता है, जब प्रलयावस्था में आत्मरमण की इच्छा से ब्रह्म उसे अपने स्वरूप में प्रत्यावर्तित कर लेता है[3] : और बात सच ही है, जब विषयों में आसक्ति नहीं रह गई तब फिर विषय

---

१ "---श्रुतितो हि प्रपंचस्य ब्रह्मतोच्यते । तस्य नित्यत्वादाविर्भावतिरोभावावुच्यते । तौ च विद्यमानस्यैव वस्तुन: सम्भवतो, नासत: । सतश्च नाशत्वम् । तथा च संसारस्याविद्याहेतुकत्वमेव श्रुतिर्वदति, न प्रपंचवद् ब्रह्मरूपताम् । प्रपंचरूपेणाविर्भाव उक्त्वा यदविद्यया संसारमाह, विद्यया तदभावं चाह, अत: प्रपंचभिन्नत्वमवश्यमुरीकार्यम् । तथा सति असत्वमेव सम्पद्यते संसारस्य ।" --त०दी०नि०१।२७ प्रकाश

२ "---- तथा च प्रपंचस्य ब्रह्मोपादानकत्वं ~~मायाकरणत्वकत्वं~~ मायाकरणकत्वं संसारस्याविद्यकत्वं अविद्याकरणकत्वमिति कारणभेदाद्भेद: ।" -- त०दी०नि० १।२७ आ०भं०

३ "संसारस्य लयो मुक्तौ न प्रपंचस्य कर्हिचित् ।
कृष्णस्यात्मरतौ त्वस्य लय: सर्वसुखावह: ।।"

--त०दी०नि० १।२८

रहे या न रहे, क्या अन्तर ही पड़ता है।

सृष्टि के स्वरूप, स्थिति और स्वभाव पर यद्यपि आचार्य वल्लभ ने विस्तारपूर्वक विचार किया है, किन्तु सृष्टिक्रम निरूपण में उनका विशेष अभिनिवेश दिखायी नहीं देता। सृष्टिप्रक्रिया का विस्तृत विवेचन उनके ग्रन्थों में नहीं मिलता; बहुत संक्षेप में ही उन्होंने सृष्टि-उत्पत्ति का वर्णन कर दिया है। कुछ सिद्धान्तों के भिन्न होने पर भी सामान्यत: वल्लभ की सृष्टि-प्रक्रिया सांख्योक्त ही है। साधारणत: क्रम एक होने पर भी कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर मतभेद है। सांख्य से सबसे बड़ा अन्तर तो यही है कि उसके अनुसार सृष्टि का मूल तत्त्व प्रकृति है, जब कि वल्लभ के अनुसार यह मूलतत्त्व ब्रह्म है। इसके अतिरिक्त और भी कुछ अन्तर हैं, जो क्रमश: स्पष्ट होंगे।

ब्रह्म के स्वरूप पर विचार करते समय कहा जा चुका है कि ब्रह्म का सृष्टीच्छा से युक्त स्वरूप `अक्षर` कहा जाता है। `अग्रे एमेव भविष्यामि`, इस इच्छामात्र से, अन्त:समुत्थित सत्त्व से[1] पुरुषोत्तम का आनन्दांश तिरोहित- सा हो जाता है-- यही अक्षर का स्वरूप है। सृष्टि में `तरतमभाव` उत्पन्न करने के लिये ब्रह्म कारण, कार्य और स्वरूप-- इन तीनों रूपों में अवतीर्ण होता है; इनमें से कारणरूपता इस ब्र अक्षर की ही है। अपने प्रकरणग्रन्थ `सिद्धान्तमुक्तावली` में आचार्य वल्लभ ने सृष्टिकारण `अक्षर` का विवेचन करते हुए उसके दो रूप बताये हैं-- एक तो प्रापंचिकधर्मरहित अस्थूलादिश्रुतियों का वाच्य है, और दूसरा निखिलप्रपंचात्मक कार्यरूप है। इस भांति अक्षररूप से ब्रह्म को ही सृष्टि का मूलतत्त्व स्वीकार किया गया है।

इस कारण रूप अक्षर में तत्त्वभेद से अट्ठाइस भेद हैं। इनका ब्रह्मत्व या भगवत्त्व होने का कारण ही यह तत्त्व कहलाते हैं, सांख्य की भांति पृथक् पदार्थ होने के कारण नहीं[2]। ये अट्ठाइस तत्त्व कारणरूप सच्चिदानन्द में से केवल सत् के भेद हैं। चिदानन्द की कारणता नहीं है, एक का फलत्व है और दूसरे का स्वरूपत्व; अर्थात् चित् का स्वरूपत्व है तथा आनन्द का फलरूपत्व है। प्रपंचवर्ती चित् और आनन्द की तत्त्व अर्थात् सत् से संवलित होकर ही कारणता है, स्वतन्त्ररूप से नहीं। इस प्रकार सदंश की कारणता होने से कारणरूप ब्रह्म का सदंश ही अट्ठाइस भागों में विभक्त होता है।

ये अट्ठाइस तत्त्व इस प्रकार हैं--सत्त्व, रजस्, तमस्, पुरुष, प्रकृति, महत्, अहंकार, पंचतन्मात्रा, पंचमहाभूत, पंचकर्मेन्द्रियां तथा छ: ज्ञानेन्द्रियां[3]। वल्लभ मनस् का क्रियामयत्व और ज्ञानमयत्व स्वीकार

---

१ `आनन्दांशतिरोभाव: सत्त्वमात्रेण वह्नि।
  गुरुत्वबीयस्तत: प्रोक्त: सृष्टीच्छावशगो हरि:।` -- त०दी०नि० २।६६

२ `तत्त्वान्येतानि भगवद्रूपावरूपाणि। भावो भाव सर्वान् प्रति सामान्यकारणता`।

३ द्रष्टव्य--त०दी०नि०२।६४,६५। --श्रीमद्भा०३।५।३७ सुबो०

कर उसे छठी ज्ञानेन्द्रिय मानते हैं[1]। पुरुष प्रकृति से प्रारम्भ कर इन्द्रियोत्पत्ति तक का सारा क्रम सांख्य-स्वीकृत ही है।

ब्रह्म को सृष्टि का मूलतत्त्व मानने के अतिरिक्त वल्लभ सांख्याभिमत पच्चीस तत्त्वों में तीन तत्त्व और जोड़ते हैं-- सत्त्व, रजस् और तमस्। ये तीन गुण यद्यपि सांख्य में भी स्वीकार किये गये हैं, तथापि वहां ये प्रकृति का स्वरूप ही हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं; जब कि वल्लभ इन्हें प्रकृति से भिन्न स्वतन्त्र तत्त्व के रूप में भी स्वीकार करते हैं।

आचार्य वल्लभ ने कहीं भी विशदरूप से इन गुणों के स्वभाव की विवेचना नहीं की है: उन्हें सम्भवत: वही रूप मान्य है, जो साधारण स्वीकृत है। पुरुषोत्तम मे ने अपने 'प्रस्थानरत्नाकर' में गुणों के स्वरूप पर कुछ आलोचना की है, जिससे वाल्लभवेदान्त में अभिमत गुणों के स्वरूप पर कुछ प्रकाश पड़ता है। वे श्रीमद्भगवद्गीता में कहे गये स्वरूप को ही गुणों के असाधारण स्वभाव के रूप में स्वीकार करते हैं। गुणों के सांख्याभिमत स्वरूप को भी वे धर्मान्तर कहकर स्वीकार कर लेते हैं।

सत्त्व निर्मल होने के कारण प्रकाशक और सुखात्मक है। यह सुखासक्ति और ज्ञानासक्ति के माध्यम से जीव में देहासक्ति उत्पन्न करता है[2] --

'तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात्प्रकाशकमनामयम्।
सुखसंगेन बध्नाति ज्ञानसंगेन चानघ ॥' -- (गीता १४।६)

रजोगुण रागात्मक है तथा तृष्णा और संगदोष का कारण है। यह कर्मसक्ति के द्वारा देहासक्ति उत्पन्न करता है[3] --

'रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासंगसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसंगेन देहिनम् ॥' (गीता १४।७)

तमस् ज्ञानावरक है तथा समस्त प्राणियों का मोहन करने वाला है। यह प्रमाद, आलस्य और निद्रा के द्वारा देहासक्ति का जनक बनता है[4] --

'तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत ॥' --(गीता १४।८)

गीता में कहे गये इन धर्मों के अतिरिक्त गुणों का सांख्योक्तरूप भी पुरुषोत्तम को अमान्य नहीं है। सांख्य-

---

१ 'श्रोत्रं त्वग्घ्राणदृग्जिह्वा मन: षडितिभेदत:' --
 '---मनस: क्रियामयत्वं ज्ञानमयत्वं चाह-भेदत इति' --त०दी०नि०२।६५ 'प्रकाश'

२ 'तत्र तावत् सुखानावरकत्वे प्रकाशकत्वे सुखात्मकत्वे च सति सुखासक्त्या ज्ञानासक्त्या च देहिनो देहाद्यासक्तिजनकं सत्त्वम्' -- प्रस्थानरत्नाकर, पृ०१७०

३ 'रागात्मकं वा तृष्णासंगादिजनकं वा कर्मासक्त्या देहिनो नितरां देहाद्यासक्तिजनकं वा रज:'
--प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १७०

४ 'आवरणशक्तिजन्यं सर्वदेहिमोहकं प्रमादालस्यनिद्राभिर्देहिनो देहाद्यासक्तिजनकं तम:'
--प्रस्थानरत्नकर, पृ० १७०

कारिका * में 'प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः --' इत्यादि से इनका परस्पर वैधर्म्य; 'सत्त्वं लघुप्रकाशकम् ---' से इनका विशिष्ट स्वभाव; तथा 'प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः' से इनका जो प्रवृत्तिप्रकार कहा गया है, वह भी कार्यान्तर और धर्मान्तर रूप से विशुद्धाद्वैत मत में स्वीकृत है ।

सांख्य से विशेष यह है कि यहां गुण सांख्य के समान पुरुषार्थ के लिए स्वतः ही प्रवृत्त नहीं होते । ऐसा मानने पर स्वभाववाद और अनीश्वरवाद की प्रसक्ति होती है । वल्लभ के अनुसार गुणों की प्रवृत्ति भगवदिच्छा से होती है । सांख्य से और एक अन्तर यह भी है कि इन गुणों से केवल प्रकृति का ही सम्बन्ध नहीं है : मूलतः तो यह ब्रह्म के ही गुण हैं, माया या प्रकृति के नहीं । सृष्टि-काल में ब्रह्म अपनी कार्यात्मिका शक्ति माया से इनका ग्रहण कर त्रिगुणात्मिका सृष्टि की रचना करता है : इसमें द्वितीयस्कन्धीय भागवतवाक्य भी प्रमाण हैं --

'सत्त्वं रजस्तम इति निर्गुणस्य गुणास्त्रयः ।
स्थितिसर्गनिरोधेषु गृहीता मायया विभो ।।' (श्रीमद्भा०२।५।१८)

माया के गुण ये तदुत्तरभावी हैं । इनका ग्रहण ब्रह्म अपनी माया शक्ति से करता है, अतः माया त्रिगुणात्मिका है । भागवत के एकादश स्कन्ध में भगवान् ने कहा है--

'तमो रजः सत्त्वमिति प्रकृतेरभवन् गुणाः ।
मया प्रक्षोभ्यमाणायाः पुरुषानुमतेन च ।।' (श्रीमद्भा०११।२४।५)

पुरुषोत्तम के विचार से यह कथन तदुत्तरभावी ही है, क्योंकि इसके बाद 'तेभ्यः समभवत् सूत्रं ---' इत्यादि से महत् आदि की उत्पत्ति कही गई है । इसीलिए वल्लभ ने इन गुणों का प्रकृति से पृथक् रूप में ग्रहण किया है ।

इन सत्त्वादि का गुणत्व परार्थ होने के कारण नहीं, अपितु बन्धक होने के कारण है । ये गुण ब्रह्मात्मक हैं, किन्तु ब्रह्म का स्वभाव नहीं है । ब्रह्म निर्गुण है और उसका निर्गुणत्व कार्पास के दृष्टान्त से स्पष्ट है । जिस प्रकार कार्पास में सूत्र नहीं होता, अपितु कार्पास * ही पौर्वापर्य प्राप्त कर सूत्र रूप में आ जाता है, वैसे ही ब्रह्म स्वयं त्रिगुणात्मक न होकर भी गुणों[1] का आत्मभूत बनता है । ब्रह्म के सदंश से सत्त्व, चिदंश से रज और आनन्दांश से तमस् की उत्पत्ति होती है ।

---

१ 'एतेषां च सत्त्वादीनां गुणत्वं न परार्थत्वात् ----- किन्तु बन्धकत्वादेव ।---भगवतो निर्गुणत्वं-तु सूत्रकार्पासन्यायेन । यथा कार्पासे सूत्रं न, किन्तु कार्पासमेव स्वावयवैः पौर्वापर्यमापद्यमानं सूत्रतामापद्यते, तथा निर्गुणो भगवान् गुणानुत्पादयतीति सुबोधिन्युक्तदिशा ज्ञेयम् ।'

-- 'प्रस्थानरत्नाकर', पृ०१७२

वल्लभ के द्वारा परिगणित तत्त्वों में गुणों के पश्चात् क्रमश: पुरुष और प्रकृति आते हैं। पुरुष की स्थिति वल्लभ के मत में बड़ी अस्पष्ट और महत्त्वहीन है। यह पुरुष भी ब्रह्म की एक अभिव्यक्तिविशेष है। वल्लभ कहते हैं कि ब्रह्म अपने अक्षररूप में पुरुष और प्रकृति के भेद से द्विविध है।[1] इस तरह पुरुष सृष्टिकारण अक्षर का ही रूप है। 'प्रस्थानरत्नाकर' में पुरुषोत्तम पुरुष के विषय में कहते हैं कि 'ममैवांशो जीवलोके ब्रह्मभूत: सनातन:' इत्यादि वाक्यों के आधार पर पुरुष जीव से भिन्न सिद्ध होता है, क्योंकि केवल जीव का ही बन्ध कहा गया है, पुरुष का नहीं। जीव चिद्रूपत्व समान होने के कारण या तो पुरुष का सजातीय है, अथवा उसका अंश है: इस प्रकार दोनों ही में भगवदंशत्व समान है, अत: उनके स्वरूपलक्षण में कोई अन्तर नहीं है। सुषुप्तादि के साक्षी के रूप में जैसे जीव की सिद्धि होती है, वैसे ही पुरुष की भी होती है।[2] पुरुष को भी स्वीकार कर लेने की प्रेरणा वल्लभ को सम्भवत: भागवत के इस श्लोक से मिली होगी--

> 'कालवृत्त्या तु मायायां गुणमय्यामधोक्षज: ।
> पुरुषेणात्मभूतेन वीर्यमाधत्त वीर्यवान् ।।' (श्रीमद्भा०३।५।२६)

इस श्लोक पर टीका करते हुए वल्लभ अपनी 'सुबोधिनी' में लिखते हैं कि पुरुष 'मर्त्ययोग्य' भगवदंश है, तथा पुरुषोत्तमात्मक ही है। भगवान् इसे निमित्त बनाकर स्वयं ही माया में वीर्य स्थापित करते हैं, क्योंकि जीव और पुरुष वीर्यवान् नहीं हैं। पुरुष को निमित्त बनाकर, माया में भगवत्स्थापित वीर्य से ही महत्तत्त्व आदि की उत्पत्ति होती है।[3]

इससे भी पुरुष की यथार्थता स्पष्ट है। सृष्टिकारणता ब्रह्म की ही है, पुरुष की नहीं। न ही यह सांख्य के पुरुष की भाँति अन्तिम चेतन तत्त्व है। वाल्लभ मत में ब्रह्म की जितनी भी अभिव्यक्तियाँ स्वीकार की गई हैं, उनमें यह सबसे महत्त्वहीन है: और तो और इसका स्वरूप ही स्पष्ट नहीं है। वल्लभ तो एकाध जगह नामोल्लेख करने के अतिरिक्त पुरुष के विषय में कुछ कहते ही नहीं। विट्ठल ने वाल्लभमत को समग्र और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करने वाले अपने ग्रन्थ 'विद्वन्मण्डनम्' में पुरुष की चर्चा तक न की है। पुरुषोत्तम ने पुरुष के विषय में जो कहा है,

---

१ 'प्रकृति: पुरुषश्चोभौ परमात्माऽभवत् पुरा ।
  यद्रूपं समधिष्ठाय तदक्षरमुदीर्यते ।।'--त०दी०नि०२।६८

२ द्रष्टव्य -- प्रस्थानरत्नाकर, पृ०१७६-७७

३ 'अहि मर्त्ययोग्यो भगवदंश: पुरुषोत्तमात्मक एव । तस्य स्वत: प्रवृत्त्यभावात्, तं निमित्तीकृत्य भगवान् स्वयमेव तदन्तर्यामी भूत्वा, तस्यां वीर्यमाधत्त, यत: स्वयमेव वीर्यवान् । पुरुषजीवयोर्वीर्याभावात् ---- अत: पुरुषं निमित्तीकृत्य भगवत्स्थापितं वीर्यं मायायां स्थितं जीवप्रवेशात् महत्तत्त्वमभवत् ।'

-- श्रीमद्भा० ३।५।२६ पर सुबो०

यह कोई निश्चित धारणा बनाने के लिए अपर्याप्त है । जो भी हो, वल्लभ मत में पुरुष तत्व अस्तित्व और अनस्तित्व के बीच झूलता एक अस्पष्ट-सा व्यक्तित्व है, और यदि न भी होता तो सिद्धांत में कोई अन्तर नहीं आता ।

प्रकृति की स्थिति भी लगभग यही है । यह सांख्य की अकारणकारण शक्तिमयी प्रकृति नहीं है, अपितु वाल्लभवेदान्त में स्वीकृत ब्रह्म की मुख्य शक्ति माया का एक अवान्तर भेद है । इसे ब्रह्म के अक्षर रूप की शक्ति कहा गया है[1] । यह माया से किसी भी अर्थ में स्वतंत्र नहीं है । जिस प्रकार ब्रह्म सृष्टि के सन्दर्भ में 'अक्षर' कहलाता है, उसी प्रकार माया सृष्टि के सन्दर्भ में प्रकृति कहलाती है । माया की स्थितिविशेष होने पर भी यह माया के समकक्ष नहीं है, अपितु प्रकृति और माया में नियम्यनियामकभाव है, जैसे अक्षर और पुरुषोत्तम में है । वल्लभ ने प्रकृति का स्वरूप भी स्पष्ट नहीं किया, केवल उसका उल्लेखमात्र किया है । 'प्रस्थानरत्नाकर' में अवश्य इसे जगत् के उपादान के रूप निर्मित एक भगवद्रूपविशेष बताया गया है, और त्रिगुणात्मिका भी कहा गया है[2] । जैसा कि पहिले कहा जा चुका है ये गुण मूलतः प्रकृति के नहीं, अपितु ब्रह्म के हैं ।

विशेष बात यह है कि वल्लभ कहीं भी सृष्टि को 'प्रकृतिजन्य' या 'प्रकृतिकरणक' नहीं कहते, अपितु 'मायाकरणक' ही कहते हैं । सांख्य में जो स्थिति प्रकृति की है, वह शुद्धाद्वैत में माया की है । प्रायः महत्तत्व आदि की उत्पत्ति भी प्रकृति से नहीं, अपितु माया से ही कही जाती है । वस्तुतः प्रकृति माया की ही एक स्थितिविशेष है, और इसका स्वरूप सांख्ययोग की प्रकृति के स्वरूप से बहुत भिन्न है ।

इसके पश्चात् तत्वों की उत्पत्ति का क्रम वही है, जो सामान्यतः स्वीकृत है । प्रकृति से महत्तत्व, महत् से अहंकार; अहंकार से पंचतन्मात्राएं, पंचकर्मेन्द्रियां, पंचज्ञानेन्द्रियां तथा छठी ज्ञानेन्द्रिय मनस्; एवं पंचतन्मात्राओं से पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है । वल्लभ सांख्य की ही भांति मनस् का क्रियात्मकत्व और ज्ञानात्मकत्व स्वीकार कर इसे छठीं ज्ञानेन्द्रिय स्वीकार करते हैं । भागवत के एकादश स्कन्ध में भी मन का इन्द्रियत्व कहा गया है[3] ।

वल्लभ के अनुसार अन्तःकरण, इन्द्रियां, तन्मात्राएं और महाभूत त्रिगुणात्मक हैं; किन्तु इनकी गुणमयता इनके प्राकृत होने के कारण नहीं, अपितु ब्रह्मात्मक होने के कारण है, क्योंकि गुण भी ब्रह्मांश ही हैं । अन्तःकरण सात्त्विक है; इन्द्रियां सात्त्विकराजस हैं, तन्मात्राएं राजस-तामस हैं, तथा

---

१ "अविद्या जीवस्य, प्रकृतिरक्षरस्य, मायाकृष्णस्य" — त०दी०नि० २।१२० प्रकाश

२ "भगवता कार्यादात्मनैव निर्मितं मूर्तं भगवद्रूपमित्यर्थः" — प्रस्थानरत्नाकर, पृ० १८५

३ श्रीमद्भा० ११।२२।७

महाभूत तामस हैं। इस वर्गीकरण के आधार का वल्लभ ने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि यह वर्गीकरण भी श्रीमद्भागवत से ही प्रेरित है[१]।

सृष्टिक्रम के विषय में इससे अधिक और कुछ नहीं कहा गया है। अणुभाष्य और निबंध में तो विशेष चर्चा ही नहीं है, किन्तु सुबोधिनी में अवश्य वल्लभ ने सृष्टिक्रम का वर्णन किया है। वल्लभ ने प्राय: सर्वत्र द्वितीय, तृतीय और एकादश स्कन्ध में कही गई सृष्टि-प्रक्रिया का ही अनुसरण किया है, अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं किया है।

यह सृष्टि-प्रवाह बीजांकुर न्याय से अनादि है और सर्वशक्तिमान्, सर्वकारणकारण परब्रह्म की इच्छा से प्रवहमान है। पहिले ही कहा जा चुका है कि यह सृष्टि ब्रह्मात्मक होने के कारण सत्य और नित्य है, तथा इसमें जो उत्पत्ति और नाश की प्रतीति होती है, वह आविर्भाव-तिरोभाव मात्र है। इस सृष्टि का प्रलय तभी होता है, जब ब्रह्म आत्मरमण की इच्छा से इसका संवरण कर इसे अपने स्वरूप में प्रत्यावर्तित कर लेता है। इस स्थिति में अध्यास का अभाव होने से यह एक प्रकारसे जीवों की मुक्ति का ही कथन है-- ऐसा नहीं सोचना चाहिये। ब्रह्म यह लय जीवों के सुखार्थ ही करता है। जिस प्रकार निद्रा के समय अध्यास का अभिभव हो जाता है, परन्तु सर्वथा अभाव नहीं होता: उसी प्रकार प्रलयकाल में संसार का तो पूर्णरूपेण अभिभव हो जाता है, किन्तु प्रपंच का लयमात्र होता है। प्रलयकाल में भी ब्रह्म में प्रपंच की सूक्ष्मरूप से स्थिति वर्तमान रहती है। यह वल्लभ के सत्कार्यवादी होने को प्रमाण है।

विवेचित सामग्री के आधार पर वल्लभ के सृष्टि सम्बन्धी विचारों का समाहार इस प्रकार किया जा सकता है -- यह जगत् ब्रह्म की ही एक अभिव्यक्ति है। मायोपाधि रहित शुद्ध ब्रह्म ही इसका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। सृष्टि ब्रह्म का साक्षात् परिणाम है: ब्रह्म अविकृत ही इस सृष्टि के रूप में परिणमित होता है। ब्रह्म-परिणाम होने के कारण सृष्टि को मिथ्या या मायिक नहीं कहा जा सकता : वह सत्य और नित्य है। जहां-जहां सृष्टि को मायिक और मिथ्या कहा गया है, वे प्रसंग वस्तुनिरूपक नहीं हैं, अपितु वैराग्योत्पादन के लिए हैं।

जिसका मनोमात्रत्व और असत्त्व है, वह संसार है। जगत् और संसार में अन्तर है: जगत् सत् है और संसार असत्। संसार अविद्याकार्य है, और इसका स्वरूप अहन्ताममतात्मक है। अविद्या से आच्छन्न बुद्धिवाले जीव की जागतिक विषयों में जो अहंताममतात्मक आसक्ति रहती है, वही संसार है। इस संसार का ही ज्ञाननाश्यत्व है, जगत् का नहीं। जगत् तो नित्य है, और उसका लय तभी

---

१ द्रष्टव्य -- श्रीमद्भा० ३।५।२६-३१ तथा ११।२४।७,८

होता है, जब ब्रह्म उसका संवरण करता है। मुक्ति के लिए विषयों का नाश होना आवश्यक नहीं है; विषयों में आसक्ति का निवारण ही पर्याप्त है। सृष्टि का प्रत्येक पदार्थ ब्रह्मात्मक है; उसके ब्रह्मत्व का अभिज्ञान ही ज्ञान है, और उसके ब्रह्मत्व का विस्मरण ही अज्ञान। संक्षेप में यही वल्लभ की सृष्टि सम्बन्धी धारणा है।

वल्लभ के सृष्टि-सिद्धान्त की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता है, सृष्टि का सत्यत्व। यह भास्कर तथा सभी वैष्णव-दार्शनिकों के सिद्धान्तों का प्रमुख वैशिष्ट्य है। सृष्टि का यह सत्यत्व उनके द्वारा स्वीकृत कतिपय सिद्धान्तों का प्रतिफलन है।

वल्लभ सविशेष वस्तुवादी हैं: उनके अनुसार परमसत्ता सविशेष और सधर्मक है। वह सहस्र सहस्र दिव्य गुणों और विभूतियों से सम्पन्न है। कर्तृत्व उसका स्वभाव ही है। वल्लभ कर्तृत्वादि को शंकर की भांति मायिक और आरोपित धर्म नहीं समझते, क्योंकि 'अथातो ब्रह्मजिज्ञासा' सूत्र से जिज्ञास्य 'जन्माद्यस्य यत:' सूत्र से उसका जो लक्षण कहा है, वह कर्तृत्वादि पूर्वक ही है। इस प्रकार ब्रह्म का कर्तृत्व वास्तविक है, और वह सृष्टि का कर्ता धारक और संहारक है। इस वास्तविक कर्तृत्व के फल का अर्थात् सृष्टि का भी वास्तविक होना आवश्यक है।

परिणामवाद एक अन्य सिद्धान्त है, जिसके आग्रह पर सृष्टि का सत्यत्व अनिवार्य हो उठता है। सृष्टि ब्रह्म का परिणाम है। ब्रह्म स्वयं इस सृष्टि के रूप में परिणत होता है। यह परिणाम शंकर का आभास-लक्षण परिणाम नहीं है, अपितु स्वरूपाभिव्यक्ति की एक वास्तविक प्रक्रिया है। ब्रह्म अपनी असाधारण शक्तियों के द्वारा तथ्यत: ही परिणमित होता है। ऐसी स्थिति में ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने से यह सृष्टि मिथ्या या मायिक नहीं हो सकती।

वल्लभ सत्कार्यवाद के समर्थक हैं। सत्कार्यवाद दो बातों की सिद्धि करता है: पहिली तो यह कि कार्य कारण की ही एक स्थितिविशेष होने के कारण उससे अभिन्न है तथा दूसरी यह कि कार्य भी उतना ही सत्य है, जितना कि कारण। सत्कार्यवाद का सिद्धान्त भी सृष्टि के सत्यत्व की पुष्टि करता है; इसलिये वल्लभ यह स्वीकार करते हैं कि यह जगत् ब्रह्म का ही एक रूपविशेष है, जिसमें उसके चित् और ~~अंशों~~ आनन्द अंशों का तिरोभाव है। ब्रह्म का ही रूप होने के कारण यह भी ब्रह्मात्मक है, तथा उतना ही सत्य है, जितना सत्य इसका कारण ब्रह्म है। ब्रह्मरूप होने के कारण इसका सत्यत्व और नित्यत्व स्वत: प्रमाणित है।

इन सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में उन श्रुतिभागों की अर्थान्विति तो सहज ही बैठ जाती है, जो ब्रह्म को कर्ता, तथा सृष्टि को उसका कार्य कहते हुए सृष्टि की ब्रह्मरूपता प्रतिपादित करते हैं: किन्तु कतिपय स्थलों पर सृष्टि को 'वाचारम्भण' मात्र कहकर उसका मनोमात्रत्व भी प्रदर्शित किया गया है। सृष्टि को मिथ्या कहने वाले इन स्थलों का अर्थान्वयन सृष्टि की सत्यता और ब्रह्मात्मकता

के साथ सम्भव नहीं है; वल्लभ के पास,किन्तु इस समस्या का भी समाधान है--संसार । उनके अनुसार सृष्टि ब्रह्मरूप होने के कारण सत्य है । यह न तो भ्रमात्मक है, और न ही बन्धक है । बन्धन का कारण तो आसक्तिरूप संसार है जो जीव की अपनी अविद्या की सृष्टि है । यह कहा जा सकता है कि जगत् ईश-सृष्टि है और संसार जीव-सृष्टि । जहां कहीं सृष्टि के मनोमयत्व का कथन है, वह संसारविषयक ही है, जगद्विषयक नहीं । जगत् और संसार का यह भेद वल्लभ के सिद्धान्त में विशेष महत्त्वपूर्ण है,और वल्लभ के इस मनोविज्ञान को स्पष्ट करता है कि बन्धक विषय क नहीं,अपितु विषयासक्ति है और मोक्ष के लिये उसका ही नाश होना आवश्यक है ।

इस सब के अतिरिक्त और जो स्क बात बहुत उभर कर सामने आती है, वह है वल्लभ की समन्वयात्मक दृष्टि । यह समन्वय परब्रह्म पुरुषोत्तम की अद्वयता को अक्षुण्ण रखने की दृष्टि से किया गया है । विभिन्न शास्त्रों और दर्शनों में मान्यताप्राप्त सभी तत्वों का अन्तर्भाव वे पुरुषोत्तम में करने की चेष्टा करते हैं । यह प्रवृत्ति उनके दर्शन में सर्वत्र ही दृष्टिगोचर होती है; चाहे वे ब्रह्म के स्वरूप पर विचार कर रहे हों, चाहे माया के; चाहे जीव का निरूपण कर रहे हों, चाहे जगत् का ।यह बात सृष्टि के प्रसंग में भी स्पष्ट है । ज्ञानियों के उपास्य `अक्षर` का अन्तर्भाव उन्होंने जिस कुशलता से पुरुषोत्तम में किया है, वह द्रष्टव्य है । सांख्योक्त प्रकृति और पुरुष भी स्वतन्त्रतत्त्व नहीं रह सके; वे ब्रह्म के कारण-स्वरूप के अन्तर्गत चले आये । वल्लभ ने प्रकृति की कारणता स्वीकार क तो की है, किन्तु उसे अक्षर की शक्ति बनाकर । शक्ति शक्तिमान् से अभिन्न होती है, अत: कारणता अक्षर की ही हुई यह अक्षर पुनश्च पुरुषोत्तम के कारण-स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं है; इस प्रकार अन्त में जो अवशिष्ट रहता है, वह परब्रह्म पुरुषोत्तम ही है ।

वैशेषिक में जिस काल को द्रव्यान्तर माना गया है, उसे भी यहां ब्रह्म की अभिव्यक्ति बनाकर छोड़ दिया गया है । काल,कर्म और स्वभाव सृष्टि के साधारण कारण है,किन्तु स्वतंत्ररूप से नहीं । उन सबको विभिन्न कार्यों में नियोजित,ब्रह्म के विभिन्न अंशों के रूप में स्वीकार किया गया है । ~~ये सारे अंश अपने अंशी के रूप में स्वीकार किया गया है~~ । वे सारे अंश अपने अंशी पुरुषोत्तम से नियंत्रित और परिचालित हैं । इस भांति वल्लभ ने सभी तत्वों का समन्वय परब्रह्म पुरुषोत्तम में कर दिया है ।

इस प्रयत्न में कभी-कभी सिद्धान्त की पकड़ ढीली हो जाती है । इसके पूर्व भी विभिन्न सन्दर्भों में देखा जा चुका है कि वल्लभ के सिद्धान्त प्राय: बहुत विश्लेषणात्मक हो जाते हैं,और बहुत्व से एकत्व की ओर चलने की अपेक्षा एकत्व से बहुत्व की ओर अग्रसर होने लगते हैं । इसके अतिरिक्त उनकी यह भी प्रवृत्ति है कि वे विभिन्न दार्शनिक मतवादों में प्रतिपादित चरम आध्यात्मिक सत्यों का अन्तर्भाव अपने सिद्धान्त में करते हैं। `अक्षर` तथा `पुरुष` इसके उदाहरण हैं । अपने आप

में यह प्रवृत्ति निन्दनीय नहीं है, एक तरह से यह किसी दार्शनिक मतवाद अथवा सम्प्रदाय की स्थापना के लिए आवश्यक ह भी है, तो भी सिद्धान्त में स्वीकृत प्रत्येक तत्त्व की स्थिति और उपयोगिता स्पष्ट होनी ही चाहिए, जो कि वल्लभ के सृष्टि-सिद्धान्त में अनेक तत्वों की नहीं है।

उदाहरणार्थ प्रकृति और पुरुष दोनों ही तत्त्व-संख्या बढ़ाने के अतिरिक्त और कोई कार्य नहीं करते। दोनों की ही कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका सृष्टि-सिद्धान्त में नहीं है।प्रकृति तो एक बार माया की अभिव्यक्ति-विशेष और अक्षर की कार्यकरणात्मिका शक्ति के रूप में स्वीकृत की भी जा सकती है,किन्तु पुरुषतत्त्व की कोई भी उपयोगिता समझ में नहीं आती।वह न तो सांख्योक्त आत्यन्तिक है, न ही `अक्षर` की भांति कोई महत्त्वपूर्ण अभिव्यक्ति है,जिसे सर्वकारण-कारण कहा जा सके। वह केवल निमित्तभूत है, जिसके माध्यम से ब्रह्म प्रकृति में सृष्ट्योत्पत्ति के लिये वीर्यस्थापित करता है। स्वयं म उसमें सृष्टिकारण होने की क्षमता नहीं है; वल्लभ उसे स्पष्ट शब्दों में `वीर्य-हीन` कहते हैं। और तो और, जीव और अन्तर्यामी से भिन्न उसका स्वरूप भी बहुत स्पष्ट नहीं है। यदि इस पुरुषतत्त्व को सिद्धान्त में न रखा जाये तो भी सिद्धान्त में कोई कमी न आयेगी। वस्तुत: श्रीमद्भागवत में पुरुष का उल्लेख सृष्टि में निमित्तरूप से ही हुआ है,और सम्भवत: इसी आधार पर वल्लभ ने इसे अपने सिद्धान्त में स्थान दिया है।

इसी प्रकार कालकर्म और स्वभाव जिन्हें वल्लभ क्रमश: सर्वनियन्ता और भगवान् के प्रमुख अधिकारी; फलदायक भगवदभिव्यक्ति-विशेष, तथा भगवदिच्छा के रूप में स्वीकार करते हैं,भागवतोक्त ही हैं; कम-से-कम उनका वही स्वरूप सिद्धान्त में मान्य है, जो भागवत में कहा गया है। इनकी भी कोई विशेष महत्त्वपूर्ण भूमिका सिद्धान्त में नहीं हैऔर इनकी स्वीकृति वल्लभ की श्रीमद्भागवत के प्रति आस्था और प्रतिबद्धता की सूचक है।

इस आलोचना का तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि किसी सिद्धान्त में तत्वों की कोई संख्या निश्चित होनी चाहिए; अथवा किसी दार्शनिक की किसी ग्रन्थविशेष अथवा विचारधारा-विशेष के प्रति आस्था अथवा प्रतिबद्धता अनुचित है: कोई भी दार्शनिक किसी भी ग्रन्थ अथवा मान्यता के प्रति यथेच्छ विश्वास रख सकता है; और तत्त्व के प्रतिपादन के लिये अपनी रुचि और सुविधा के अनुसार शैली और दृष्टि का चुनाव कर सकता है। न ही यह तात्पर्य है कि वल्लभ की तत्वानुभूति में कहीं कोई कमी है या उनके तत्त्वविश्लेषण की प्रक्रिया दोषपूर्ण है: तात्पर्य केवल इतना है कि सिद्धान्त में स्वीकृत प्रत्येक तत्त्व को आवश्यक ह और अपरिहार्य होना चाहिए तथा तत्त्वसाक्षात्कार और तत्त्वप्रतिपादन में उसकी विशिष्ट भूमिका होनी चाहिए। जब ऐसा नहीं

होता तब सिद्धान्त उस संहत संश्लिष्टता का रूप धारण नहीं कर पाता, जो उसे अनिवार्यत: करना चाहिए। यहां वल्लभ की आलोचना केवल इसी दृष्टि से की गई है,अन्यथा भारतीयदर्शन की तो यह विशेषता रही ही है कि प्रत्येक दार्शनिक अपने चिन्तन की दिशा,प्रक्रिया और आयाम के निर्धारण में सर्वथा स्वतन्त्र है ।
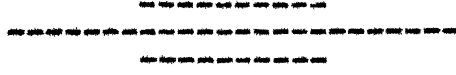
सप्तम परिच्छेद

विशुद्धाद्वैत दर्शन में साधना का स्वरूप

(पुष्टिमार्ग)

सत्य का स्वरूपनिर्धारण और लक्ष्य की प्रतिष्ठा दार्शनिक विचारणा का प्रयोजन है, किन्तु केवल यही उसके कर्तव्य-क्षेत्र की सीमा-रेखा नहीं है । तत्वालोचन की सार्थकता केवल लक्ष्य-निर्धारण में नहीं, अपितु, उसकी प्राप्ति में है । यही कारण है कि प्रत्येक दार्शनिक मतवाद में साध्य के साथ साधन का भी विवेचन हुआ है । व्यक्ति के समक्ष एक आध्यात्मिक लक्ष्य रहने के साथ-साथ एक साधना-प्रणाली भी रखी जाती है, जिसके माध्यम से वह निर्दिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति में सफल हो सके । किन्तु देह,इन्द्रिय,मन आदि की स्थूल और अवर चेतनाओं में बंधे व्यक्ति के लिए किसी आध्यात्मिक लक्ष्य की प्राप्ति इतनी सरल नहीं होती । अविद्या की बेड़ियों में जकड़ा जाकर; अहन्ता-ममता और अहमहमिका की क्षुद्र परिधियों में बन्दी बना मानव इतना असमर्थ और पंगु हो जाता है कि उसके लिये चेतना के प्रज्ञासम्पन्न और सत्य-स्फूर्त स्तर तक पहुंचना,अथवा, पुन: अपनी शुद्धबुद्ध पूर्वस्थिति में आना असम्भव भले ही न हो,कठिन अवश्य है । एक सामान्य सांसारिक व्यक्ति झूठ को ही सच समझता है और असत्य की आरोपित और असहज मन:स्थितियों को इस तरह आत्मसात् किये रहता है कि उनसे उबर पाना उसके लिये बहुत कठिन हो जाता है ।

भारतीय मनीषी अभौतिक और अपार्थिव सत्य के घनिष्ट साहचर्य में रहते हुए भी पार्थिवता के अभिशाप से अपरिचित नहीं हैं । व्यक्ति की दयनीयता और असमर्थता से वे अच्छी तरह परिचित हैं । इसलिये सर्वप्रथम उन्होंने उसके संस्कार का प्रयत्न किया । किसी भी आध्यात्मिक लक्ष्य तक पहुंचने के लिये,चाहे वह सांख्य का कैवल्य हो, केवलाद्वैत का अखण्डैक्य हो,श्रीसम्प्रदायोक्त नारायण की नित्यसन्निधि हो, अथवा कृष्णभक्त दार्शनिकों की अहैतुकी भक्ति हो, एक दीर्घ साधना-प्रक्रिया की आवश्यकता होती है । इस बात को ध्यान में रखते हुए आचार्यों ने साधक या जिज्ञासु के लिये करणीयाकरणीय का विवेचन किया है;अनेक ऐसे अन्तरंग और बहिरंग उपाय बताए हैं, जिनसे वह अपनी दुर्बलताओं और मनोविकारों पर जय पा सके, तथा आत्मिक उन्नति के मार्ग पर आगे बढ़ सके ।

प्रत्येक आचार्य ने साधक के परिष्करण और शुद्धीकरण के लिये एक साधना-मार्ग निश्चित किया है, जिसे वह सबसे सरल और अभीष्ट लक्ष्य तक पहुंचाने में सबसे उपयोगी समझता है । आचार्यों में विभिन्न साधनों की `त्वरा` और `फलवत्ता` को लेकर मतवैभिन्न्य है; कोई किसी को अधिक उपयोगी समझता है तो कोई किसी को । आचार्यों द्वारा प्रतिपादित साधनमार्गों का यदि वर्गीकरण करें,तो चार मुख्य साधनमार्ग निश्चित होते हैं--ज्ञानमार्ग,कर्ममार्ग,योगमार्ग और भक्तिमार्ग। यद्यपि ये चारों मार्ग एक-दूसरे से नितान्त भिन्न,असम्पृक्त और निरपेक्ष नहीं हैं; तथापि जिस

आचार्य ने जिस साधन-विशेष को सर्वोच्च मान्यता दी है,उसके आग्रह पर वह ज्ञानमार्गीय अथवा भक्तिमार्गीय कहलाता है ।

आचार्य वल्लभ भक्तिमार्गीय आचार्य हैं,और उनके अनुसार केवल भक्ति के द्वारा ही मानव का कल्याण शीघ्रता और सरलतापूर्वक हो सकता है । भक्ति की यह सर्वातिशायी महत्ता केवल वल्लभाचार्य ही नहीं,अपितु समस्त वैष्णव-दार्शनिकों की विशेषता है, विशेषरूप से कृष्णभक्त दार्शनिकों की । रामानुजाचार्य ने तो किसी सम सीमा तक ब्रह्म-प्राप्ति में ज्ञान की उपयोगिता स्वीकार की है, किन्तु कृष्णभक्तिधारा के दार्शनिकों ने ब्रह्म का `भक्त्यैकलभ्यत्व` स्वीकार कर भक्ति को ही सर्वश्रेष्ठ घोषित किया है । कृष्णभक्तिधारा की इस प्रवृत्ति पर वल्लभाचार्य के सिद्धान्त की पृष्ठभूमि केसंदर्भ में विस्तार से विचार किया जा चुका है ।

इसके पूर्व कि वल्लभाचार्य को स्वीकृत भक्ति के स्वरूप पर विचार किया जाय, भक्ति के आध्यात्मिक दृष्टिकोण और मनोविज्ञान पर एक दृष्टि डालना आवश्यक है । भक्ति का मनोविज्ञान समझे बिना साधन और साध्य दोनों ही प्रकारकी भक्ति का स्वरूप समझ में आना असम्भवहै ।

भक्ति का आध्यात्मिक दृष्टिकोण और उसका मनोविज्ञान

यह जीवन का एक सर्वानुभूत तथ्य है कि मानवमात्र में आनन्द की वांछा होती है,अबाध, अखण्ड,अनन्त सुख की वांछा । व्यक्ति की प्रत्येक चेष्टा के पीछे उसकी यह आनन्दाकांक्षा ही रहती है; यही उसकी समस्त कायिक-मानसिक प्रवृत्तियों की प्रेरिका है । न केवल मानव,अपितु यावत् चेतन जगत् की यही स्थिति है, सारी सृष्टि ही`परमानन्द` के आकर्षण में बंधी है और जीवन की हजार गतियों के बीच उसकी ही खोज में व्यस्त है ।

वल्लभाचार्य के अनुसार जीवमात्र में आनन्द की यह वांछा ईश्वर-प्रेरित है,क्योंकि प्रत्येक जीव में आनन्दस्वरूप ब्रह्म अपने आनन्दांशप्रधान अन्तर्यामी रूप से प्रविष्ट होकर उसे अखण्ड आनन्द के उत्स ब्रह्म की ओर प्रेरित कर रहा है । जीव में आनन्द की यह लालसा स्वाभाविक है,क्योंकि वह ब्रह्म का अंश है और अंश में अंशी का स्वभाव अनुवर्तित होता है । स्वरूपत: तो जीव भी आनन्दमय ही है,भले ही ईश्वर की अपेक्षा वह `अणु` या अल्पआनन्दवाला हो । आत्मस्वरूप की यह आनन्दमयता ही उसका प्रियत्वाख्य धर्म है,और इसी कारण आत्मस्वरूप परमप्रेमास्पद है । इस प्रकार आत्मसाक्षात्कार या आत्मोपलब्धि का ही नाम आनन्द है; किन्तु कस्तूरी-मृग की भांति व्यक्ति इसे बाहर जगत् में ढूढ़ता फिरता है । यह आनन्द उसे भौतिक जगत् में नहीं मिल पाता, क्योंकि यह जगत् परिच्छिन्न है,ससीम है । आनन्द असीम से मिलता है,परिच्छिन्न और ससीम से नहीं,क्योंकि वस्तुत: सारा दु:ख, सारा निरानन्द सीमाजन्य ही तो है । संसार में मिलने वाले

आंशिक आनन्द से उसकी मन:तुष्टि नहीं होती, वह तो पूर्ण की खोज में है।

जीव संसार की वस्तुओं और व्यक्तियों से रागात्मक सम्बन्ध स्थापित करता है, उनपर अपने हृदय का सारा प्रेम उड़ेल देता है, किन्तु उसे वह आनन्द नहीं मिलता, जिसकी उसे आकांक्षा है। इसका कारण यह है कि उसके आनन्द के विषय भी उतने ही परिच्छिन्न हैं,जितना वह स्वयम्। जिनसे वह दान चाहता है, वह तो स्वयं भिक्षुक हैं,फलत: अतृप्त आकांक्षाओं का बोझ लिये वह भटकता रहता है,फिर नया व्यक्ति,फिर नई वस्तु। प्रेम के आलम्बन नित्य बदलते हैं, पर न सुख मिलता है न सन्तोष।

प्रेम सुखस्वरूप है, और वह अपने विषय के रूप में अखण्डसुखात्मक वस्तु चाहता है। यह अखण्डसुखात्मकवस्तु केवल ब्रह्म या ईश्वर ही हो सकता है, जीव नहीं। यद्यपि जीव भी आनन्दस्वरूप है, किन्तु उसके आनन्द का परिमाण सीमित और 'कियत्' है; और जो आनन्द है भी वह आवरणरूपा माया के दुर्भेद्य आवरणों में स्थित है। जीवस्वरूप का साक्षात्कार करके भी व्यक्ति को परमानन्द की प्राप्ति नहीं हो सकती,क्योंकि जीव अणु आनन्दवाला है। व्यक्ति को यदि कहीं वह पूर्ण परितृप्ति और आनन्द मिल सकता है,जिसकी उसे खोज है, तो वह ईश्वर में ही मिल सकता है,क्योंकि वह निरतिशयसुखस्वरूप है,आनन्दघन है। उसका आनन्द भौतिक आनन्द की भांति नियत और परिच्छिन्न नहीं है,अपितु असीम और अपरिच्छिन्न है। स्थूल जगत् में प्राप्त होने वाला परिच्छिन्न आनन्द ईश्वर के परानन्द की ही आंशिक अभिव्यक्ति है। संसार में जहां कहीं थोड़ा सा भी आनन्द है, चाहे वह घोरविषयभोग का ही क्यों न हो, उस आनन्दस्वरूप परमात्मा की ही अभिव्यक्ति है।

अब प्रश्न उठता है कि इस आनन्द का स्वरूप क्या है? यह निश्चित है कि इस आनन्द को हम भौतिक सुख से एकाकार नहीं कर सकते। मानवीय सुख कभी दु:ख से अमिश्रित नहीं रहता। वस्तुत: भौतिक जगत् में सुख और दु:ख परस्पर सापेक्ष स्थितियां हैं। भौतिक सुख अनित्य और अस्थिर है तथा चेतना के अत्यन्त स्थूल स्तरों पर अनुभूत होता है। इसके विपरीत ईश्वर का आनन्द एक ऐसा अनुभव है, जो स्वयं में पूर्ण और निरपेक्ष है। यह सत्य और शाश्वत है, तथा दु:ख के लेश से भी रहित है। यह आनन्द देहेन्द्रिय आदि की स्थूल चेतनाओं का विषय नहीं,अपितु भौतिक सुख से भिन्न एक सर्वनिरपेक्ष,स्वत: पूर्ण आत्मनिष्ठ अनुभूति है,जिसकी अभिव्यक्ति का स्थल बाह्य, स्थूल चेतना नहीं,अपितु आत्मस्वरूप है। यह अतीन्द्रिय,अतिभौतिक परानन्द ही 'आत्मानन्द' अथवा 'ब्रह्मानन्द' है,जिसकी प्राप्ति के अनन्तर ही व्यक्ति वास्तविक अर्थ में 'आनन्दी' बन पाता है।

यह लोकोत्तर आनन्द ही मानव की सर्वोच्च स्पृहा का विषय है, यही उसका चरमसाध्य है। यही ज्ञान का अभीष्ट है, यही भक्ति का अभीष्ट है, यही योग और तप का अभीष्ट है।चाहे

जिस मार्ग का अनुसरण किया जाय, लक्ष्य यही है ।

इस लक्ष्य तक पहुंचने के मार्ग कई हैं, किन्तु भक्ति का मार्ग सबसे सहज और स्वाभाविक है, इसमें कोई सन्देह नहीं । स्वाभाविक इसलिये, क्योंकि यह मानवीय प्रकृति के सर्वाधिक अनुकूल है। भक्ति की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह मानव के मनोविज्ञान और उसकी मौलिक आवश्यकताओं को ध्यान में रखती है ।

मानवमात्र में आदर्श की पिपासा होती है, एक ऐसे आदर्श की, जो उसका मार्ग निर्देशन कर सके; जो सत्य और शिव के सर्वोच्च प्रतिमानों का धारक हो, जिस पर वह अपनी आस्था और विश्वास टिका सके तथा विचलित क्षणों में उसका सहारा ले सके । ऐसा आदर्श, ऐसा अवलम्ब केवल ईश्वर ही हो सकता है ।

ईश्वर, मनुष्य की सबसे बड़ी आवश्यकता है । अभी जिस लोकोत्तर परानन्द की बात कही गई है, वह व्यक्ति के आत्मस्वरूप से भिन्न नहीं है ; किन्तु , एक सामान्य व्यक्ति में स्वयं इतनी शक्ति नहीं होती कि वह अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर सके । इसके लिये उसे एक सहारे, एक माध्यम की आवश्यकता होती है, और यह माध्यम है--ईश्वर । ईश्वर के माध्यम से ही व्यक्ति स्वयं तक पहुंच पाता है । ईश्वर वह दर्पण है, जिसमें व्यक्ति अपना रूप देखता है ।

भक्ति इस ईश्वर की प्राप्ति का सबसे सरल मार्ग है । भक्ति सदैव सगुण और साकार के ही प्रति होती है, निर्गुण निराकार के प्रति नहीं । भक्ति की यह विशेषता मानव-स्वभाव से उसकी अन्तरंगता घोतित करती है । मनुष्य ईश्वर की कल्पना कभी निर्गुण, निराकार रूप में कर ही नहीं सकता । यह अति मानवीय धरातल की बात है । जब तक वह मानवी प्रकृति की सीमाओं के अन्दर है, तब तक वह जब भी उस अव्यय, चिरन्तन तत्व को अपनी चिन्तन की परिधि में लाना चाहेगा, साकार और सविशेष बनाकर ही ला पायेगा । उसकी ईश्वर-कल्पना उसकी मानवी -प्रकृति से सर्वथा अप्रभावित हो, यह असम्भव है । यही कारण है कि वह ईश्वर में भी मानवीयता का आरोप कर बैठता है । इस मनोवृत्ति के आग्रह से भक्ति विश्व के अनादि सत्य को निराकार, निर्विशेष रूप में स्वीकार न कर, साकार, सविशेष ईश्वर के रूप में स्वीकार करती है, जो सर्वशक्तिमान् हैं, सहस्र सहस्र दिव्यगुणों के स्वामी हैं, भक्तवत्सल हैं, प्रभु हैं । सृष्टि के जिसमूल तत्व को उपनिषदों में निराकार, निष्कल, आनन्दस्वरूप ब्रह्म कहा गया है, वही आनन्द श्रीकृष्ण के विग्रह में घनीभूत होकर प्रकट हुआ है । श्रीकृष्णम परब्रह्म हैं और यह सारी सृष्टि उनकी ही आनन्द-क्रीड़ा है, उनकी ही आत्माभिव्यक्ति है । जीव उनका ही अंश है, और श्रीकृष्ण का आनन्द ही जीव में अभिव्यक्त होकर `आत्मानन्द` या जैव-आनन्द कहलाता है । यह आनन्द जीव में उसकी आकुलता से आच्छादित रहता है । अविद्या से मलिन और वैषयिक लालसाओं से

पंकिल उसके अन्त:करण में श्रीकृष्ण के इस परानन्द की अविकल और अनाविल अनुभूति सम्भव नहीं हो पाती । इसीलिए वल्लभाचार्य जीव की सांसारिक अवस्था में उसमें ब्रह्म का आनन्दांश तिरोभूत स्वीकार करते हैं । जब जीव अविद्याजन्य अहन्ता-ममता की परिधि से निकल कर, चेतना के स्थूल स्तरों से ऊपर उठ कर समस्त सृष्टि के आत्मभूत श्रीकृष्ण का सान्निध्य प्राप्त कर लेता है, तभी उसे अखण्ड आनन्द की अनुभूति होती है ।

श्रीकृष्ण आत्मस्वरूप होने के कारण परम प्रेमास्पद हैं । अखण्ड आनन्दरूप होने के कारण वस्तुत: तो केवल वे ही प्रीति के विषय हैं । अन्यविषयक सुख कभी सत्य और चिरस्थायी नहीं हो सकते,क्योंकि वे नित्य नहीं हैं । केवल भगवान् ही नित्य सुख-स्वरूप हैं, अत: उनकी ओर उन्मुख प्रेम ही नित्यआनन्दस्वरूप हो सकता है ।

भक्ति इसी उच्चतर प्रेम का विज्ञान है और उस परम प्रेमास्पद को निकट लाने का सबसे सहज साधन है । भक्ति का प्राण तत्त्व ही प्रेम है । प्रेम वह भावना है, जो मनुष्य की मूलभूत प्रवृत्तियों में सर्वाधिक महत्त्वशाली और गरिमापूर्ण है तथा आनन्द की वाहिका है ।भौतिक स्तर पर यह प्रेम भी अत्यन्त असहाय और पंगु है,क्योंकि यह देहेन्द्रियप्राण की स्थूलचेतनाओं में ही उलझ कर रह जाता है और इनसे परे किसी आध्यात्मिक स्तर पर अनाविल आनन्द का उच्छलन नहीं करा पाता । भक्ति ने ज इसी भौतिक प्रेम का संस्कार कर उसके माध्यम से ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति कराई है ।

भक्ति की सारी चिन्तनप्रक्रिया ही बहुत सुलझी हुई और सहानुभूतिपूर्ण है । व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना के जिस किसी भी स्तर पर हो,भक्ति उसे वहीं से उठा देती है । उसने मानव को उसकी सारी सीमाओं के साथ स्वीकार किया है । भक्ति ने अति-मानवीय सत्य को,मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से, मानवीय सन्दर्भों में ही पहिचाना है ।

भक्ति किसी भी मानवीय सम्बन्ध का अनादर नहीं करती,वह केवल उसका केन्द्र बदल देती है। जो सारे सम्बन्ध सामान्यत: व्यक्ति को संसार में उलझाते हैं,उसके पतन का कारण बनते हैं, वे ही भगवान् के सम्पर्क से पवित्र और उदात्तीकृत हो जाते हैं । आलम्बन परिवर्तित हो जाने पर सम्बन्धों का स्वरूप भले ही यथावत् रहे, स्वभाव बदल जाता है । भक्ति में,विशेषकर कृष्णभक्ति में सारे मानवीय मनोरोगों के साथ श्रीकृष्ण से सम्बन्ध स्थापित किया जाताहै । भक्त को यह विश्वास होता है कि वह जिस किसी रूप में, जिस किसी सम्बन्ध से भगवान् का आह्वान करेगा, भगवान् उसी रूप में, उसी सम्बन्ध से उसे प्रत्युत्तर देंगे । भक्त को भगवान् में इन सम्बन्धों के माध्यम से जो आत्मतुष्टि और आनन्द प्राप्त होता है, वह सांसारिक व्यक्तियों और वस्तुओं में भला कहां मिल सकता है ।

मानव के भाव-जगत् में सवेगों का बहुत महत्त्व है । भावनाओं का उद्दाम आवेग सवेगों के रूप में अभिव्यक्त होता है । प्रेम प्राय: सवेग के ही रूप में प्रकट होता है । ये जीवन को गति देते हैं, किन्तु साथ ही पतन का कारण भी ये ही बलतत्र बनते हैं । मानव के लिए इन पर नियंत्रण करना बहुत कठिन होता है ।भक्ति में इनके परिष्करण की भी योजना है । कृष्णभक्ति में सभी मानवीय सवेगों को श्रीकृष्ण में नियोजित कर दिया गया है । यही कारण है कि कृष्णभक्ति में भावनाओं का ऐसा उन्मत्त प्रवाह है कि कभी-कभी सीमा के तट भी डूब जाते हैं ।मानवीय प्रणय-व्यापार का रूपक ले जब प्रेम का सवेग कृष्णभक्ति में अभिव्यक्ति पाता है तो उसमें ऐन्द्रियता (Sensuousness) ही नहीं,ऐन्द्रिकता (Sensuality) का भी समावेश हो जाता है । प्राय: इस बात की बहुत आलोचना होती है,किन्तु यही तो कृष्णभक्ति का वैशिष्ट्य है कि उसने मानव की अत्यन्त स्थूल और भौतिक मनोवृत्तियों को भी उदात्त और आध्यात्मिक बना लिया है । कृष्णभक्ति में भले ही भगवत्-प्रेम मानवीय सम्बन्धों के माध्यम से व्यंजित हुआ हो, किन्तु उसकी अनुभूति सर्वोच्च आध्यात्मिक धरातल की वस्तु है, इसमें सन्देह नहीं । ईश्वर से जुड़कर ये सभी मानवीय सम्बन्ध बन्धन का कारण नहीं,अपितु मुक्ति का द्वार बन जाते हैं ।

भक्ति की साधना-प्रक्रिया एक मानसिक उपचार की भांति है,जो मानव-मन की विकृतियों को धीरे-धीरे और सहानुभूतिपूर्वक दूर करती है । भक्ति,ज्ञान की भांति, एक झटके से सारे स्नेह सम्बन्धों और आसक्तियों को तोड़ने की बात नहीं कहती,क्योंकि आसक्तियों में ही जीने वाले साधारण मनुष्य के लिए इससे कठिन और कुछ नहीं होता; वह केवल उनका केन्द्र परिवर्तित कर देती है,फलत: अभी तक जिन मनोवृत्तियों का प्रवाह जगत् की ओर होता था, उनका प्रवाह ईश्वर की ओर होने लगता है । भक्ति सांसारिक कामनाओं और वांछाओं के बलपूर्वक दमन को अस्वीकार करती है । दमन स्वयं में एक आरोपित मन:स्थिति है । मानव-मन की प्रत्येक विकृति किसी-न-किसी अभाव या कुण्ठा से ही जन्म लेती है, और जब तक वह अभाव या कुण्ठा दूर नहीं होती, विकृति भी यथावत् बनी रहती है । बलपूर्वक दमन किये जाने पर वह कुछ समय के लिए निश्चेष्ट और अवसन्न भले ही हो जाये,नष्ट नहीं होती और अवसर मिलते ही पुन: सर उठा लेती है ।यही कारण है कि ज्ञानमार्ग के कई सोपान चढ़ने के बाद भी कई बार साधक साधना से विचलित हो उठते हैं । भक्ति ने इस समस्या का बड़ा ही सुन्दर हल खोजा है । यह है ,उनका उदात्तीकरण । विशेषरूप से कृष्णभक्ति ने तो मानव की हीन-से-हीन वृत्तियों को इतना ऊंचा उठा दिया है कि वे पावन और श्रद्धास्पद हो गईं । तृष्णा का अन्त तृप्ति में ही होता है । मानव की आनन्द-पिपासा भौतिक जगत् में नहीं बुझ पाती,क्योंकि जिस अशेष तृप्ति का वह आकांक्षी है, वह उसे केवल ईश्वर ही दे सकता है, वही इतना सामर्थ्यशाली है । इस दिव्य आनन्द और चिर-अभिलषित

तृप्ति को पा लेने के बाद व्यक्ति के मन में कोई अभाव, कोई आकांक्षा बचती ही नहीं ।

जब भगवान् में ऐसा प्रेम, ऐसी आसक्ति हो जाती है, तो संसार से स्वतः विरक्ति हो जाती है । भक्त का वैराग्य सबसे स्वाभाविक होता है; उसे अपनी किसी मनोवृत्ति, किसी मनोभाव का बलपूर्वक दमन नहीं करना पड़ता, न ही उसे बलात् अपने आपको किसी वस्तु से अलग करना पड़ता है । भगवान् से जुड़कर वह अपने-आप संसार से कटता चला जाता है । भक्त का वैराग्य अर्थात् भगवान् को छोड़कर अन्य विषयों में अनासक्ति भगवान् के प्रति परम अनुराग से उत्पन्न होती है । भगवान् के प्रति इतना प्रबल आकर्षण होने पर अन्य किसी आकर्षण के लिए हृदय में अवकाश ही नहीं बचता। इस अनन्त प्रेमयात्रा में प्रेम और आत्मसमर्पण बस यही पाथेय है । इनके अतिरिक्त अन्य स किसी वस्तु की आवश्यकता नहीं होती ।

व्यक्ति अपनी सारी माया-ममता, अपना सर्वस्व श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर दे; उन्हें ही अपना एकमात्र इष्ट, गन्तव्य और प्रेमास्पद समझ कर, हृदय के सारे अनुराग के साथ, कातर हो कर पुकारे तो कोई कारण नहीं कि भगवान् उसे स्वीकार न करें ।

दैन्य भक्ति की प्रथम अपेक्षा है । जो अहंकारी है, वह भक्त नहीं हो सकता । यों भी श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व इतना सुन्दर, इतना समर्थ और रक्षा के आश्वासन से इतना भरपूर है कि उनके समक्ष आत्मसमर्पण स्वयं ही हो जाता है । उनके अतिरिक्त और है ही कौन जो वास्तविक अर्थों में `पति` होने योग्य है । भगवान् के समक्ष आत्मसमर्पण होते ही व्यक्तित्व पर `अहम्` का शासन समाप्त हो जाता है और व्यक्ति अपनी असहायता और असमर्थता का अनुभव कर और भी कातर होकर ईश्वर के सामने प्रणत हो जाता है । प्रेम, आत्मसमर्पण, और दैन्य के अतिरिक्त भक्ति की और कोई अपेक्षा नहीं है । न जाति की अपेक्षा है न वर्ण की, न ही बाह्याडम्बर और साधना-नुष्ठान का विशेष आग्रह है । जीव अपना सारा प्रेम, अपनी श्रद्धा और विश्वास, अपनी आकांक्षाएं, अपनी आसक्तियां, यहां तक कि अपने मनोविकार भी ईश्वर को समर्पित कर दे, पूर्णरूप से स्वयं को उनकी कृपा पर आश्रित छोड़ दे, बस इतनी ही अपेक्षा है ।

जैसा कि आगे भक्ति के स्वरूप-विवेचन से स्पष्ट होगा, भक्ति स्वयं में एक मनःस्थिति है; अनुभूति का वह धरातल जिस पर व्यक्ति का भौतिक अस्तित्व ईश्वर की दिव्यता से अनुप्राणित होकर अभौतिक हो जाता है; जहां सर्वात्मा श्रीकृष्ण की एकत्वानुभूति में जगत् का सारा द्वैत विलीन होता जाता है, और भक्त आनन्द-घनकृष्ण के आनन्द-रस से अहर्निश स्फूर्त भावसमाधि में निमग्न रहता है। ज्ञानियों और योगियों की समाधि की भांति भक्त की समाधि में देहेन्द्रिय और मन-प्राण की चेतना स्तब्ध अथवा नष्ट नहीं होती; अपितु रूपान्तरित होकर दिव्य और अलौकिक हो जाती है और भक्त उनके माध्यम से श्रीकृष्ण के आनन्द का उपभोग करता है ।

कृष्णप्रेम के इस औत्कट्य और उनके सर्वात्मत्व की इस अनुभूति को वल्लभाचार्य भक्ति

कहते हैं। यह स्थिति किन्तु सहसा प्राप्त नहीं होती। साधना की प्रारम्भिक अवस्था में सब बिना किसी बाह्य सहायता के काम नहीं चलता, अत: प्रारम्भ में चित्त के स्थिरीकरण, और परिमार्जन के लिए साधनानुष्ठान और पूजा आदि की आवश्यकता पड़ती है। इन साधनों का तभी तक अनुष्ठान किया जाना चाहिए, जब तक श्रीकृष्ण में प्रेम न उत्पन्न हो जाय। यदि भगवत्कृपा से प्रारम्भ से ही भगवान् में अनुराग है तो इनकी भी कोई आवश्यकता नहीं। श्रीकृष्ण के प्रेम से बढ़कर चित्त-संस्कारक और क्या है? इस प्रकार भक्ति-मार्ग में कृष्ण-कृपा और कृष्ण-प्रेम पर ही अधिक बल है, साधनानुष्ठान, नियम और विधिनिषेध पर नहीं।

प्रेम के औत्कट्य और भक्ति की परिपक्वावस्था की दृष्टि से भक्ति की दो अवस्थाएं हैं--गौणी और परा। इन्हें ही क्रमश: साधन भक्ति और साध्य भक्ति कहा जाता है। वल्लभाचार्य के अनुसार यह साध्य भक्ति ही वस्तुत: भक्ति है, साधनभक्ति में भक्तिपद का प्रयोग भाक्त है। सभी प्रकार की साधन-भक्ति परम प्रेम रूपा रागानुगा भक्ति को प्राप्त करने के लिए सोपान स्वरूप हैं। भक्ति की विशेषता है कि अवस्थाभेद से वह साधनरूपा भी है, और साध्यरूपा भी।

श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति ही जीव का चरम साध्य है। श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में महर्षि कपिल ने इसकी व्याख्या की है। जिस प्रकार गंगा के जल का समुद्र की ओर निरन्तर प्रवाह होता रहता है, उसी प्रकार श्रीकृष्ण में मन की सतत् और अविच्छिन्न गति ही साध्य भक्ति की अवस्था है। इस अवस्थामें कोई वांछा, कोई आकांक्षा शेष नहीं रह जाती, यहां तक कि मोक्ष भी तुच्छ प्रतीत होता है। भक्त भगवान् से एक नहीं होना चाहता; वह भिन्न रहकर ही उनके आनंद का उपभोग करना चाहता है, श्रीकृष्ण की दिव्यलीला का सहभागी होना चाहता है। इस आनन्दोपभोग के समक्ष भक्त को मोक्ष भी हेय लगता है। यही कारण है कि भक्त और भगवान् की एकात्मता के सघन एकांत में भी दोनों में इतना अन्तर बना रहता है कि आराध्य-आराधक भाव सम्भव हो सके। ब्रह्म और जीव के इस अखण्ड अद्वैत में भी इतना पार्थक्य, इतना द्वैत भक्ति को मान्य है। भक्ति की इस साध्यावस्था में पहुंचकर भक्त भगवान् का जो भी अर्चन, वन्दन, गुणकीर्तन आदि करता है, वैधवधा भक्ति या साधनभक्ति के अंग नहीं होते, वे उसके आत्मविह्वल प्रेम की सहज अभिव्यक्ति होते हैं, स्वयं फलरूप होते हैं। भक्ति की यही अवस्था निष्काम भक्तियोग या निर्गुण भक्तियोग कहलाती है;[१] जब कोई इच्छा, कोई वासना बचती ही नहीं, भगवान् की ही तृषा है, भगवान् ही तृप्ति हैं। जीव प्रत्येक क्षण श्रीकृष्ण के आनन्द-रस में आत्मविभोर रहता है, आत्मतृप्त रहता है।

इस विवेचन से भक्ति का अध्यात्म और मनोविज्ञान स्पष्ट हो जाता है। भक्ति मानव के विकास की अनन्त सम्भावनाओं का विज्ञान है। 'विषस्य विषमौषधम्' की भांति भक्ति सांसारिक सम्बन्धों से ही सांसारिक सम्बन्धों को काटती है, उन्हें ईश्वर में नियोजित करके। साथ ही वह ईश्वर

को ऐसे रूप में प्रस्तुत करती है,जो मानवी धारणा और प्रकृति के बहुत अनुकूल है तथा जिससे वह प्रगाढ़ आत्मीयता का अनुभव कर पाता है । ईश्वर के साथ उसकी यह आत्मीयता ही उसका संस्कार कर देती है ।

भक्ति की दृष्टि अत्यन्त उदार है । वह मानवमात्र के प्रति सहानुभूतिशील है । उसने प्रत्येक व्यक्ति को आत्मिक उन्नति के समान अवसर दिये हैं, चाहे वह किसी जाति का हो,किसी वर्ग का हो । भक्ति की इन्हीं विशेषताओं के आधार पर उसे ईश्वरप्राप्ति का सबसे सहज और सुगम मार्ग कहा जाता है ।

मध्ययुग की पतनोन्मुख चेतना के उद्धार का तो एकमात्र श्रेय भक्ति को ही है । पतन के गर्त में गिरते हुए मानव को उसने जिस तरह उठाकर आध्यात्मिकता के र ऊंचे धरातल पर ला खड़ा किया है, वह स्वयं में एक उपलब्धि है और न केवल मध्ययुग अपितु, भक्ति तो प्रत्येक युग के मानव की आध्यात्मिक समस्याओं का सबसे सुन्दर हल है ।

मध्ययुग के कृष्णभक्ति सम्प्रदायों का प्रमुख उपजीव्य यह भक्ति ही है । प्रत्येक सम्प्रदाय में भक्ति को ही आत्मकल्याण के साधन और जीव के चरमसाध्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है और श्रीमद्भागवत को भक्ति के मानक-ग्रन्थ के रूप में स्वीकार किया गया है । स्वयं वल्लभाचार्य भक्ति को साधन और साध्य दोनों ही स्वीकार करते हैं । श्रीमद्भागवत के आधार पर उन्होंने 'पुष्टिमार्ग' की स्थापना की है, जिसके माध्यम से भक्ति की बड़ी शास्त्रीय व्याख्या प्रस्तुत की गई है । भक्ति के मनोविज्ञान से परिचित हो लेने के पश्चात् आचार्य वल्लभ द्वारा प्रतिपादित भक्ति का स्वरूप समझने में सरलता होगी ।

इस परिच्छेद में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त में स्वीकृत भक्ति के साधन रूप पर विचार किया जायेगा। साध्यभक्ति का विवेचन अगले परिच्छेद में होगा । यद्यपि वाल्लभदर्शन में साध्य भक्ति और साधन भक्ति का अलग-अलग स्पष्ट विश्लेषण नहीं हुआ है,तथापि भक्ति के विकास-क्रम की विभिन्न स्थितियों को ध्यान में रखते हुए भक्ति की साधनावस्था और साध्यावस्था की एक स्थूल रूप-रेखा खींची जा सकती है ।

सर्वप्रथम 'भक्ति' शब्द का अर्थ क्या है, इसपर विचार करना है । 'भक्ति' शब्द 'भज्' धातु से भाव अर्थ में क्तिन् प्रत्यय लगाकर निष्पन्न होता है । वल्लभ ने तत्त्वदीपनिबन्ध की अपनी व्याख्या 'प्रकाश' में लिखा है कि भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ प्रेम और धात्वर्थ सेवा है । 'भज्' धातु सेवा अर्थ में होती है, 'भज सेवायाम्' इस धातु पाठ से तथा 'भज इत्येष वै धातुः सेवायां परि-कीर्तितः' इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट है । 'प्रकृतिप्रत्ययौ सहार्थं ब्रूतस्तयोस्तु प्रत्ययः प्राधान्येन' २ इस नियम के अनुसार धात्वर्थान्वयार्थ में अन्वित होने पर भी क्तिन् प्रत्यय,भज् धातु के साथ समभिव्याहार

होने के कारण प्रधानरूप से भजिक्रिया का ही द्योतन करता है । इस प्रकार `भजन` ही भक्ति शब्द वाच्य क्रिया है । यह भक्ति शब्द का यौगिकार्थ है ।

भक्ति शब्द वाच्य जो भजन-क्रिया है, वह सेवात्मिका है । सेवा पद सातत्य या आभीक्ष्ण्यपूर्वक परिचर्यारूप कायिक व्यापार-विशेष के अर्थ में रूढ़ है । स्त्री-सेवा,औषधसेवा इत्यादि प्रयोगों से यह स्पष्ट है । `मत्सेवया प्रतीतं च सालोक्यादिचतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णा: कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्`-- इत्यादि भागवद्वाक्यों से भी भक्ति का सेवा अथवा परिचर्यारूप होना सिद्ध होता है । इस सेवा का प्रेमपूर्विका होना अत्यन्त आवश्यक है, केवल क्रिया तो जल-ताडन की भांति निरर्थक होगी । साथ ही व्यर्थ श्रम और काय-क्लेशजनक होने के कारण भक्ति का स्वत: पुरुषार्थत्व भी खण्डित होगा; अत: प्रेम के ही पूर्णत्व-प्रयोजक होने के कारण सेवा का प्रेमपूर्वक होना अत्यन्त आवश्यक है । `क्तिन` प्रत्यय के द्वारा जो क्रिया द्योतित होती है,वह निश्चितरूप से प्रेमपूर्विका ही है । प्रेम के प्रधान होने से वही `भक्ति` शब्द का प्रत्ययार्थ है; कायिक- क्रिया अप्रधान होने से धात्वर्थ या प्रकृत्यर्थ है । इस प्राधान्य और अप्राधान्य को ध्यान में रखकर ही वल्लभाचार्य ने भक्ति शब्द का प्रत्ययार्थ प्रेम और धात्वर्थ सेवा स्वीकार किया है । इस प्रकार भक्ति शब्द का अर्थ हुआ--`भगवान् की प्रेमपूर्वक सेवा` । यह भक्ति का योगरूढ़ अर्थ है । भक्ति में प्रेम की अपेक्षा सबसे बड़ी है; विट्ठलेश ने `भक्तिहंस` में स्पष्टरूप से लिखा है--`भक्तिपदस्य शक्ति: स्नेह स्व` । पंचरात्र में भी `स्नेहो भक्तिरिति प्रोक्त:` ऐसा कहा गया है । शाण्डिल्यसूत्र में `अथाऽतो भक्ति-जिज्ञासा` से भक्ति के स्वरूप के विषय में जिज्ञासा कर,`सा परानुरक्तिरीश्वरे` इस सूत्र से उसका परानुरक्तिरूप होना कहा गया है । भक्ति की इन परिभाषाओं के आधार पर भक्ति का उत्कट-स्नेहरूपत्व सिद्ध होता है ।

किन्तु वल्लभ को अभीष्ट भक्ति की परिभाषा अभी पूरी नहीं हुई,कुछ और कहना शेष है । भक्ति शब्द में भाव अर्थ में किए गए क्तिन् प्रत्यय से व्यंजित जो क्रियासामान्यत्व है, वह धात्वर्थ-व्यंग्य प्रधानभूता क्रिया में ही पर्यवसित होता है । प्रधानभूता क्रिया मानसी ही होती है ।`अन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषम् अन्यत्रमना अभूवं नादर्शम्`-- इत्यादि से वाजसनेय श्रुति में मन का ही प्राधान्य विवक्षित है, अत: मानसीक्रिया ही सर्वप्रधान है । इस प्रकार `सेवा` पद से व्यंग्य प्रेमरूपमानसी सेवा ही भक्ति शब्द का योगरूढ़ अर्थ है--यह स्वीकार करना चाहिए । यों भी प्रेम के प्रत्ययार्थ और पूर्णत्व प्रयोजक होने के कारण प्रधान होने से भक्तिपदवाच्य भजन-क्रिया का प्रेमरूपा होना सिद्ध है । प्रेम भावरूप है और भाव मन का धर्म है, इस प्रकार भक्ति का मानस होना स्पष्ट है ।

वल्लभ ने अपने प्रकरणग्रन्थ`सिद्धान्तमुक्तावली` में प्रथम श्लोक में ही कहा है--

`नत्वा हरिं प्रवक्ष्यामि स्वसिद्धान्तविनिश्चयम् ।
कृष्णसेवा सदा कार्या मानसी सा परा मता ।।`

इसके पश्चात् भक्ति का लक्षण करते हुए वे कहते हैं--`चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा` । `तत्` शब्द से पूर्वोक्त श्रीकृष्ण का परामर्श है; चित्त का कृष्णप्रवण होना ही सेवा है । `सत्त्व एवैकमनसो वृत्तिः स्वाभाविकी तु या । अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी`-- इस भागवत वाक्य में मनोवृत्ति का ही भक्तिस्वरूपत्व कहा गया है । चित्तवृत्ति के चित्त से अभिन्न होने के कारण, वल्लभ ने कृष्ण-प्रवण चित्त का जो सेवारूपत्व कहा है, वह ठीक ही है । इसी प्रकार की अथर्वणश्रुति भी है`भक्तिरस्य भजनं तदिहाऽमुत्रोपाधिनैराश्येन मनःकल्पनम्` । यहां भी मन के ईश्वर में विनियोग को अर्थात् मन के ईश्वराकाराकारित होने को ही भक्ति की संज्ञा दी गई है । भक्तिमीमांसासूत्र में `सा परानुरक्तिरीश्वरे` इस सूत्र से भक्ति का लक्षण किया गया है-- ईश्वर में जो परानुरक्ति है, वही भक्ति है । इस सूत्र में भी चित्तधर्म अनुराग का ही भक्तित्व कहा गया है ।

भक्ति की इन व्याख्याओं पर विचार करने के पश्चात् यही निश्चित होता है कि भक्ति शब्द से मुख्यतया मानसी सेवा ही कथित है । श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में कहे गये जिस निर्गुण-भक्तियोग को वल्लभ `अस्मत्प्रतिपादिता भक्तिः` कहकर उद्धृत करते हैं, वह भी यही है । तृतीय स्कन्ध में कपिल ने पहिले नवधाभक्ति के सात्त्विकादि प्रकारभेद से `सगुणा` भक्ति के ८१ भेद कहे हैं । तत्पश्चात् सिद्धान्तरूप से जिस निर्गुणाभक्ति का कथन किया है,उसका स्वरूप मानसी सेवा का ही है--

मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्,
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।
(श्रीमद्भा०३।२६।११-१२)

यही मानसी सेवारूप भक्ति नारदपंचरात्र तथा शाण्डिल्यसूत्रों में कही गई है और यही भक्ति शब्द के मुख्यार्थ के रूप में वल्लभ को अभिप्रेत है । उन्होंने प्रायः सर्वत्र इसी भक्ति का प्रतिपादन किया है ।

किन्तु यदि भक्ति का इतना ही अर्थ लिया जाय तो भक्ति का स्वरूप बहुत संकुचित हो जायेगा । मानसी भक्ति, भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है और साध्य-स्वरूपा है । यह सबको अनायास ही प्राप्त नहीं हो जाती, अपितु इसके लिए साधना की आवश्यकता होती है; और यह साधना भी कर्म भक्ति के ही द्वारा होती है । इसीलिये मानसी भक्ति का श्रेष्ठत्व ज्ञापित करते हुए वल्लभ ने उसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवाओं का विधान किया है ।

`चेतस्तत्प्रवणं सेवा तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा`--(सिद्धान्त मुक्तावली २)

इस प्रकार भक्ति में कायिक प्रवृत्ति का सर्वथा निषेध हो, ऐसी बात नहीं है । यह अवश्य है कि

वल्लभ इसे मानसी भक्ति की अपेक्षा गौण या मानसी भक्ति का साधन समझते हैं । वल्लभ और विट्ठलेश 'भक्ति' शब्द के प्रत्ययार्थ 'प्रेम' को मुख्य मानकर भक्ति का भावरूपत्व स्वीकार करते हैं, किन्तु धात्वर्थ 'सेवा' के आग्रह से कायिक व्यापार का भी सर्वथा निषेध नहीं करते । वल्लभ-सम्प्रदाय के एक अन्य बड़े विद्वान् गोस्वामी गोपेश्वर महाराज तो अपने ग्रन्थ 'भक्तिमार्तण्ड' में भक्ति को कायिक सेवा में के रूप में ही स्वीकार करते हैं, क्योंकि 'सेवा' ही भक्ति शब्द का प्रकृत्यर्थ है, और सेवा शब्द सातत्य या आभीक्ष्ण्यपूर्वक परिचर्यारूप कायिक व्यापार विशेष में ही रूढ़ है । गोपेश्वर महाराज के अनुसार स्नेह भक्तिपद का रूढ़ार्थ है और सेवा यौगिकार्थ है तथा ये दोनों ही एकसाथ शक्यतावच्छेदक हैं, अत: प्रेमपूर्वक कायिकव्यापार ही भक्ति है । लौकिक क्रिया के निषेध के लिए प्रेमपूर्वक कहा है और मानस-व्यापार के वारणार्थ कायिक: । यह परिभाषा स्वीकार करने पर पुत्रस्नेहादि में अतिव्याप्ति होती है, अत: श्रीकृष्णविषयकप्रेमपूर्वक कायिक व्यापार को ही भक्ति स्वीकार करना चाहिए[1] । विषयान्तर के अ-ग्रहण के लिए परिभाषा में श्रीकृष्ण का ग्रहण किया गया है ।

इस विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि भक्ति का स्वरूप-विधायक तत्व स्नेह ही है, और स्नेह के अभाव में क्या मानसी सेवा और क्या कायिक सेवा, दोनों का ही भक्तित्व नहीं है । स्वयं गोपेश्वर महाराज आगे चलकर कहते हैं--'अथ च श्रीकृष्णस्नेहत्वमेव भक्तित्वम्' । विट्ठलेश ने भी 'भक्तिहंस' में कहा है[2] कि भक्ति का हेतु तो स्नेह ही है; श्रवणादि का जो हेतु-कथन है, वह औपचारिक प्रयोगमात्र है । इस प्रकार अन्तत: भक्ति का भावरूपत्व ही सिद्ध होता है; फिर यदि वल्लभ मानसी सेवा को ही भक्ति का मुख्यार्थ स्वीकार करते हैं, तो क्या अनुचित है? यह मानसी भक्ति अतिशय प्रेमरूप है । इसे ही रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति भी कहते हैं । यह अपने-आप में फलरूपा तथा भक्तों का परमकाम्य है । तनुजा- वित्तजा सेवाएं तथा भक्तिमार्ग के सभी साधन-अनुष्ठान इस पराभक्ति के साधनस्वरूप हैं ।

----

१ 'एवं प्रेमपूर्वककायिकव्यापारत्वं भक्तित्वम् । लौकिकक्रियावारणाय प्रेमपूर्वकेति । मनसव्यापार-वारणाय कायिकेति । एवमपि पुत्रादिषु प्रेमपूर्वककायिक व्यापारेऽतिव्याप्तिर्विभाव्यते यदि तदा श्रीकृष्णविषयकप्रेमपूर्वककायिकव्यापारत्वमेव भक्तित्वम् ।'--भक्तिमार्तण्ड, पृ०७९

२ '----- तेन भक्तिपदस्य शक्ति: स्नेह एव । श्रवणादिषु तद्धेतुत्वेन तत्प्रयोगो भाक्त:' ।
--'भक्तिहंस', पृ०५६

`स्मरन्त: स्मारयन्तश्च मिथोऽघौघ हरं हरिम् ।
भक्त्या संजातया भक्त्या बिभ्रत्युत्पुलकां तनुम् ।।` (श्रीमद्भा०११।३।३१)

इस भागवत-वाक्य से भक्ति का ही भक्ति के प्रति साधनत्व निश्चित होता है । वल्लभ साधनभक्ति का उल्लेख भर करते हैं, कहीं भी उसका विश्लेषण नहीं करते । न केवल वल्लभ,अपितु सभी वाल्लभमतानुवर्ती विद्वानों ने साध्यभक्ति की ही चर्चा विशेषरूप से की है,साधनभक्ति की नहीं । अथवा यह कहा जा सकता है कि उन्होंने भक्ति-सामान्य की ही चर्चा की है; साध्य और साधन का विभाजन और विश्लेषण उनका मुख्य उद्देश्य नहीं रहा । फिर भी साधनभक्ति की स्थिति सब स्वीकार करते हैं तथा यत्र-तत्र उसपर संक्षिप्त टिप्पणियां और आलोचना भी मिल जाती है ।

सभी भक्ति-सम्प्रदायों में नवधा भक्ति को रागानुगा या प्रेमलक्षणा भक्ति के साधनरूप में स्वीकार किया गया है । प्राय: नवलक्षणा भक्ति को ही साधनभक्ति की संज्ञा दी जाती है । श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में प्रह्लाद ने इसका वर्णन किया है --

`श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसा र्पिताऽविष्णौ भक्तिश्चेन्नव नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम् ।।` (श्रीमद्भा०७।५।२३-२४)

भागवत में अन्यत्र भी इसका विधान है--

`तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वर: ।
श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम् ।।` (श्रीमद्भा० २।१।५)

वाल्लभमत में भी नवधाभक्ति को साध्यभक्ति के साधन के रूप में स्वीकार किया गया है । वल्लभ ने भागवत के द्वितीयस्कन्ध की सुबोधिनी टीका में इसपर अपने विशिष्ट विचार भी व्यक्त किये हैं । उनके अनुसार नवधाभक्ति का भी प्रेमपूर्वकत्व अनिवार्य है, अन्यथा उसका भक्तिमार्गीयत्व नहीं होगा । इसी परिच्छेद में आगे चलकर नवधाभक्ति पर विशेषरूप से विचार किया जायेगा ।

इस विवेचन के आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि `भक्ति` पद से साध्यभक्ति और साधनभक्ति दोनों का ही ग्रहण होता है । जिस प्रकार `पुष्पवन्तौ दिवाकरनिशाकरौ` इस उक्ति में प्रवृत्तिनिमित्तभेद होने पर भी `पुष्पवन्तौ` शब्द से रवि और चन्द्र दोनों का ही कथन होता है, वैसे ही भक्ति शब्दसे भी साधन और साध्य दोनों ही प्रकारकी भक्ति का ग्रहण होता है[1]। स्नेहपूर्वक कायिकव्यापाररूपा जो भक्ति है,वह साधनभक्ति है, तथा श्रीकृष्ण में निरतिशयस्नेहरूप जो मानसी सेवा है, वह साध्यभक्ति या उत्तमा भक्ति है ।

साधनभक्ति ही भक्तिमार्ग है--`मृग्यते पुरुषोत्तमोऽनेन श्रवणादिनवकेनेति,श्रवणादिसाधनानुष्ठानात्मको मार्ग: । इस भक्तिमार्ग की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि जैसे जैसेसाधना परिपक्व

---

१ `प्रवृत्तिनिमित्तभेदेऽपि रविचन्द्रौ: पुष्पवच्छब्दवाच्यत्वमेकयामेवोक्तौ यथा, तथा क्वचिद्भक्तिपदं `भक्त्याऽसौ ग्राह्य` इत्यादिषु उभयवाचकमपि ।` --`भक्तिहंस`,पृ०६०

होती जाती है, साधन स्वयं फलरूप होते जाते हैं। यह भक्तिमार्ग, `मार्ग` है सरणि नहीं। जिस प्रकार राजमार्ग में गमनसौकर्य होता है, चौरादि का भय नहीं होता, उसी प्रकार भक्तिमार्ग में भी अत्यन्तकष्टसाध्य शमदमादि का अप्रयोजकत्व होने से और प्रेममात्र की अपेक्षा होने से गमन सौकर्य होता है। इस मार्ग में पतन का भी कोई भय नहीं है--दशमस्कन्ध में कहा गया है--

`तथा न ते माधव तावका: क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात् त्वयिबद्धसौहृदा:

त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो।`

एकादश स्कन्ध में भी कहा है--

`धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह`

अपनी इन विशेषताओं के कारण भक्तिमार्ग अन्य सभी मार्गों से श्रेयस्कर है, इसमें सन्देह नहीं।

भक्ति की उत्पत्ति के लिए ईश्वर का माहात्म्यज्ञान आवश्यक है। भक्ति के विषय भगवान् की महिमा के ज्ञान के अभाव में भक्ति ही सम्भव नहीं होगी। इसलिये माहात्म्यज्ञान रूप ब्रह्मज्ञान के नियतपूर्ववर्ती होने के कारण वह भक्ति का हेतु है। पांचरात्र वाक्य इसमें प्रमाण है--

माहात्म्यज्ञानपूर्वस्तु सुदृढ: सर्वतोऽधिक: ।

स्नेहो भक्तिरितिप्रोक्त:, तया मुक्तिर्नचाऽन्यथा ।।

इस प्रकार, माहात्म्यज्ञान जन्य परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण विषयक जो स्नेह है, उससे प्रेरित जो भी कायिक या मानसिक सेवा है, वह भक्ति है। भक्ति पदार्थ के विवेचन के पश्चात् यही अर्थ निश्चित होता है।

भक्तिमार्ग भगवत्प्राप्ति के सभी मार्गों में श्रेष्ठ है, क्योंकि केवल इसी के द्वारा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति सम्भव है। अन्य किसी मार्ग का `साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्व` नहीं है। ज्ञान-मार्ग के द्वारा जिस अक्षर ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह पुरुषोत्तम की एक अवर अभिव्यक्तिमात्र है। इसी प्रकार पूजा, मंत्रजप, उपासना आदि भी पुरुषोत्तम की विभूतियों को ही विषय बनाते हैं, पुरुषोत्तम को नहीं। पूजा, मंत्रजपादि से भक्ति का दूसरा भेद यह है कि पूजा आदि के काम्य-फल अनेक हैं; लौकिक अर्थ से लेकर स्वर्ग, अपवर्ग तक अनेक फलों की प्राप्ति के लिये पूजा, मंत्रार्चन आदि का विधान होता है: किन्तु, भक्ति का एकमात्र फल पुरुषोत्तम प्राप्ति ही है, इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। श्री उद्धव के पूछने पर पूजामार्ग का निरूपण कर भगवान् ने प्रतिष्ठया सार्वभौमं सद्मना भुवनत्रयम्। पूजादिना ब्रह्मलोकं त्रिभिर्मत्साम्र्ष्टितामियात्` इत्यादि से पूजादि का भिन्न-भिन्न फलनिरूपण कर `मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति। भक्तियोगं स लभते स्वयं य: पूजयेत् माम्` -- ऐसा कहा है। इस श्लोक में पूर्वार्द्ध में `मामेव` के एवकार से पूर्वोक्तपूजाफलव्यव-च्छेदपूर्वक भगवान् ने निरपेक्ष अर्थात् शुद्धस्वरूपमात्रमिच्छ भक्तियोग के द्वारा अपनी ही प्राप्ति कहे

कही है । इस प्रकार फलभेद से पूजा और भक्ति का स्वरूप-भेद सिद्ध होता है[1] । उत्तरार्द्ध में पूजा का साधनत्व कहा गया है, इससे भी पूजा और भक्ति का अन्तर स्पष्ट है । यदि पूजादि के द्वारा भी पुरुषोत्तम प्राप्ति हो सकती तो 'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' यह कथन निरर्थक हो जाता ।

भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त अन्य किसी फल वाले कर्म या ज्ञान का भक्तित्व कदापि सम्भव नहीं है, क्योंकि भक्ति का भगवत्स्वरूप के अतिरिक्त और कोई फल या लक्ष्य ही नहीं है । इस कारण पूजा, अर्चना आदि का 'स्वरूपमात्रफलकत्व' न होने के कारण उन्हें भक्ति नहीं कहा जा सकता; और जहां कहीं उनमें भक्ति शब्द का प्रयोग मिलता है, उसे औपचारिक ही समझना चाहिए[2] ।

यह अवश्य है कि पूजादि यदि स्नेहपूर्वक प्रेमात्मिका भक्ति के साधन के रूप में किये जायें, तो वे भक्ति के सहकारी बन सकते हैं; किन्तु, सहायकभूत ज्ञान कर्म आदि का भक्तित्व नहीं होता, क्योंकि भक्ति को फलदान में इनकी सहायता की अपेक्षा नहीं है । केवलाभक्ति भी फलदान में पूर्ण समर्थ है । वस्तुत: जो कुछ भी अन्यसाधनों से सिद्ध होता है, वह अकेले भक्ति से ही सिद्ध हो जाता है[3], किन्तु जो भक्ति से सिद्ध होता है, वह अन्य किसी साधन से सिद्ध नहीं होता --

'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा ।।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांछति ।।(श्रीमद्भा०११।२०।३२।३३)

---

१ '----अत्र पूर्वार्द्धे एवकारेण पूर्वोक्तपूजाफलव्यवच्छेदपूर्वकं स्वस्य भक्तियोगफलत्वमुक्तमिति फलभेदादपि स्वरूपभेद आयात्येव । उत्तरार्द्धे च पूजाया: साधनत्वं भक्तेश्च फलत्वं चेति स्पष्ट एव पूजादेर्भक्तेर्भेद: ।'-- भक्तिहंस २७

२' भगवत्स्वरूपातिरिक्तफलके कर्मणि ज्ञाने वा न भक्तित्वम् । भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्। अतो न पूजादिर्भक्तिरिति निरूपणार्थमेव मामेवेत्यादि निरूपितमिति वेदितव्यम् । ---एतेन लोके शास्त्रे वा क्वचित्तादृश्यां तस्यां भक्तिपदप्रयोग औपचारिक इति ज्ञापितम् ।'--भक्तिहंस, पृ०३०

३ 'यत्कर्मभि: ------ मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा' इति तु भक्तिसाध्यं नान्येन सिद्ध्यत्यन्यसाध्यं भक्तेरानुषंगिकमिति कथनार्थम् । कल्पतरुस्वभावत्व ज्ञापनाय चोक्तम् ।'

--'भक्तिहंस', पृ०२७

इसके विपरीत भक्ति का प्राप्य जो पुरुषोत्तमप्राप्ति है, वह अन्य किसी साधन के वश की बात नहीं है। गीता में भगवान् ने स्वयं अपना भक्त्यैकलभ्यत्व स्वीकार किया है।

"नाऽहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि माम् यथा।।
भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।
ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप ।।" (गीता११।५३-५४)

अन्य किसी साधन में यह सामर्थ्य नहीं है कि वह पुरुषोत्तम को अपने अधीन कर सके, केवल भक्ति ही उन्हें वश में कर सकती है। भागवतवाक्य इस विषय में प्रमाण है--

"न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ।।" (श्रीमद्भा०११।१४।२०)

"भक्त्याऽहमेकया ग्राह्य: ---"; "न दानं न तपोनेज्या न शौचं न व्रतानि च । प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विडम्बनम्" इत्यादि अनेक वाक्यों से परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का भक्त्यैक लभ्यत्व सिद्ध है। अत: अखण्डआनन्दस्वरूप,रसघन श्रीकृष्ण की प्राप्ति में भक्ति के ही समर्थ होने के कारण व्यक्ति को भक्तिमार्ग का ही अवलम्ब ले लेना चाहिए। इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। विट्ठलेश ने इस बात की बड़ी स्पष्ट और निर्भीक घोषणा अपने ग्रन्थ "भक्तिहंस" के मंगलाचरण में की है--

"मन्त्रोपासनवैदिकतान्त्रिकदीक्षार्चनादिविधिभिर्य: ।
अस्पृष्टो रमते निजभक्तेषु स मेऽस्तु सर्वस्वम् ।।"

अब प्रश्न उठता है कि भगवत्प्राप्ति के सर्वोत्कृष्ट उपायभूत इस भक्तिमार्ग में जीव को प्रवेश कैसे मिलता है अथवा प्रवेश की क्या अपेक्षाएं हैं? आचार्य वल्लभ के अनुसार भक्तिमार्ग में प्रवेश पाने का एक ही उपाय है-- श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन होना। भक्तिमार्ग "स्वकृतिसाध्य" अथवा जीवप्रयत्न-सापेक्ष नहीं है, जिस जीव पर भगवान् की कृपा होती है, उसे ही वे भक्तिमार्ग में अंगीकार करते हैं। वल्लभसम्प्रदाय में भगवान् का यह अनुग्रह "पुष्टि" शब्दवाच्य है। श्रीमद्भागवत का "पोषणं तदनुग्रह:" यह वाक्य पुष्टिसिद्धान्त का आधार है। श्रीमद्भागवत में छठें स्कन्ध में इस पुष्टि का विशेषरूप से निरूपण किया गया है तथा इसे आधार बनाकर वल्लभ ने जिस भक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया है, उसे वे "पुष्टिमार्ग" की संज्ञा देते हैं।

संक्षेप में "पुष्टि" का स्वरूप इस प्रकार है --

"पोषणं तदनुग्रह:" तथा "कृष्णानुग्रहरूपा हि पुष्टि: कालादिबाधिका" इस निबन्धोक्ति से पुष्टि अनुग्रह रूप भगवद्धर्म है। यह भगवान् की "फलदित्सा" या फल देने की इच्छा से भिन्न होने के कारण जीवकर्मसापेक्ष नहीं है। यह एक स्वतन्त्र भगवद्धर्म है,जो कृपा,अनुकम्पा आदि शब्दों से वाच्य

है -- `अनुग्रहश्च धर्मान्तरमेव न तु फलदित्सा,कृपानुकम्पादिशब्दानां स वाच्य:` (ब्रु अणु०३।३।२६ पर भा०प्र०) । यह सर्वविलक्षण और लौकिकालौकिक फलसाधक है, अत: अधिकारविशेष होने पर साधनों की अपेक्षा न रखते हुए भी यह `पुष्टि` श्लाघ्य फल प्रदान करती है । पुष्टि भी सामान्य और विशेष के भेद से द्विविध है । सामान्यपुष्टि चारों पुरुषार्थों की साधिका है,किन्तु विशेषपुष्टि केवल `भगवत्स्वरूपफलिका` भक्ति ही सम्पादित करती है । विशेषपुष्टिजन्य यह भक्ति पुष्टिभक्ति कहलाती है । अतस्व पुष्टिमार्ग में भगवान् का अनुग्रह ही नियामक है । आचार्य ने `सिद्धान्तमुक्तावली` में कहा भी है-- `अनुग्रह: पुष्टिमार्गे नियामक इति स्थिति:` --(सि०मु०१८) । यह `पुष्टि` स्वरूपत: अव्यक्त है तथा इसका अनुमान इसके भक्तिरूप कार्य से ही किया जाता है । `पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद` में आचार्य वल्लभ ने कहा है --`भक्तिमार्गस्य कथनात् पुष्टिरस्तीतिनिश्चय:`--(`पुष्टि -- २) ।भागवत में `मनोगतिरविच्छिन्ना ---` से आरम्भ कर `सस्व भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत:` तक निर्गुण भक्तियोग का वर्णन हुआ है । इससे भक्ति की सिद्धि होने पर उसकी कारणभुत अनुग्रहरूप पुष्टि की भी सत्ता भगवान् में स्वत: सिद्ध हो जाती है ।

कठोपनिषद् में स्क श्रुति है--`नाऽयमात्माप्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुनाश्रुतेन । यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्।।` (कठ०१।२।२३)इसके आधार पर यह निश्चित होता है कि भगवत्स्वरूप के ज्ञान और तज्जन्यभक्ति का अधिकारी वही है,जिसका भगवान् आत्मीयरूप से `वरण` करते हैं । अन्य सभी साधन व्यर्थ हैं । इससे सिद्ध होता है कि भगवत्स्वरूप[१] की प्राप्ति जीव-प्रयत्नसाध्य साधनों से असम्भव है, केवल `भगवद्वरण` ही स्कमात्र उपाय है । सभी मार्गों में केवल भक्तिमार्ग के द्वारा ही परब्रह्म पुरुषोत्तम की प्राप्ति सम्भव है,अत: साक्षात् पुरुषोत्तम को विषय बनाने के कारण भक्तिमार्ग में उसी जीव को प्रवेश मिलता है, जिसका भगवान् आत्मीय रूप से वरण करते हैं । भगवान् के द्वारा जीव का यह वरण या अंगीकार अनुग्रह जन्य होता है ।

इस प्रकार भक्तिमार्ग का अधिकारी वही है, जिसपर भगवान् की कृपा है । कृपा के अभाव में पुष्टिमार्ग में रुचि ही उत्पन्न नहीं हो सकती । कृपा के अप्रत्यक्ष होने से तज्जन्य जो पुष्टिमार्ग रुचि है, उससे ही कृपा का अनुमान ल होता है । आचार्य वल्लभ ने `तत्त्वदीपनिबन्ध` में लिखा है-- `कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते` । `प्रमेयरत्नार्णव` में पुष्टिमार्ग के अधिकारी का लक्षण

----

१ `नाऽयमात्मा --- तस्यैष आत्मा वृणुते तनूंस्वाम्` इति श्रुतौ यमेवेति सामान्योक्त्याऽग्रिमेण च भगवदंगीकारमात्रैकलभ्यत्वोक्त्या प्रवचनादिपदान्यात्मीयत्वेन भगवदंगीकारातिरिक्तयावत्सा-धनोपलक्षकानीति ज्ञायते । तेन जीवकृतिसाध्यसाधनैरप्राप्यत्वमुक्तं भवति ।`

—`भक्तिहंस`,पृ०६

इस प्रकार किया गया है--`पुष्टिमार्गीयफलदित्सासमुद्भूतभगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्गविषयकरुचिमान् अधिकारी`। भगवद्वरण तथा पुष्टि का सिद्धान्त वाल्लभ मत के सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्तों में है। शुद्धाद्वैत मत का साधनापक्ष पूर्णरूप से पुष्टि पर ही आधारित है। `वरण` और पुष्टि को ही दृष्टि में रखकर वल्लभ ने भक्ति का विवेचन और वर्गीकरण किया है।

सर्वप्रथम आचार्यवल्लभ ने सामान्यरूप से तीन मार्गों का कथन किया है--प्रवाह, मर्यादा और पुष्टि। कर्म, ज्ञान और भक्ति क्रमश: इनके प्राणतत्त्व हैं। स्वभाव, फल और अनुवर्ती जीवों की अपेक्षा से इन तीनों का भेद उपपन्न है[1]। वस्तुत: मार्गों के ये भेद मानवमन की प्रवृत्तियों और अभिरुचियों के अनुसार हैं।

प्रवाहमार्ग विषयभोग के सामान्य सांसारिक जीवन तथा जन्ममरण के अहर्निश गतिशील चक्र का ही नाम है। प्रवाह का अर्थ है सर्गपरम्परा की अविच्छिन्नता और यह प्रवाह प्रलयपर्यन्त अबाधगति से प्रवाहित होता रहता है।

वेदविहित कर्मादि का अनुसरण करते हुए ज्ञानप्राप्ति के लिए यत्न करना मर्यादा है। मर्यादा का अर्थ है, नियमों का अनतिक्रमण। वह यहां कर्म ज्ञानादि के वेदविहित नियमों की समझी जानी चाहिए। मर्यादा मार्ग प्रमुखरूप से साधनमार्ग है।

पुष्टिमार्ग इन दोनों से भिन्न है, स्वभाव में भी, फल में भी। `यदा यस्यानुगृह्णाति भगवानात्मभावित:। स जहाति मतिं लोके वेदे च परिनिष्ठताम्`-- इस वाक्य से लोकवेद का पृथक् निर्देश कर भगवदनुगृहीत का उनमें आस्था परित्याग कहा गया है। यदि अनुग्रह लौकिक और वैदिक साधनों से अभिन्न होता यह सामान्य अरुचिकथन न होता। गीता के ग्यारहवें अध्याय में भगवान् ने `नाहं वेदै: न तपसा न दानेन न चेज्यया। शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि मां यथा।। भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन। ज्ञातुं द्रष्टुं च तत्त्वेन प्रवेष्टुं च परन्तप।।` इत्यादि से सभी कर्म एवं ज्ञानपरक साधनों का निषेध कर अपना भक्त्यैकलभ्यत्व कहा है। यह भक्ति अनुग्रहजन्य ही होती है, अत: भक्तिकारणीभूत पुष्टि का उत्कर्ष होने से यह पुष्टिमार्ग या पुष्टिभक्तिमार्ग पूर्वोक्त मार्गों से भिन्न है। इस प्रकार के स्वरूपनिश्चय से जितने पुष्टि प्रयुक्त मार्ग हैं, वे पुष्टिमार्ग में अन्तर्भुक्त हैं। जो लौकिक सर्ग परम्परा का विच्छेद न करने वाले मार्ग हैं, वे प्रवाह और वेदनियमपरक मार्ग मर्यादा में अन्तर्भुक्त हैं। बुद्धिसौकर्य के लिये ये ही तीन मार्ग ह कहे गये हैं। इन मार्गों का अन्तर और भी

---

१ `पुष्टिप्रवाहमर्यादा विशेषेण पृथक् पृथक्।
जीवदेहक्रियाभेदै: प्रवाहेण फलेन च।।`

--(पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद १)

स्पष्ट करते हुए वल्लभ कहते हैं-- `सर्गमिदं प्रवक्ष्यामि स्वरूपांगक्रियायुतम् ।

इच्छामात्रेण मनसा प्रवाहं सृष्टवान् हरि: ।

वचसा वेदमार्गं हि पुष्टिं कायेन निश्चय: ।।` (पुष्टिप्रवाह-- ८)

प्रवाह की उत्पत्ति भगवान् के मन से हुई है और यह व्यामोहबहुल है; मर्यादा की उत्पत्ति उनकी वाणी से हुई है, अत: वह वेदपरक है; तथा पुष्टि की सृष्टि श्रीहरि के आनन्दकाय से हुई है, इसलिये वह रसपुरित और प्रेमात्मक है । इस तरह वल्लभाचार्य भक्तिमार्ग का ही उत्कर्ष ज्ञापित करते हैं ।

वैसे ये तीनों ही मार्ग थोड़ी-बहुत मात्रा में एक-दूसरे से संसृष्ट हैं, क्योंकि वल्लभ के अनुसार भक्तिज्ञान और कर्म जब विजातीय संवलित होते हैं, तभी उनका `मार्गत्व` होता है; शुद्ध और `केवल` रूप में तो वे सभी भगवद्धर्म हैं ।[1]

इस प्रकार मार्गों के इस सामान्य वर्गीकरण के पश्चात् वल्लभाचार्य ने भक्ति का विवेचन अत्यन्त विस्तारपूर्वक किया है । उनके सभी ग्रन्थों में भक्ति का विश्लेषण उसे प्रमुख प्रमेय मानकर किया गया है ।

अनुग्रह से प्राप्त होने वाली यह भक्ति द्विविध है--मर्यादाभक्ति रूप और पुष्टिभक्तिरूप । जिस जीव का वरण भगवान् मर्यादाभक्ति मार्ग में करते हैं, उसे मर्यादाभक्ति प्राप्त होती है, और जिसका वरण पुष्टिभक्तिमार्ग में करते हैं, उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है[2] । इस वरण में भगवदिच्छा ही नियामिका है । भगवान् सृष्टि के पूर्व काल में ही `इस जीव से ऐसा कर्म करा कर ऐसा फल दूंगा` यह निश्चित कर लेते हैं । जिस जीव को जिस मार्ग में अंगीकृत करते हैं, उसे उस मार्ग में प्रवृत्त कर तदनुसारी फल प्रदान करते हैं । `एष उ एव साधुकर्म कारयति, तं यमेभ्यो लोकेभ्य उन्निनीषति --` इत्यादि श्रुतियों से यही सिद्ध होता है[3] । भगवान् की इस इच्छा में सृष्टिवैचित्र्य ही एकमात्र कारण है ।

---

१ ` --- अत्र पुष्ट्यादिशब्दै: मार्गा उच्यन्ते । तत्र भक्तिज्ञानकर्मणां विजातीयसंवलितानां मार्गत्वं, केवलत्वे भगवद्धर्मत्वमित्येकादशस्कन्धसुबोधिन्यां स्थितम्` । --`पुष्टिप्रवाह -- श्लोक १३-१४ पर विवरण`

२ `वरणे चाऽस्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेन`--`भक्तिहंस`, पृ०२३ ।

३ ` -----अत्रायमाशय: । एष उ एव --- उन्निनीषतीत्यादिश्रुतिभ्यो भगवान् सृष्टिपूर्वकाल एवैतस्मै जीवायैतत्कर्म कारयित्वैतत्फलं दास्य इति विचारितवानिति तथैव भवति । --- तथा च यं जीवं यस्मिन्मार्गे ह्यंगीकृतवांस्तं जीवं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्फलं ददातीति सर्वं सुस्थम् ।`

--अणुभा० ३।३।२९

इस भांति मर्यादा और पुष्टि भेद से जीवों को दो प्रकार से भगवान् अंगीकार करते हैं। इन दो मार्गों में जो सबसे बड़ा मौलिक भेद है, वह यह है कि मर्यादाभक्तिमार्ग साधन मार्ग है तथा इस मार्ग में भगवान् उसी जीव का वरण करते हैं, जिसका वह विहित साधनों के माध्यम से मोक्ष करना चाहते हैं। पुष्टिभक्तिमार्ग निस्साधन प्रेम का मार्ग है तथा उ इसमें भगवान् जिस जीव का वरण करते हैं, उसका विहित साधनों के बिना ही अपने अनुग्रहमात्र से कल्याण करते हैं।[1]

वल्लभ ने पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग का विवेचन सर्वत्र तुलनात्मक दृष्टि से ही किया है, और इस परस्परसापेक्ष विवेचन के कारण दोनों का वर्णन अलग-अलग कर सकना बहुत कठिन है; फिर भी यथासम्भव प्रयत्न किया जा रहा है।

मर्यादामार्ग का जो सामान्यलक्षण है-- वेदविहित कर्मों और शास्त्रोक्त नियमों का अनतिक्रमण, वह मर्यादाभक्ति पर भी घटित होता है। वेदमार्ग भी तो भगवान् ने ही निर्मित किया है, अत:उसकी रक्षा के लिए उन्होंने मर्यादाभक्तिमार्ग प्रकट किया है। मर्यादामार्ग मुख्यरूप से साधन मार्ग है। इसमें साधक वेदोक्त,शास्त्रोक्त सभी नियमों का पालन करते हुए,विहित साधनों का अनुष्ठान करते हुए भगवत्प्राप्ति का प्रयत्न करता है। ज्ञान,भक्ति रूप जो मुक्ति के विहित साधन हैं, उन जीवकृतिसाध्य साधनों के द्वारा जीव की जो मुक्ति है, वह मर्यादामार्गीय मुक्ति कहलाती है। इससे स्पष्ट है कि अर्चनवन्दनादि नवलक्षणों वाली जो `विहिता` या `साधन`भक्ति है,वह जीवकृतिसाध्य और साधनरूपा होने के कारण मर्यादामार्गीय भक्ति का ही अंग है, पुष्टिभक्ति का नहीं। पुष्टिमार्ग में तो विहित साधनों की आवश्यकता ही नहीं है; उनके अभाव में भी स्वरूपबल से ही भगवान् भक्तों को अपनी प्राप्ति करा देते हैं।[2]

मर्यादाभक्तों की जो प्रेमात्मिका भक्ति है, वह भी पुष्टिमार्गीयों की भक्ति की भांति साधननिरपेक्ष नहीं,अपितु साधनसापेक्ष है। `भक्तिहंस` में विट्ठलेश ने लिखा है कि मर्यादामार्गीय भक्ति के लिए साधनों का अनुष्ठान करता है,क्योंकि उसका वरण ही साधनमार्ग में हुआ है। किन्तु

१(क) `साधनक्रमेण मोक्षेच्छा हि मर्यादामार्गीयमर्यादा। विहितसाधनं विनैव मोक्षेच्छा पुष्टिमार्गमर्यादा।` -- अणुभा० ४।२।७

(ख) `येषां जीवानां मर्यादायामंगीकारस्तेषां साधनक्रमेणैव भगवत्प्राप्तिः। --- येषां च पुष्टिमार्गे,तेषां केवलानुग्रहेणैव, न साधनापेक्षायेति सिद्धान्त इति।`--भक्तिमार्तण्ड,पृ०१६१

२ `---- एवं सति कृतिसाध्यं साधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरुच्यते।`

-- अणुभा० ३।३।२९

स्नेहोत्पत्ति तक ही मर्यादामार्ग में भी विधि का प्रयोजकत्व है । स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर विषय-राग से ही साधक प्रवृत्त होता है, अत: विधि का अप्रयोजकत्व हो जाता है । इसके विपरीत पुष्टि-मार्ग में साधनप्रवृत्ति-अप्रवृत्ति दोनों ही अप्रयोजिका हैं, क्योंकि वहां तो स्वयं भगवान् ही साधन और साध्य दोनों हैं[1]।

मर्यादामार्ग के साधनमार्ग होने से इसमें भगवान् साधन-परतन्त्र रहते हैं, और भक्त को तदनुकूल ही फल भी प्रदान करते हैं । मर्यादा जीवों की मोक्षेच्छा से ही श्रवणादि में प्रवृत्ति होती है । भगवान् में मोचकत्व बुद्धि होने के कारण ही उनका भगवान् के प्रति प्रेम होता है, निरुपाधि, निष्कारण प्रेम नहीं । और यदि कदाचित् वस्तुस्वभाव के कारण मोक्षेच्छा निवृत्त भी हो जाये तो भी मर्यादा मार्ग के साधनमार्ग होने के कारण मोक्ष मिलता ही है[2]-- `अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्ते--` आदि भागवत वाक्य इसमें प्रमाण हैं । इससे सिद्ध होता है कि मर्यादा-मार्गीयभक्त की भक्ति प्रयोजनसापेक्ष होती है; वह प्रयोजन चाहे लौकिक हो चाहे अलौकिक । अनुग्रह-रूपा पुष्टि के जो सामान्य-विशेष दो भेद हैं, उनमें से सामान्य अनुग्रह रूपा पुष्टि जो चतुर्फलसाधिका है, मर्यादाभक्तिमार्ग की नियामिका है ।

पुष्टिमार्ग का स्वरूप मर्यादामार्ग के विपरीत है । यह पुष्टिभक्ति विहिताभक्ति न होकर अविहिता या रागानुगा भक्ति है । नवधाभक्ति का जो अन्तिम सोपान है, `आत्मनिवेदन` वह पुष्टिभक्ति की प्रथम अपेक्षा है । इस मार्ग में श्रीकृष्ण के प्रति अनन्यप्रेम ही सर्वप्रमुख है । पुष्टि-मार्ग में वेदोक्त अथवा शास्त्रोक्त साधनों की कोई आवश्यकता नहीं है । शमदमादिसहकारी साधनों का विधान मर्यादामार्ग की दृष्टि से किया गया है; पुष्टिमार्ग में तो `भगवद्वरण` के अतिरिक्त और किसी साधन की अपेक्षा ही नहीं है । वह स्वयं ही साधन है, स्वयं ही साध्य हैं । इस मार्ग में भगवान् समस्त साधनों के अभाव में अपने अनुग्रहमात्र से जीव को अपनी प्राप्ति कराते हैं । अत: जो

---

१ `वरणे चाऽस्ति प्रकारद्वयं मर्यादापुष्टिभेदेन । आद्यस्तु तत्साधने भक्तिप्रवृत्त: । तथैव तद्वरणात् । परन्तु स्नेहोत्पत्तिपर्यन्तं विधिरेव तत्र प्रयोजक: । तदुत्पत्त्यनन्तरं च रागादेव तत्सम्बन्धिपदार्थे यतिष्यत इति विधेरप्रयोजकत्वम् । द्वितीयस्य तु प्रवृत्त्यप्रवृत्ती अप्रयोजिके । भगवता स्वस्यैव साधन-त्वेनाऽङ्गीकारात् । `--भक्तिहंस`, पृ०३४

२(क) `तथाहि मर्यादापुष्टिभेदेनाङ्गीकारे वैलक्षण्यादाद्यायामङ्गीकृतानां मुमुक्षयैव श्रवणादौ प्रवृत्तिस्तदातृत्वेनैव भगवति प्रेमापि, न तु निरुपधि: । कदाचिद्वस्तुस्वभावेन मुक्तीच्छानिवृत्तावपि तद्भक्ते: साधनमार्गीयत्वाद् अनिच्छतो मे गतिमण्वीं प्रयुंक्त इति वाक्यादन्ते मुक्तिरेव भविष्यति `--अणुभा०३।३।२९

(ख) `-----तं यथायथोपासते तथैव भवति तद्धैतान् भूत्वाऽवति इति श्रुते: मुक्तिसाधनत्वेनज्ञात्वा भजत: सैव फलम् ---` । -- अणुभा० ३।३।३०

साधनबोधक वाक्य हैं, उन्हें मर्यादापरक समझना चाहिए[1] तथा निस्साधन भक्तों की भक्ति का कथन करने वाले वाक्यों को पुष्टिभक्तिपरक समझना चाहिए।

पुष्टिमार्ग तथा मर्यादामार्ग में दूसरा प्रमुख अन्तर फल की दृष्टि से है। पुष्टिमार्गीयों की इहलौकिक अथवा पारलौकिक किसी भी प्रकार के किसी फल में कोई रुचि नहीं होती। स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ भगवद्भक्ति के समक्ष हेय और अनादेय हैं। पुरुषोत्तम-प्राप्ति ही उनका एकमात्र लक्ष्य है। परब्रह्म पुरुषोत्तम इस मार्ग में स्वयं फलरूप हैं तथा अपने अनुग्रह से भक्तों को अपनी ही प्राप्ति कराते हैं। इसीलिए पुष्टिभक्ति 'फलात्मिका' या 'फलभक्ति' कहलाती है। इस फलभक्ति में मोक्ष के लिए भी अवकाश नहीं है।

गीता में श्रीकृष्ण ने कहा है--'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'--इसलिये जो उन्हें मुक्तिसाधन म जानकर भजता है, उसे मुक्ति मिलती है और जो उनके स्वरूप का स्वतन्त्र पुरुषार्थत्व समझकर भजता है, उसे स्वरूपप्राप्ति होती है। पुष्टिभक्त लयात्मक मुक्ति स्वीकार नहीं करते, वे तो भगवान् ही जिसका लक्षण या स्वरूप हैं, ऐसे उद्भट भक्तिभाव के आकांक्षी होते हैं।[2] स्वतन्त्र पुरुषार्थ रूप भक्ति के समक्ष वे सभी प्रकार की मुक्तियों को ठुकरा देते हैं--

> 'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।'

इसीलिए विट्ठलेश ने कहा है--'भक्तौ च न स्वरूपातिरिक्तफलकत्वम्' परमकाष्ठापन्न सर्वफलरूप पुरुषोत्तम स्वरूप की श्रेष्ठता असंदिग्ध है और उसे प्राप्त करने वाले की भी: अतः मर्यादा भक्त की अपेक्षा पुष्टिभक्त श्रेष्ठ हैं। मर्यादा व पुष्टिभक्तों के साध्यफल की चर्चा अगले परिच्छेद में सविस्तर की जायेगी।

इस साधन और फल के अन्तर के अतिरिक्त मर्यादा और पुष्टिमार्ग में और भी भेद हैं।

वल्लभाचार्य ने इन सब पर भी विस्तारपूर्वक विचार किया है। 'गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोध' (३।३।२९) पर भाष्य करते हुए वे लिखते हैं कि 'भक्त्या मामभिजानाति' ऐसा कहकर 'ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्' ऐसा कहकर भक्तिमार्ग में भी पुरुषोत्तमज्ञान से मोक्ष कहा गया है; और कहीं 'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं

---

१ 'कृतिसाध्यसाधनसाध्यभक्तिर्मर्यादाभक्तिः। तद्रहितानां भगवदनुग्रहैकप्राप्यपुष्टिभक्तिः। तथा च साधनबोधकानि वाक्यानि मर्यादाभक्तिपराणि। निःसाधनानां भक्तिबोधकानि पुष्टिभक्तिपराणीत्यविरोधः।'-- भक्तिमार्तण्ड, पृ०१५१

२ '------ स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्य स तल्लक्षण उद्भटभक्तिभावः। स स्वार्थः स्वतंत्रपुरुषार्थरूपः --- 'अणुभा' ३।२।३०'

प्राय: श्रेयो भवेदिह` से ज्ञाननैरपेक्ष्य का कथन किया गया है, जो परस्पर विरुद्ध प्रतीत होते हैं। किन्तु ये दोनों कथन मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग की अपेक्षा से हैं। मर्यादामार्ग में कृतिसाध्य जो ज्ञान भक्तिरूप साधन हैं,उनकी अर्थवत्ता है, पुष्टिमार्ग में नहीं है। मर्यादामार्ग में भक्ति भी ज्ञान, कर्म रूप इतरसाधनसापेक्ष हो कर ही साधक का ब्रह्मभाव सम्पन्न करती है,स्वतंत्र रूप से नहीं[1]। भगवान् जिसे जिस मार्ग में अंगीकार करते हैं, तदनुकूल ही प्रवृत्ति कराकर तदनुसारी फल देते हैं। अत: पुष्टिमार्गीय का ज्ञानादिनैरपेक्ष्य और मर्यादामार्गीय का ज्ञानापेक्षित्व दोनों ही उचित हैं[2]। इस प्रकार मर्यादामार्ग में ज्ञान की अपेक्षा है,पुष्टिमार्ग में नहीं है।मर्यादामार्ग में भक्ति का ज्ञान-पूर्वकत्व आवश्यक है। इस मार्ग में श्रवणादि से पहिले ज्ञानोदय और पापक्षय होता है तब प्रेमरूपा भक्ति उत्पन्न होती है। इतना सब होने के पश्चात् तब मुक्ति प्राप्त होती है। पुष्टिमार्ग में तो अंगीकार के अनुग्रहैकसाध्य होने के कारण पापादि प्रतिबन्धक ही नहीं हैं; अत: श्रवणादिरूपा और प्रेमरूपा-और साथ ही साथ, पौर्वापर्य से या विपरीतक्रम से,अर्थात् प्रेमरूपा पहिले श्रवणादिरूपा बाद में, भी हो सकती हैं। तात्पर्य यह कि पुष्टिमार्ग में प्रेमा भक्ति के लिये नवधाभक्ति के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है। इस मार्ग में श्रवणादि भी फलरूप हैं, स्नेह से किये जाने के कारण वे विधि का विषय नहीं हैं[3]।

ब्रह्मज्ञान होने पर उस ज्ञान से मर्यादामार्गीय का क्रियमाण कर्मों से अश्लेष हो जाताहै, तथा उसके संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं। श्रुति इस विषय में अग्नि का दृष्टान्त देती है-- `तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानं प्रदूयन्ते। स्मृति में भी ऐसा ही कहा गया है--`यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्नि: सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा`।

---

१ `भक्तेरपि स्वाश्रमधर्मसहितज्ञानसहिताया एव तिरोधाननाशकत्वमुक्तं भवति। ---अयमर्थ:। स्वाश्रमाचारसहितब्रह्मानुभवसहितमाहात्म्यज्ञानपूर्वकस्नेहो ब्रह्मभावं करोति।`
--त०दी०नि० २।१६३`प्रकाश`

२`ज्ञानस्यार्थवत्त्वमुभयथा। --- एवं सति कृतिसाध्यंसाधनं ज्ञानभक्तिरूपं शास्त्रेण बोध्यते। ताभ्यां विहिताभ्यां मुक्तिर्मर्यादा। तद्रहितानामपि स्वरूपबलेन स्वप्रापणं पुष्टिरुच्यते। तथा च यं जीवं यस्मिन् मार्गेऽङ्गीकृतवांस्तंजीवं तत्र प्रवर्तयित्वा तत्फलं ददातीति सर्वं सुस्थम्। अतएव पुष्टि-मार्गेऽङ्गीकृतस्य ज्ञानादिनैरपेक्ष्यं मर्यादायामंगीकृतस्य तदपेक्षित्वं च युक्तमेवेति भाव:।`
--अणुभा० ३।३।२९

३ `---अस्मिन्मार्गे श्रवणादिभि: पापक्षये प्रेमोत्पत्तिस्ततो मुक्ति:। पुष्टिमार्गेऽङ्गीकृतेस्त्वत्यनुग्रह-साध्यत्वात् तत्र च पापादेरप्रतिबन्धकत्वाच्छ्रवणादिरूपा प्रेमरूपा च युगपत् पौर्वापर्येण वा, वैपरी-त्येन वा भवत्येव। अत्र श्रवणादिकमपि फलरूपमेव, स्नेहेनैव क्रियमाणत्वान्नविधिविषय:।`
--अणुभा० ३।३।२९

किन्तु ज्ञान के द्वारा प्रारब्ध का नाश नहीं होता । ज्ञान में कर्मनाश की सामर्थ्य होते हुए भी उसके द्वारा जो प्रारब्ध का नाश नहीं होता, उसमें अखिलकारणकारणरूप, अखिल कार्यों की पूर्वावधिरूप भगवदिच्छा ही हेतु है[1]। अत: मणिमंत्रादि से प्रतिबद्ध अग्नि की भांति प्रारब्ध के विषय में ज्ञान का अदाहकत्व है । कर्म की यही मर्यादा है और मर्यादामार्ग में भगवान् प्रत्येक मर्यादा की रक्षा करते हैं। इसलिये मर्यादामार्गीय को प्रारब्ध का भोग करना ही पड़ता है ।

पुष्टिमार्ग सभी मर्यादाओं से अतीत है और मर्यादा मार्ग के विपरीत है । पुष्टिमार्गीय भक्तों के प्रारब्ध और अप्रारब्ध दोनों ही प्रकार के कर्मों का भोग के बिना ही नाश हो जाता है । यह पुष्टिमार्गीयों का ही दुर्लभ अधिकार है । जीवनिष्ठा विद्या भगवान् की ज्ञानशक्ति की अंशभूत है; जब धर्मसम्बन्ध से कर्मों का नाश हो सकता है तो साक्षात्पुरुषोत्तम अर्थात् धर्मी से सम्बन्ध होने पर कोई आशंका नहीं करनी चाहिए[2]।

इस प्रकार वल्लभाचार्य ने अधिकारीभेद से मर्यादाभक्तिमार्ग और पुष्टिभक्तिमार्ग का प्रतिपादन किया है । भक्तिमार्ग होने के कारण दोनों में 'वरणजन्यत्व' और 'अनुग्रहनियामकत्व' समान है । मर्यादाभक्ति में भी पुरुषोत्तम ही मुक्तिदाता रूप से उपास्य हैं,अत: वहां भी उनका अनुग्रह ही फलाप्ति में कारण है । मर्यादाभक्ति भगवान् के सामान्य अनुग्रह का विषय है,जो चतुर्फलसाधक है । पुष्टिभक्ति विशेषअनुग्रहजन्य है जो उनके साक्षात्स्वरूप की प्राप्ति कराता है, अत: पुष्टिमार्ग में स्वरूप ही एकमात्र फल है।

----

१ "---- तज्ज्ञानेनारब्धकार्याऽदहनं यत् तदखिलकारणकारणत्वेन अखिलस्य पूर्वावधिरूपभगवदिच्छालक्षणाद्धेतोरित्यर्थ: । यत्रास्याऽपि दहनेच्छा तत्र तथैवेतिनिगूढाशय: । --- एवं सति मणिमंत्रादिप्रतिबद्धशक्तेरग्नेरिव ज्ञानस्याप्यदाहकत्वे न काचिद्धानिरिति सर्वमनवद्यम् ।" -अणु भा० ४।१।१५

२(क) "---एवेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयो: प्रारब्धयोर्भोगं विनैव नाशो भवति । ---- मर्यादाविपरीतस्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गस्य न काचनात्राऽनुपपत्तिर्भावनीया । ---अत एवैकेषामिति दुर्लभाधिकार: सूचित: ।"-- अणु भा० ४।१।१७

(ख) "जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेरंशभूता । एवं सति यत्र धर्मसम्बन्धिसम्बन्धादन्येभ्योऽतिशयं कर्माणि वदति श्रुतिस्तत्र साक्षाद्धर्मिसम्बन्धेऽतिशयितकार्यसम्पत्तौ कथमसम्भावना कर्तुमुचितेति निगूढाशय: ।"

— अणु भा० ४।१।१८

भगवान् पुष्टिमार्ग में उन्हीं जीवों को स्वीकार करते हैं, जो उन्हें अत्यन्त प्रिय हैं तथा जिनपर उनका अतिशय अनुग्रह है । सृष्टि के प्रारम्भ में ही भगवान् इन पुष्टिजीवों में पुष्टिभक्ति का बीज स्थापित कर देते हैं,जो बाद में उपचय को प्राप्त होता है । पुष्टिमार्ग में जीव को अभेद-ज्ञान प्राप्त नहीं होता । मर्यादामार्ग में इस ज्ञान के लिये अवकाश है,किन्तु पुष्टिमार्ग में नहीं । जीव ब्रह्म का जो सर्वथा ऐक्य है,उसमें सभी भेदों के लय हो जाने के कारण, वह भजनानन्द में अन्तरायरूप है; अत: भगवान् पुष्टिमार्ग में जिस जीव को अंगीकृत करते हैं, उसे ऐसा ज्ञान नहीं देते[1] ।

वल्लभाचार्य विहिता और अविहिता भक्ति को एक विशिष्ट अर्थ मे ग्रहण करते हैं ।माहात्म्यज्ञान से युक्त,भगवान् में ईश्वरत्व या ब्रह्मत्वज्ञान पूर्वक जो निरुपधिस्नेह है, वह विहिता भक्ति है तथा शास्त्रादि में अनिर्दिष्ट कामादि सम्बन्धजन्य जो भक्ति है, वह अविहिता भक्ति है । कामादि उपाधि-ज स्नेहरूप जो भक्ति है,उसमें कामादि ही मुक्तिसाधन हैं,क्योंकि ये भगवान् में चित्तप्रदेश का हेतु हैं । आदिपद से यहां भगवान् में पुत्रत्व आदि भावनाओं का भी ग्रहण है । भागवत के दशमस्कन्ध में कहा गया है--'कामं क्रोधं भयं स्नेहमैक्यं सौहृदमेव वा । नित्यं हरौ विदधतो यान्ति तन्मयतां हि ते' । यही भक्तिमार्ग का ज्ञानमार्ग से उत्कर्ष है कि यहां बाधक भी साधक है[2] ।

पुष्टिमार्ग में इस 'अविहिता' या प्रेमलक्षणा भक्ति का ही प्राधान्य है । प्रेम के कई भाव हैं,अत: भक्ति भी किसी भी भाव से की जा सकती है । भागवत के 'कामं क्रोधं भयं ---- इस श्लोक की व्याख्या करते हुए वल्लभाचार्य ने 'सुबोधिनी' में लिखा है कि काम स्त्रीभाव में;क्रोध शत्रुभाव में, भयवधिकभाव में,स्नेह सम्बन्धीभाव में, ऐक्य ज्ञान-भाव में,व सौहार्द सख्यभाव में होता है;किसी भी भाव से भजन करने पर वह भाव भगवन्मय हो जाता है ।

यद्यपि पुष्टिमार्ग में रागानुगा भक्ति की वैसी विस्तृत व्याख्या नहीं मिलती, जैसी गौडीय वैष्णवसम्प्रदाय में, तथापि पुष्टिमार्गीय भक्ति में दास्य,वात्सल्य,सख्य और माधुर्य चारों प्रकार की

---

१ 'भगवताभक्तिमार्गे स्वीयत्वेनांगीकृतो य आत्मा जीवस्तस्य यदात्मत्वेन ज्ञानं तद्भजनानन्दानुभवे अन्तरा व्यवधानरूपमिति भगवता तादृशे जीवे तन्न सम्पाद्यत इत्यर्थ:'--अणुभा० ३।३।३५

२ ' भक्तिस्तु विहिताऽविहिता चेति द्विविधा । माहात्म्यज्ञानयुतेश्वरत्वेन प्रभौ निरूपधिस्नेहात्मिका विहिता । अन्यतो प्राप्तत्वात् कामाद्युपाधिजा सा त्वविहिता । स्वमुभयविधाया अपि तस्या मुक्तिसाधकत्वम् । ---कामाद्युपाधिजस्नेहरूपायां कामाद्येव मुक्तिसाधनमित्यर्थ: । भगवति चित्तप्रवेशहेतुत्वात् । आदिपदात् पुत्रत्वसम्बन्धित्वादय: । ---एतेन ज्ञानादिमार्गादुत्कर्ष उक्तो भवति । बाधकानामपि साधकत्वात्' ।

--अणुभा० ३।३।३६

रति-भक्ति का ग्रहण है । भावावेश और घनिष्ठता की दृष्टि से मधुरभाव की कान्तारति का ही सर्वाधिक महत्त्व है । इस भाव की अधिष्ठात्री स्वयं राधा जी हैं । भक्ति का माधुर्यभाव अलौकिक काम-भावना है, जिसमें वासना का लेश भी नहीं है ।

इन भावों की स्थिति होते हुए भी पुष्टिमार्ग में वात्सल्य और सख्यभाव की प्रधानता है । पुष्टिमार्ग के आदर्श भक्त-- नन्द, यशोदा, गोप और गोपी हैं । 'यशोदोत्संगलालित' बालगोपाल कृष्ण ही पुष्टिमार्ग के प्रमुख उपास्य हैं । यों आराधना उनके सभी रूपों की होती है । यह कृष्ण-प्रेम ही पुष्टिमार्ग का एकमात्र उपलीव्य है । नवधा या मर्यादाभक्ति से भिन्न पुष्टिभक्ति एकमात्र भगवत्प्रेम पर ही आश्रित है, अत: इसे प्रेमलक्षणा भक्ति कहते हैं ।

किन्तु मर्यादा और पुष्टि का प्रकरण यहीं समाप्त नहीं होता । वल्लभाचार्य ने पुष्टिभक्ति के चार भेद परिगणित किये हैं-- प्रवाहपुष्टि, मर्यादापुष्टि, पुष्टिपुष्टि तथा शुद्धपुष्टि इन चार प्रकार की पुष्टिभक्ति के अधिकारी जीवों का भी इसी दृष्टि से वर्गीकरण किया गया है ।

'सिद्धान्तमुक्तावली' में वल्लभ ने लिखा है कि ये पुष्टिजीव भी दो प्रकार के हैं-- शुद्ध और मिश्र । मिश्र प्रवाहादिभेद से पुन: तीन प्रकार के हैं । पुष्टि से मिश्रित 'सर्वज्ञ' कहलाते हैं, मर्यादा-मिश्रित 'गुणज्ञ' और प्रवाहमिश्र 'क्रियारत' । शुद्धपुष्टिजीवों का ज्ञापक प्रेम है और ये अत्यन्त दुर्लभ हैं । इस विविधता में भगवान् का लीलावैचित्र्य ही कारण है ।

यहां पुष्टि आदि से पुष्टिमार्गादि ही विवक्षित हैं । इन मार्गों का नियामक 'भगवदनुग्रह' भी फलभेद से केवल और मिश्र दो प्रकार का है ।

'एते मामभिजानन्तु' इस अभिध्यापूर्वक जो पुष्टि है, उससे मिश्रित पुष्टिभक्ति पुष्टि-पुष्टि है । यह अनुग्रहान्तर भजनोपयोगी ज्ञानजनक होता है । पुष्टिपुष्ट भक्त भगवत्स्वरूप, लीलास्वरूप, प्रपंच-स्वरूप आदि के ज्ञाता होते हैं । इन्हें 'सर्वज्ञ' कहते हैं । ये ही ज्ञानमिश्र भक्त हैं, जो ईश्वर को अत्यन्त प्रिय हैं ।

'मद्गुणान् जानन्तु' इस अभिध्यापूर्वक जो मर्यादा है, उससे मिश्रित पुष्टि-भक्ति मर्यादा-पुष्टि कहलाती है । मर्यादापुष्टि भक्त भगवान् के सत्त्वादि, तथा स्रष्टृत्व, ऐश्वर्य आदि गुणों के ज्ञाता होते हैं । इन्हें 'गुणज्ञ' या मार्यादिक भक्त कहते हैं । पुष्टि मर्यादाजीवों की रागजन्य प्रवृत्ति का निरोध कर उसे निवृत्तिमार्गीयधर्मों में नियोजित करती है । मर्यादा से मिश्रित होने के कारण ये पुष्टिभक्त विषयासक्ति त्याग कर भागवत्कथाश्रवण आदि में प्रवृत्त होते हैं, तथा भगवान् के दिव्य चरित्र और गुणों का ज्ञान प्राप्त करते हैं ।

'मदुपासादिपरा एते भवन्तु' इस अभिध्यापूर्वक प्रवाह से मिश्रित पुष्टिभक्ति प्रवाह-पुष्टि कहलाती है । प्रवाहयुक्त होने के कारण ये भक्त केवल कर्म में रुचि रखने वाले होते हैं, किन्तु पुष्टि-

भक्त होने के कारण भगवदुपयोगी क्रियाओं में ही संलग्न रहते हैं। ये पांचरात्र आदि में कही गई क्रियाओं के अनुष्ठान में रत रहने के कारण 'क्रियारत' कहलाते हैं।

शुद्धपुष्टि भक्त केवल प्रेमप्रधान होते हैं। श्रीकृष्ण में अनन्य आसक्ति और निरुपधि प्रेमवत्व इनका लक्षण[१] है। ये भगवान् की परिचर्या गुणगान आदि स्नेह से ही करते हैं। ये अत्यन्त दुर्लभ और सर्वोत्कृष्ट हैं। 'भक्तिहंस' में विट्ठलेश ने शुद्ध पुष्टिभक्ति का ही विवेचन प्रमुखरूप से किया है, सामान्य पुष्टिभक्ति का नहीं।

जीव के द्वारा पुष्टि-पुष्टि भक्ति के लिये ही प्रयत्न किया जाना चाहिये तथा भगवद्भजन में उपयोगी पुरुषोत्तमस्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर भजन करना चाहिये। अन्तिम जो शुद्ध-पुष्टि भक्ति है, वह तो केवल भगवान् के द्वारा प्रदान किये जाने पर ही मिलती है। 'निबन्ध' में वल्लभाचार्य ने कहा है-- 'भक्तिः शुद्धा स्वतंत्रा च दुर्लभेति न शोच्यते'।

इन चारों प्रकार के पुष्टिभक्तों में 'मोक्षपर्यन्तफलाकांक्षाविरहत्व' सामान्य होता है, अर्थात् भगवद्भक्ति तथा भगवत्स्वरूपप्राप्ति के अतिरिक्त इनका और किसी फल से कोई प्रयोजन नहीं होता।

अन्ततः यह सिद्ध होता है कि भगवान् के विशेष अनुग्रह से ही पुष्टिभक्ति की प्राप्ति होती है। भगवान् सभी साधनों से, सभी मार्गों में सर्वथा स्वतन्त्र हैं, किन्तु केवल पुष्टिभक्ति मार्ग ही एक ऐसा है, जिसमें भगवान् भक्त के अधीन रहते हैं--'कृष्णाधीना तु मर्यादा स्वाधीना पुष्टिरुच्यते।'

मर्यादा और पुष्टि के भेद से द्विविध इस भक्तिमार्ग के अतिरिक्त वल्लभ ने ज्ञानमार्ग की भी स्थिति स्वीकार की है। यद्यपि स्वयं वल्लभ को यह अभिमत अथवा अभीष्ट नहीं है, तथापि अधिकारी-भेद के आग्रह से उन्होंने उसके स्वरूप का भी विवेचन किया है।

ज्ञानमार्ग भी मर्यादाभक्तिमार्ग की भांति साधनसापेक्ष मार्ग है। वस्तुतः मर्यादा एक सामान्य श्रेणी है, जिसमें समस्त लौकिकवैदिक कर्मकाण्ड की मान्यता है। साधनों का अनुष्ठान भी इसकी अनिवार्य अपेक्षा है। इस श्रेणी के अन्तर्गत ज्ञानमार्ग और साधनसापेक्ष मर्यादाभक्तिमार्ग, दोनों ही आते हैं। इसी कारण कई बार वल्लभ ने ज्ञानमार्ग का विवेचन मर्यादामार्ग के अन्तर्गत और कभी-कभी उससे अभिन्नरूप में भी किया है।

ज्ञानमार्ग में अक्षरब्रह्म की उपासना की जाती है। अक्षरब्रह्म परब्रह्मपुरुषोत्तम की एक अवर अभिव्यक्ति है। यह भगवान् का सृष्टीच्छायुक्त रूप है। यही समस्त सृष्टि का कारण तथा उत्पत्ति-और अवस्थान है। स्वरूपतः गणितानन्द या सीमित आनन्दवाला होने के कारण यह परब्रह्म पुरुषोत्तम से हेय है। वल्लभ ने इसका द्विविध प्रकाशन स्वीकार किया है। एक तो निखिलप्रपंचात्मक कार्यरूप का है, और दूसरा प्रपंचातीत निर्विशेष ब्रह्म रूप का है। अक्षर का प्रापंचिकधर्मशून्यरूप ही 'अस्थूलमनणु

१ द्रष्टव्य -- 'पुष्टिप्रवाह ----' श्लोक १३-१४ पर विवरण, पृ०३१-३२

---`आदि श्रुतियों का विषय है । अपने अव्यक्तरूप से यह अक्षरब्रह्म ही ज्ञानियों का उपास्य है ।

ज्ञानी आत्मरूप से भगवान् के इस अक्षररूप का चिन्तन करते हैं; `सोऽहम्` तथा `अहं ब्रह्मास्मि` जैसे कथन अक्षरविषयक उपासना से ही सम्बद्ध है । अनेक जन्मों के अभ्यास के पश्चात् उनके हृदय में अक्षरब्रह्म का आविर्भाव होता है । अक्षराविर्भाव होने पर ज्ञानी का आनन्दांश भी आविर्भूत हो जाता[१] है तथा वह भी `ब्रह्मभूत` हो जाता है । प्रारब्धसमाप्ति पर ज्ञानी का अक्षरब्रह्म में ही लय होता है ।

ज्ञानमार्ग में परप्राप्ति अथवा पुरुषोत्तमप्राप्ति नहीं होती, यह अधिकार भक्तों का ही है । भक्तिमार्ग में उसे ही प्रवेश मिलता है, जिसका भगवान् इस मार्ग में वरण करते हैं । ज्ञानियों का भक्तिमार्ग में वरण न होने से उनके पुरुषोत्तमविषयक श्रवणादि नहीं होते, फलत: पुरुषोत्तम प्राप्ति भी नहीं होती । अक्षरोपासक अर्थात् ज्ञानमार्गीयसाधकों के लिये अक्षर ही चरमलक्ष्य है, `परमगति`[२] है ।

इस मार्ग में चित्तशुद्धि के शमदम आदि जितने भी साधन शास्त्रों में कहे गये हैं, उन सब का अनुष्ठान आवश्यक है । वैराग्य, सन्यास आदि की भी इस मार्ग में विशेष उपयोगिता है ।

स्वरूपत: यह ज्ञानमार्ग भक्तिमार्ग से हेय है । मर्यादाभक्तिमार्ग भी इससे श्रेष्ठ है, पुष्टिमार्ग की तो बात क ही क्या । ज्ञानमार्ग परप्राप्ति कराने में सर्वथा असमर्थ है, और इसके द्वारा केवल अक्षरब्रह्म की प्राप्ति ही सम्भव है ।

इस भांति यद्यपि वल्लभ ने अधिकारीभेद तथा साधनाभेद से मर्यादाभक्ति मार्ग, व पुष्टिभक्ति मार्ग तथा ज्ञानमार्ग का निरूपण किया है, तथापि उनका अभिमत साधनामार्ग पुष्टिमार्ग ही है । अपने दार्शनिक सिद्धान्त `विशुद्धाद्वैत` के पूरकरूप में वे जिस साधना-पद्धति को स्वीकार करते हैं, वह पुष्टिमार्ग की ही है । वे यह स्वीकार करते हैं कि जीव का जो चरमसाध्य है, अर्थात् परब्रह्म पुरुषोत्तम की स्वरूपप्राप्ति और उनकी नित्य आनन्दमयी लीला में प्रवेश, उसकी प्राप्ति केवल पुष्टिभक्ति के द्वारा ही हो सकती है ।

वस्तुत: पुष्टिसिद्धान्त वाल्लभमत की एक विशिष्टता है । पुष्टिभक्ति के रूप में वल्लभ ने भागवत में प्रतिपादित भक्ति की शास्त्रीय आलोचना प्रस्तुत की है । उन्होंने `पोषणं तदनुग्रह:` के आधार पर पुष्टि की और पुष्टि के आधार जिस पुष्टि-सम्प्रदाय की परिकल्पना की है, वह निस्सान्देह प्रेमाश्रयी भक्तिमार्ग भक्ति के समस्त सम्प्रदायों में सर्वाधिक ऋजु, मनोवैज्ञानिक और आकर्षक है ।

----

१ `ज्ञानिनो हि भगवन्तमात्मत्वेनैवोपासते । तस्या नैरन्तर्येऽनेकजन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति । तदा स्वानन्दांशस्याप्याविर्भावाद् ब्रह्मभूत: सन्नात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरितमिति तदानन्दात्मक: संस्तमनुभवति । एवं स्थित: प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति ।`

-- अणुभा०४।१।३

२ (पृष्ठ संख्या २८२ पर देखें)

इसके पूर्व कि पुष्टिमार्ग की साधनापद्धति पर विचार किया जाय, नवधाभक्ति पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि सभी भक्ति सम्प्रदायों में उसे साधनभक्ति के रूप में लगभग अनिवार्यत: ही स्वीकार किया गया है ।

भक्ति के विकासक्रम में नवधा भक्ति का विशेष महत्त्व है । यों तो भक्ति अपने-आप में एक मानसिक स्थिति या प्रक्रिया है, जिसमें मानव की सभी मनोवृत्तियों और मनोरागों का अपने इष्टदेव के साथ एक भावात्मक या अनुरागात्मक सम्बन्ध स्थापित होता है, अत: उसके विकास की कोई निश्चित प्रणाली या नियमावली नहीं बनाई जा सकती; फिर भी, प्रारम्भ में हृदय में भक्ति की प्रेरणा जगाने के लिये कुछ साधनों का अवलम्ब लिया जाता है । नवधा भक्ति इन साधनों में सर्वाधिक मान्य है ।

कृष्णभक्ति मुख्यरूप से भाव-प्रधान है, अत: कृष्णभक्तिसम्प्रदायों में नवधाभक्ति का विस्तृत विश्लेषण नहीं मिलता तो भी राग की उत्पत्ति के पूर्व और फिर राग के उत्तरोत्तर वर्धन में उसकी स्थिति और उपयोगिता निश्चितरूप से स्वीकृत है ।

नवधाभक्ति ही `विहिता` या `वैधी` भक्ति भी कहलाती है । जैसा कि इसके नाम से ही स्पष्ट है, यह भक्ति की शास्त्रीय व्याख्या है । श्रीमद्भागवत के सप्तम स्कन्ध में नवधाभक्ति का उल्लेख आया है --

`श्रवणं कीर्तनं विष्णो: स्मरणं पादसेवनम् ।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ।।
इति पुंसाऽर्पिता विष्णौ भक्तिश्चेत् नवलक्षणा ।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्ये धीतमुत्तमम् ।।`

(श्रीमद्भा०७।५।२३।२४)

नवधाभक्ति के श्रवण, कीर्तन आदि आरम्भिक अंग मुख्यत: क्रियात्मक हैं, किन्तु उत्तरवर्ती वन्दन, दास्य, सख्य आदि अधिकाधिक भावपरक होते जाते हैं । दास्य और सख्य तो कृष्णभक्ति में भावरूप से गृहीत हैं; किन्तु यहां नवधाभक्ति में उनका ग्रहण वैधी या कृतिसाध्य भक्ति के अंगों के रूप में ही हुआ है, प्रेमलक्षणा भक्ति की भावभूमियों के रूप में नहीं ।

भक्ति के विकास में नवधाभक्ति का महत्त्व इसलिए इतना अधिक है, क्योंकि सामान्यत: इसके अभाव में प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती । एक सामान्य व्यक्ति आध्यात्मिक चेतना के जिस स्तर पर होता है, वह प्राय: इतना ऊंचा नहीं होता कि उसके द्वारा सीधे प्रेमा-भक्ति तक

(पृष्ठ संख्या २८१ की टिप्पणी सं०-२)

२ `---कैवल्यकामानां न पुरुषोत्तमोपासकत्वम् । तद्विषयकश्रवणादेरभावादितिभाव: ।
अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहु: परमां गतिमितिवाक्यात् स याति परमां गतिमित्यत्रापि रमैव यातीत्यर्थोऽस्तु ।` -- अणुभा० ३।३।३३

पहुंचा जा सके । जो हृदय भौतिक विषयैषणाओं की ग्रन्थियों में कसा होता है, उसमें इतनी ऋजुता और मार्दव कहां है कि वह कृष्णप्रेम में तरलीकृत हो सके । जब नवधाभक्ति के अनुष्ठान से अन्त:करण शुद्ध होता है, सांसारिकता का उद्वेग कुछ मन्द पड़ता है, तभी व्यक्ति के हृदय में भगवान् का माहात्म्यज्ञान स्फुरित होता है । नवधाभक्ति के द्वारा उर्वर बनाये गये हृदयक्षेत्र में ही भगवत्प्रेम का अंकुरण सम्भव है । मानसी सेवाओं का आतान-वितान बड़ा विस्तृत है । पुष्टिमार्ग में भी एक सेवा-प्रणाली निश्चित है, जिसके अनुसार श्रीकृष्ण की अहर्निश सेवा होती है । `सेवा` पर पुष्टिमार्ग की साधनापद्धति के सन्दर्भ में विशेष विचार किया जायेगा ।

नवधाभक्ति जन्य प्रेम के साथ सेवा करते-करते भक्त के हृदय में भगवान् की दिव्य लीलाओं का स्फुरण होता है और लीला-स्फुरण से रागात्मिकता का प्रादुर्भाव होता है,जो आगे चलकर भाव-भक्ति या पुष्टि-भक्ति का रूप ग्रहण करती है ।

नवधाभक्ति के जो नौ अंग हैं-- श्रवण,कीर्तन,स्मरण,पादसेवन,अर्चन,वन्दन,दास्य,सख्य और आत्मनिवेदन --उनका सामान्य परिचय इस प्रकार है:--

श्रवण

भगवान् के नाम,रूप,गुण और उनके अलौकिक कर्मों के वर्णन के सुनने को `श्रवण` कहते हैं । यह श्रवण नाम का भी होता है और लीला का भी । व्रजसम्प्रदायों में, विशेष रूप से वाल्लभसम्प्रदाय में,लीला श्रवण का विशेष महत्त्व है । श्रवण चित्त-संस्कार में विशेष सहायक होता है,इसीलिये नवधा भक्ति में इसका स्थान प्रथम है । श्रीकृष्ण की लीलाओं में रस का इतना ऐश्वर्य और वैविध्य है कि प्रत्येक रुचि का व्यक्ति उनमें अपनी मनोभावनाओं के लिये अवकाश पा लेता है । भगवत्कथाश्रवण से भगवान् में श्रद्धा और आदर उत्पन्न होता है तथा उनके कृपालुस्वभाव क तथा अशरण-शरण,भक्तजन-वत्सल आदि होने की बात सुनकर भक्त का नैराश्य और मलिनता दूर होती है ।

कीर्तन

भगवान् के रूप गुण एवं लीला का गायन कीर्तन कहलाता है । कृष्णभक्तिसम्प्रदायों में कीर्तन को संगीत का माध्यम मिला । कृष्ण की रसपूर्ण लीलाएं,संगीत के मधुर ए स्वरों में ढलकर और भी रसमयी हो उठीं । किसी सम्प्रदाय में नाम-गान का महत्त्व था, किसी में लीलागान का । वल्लभसम्प्रदाय में अष्टप्रहर की सेवा में कीर्तन या लीलागान का विशेष आयोजन होता था ।

स्मरण

भगवान् के गुण चरित्र की मानसिक आवृत्ति या स्मृति स्मरण है । स्मरण भगवन्नाम का भी होता है,और भगवल्लीला का भी । श्रीकृष्ण के माहात्म्य और उनके दिव्य कर्मों का स्मरण

किया जाता है, इससे भगवान् में अनुराग दृढ़ हो जाता है । इष्टदेव का नाम-जप भी स्मरण की ही एक विधा है । जप और कीर्तन दोनों ही स्मरण के साधन हैं; किन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है । जप सूत्रात्मक है और अपेक्षाकृत प्रगाढ़ भावतन्मयता अथवा समाधिप्राय अवस्था में ही सम्भव है । लीला-स्मरण अधिक सहज है तथा साधना की प्रारम्भिक अवस्था में ध्येयविषय में चित्त की एकाग्रता संपादित करने में सहायक है । कृष्णभक्ति-सम्प्रदायों में तो लीलास्मरण को ही अधिक महत्त्व दिया गया है, वैसे साधना की परिपक्वावस्था में यह भी नाम-जप की ही भांति सूक्ष्म और आन्तर हो जाता है । गौडीय वैष्णव-सम्प्रदाय में कीर्तन को लीला-स्मरण का ही अंग स्वीकार कियागया है ।

पाद-सेवन

पादसेवन का अर्थ है, भगवान् के चरणकमलों में अनुरक्ति । श्रवण,कीर्तन और स्मरण से भगवान् का जो माहात्म्य-बोध होता है,`पादसेवन` उसकी स्वाभाविक परिणति है । भगवान् का माहात्म्यबोध होने के साथ-साथ व्यक्ति को अपनी अकिंचनता का भी बोध होना चाहिये,क्योंकि अहंकार भक्ति में सबसे बड़ी बाधा है । भगवच्चरणों की सेवा से अहंकार नष्ट होता है । पादसेवन का अर्थ मात्र श्रीचरणों की ही सेवा नहीं है,अपितु दैन्यपूर्वक,अहंकार का परित्याग कर,भगवान् की सेवामात्र पादसेवन कहलाती है ।

भगवान् के चरण त्रिताप-ऊष्मा के उपशमक हैं, वे सुख की राशि हैं । वहां अज्ञान का अन्धकार नहीं है; नवधाभक्ति उन चरणों में किंजल्क की भांति रंजित है और भोग और मोक्ष दोनों उनकी पग-तल-छाया में एक हैं[1] ।

अर्चन

अर्चन व्यक्ति की बाह्योन्मुखी वृत्तियों के केन्द्रीकरण की विधा है । व्यक्ति के लिये ईश्वर की स्वरूप-भावना, या गुण-कर्म-श्रवण मात्र के आधार पर भगवद्भक्ति में मन को स्थिर रखना प्राय: कठिन होता है; विशेषरूप से साधना की प्रारम्भिक अवस्था में । उसे ध्यान केन्द्रित करने के लिए एक अधिक मूर्त और पार्थिव आलम्बन की आवश्यकता होती है,और इस आवश्यकता की पूर्ति

---

१ `भृंगी री, भजि स्याम-कमलपद, जहां न निसि कौ त्रास ।
जंह बिधु-भानु समान एक रस, सो बारिज सुख- रास ।
जंह किंजल्क भक्ति नवलच्छन, काम-ज्ञान रस एक ।
निगम,सनक,सुक,नारद, सारद मुनिजन भृंग अनेक ।।`
—`सूरसागर`,पद सं०३३६

के लिए मूर्ति-पूजा के बाह्यविधिविधान स्थिर किये जाते हैं ।

पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि से भगवान् के श्रीविग्रह की षोडषोपचार पूजा अर्चन-भक्ति है। अर्चन से भक्त के मन में भगवान् के प्रति अनुराग, सामीप्य और अभीप्सा के भाव दृढ़ होते हैं; साथ साथ ही उसके दैनन्दिन जीवन के क्रिया-कलाप भी दैवी-प्रेरणा से युक्त हो जाते हैं । जैसे-जैसे साधना गहन और अन्तर्मुखी होती जाती है, अर्चन भी भौतिक-उपकरणों की अपेक्षा छोड़कर भावनात्मक होता जाता है । तब व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया, प्रत्येक चेष्टा अर्चना बन जाती है ।

वन्दन

वन्दन का सामान्य अर्थ अपने से महत्तर किसी सत्ता का गुणगान करना होता है । आराध्य के प्रति सविनय प्रणति ही वन्दन भक्ति है । वन्दन का अर्थ केवल यशोगान नहीं होता, अपितु आराध्य की दिव्यता, उनके माहात्म्य और उनकी अचिन्त्यानन्तशक्तिमत्ता का अनुभव कर रोम-रोम से पुलकित और अभीभूत हो उठना ही उनका वन्दन है । इस विस्मयविमुग्ध अवस्था में उनका गुणगान स्वत: होने लगता है । वन्दनभक्ति में आराधना और आत्मसमर्पण की भावनाएं स्वत: सम्मिलित होती हैं ।

दास्य

भगवान् को प्रभु और स्वामी स्वीकार कर और स्वयं को उनका सेवक और दास स्वीकार कर भक्ति करना दास्यभाव की भक्ति है । जीव ब्रह्म का अंश है, अंश होने के कारण तद्रूप होते हुए भी उनसे अवर और न्यून है, अत: जीव और ईश्वर के बीच स्वस्वामिभाव सर्वथा संगत है । दास्य भाव से भक्ति करने पर दैन्य उत्पन्न होता है, और दैन्य भक्ति की सबसे बड़ी अपेक्षा है । इस दैन्यभाव से ही व्यक्ति को आत्मबोध होता है, और भगवान् प्रसन्न होते हैं । गोस्वामी तुलसीदास ने तो इस भाव के बिना संसारचक्र से मुक्ति असम्भव बताई है--'सेवक सेव्यभाव बिनु भव न तरिय उरगारि ।' वल्लभाचार्य ने भी दास्यभाव की भक्ति को ही विशेष मान्यता दी है ।

सख्य

भगवान् को सुहृद और सखा जानकर उनके प्रति जो भक्ति-भाव रखा जाता है, वही सख्य है। दास्य भक्ति में श्रद्धाजन्य भय और सेवकसेव्यभावजन्य जो वैषम्य होता है, वह सख्यभाव की प्रगाढ़ आत्मीयता में विलीन होने लगता है । भक्त का स्नेह और इस स्नेह का भगवान् की ओर से दिया गया प्रत्युत्तर- दोनों से मिलकर भक्त और भगवान् के बीच सख्यभाव स्थापित होता है । अर्जुन और गोप-बालकों की श्रीकृष्ण के प्रति जो भक्ति थी, वह सख्यभाव की ही थी ।

दास्य और सख्य भक्तिरस के अन्तर्गत स्थायिभाव रूप से भी स्वीकृत हैं, किन्तु नवधा भक्ति

में उनका ग्रहण भक्त के मनोभाव के रूप में ही हुआ है ।

आत्मनिवेदन

उपर्युक्त आठों प्रकार के साधनों के अनुष्ठान से जब भक्त के हृदय में भगवान् का माहात्म्यज्ञान पूर्णरूप से प्रकाशित हो चुका होता है, और उनके प्रति उसका अनुराग बहुत दृढ़भाव धारण कर लेता है, तब उसके हृदय में सर्वात्मना आत्मसमर्पण की जो भावना उदित होती है, वही आत्मनिवेदन है । भक्त अपना सर्वस्व, यहां तक कि अपना स्वत्व भी उन्हें निवेदित कर देता है । उसका अपना कुछ भी शेष नहीं रहता ; सब कुछ भगवदीय हो जाता है ।

यह नवधाभक्ति की विधाओं का संक्षिप्त परिचय है । सामान्यत: इनका यही रूप सर्वमान्य है । वल्लभाचार्य ने भी नवधाभक्ति को मान्यता दी है, किन्तु उसका विस्तृत विवेचन वाल्लभसम्प्रदाय में नहीं मिलता । न वल्लभ और न उनके किसी शिष्य ने ही नवधा की सांगोपांग व्याख्या की है ।

भागवत के द्वितीय स्कन्ध में आये एक श्लोक--

'तस्माद्भारत सर्वात्मा भगवानीश्वरो हरि:
श्रोतव्य: कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताऽभयम्'

के सन्दर्भ में अवश्य वल्लभाचार्य ने श्रवण, कीर्तन और स्मरण के रूप पर कुछ प्रकाश डाला है । श्लोक की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं कि यद्यपि यहां सम्पूर्ण नवधाभक्ति का विधान होना चाहिये, तथापि श्रवण, कीर्तन और स्मरण के अतिरिक्त अन्य का 'प्रेमानन्तरभावित्व' अर्थात् उनके प्रेमोत्पत्ति के उपरांत ही होने के कारण, इन तीन का ही विधान किया गया है । इन तीनों से भगवान् में प्रेम हो जाने पर अन्य की कर्तव्यता तो बिना कहे ही सिद्ध है । श्रवण, कीर्तन और स्मरण का विधान यहां अन्योन्यनिर्वाहक रूप से हुआ है । कीर्तन का अविधान होने पर श्रवण सम्भव नहीं होगा, और स्मरण के अभाव में कीर्तन नहीं होगा । अत: इनमें से कोई भी व्यर्थ नहीं है, किन्तु प्रेम से परिपुष्ट होकर इनमें से कोई एक भी अभयसिद्धि कर सकता है । इन श्रवणादि की असकृत् आवृत्ति करने से भगवत्प्रेम की उद्भावना होती है ।

अब प्रश्न उठता है कि श्रवण का विषय क्या है ? इसका उत्तर देते हुए वल्लभ कहते हैं कि श्रवण का विषय है दशविधलीला[1] । भगवान् दशविधलीला रूप से ही श्रोतव्य हैं, अन्यथा भागवत में कहे गये स्कन्धार्थ व्यर्थ हो जायेंगे । भगवान् की दशविधलीला में सभी गुणों के आ जाने के कारण गुण-विशिष्ट भगवान् ही श्रवणादि का विषय हैं । इससे स्पष्ट है कि वाल्लभसम्प्रदाय में नाम-श्रवणादि

---

१ 'श्रोतव्यविषयत्वेन लीलादशविधा पुन:
वक्तव्या वासुदेवस्य तदर्थमपरा कृति: '
--त०दी०नि०२।२

की अपेक्षा लीलाश्रवण, कीर्तन आदि का ही विशेष महत्त्व है ।

श्रवणादि का स्वरूप स्पष्ट करते हुए वल्लमाचार्य ने तत्त्वदीपनिबन्ध के भागवतार्थ प्रकरण में लिखा है कि सभी पद-वाक्यों का भगवान् में शक्तितात्पर्यनिर्धारण ही श्रवण है[१] । वल्लभ का मत है कि भगवान् के सर्वरूप होने से सभी पद मूलत: भगद्वाची ही हैं । सभी शब्द भगद्वाचक प्रणव की ही विकृतियां हैं और सभी पदार्थ भगवद्रूप हैं, अत: सारे पद भगवद्वाचक हैं । शब्दों के जो अन्य अर्थ हैं, वे शक्तिसंकोचोत्तरभावी हैं । सभी पदों और वाक्यों का भगवान् में ही शक्तिअसंकोचरूप अर्थ और तात्पर्य-निर्धारणपूर्वक किये गये श्रवणादि ही वल्लभ को मान्य हैं[२] । भगवान् दशविध लीलारूप से ही श्रोतव्य हैं, अत: दशविधलीलाबोधक पद और वाक्यों का शक्तितात्पर्यनिर्धारण ही श्रवण है[३] । शक्तितात्पर्य-निर्धारण का सीधा अर्थ है, श्रीकृष्ण के सर्वात्मत्व और सर्वरूपत्व की परिभावना करना[४] । भगवान् के सर्वरूपत्व का निर्णय कर फिर उनकी लीलाओं का कथन श्रवण करना चाहिए ।

शक्तितात्पर्यनिर्धारणपूर्वक पदवाक्यों का उच्चारण कीर्तन है, और स्तत्प्रकारक स्वरूपचिंतन ही स्मरण है ।

वल्लभ श्रवण को अंगी स्वीकार कर मनन और निदिध्यासन को उसके अंगों के रूप में स्वीकार करते हैं[५] । श्रवण के तीन अंग हैं-- तत्त्वस्वरूपचिन्तन, मनन और चित्तशुद्धि । तत्त्वस्वरूपचिन्तन से निदि-ध्यासन ही समझना चाहिए । ऐसा वे क्यों स्वीकार करते हैं, इसका उन्होंने कोई स्पष्टीकरण नहीं दिया है । यह ज्ञेय है कि जिस श्रवण के मनन-निदिध्यासन अंग हैं, वह ज्ञानमार्गीय श्रवण नहीं है,

---

१ "शक्तितात्पर्यनिर्धार: श्रवणं पदवाक्ययो: "-- त०दी०नि० ३।२

२ (क) "पदेशक्तिनिर्धारोऽसंकोचरूप: सहज:, वाक्ये तात्पर्यनिर्धार: उभयमुभयत्र वा "।--त०दी०नि०३।२ पर 'प्रकाश'

(ख) "भगवद्वाचकप्रणवविकृतिरूपाणां सर्वेषां पदानां भगवद्रूपेणार्थेन नित्यसम्बन्धत्वाद्भगवतश्च सर्वरूपत्वात् सर्वे शब्दा: सर्वार्थवाचका इत्येवं रूप: पदे शक्तिनिर्धार: स्वाभाविक: " ।

--त०दी०नि० ३।३ पर आ०भं०

३ "----तथा च दशविधलीलाबोधकानां पदवाक्यानां शक्तितात्पर्यनिर्धार: श्रवणमित्यर्थ" ।

--त०दी०नि०३।३ पर आ०भं०

४ "कृष्णस्य सर्वरूपत्वे निर्धार: पदवाक्ययो:
गुणातीतस्वरूपत्वे निर्गुणश्रुतिनिर्णय: ।"

--त०दी०नि० ३।५

५ "शक्तितात्पर्यनिर्धार: श्रवणं पदवाक्ययो:
तत्त्वध्यानं हृत्प्रसादो मननं चांगमुच्यते "

--त०दी०नि० ३।२

अपितु स्नेहपूर्वक किया गया भक्तिमार्गीय श्रवण है ।

इसके आगे वल्लभ ने नवधाभक्ति के अन्य अंगों की विवेचना नहीं की है । पुरुषोत्तम ने अवश्य भक्तिहंस की व्याख्या करते हुए उनका अतिसंक्षिप्त परिचय दिया है--पादसेवन का अर्थ है, परिचर्या, अर्चन, अर्थात् पूजा ; वन्दन का अर्थ है मनसा, वाचा, कर्मणा प्रह्वीभाव या प्रणति; दास्य अर्थात् सर्वकर्मसमर्पण, सख्य अर्थात् भगवद्विश्वास आदि, और आत्मनिवेदन का तात्पर्य है देह, तथा देहजन्य आसक्तियों और सम्बन्धों का भगवान् के श्रीचरणों में अर्पण[१] । इससे अधिक इनकी व्याख्या नहीं मिलती ।

वाल्लभमत में नवधा की स्थिति अन्य सम्प्रदायों से कुछ विशिष्ट है । वल्लभ यह स्वीकार करते हैं कि नवधा भक्ति के द्वारा चित्तशुद्धि होने पर और सांसारिकता का आवेश क्षीण होने पर भक्त में भगवत्प्रेम धारण करने की योग्यता उत्पन्न होती है --

'साधनादिप्रकारेण नवधाभक्तिमार्गत:

प्रेमपूर्त्या स्फुरद्धर्मा: स्यन्दमाना: प्रकीर्तिता: ' (जलभेद, पृ०१०)

निबन्ध में भी वल्लभ नवधाभक्ति को प्रेमोत्पत्ति का साधन कहते हैं--

'विशिष्टरूपं वेदार्थ: फलं प्रेम च साधनम् ।।

तत्साधनं नवविधाभक्ति ------------ ।' --त०दी०नि०२।२१८

श्रीमद्भागत के एकादश स्कन्ध में भी ऐसा ही कहा गया है --

यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ

मत्पुण्यगाथा श्रवणाभिधानै: ।

तथा तथा पश्यति वस्तु सूक्ष्मं

चक्षुर्यथैवांजनसम्प्रयुक्तम् ।। (११।१४।२६)

किन्तु वल्लभ नवधाभक्ति को मर्यादामार्ग या मर्यादाभक्ति का ही आवश्यक अंग मानते हैं, पुष्टिमार्ग या पुष्टिभक्ति का नहीं । भगवान् जिन्हें मर्यादामार्ग में स्वीकार करते हैं, उनके लिये शास्त्रोक्त कर्मों के साथ इस वैधी भक्ति का अनुष्ठान अत्यन्त आवश्यक है । इस वैधी भक्ति के द्वारा ही प्रेमलक्षणा भक्ति की प्राप्ति होती है, अत: यह साधनरूपा है ।

---

१ 'भगवद्वाचकपदवाक्यानां भगवति शक्तितात्पर्यनिर्द्धार: श्रवणम् । तादृशनिर्द्धारपूर्वकमुच्चारणं कीर्तनम् । तथैव स्वरूपचिन्तनं स्मरणम् । पादसेवनं परिचर्या । अर्चनं पूजनम् । वन्दनं कायवाङ्मनोभि: प्रह्वीभाव: । दास्यं कर्मार्पणम् । सख्यं तद्विश्वासादि । आत्मनिवेदनं देहसमर्पणम् । यथा विक्रीतस्य गवाश्वादेर्भरणपालनादिचिन्ता न क्रियते तथा देहं तस्मै समर्प्य तच्चिन्तावर्जनमिति निरूपितम् ' ।

--'भक्तिहंस' पर पुरुषोत्तम प्रणीत 'विवेक', पृ०५७ ।

किन्तु कुछ भक्त ऐसे भी हैं, जिनका भगवान् में सहज अनुराग होता है । उनका आकर्षण विधिजन्य नहीं होता । ऐसे भक्त पुष्टिमार्गीय भक्त होते हैं, तथा उनपर भगवान् का अतिशय अनुग्रह होता है । पुष्टिमार्गीय प्रारम्भ से ही प्रेमरूपा भक्ति के अधिकारी होते हैं और इसके लिए उन्हें नवधा भक्ति के अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं होती ।

भक्त को नवधा या साधनभक्ति की अपेक्षा तभी तक होती है, जब तक उसके हृदय में भगवान् के प्रति प्रगाढ़ प्रेम और दुर्निवार आकर्षण जन्म नहीं लेता । वल्लभ ने द्वितीय स्कन्ध की सुबोधिनी में लिखा है--`अचतुराणामेव षड्विधा भक्तिरुक्ता` (२।४।१६) -- कीर्तन,स्मरण,ईक्षण, वन्दन,श्रवण और अर्हण यह षड्विधा भक्ति है। यहां ईक्षण से पादसेवन और अर्हण से अर्चन समझना चाहिये । यह षड्विधा बाह्यभक्ति `अचतुर` अर्थात् संसारी व्यक्तियों के लिए ही कही गई है । इनसे सभी पापों का क्षय और चित्त का परिष्कार होता है । षड्विधा भक्ति से चातुर्यसम्पन्न व्यक्ति भगवान् के चरणारविन्दों में अवसन्न रहते हैं,और उनकी सभी आन्तर और बाह्य संग विशीर्ण हो जाते हैं[1] । यह स्पष्टत: मर्यादामार्गीय भक्तों का वर्णन है ।

प्रेमभक्ति से युक्त व्यक्ति के लिये कुछ भी करना आवश्यक नहीं है । किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि पुष्टिमार्ग में नवधा भक्ति के लिए कोई स्थान नहीं है । पुष्टिमार्गीयों की भी श्रवण, कीर्तन,अर्चन और वन्दन आदि में प्रवृत्ति होती है । पुष्टिमार्ग में भी विशेषत: प्रारम्भ में श्रवण,कीर्तन अर्चन आदि नवधा भक्ति के सभी अंगों का विधान है; अन्तर इतना है कि वहां यह वैधी भक्ति के अंग नहीं होते, न ही इनका साधनरूपत्व होता है । पुष्टिमार्गीय भक्त तो स्वत: प्रेमसम्पन्न होते हैं,उन्हें प्रेमोत्पत्ति के लिए वैधी भक्ति के अनुष्ठान की क्या आवश्यकता है । अत: पुष्टिमार्गीय श्रवणादि भक्त के भगवत्प्रेम की सहज अभिव्यक्ति मात्र होते हैं । उनकी गणना साधनरूपा नवधाभक्ति के अन्तर्गत नहीं होती ।

इस प्रकार सामान्य मर्यादामार्गीय भक्तों के लिये नवधाभक्ति की अपेक्षा स्वीकार करते हुए भी वल्लभपुष्टिमार्ग में उसकी अपेक्षा अस्वीकार करते हैं । पुष्टिमार्ग ही वल्लभ का अभिमत मार्ग है और यह सर्वसाधननिरपेक्ष `विधि` से अतीत है । अत: नवधा भक्ति के `वैधी` तथा साधनरूपा होने के कारण पुष्टिमार्ग में उसका आचरण अनिवार्य नहीं है । `प्रेम` सर्वसाधननिरपेक्ष प्रेम ही इस मार्ग में सबकुछ है । उसे ही साधन कह लीजिये, उसे ही साध्य ।

इसी परिच्छेद में भक्ति की अर्थमीमांसा करते हुए कहा गया है कि वल्लभ के अनुसार प्रेम-रूपमानसी सेवा ही भक्ति है, अत: `भक्त्या संजातया भक्त्या`जैसे वाक्यों में बाह्य क्रियात्मक नवधा भक्ति में जो भक्तिपद का प्रयोग है, वह औपचारिक है । `प्रेमलक्षणा` भक्ति की सम्पादिका होने के कारण उसे भी भक्ति कह दिया जाता है । फिर भी पुष्टिमार्ग में `स्नेहान्त: पाती' होने के

---

१ द्रष्टव्य--श्रीमद्भा०२।४।१५-१६ पर `सुबोधिनी`

कारण, अर्थात् इनका भी स्नेहरूपत्व होने के कारण ये भक्ति के समान ही फल देते हैं ।

इसके पहले कि नवधाभक्ति की बात समाप्त की जाये, इस बात का उल्लेख आवश्यक है कि वाल्लभमत में नवधाभक्तिमात्र का भक्तिमार्गीयत्व नहीं है । वल्लभ ने भक्ति के साथ अनिवार्य अपेक्षा रखी है, स्नेह की, अत: नवधा का भी स्नेहपूर्वक होना आवश्यक है, अन्यथा उसे भक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती । वल्लभ के इस सिद्धान्त का विट्ठलनाथ ने अपने `भक्तिहंस` में विशेष विस्तार किया है, तथा नवधाभक्ति के मार्ग-भेद से अनेक भेद परिगणित किये हैं । `भक्तिहंस` के आधार पर गोपेश्वर महाराज ने `भक्तिमार्तण्ड` में भी इस विषय पर विस्तृत चर्चा की है ।

विट्ठलनाथ लिखते हैं कि श्रवणादि जो नवधा के भेद हैं, वे भी विभिन्न अधिकारियों[1] के द्वारा किये जाने के कारण कर्म, ज्ञान, उपासना और भक्तिमार्गीय होने से अनेक प्रकार के हैं । इनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है --

त्रिवर्गकामी अर्थात् धर्म[2], अर्थ और काम पुरुषार्थों की इच्छा रखने वाले अधिकारियों द्वारा किये गये श्रवणादि कर्ममार्गीय हैं । वहां भी ये यदि जीविकामात्र के लिए किये जायें तो कृषिकर्म की भांति लौकिकी ही हैं, अथवा शौचार्थी[3] के गंगास्पर्श के समान हैं, जिससे मलनिवृत्ति के अतिरिक्त और कोई कार्य सम्पादित नहीं होता । `अकाम: सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधी: । तीव्रेण भक्तियोगेन भजेत पुरुषं परम्` इत्यादि से कर्ममार्गीय श्रवणादि का ही कथन किया गया है ।

तुरीयाश्रम में ज्ञानोदय और चित्तशुद्धि के हेतुरूप से किये गये श्रवणादि ज्ञानमार्गीय होते हैं[4] । `यथा यथाऽऽत्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानै:` -- इस भागवतोक्ति में ज्ञानमार्गीय नवधा का ही वर्णन है ।

साक्षात् मोक्षसाधक रूप से पांचरात्रादि दक्षिणागमों के अनुसार तान्त्रिकदीक्षापूर्वक जो

---

१ `श्रवणादिनवकमपि अधिकारिभेदेन क्रियमाणं सत् कर्मज्ञानोपासनाभक्तिमार्गीयत्वेनाऽनेकविधं भवति`
-- `भक्तिहंस`, पृ०४३

२ `तत्र त्रिवर्गकामेन क्रियमाण: श्रवणादि: कर्ममार्गीय एव`
-- `भक्तिहंस`, पृ०४४

३ `----वृत्त्यर्थं चेत् कृषिवल्लौकिक एव । शौचार्थिगंगास्पर्शवच्च । न हि तस्य मलनिवृत्त्यतिरिक्तो धर्म उत्पद्यते ।` -- `भक्तिहंस`, पृ० ४४

४ `----तुरीयाश्रमे ज्ञानोदयचित्तशुद्धिहेतुत्वेन क्रियमाण: श्रवणादिर्ज्ञानमार्गीय:`
-- `भक्तिहंस`, पृ० ४५

जो श्रवणादिक हैं, वे उपासनामार्गीय हैं । विष्णुधर्मों में निष्ठा होने के कारण यह उपासनामार्ग ही वैष्णवमार्ग कहलाता है[१] । उपासनामार्ग भक्तिमार्ग नहीं है, क्योंकि इसमें सर्वत्र भगवद्भाव न होकर मूर्तिमात्र में भगवद्भावना होती है । स्वदेश में भगवद्भावना होने से मार्गीयों का प्राकृत भक्तत्व होता है । इस भावना से वैधी भक्ति के अनुसार भजन करने वालों का प्रावाहिकोपासकत्व या प्रावाहिकज्ञानिभक्तत्व समझना चाहिए, क्योंकि अन्यत्र भगवद्भावना न होने पर स्वदेश में भगवद्भाव होना प्रावाहिकत्व का लक्षण है ।

भक्तिमार्गीय जो आचार्य है, उनके सम्प्रदाय के अनुसार नारायण अष्टाक्षर, वासुदेव-द्वादशाक्षर मंत्रदीक्षापूर्वक मोक्ष साधनरूप से किये गये श्रवणादिक प्रावाहिकी भक्ति के अन्तर्गत आते हैं[२] । प्रावाहिकत्व होने से यहां भी स्वदेश में ही भगवद्भावना होती है । प्रावाहिक भक्तों का भक्ति-मार्ग में जघन्य अधिकार होता है । अर्थात् ये भक्तिमार्ग के हीन अधिकारी हैं । प्रेमात्मक भक्ति के साधनरूप से क्रियमाण श्रवणादि भक्तिमार्ग में मर्यादाभक्ति के अन्तर्गत आते हैं । 'श्रद्धामृतकथायां मे --' से उपक्रम कर 'स्वं धर्मैर्मनुष्याणामुद्धवात्मनिवेदिनाम् । मयि सञ्जायते भक्ति कोऽन्योऽर्थोऽस्यावशिष्यते', 'भक्त्या संजातया भक्त्या' इत्यादि वाक्यों से श्रवणादि नवविध भक्ति का प्रेम साधकत्व कहा गया है[३] ।

स्नेहोत्पत्ति के अनन्तर, अपने भगवद्व्यसन से, स्वतंत्र पुरुषार्थ के रूप में किये गये श्रवणादि उत्तम पुष्टिभक्तिरूप हैं[४] । ये साधनरूपा नवधा के अंग नहीं हैं, अपितु स्वयं फलरूप हैं । श्रीमद्भागवत में

---

१ 'साक्षान्मोक्षसाधनत्वेन तान्त्रिकदीक्षापूर्वकं विहितत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिरुपासनामार्गीयः । अयमेव वैष्णवमार्ग इत्युच्यते, विष्णुधर्मेष्वेव निष्ठावत्वात् ।' -- 'भक्तिहंस', पृ०४७

२ 'भक्तिमार्गीयभक्तिकृतभक्तिसाम्प्रदायिकदीक्षापूर्वकं मोक्षसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिः प्रावाहिकी भक्तिरुच्यते ।' -- 'भक्तिहंस', पृ०५०

३ 'प्रेमात्मकभक्तिसाधनत्वेन क्रियमाणः श्रवणादिर्भक्तिमार्गे मर्यादाभक्तिरित्युच्यते । 'श्रद्धाऽमृतकथायां मे ---' इत्युपक्रम्य 'स्वं धर्मैः --- कोऽन्योऽर्थोऽस्याऽवशिष्यते' 'भक्त्या संजातया भक्त्या' इत्यादिवाक्यैस्तत्साधनत्वं ज्ञेयम्'

--'भक्तिहंस'। पृ० ५३

४ स्नेहोत्पत्त्यनन्तरं स्वव्यसनतः स्वतंत्रपुरुषार्थत्वेन क्रियमाण उत्तमः पुष्टिभक्तिरूपः

--'भक्तिहंस', पृ० ५४

`मत्सेवया प्रतीतंच सालोक्यादि चतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णा: कुतोऽन्यत्कालविप्लुतम्`; `नैकात्मतां मे स्पृह्यन्तिकेचिन्मत्पादसेवाभिरता मदीहा:` इत्यादि वाक्यों में यही बात कही गई है ।

इस प्रकार श्रवणादि अधिकारीभेद से अनेकविध हैं । स्नेहपूर्वक जो श्रवणादि हैं,केवल वे ही भक्तिमार्गीय हैं,अन्य नहीं । इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति का हेतु और उसका स्वरूप स्नेह ही है । नवधाभक्ति मात्र में जो भक्तिपद का प्रयोग है, वह गौण है । जब श्रवणादि स्नेहसंवलित होते हैं, तो वे `स्नेहमध्यपाती` या स्नेहरूप ही होते हैं,और स्नेहबल से ही उनका फलसाधकत्व होता है, स्वतंत्ररूप से नहीं । यद्यपि स्नेह आन्तर है और श्रवणादि बाह्य,तथापि स्नेहसम्पत्ति के अनन्तर किये जाने पर `स्नेहमध्यपाती` होने के कारण वे भी `भक्ति` कहलाते हैं[1]; वैसे ही जैसे गंगा के प्रवाह में मिला हुआ बाहरी जल गंगाजल ही कहलाता है । इसीलिए वल्लभाचार्य पुष्टिमार्गीय श्रवणादि को नवधा या वैधी भक्ति का अंग स्वीकार न कर, स्नेहरूपा पुष्टिभक्ति के अंगरूप से स्वीकार करते हैं। नवधा का अधिकार-क्षेत्र साधन-सापेक्ष मर्यादाभक्ति तक ही सीमित है ।

इस प्रकार भक्ति के मनोविज्ञान;भक्ति की परिभाषा; मर्यादा और पुष्टि के भेद; नवधा की स्वतंत्र और सम्प्रदाय-सापेक्ष स्थिति पर विचार करने के पश्चात् हम इस स्थिति पर आ जाते हैं कि वाल्लभमत में स्वीकृत साधना-पद्धति पर विचार करें ।

पुष्टिमार्ग : स्वरूप-समीक्षा

श्रीमद्भागवत से गृहीत पुष्टितत्त्व के आधार पर वल्लभ ने जिस साधनमार्ग का प्रवर्त्तन किया है, वह`पुष्टिमार्ग`कहलाता है । वाल्लभमत की रीति के अनुसार जिन व्यक्तियों को दीक्षा दी जाती है, वे पुष्टिमार्ग में ही दीक्षित होते हैं, शास्त्रोक्त मर्यादामार्ग में नहीं । वल्लभ ने सर्वत्र इस पुष्टिमार्गीय साधना का ही वर्णन`स्वाभिमत` सिद्धान्त के रूप में किया है । उन्होंने बहुत विस्तारपूर्वक पुष्टिमार्ग की मान्यताओं तथा पुष्टिमार्गीय भक्तों के आचार-व्यवहार और करणीयाकरणीय की व्याख्या की है । पुष्टिमार्गीय साधकों के समक्ष वे एक बृहत् आचारसंहिता प्रस्तुत करते हैं, जिसमें छोटी-से-छोटी बात की व्याख्या की गई है और जिसके आधार पर पुष्टिमार्ग की एक बहुत ही स्पष्ट धारणा, एक बहुत ही स्पष्ट चित्र सामने आता है ।

स्थान-स्थान पर पुष्टिमार्ग के सन्दर्भ में अथवा उससे सम्बद्धरूप में मर्यादामार्ग की भी चर्चा है,किन्तु मुख्यरूपसेपुष्टिमार्ग का ही विवेचन है । कई बार ऐसा लगता है कि वल्लभ पुष्टिमार्ग का विवेचन करते-करते बीच में मर्यादा का विवेचन करने लगते हैं, किन्तु ऐसी बात नहीं है ।पुष्टिमार्ग में

१`यद्यपि स्नेहस्यान्तरत्वाच्छ्रवणादीनां बाह्यत्वान्नैकरूपत्वम् । तथापि स्नेहसम्पत्त्यन्तरं क्रियमाणास्तदन्त:पातिनो भूत्वा तत्समाभाख्यां लभन्ते । गंगाप्रवाहान्त: पातिबाह्योदकवदित्यर्थ:`

--`भक्तितरंगिणी`, पृ०५८

भी थोड़े-बहुत अंशों में मर्यादा का ग्रहण है। वल्लभ ने एकादश स्कन्ध की सुबोधिनी में कहा है कि पुष्टि,मर्यादा और प्रवाह का परस्पर संवलितरूप में ही `मार्गत्व` है, अपने शुद्धरूप में तो वे भगवद्धर्म मात्र हैं। साधकों की रुचियों और मनोवृत्तियों के वैविध्य को ध्यान में रखते हुए ही वल्लभ ने पुष्टि भक्ति के चार भेद किये हैं। वल्लभाचार्य ने तो पुष्टिमार्ग का अत्यन्त विस्तृत विवेचन किया है। उतने विस्तार में जाना सम्भव नहीं है,अत: पुष्टिमार्ग के मनोविज्ञान और उसकी प्रमुख विशेषताओं के आधार पर उसका स्वरूप प्रस्तुत किया जा रहा है।

भ पुष्टिमार्ग में पुष्टिशब्दवाच्य भगवदनुग्रह ही नियामक है। जीव का पुष्टिमार्ग में प्रवेश `जीवकृतिसाध्य` नहीं है। पुष्टिमार्ग में उसी जीव को प्रवेश मिलता है, जिसे भगवान् पुष्टिमार्ग में अंगीकार करना चाहते हैं। भगवान् के अनुग्रह या कृपा के अभाव में व्यक्ति की पुष्टिमार्ग में रुचि ही उत्पन्न नहीं होती, अत: पुष्टिमार्ग का वही अधिकारी है,जो भगवान् के अतिशय अनुग्रह का पात्र है। वल्लभ ने `निबन्ध` में लिखा है--`कृपापरिज्ञानं च मार्गरुच्या निश्चीयते`। `प्रमेयरत्नार्णव` में अधिकारी का लक्षण इस प्रकार दिया गया है--` पुष्टिमार्गीयफलदित्सासमुद्भूतभगवत्कृपाजन्यपुष्टिमार्गविषयकरुचिमान् अधिकारी`।

पुष्टिमार्ग का स्वरूप स्थिर करने में वल्लभ के प्रकरणग्रन्थ बहुत सहायक हैं; विशेषरूप से `सिद्धान्तरहस्यम्`; `सिद्धान्तमुक्तावली`; `भक्तिवर्द्धिनी`; तथा `नवरत्नम्`। `सिद्धान्तरहस्यम्` तथा `नवरत्नम्` में ब्रह्मसम्बन्ध अथवा आत्मनिवेदन प्रक्रिया, `भक्तिवर्द्धिनी` में भक्ति बीज का दृढ़ीकरण और भक्ति के विकास तथा `सिद्धान्तमुक्तावली` में सेवा के स्वरूप पर विशेषरूप से विचार किया गया है। अन्य प्रकरण ग्रन्थ भी अधिकांशत: पुष्टिमार्गीय सेवा-पद्धति से ही सम्बन्धित हैं।

सम्प्रदाय में प्राय: दो संस्कार सम्पन्न किये जाते हैं--शरणमन्त्रोपदेश और आत्मनिवेदन। प्रथम संस्कार वैष्णवरूप में स्वीकार करता है और दूसरा सेवामार्ग में अधिकारी बनाता है। `सिद्धांतरहस्यम्` में वल्लभ ने शरणमंत्रोपदेशरूप पुष्टिमार्गीय दीक्षा या `ब्रह्मसम्बन्ध` पर विचार किया है।

प्रथम दीक्षा वल्लभ के किसी वंशज द्वारा कान में `श्रीकृष्ण: शरणं मम` यह मंत्र दुहरा कर तथा गले में तुलसी की कण्ठी डालकर दी जाती है। यह कण्ठी वैष्णवत्व का प्रतीक है। दूसरी दीक्षा भी प्राय: वल्लभ के किसी वंशज द्वारा ही सम्पन्न की जाती है। सम्प्रदाय का यह एक स्वीकृत तथ्य है कि वल्लभाचार्य ही एकमात्र आचार्य हैं; उनके किसी वंशज या शिष्य ने, चाहे वह कितना भी बड़ा विद्वान् क्यों न हो, कभी आचार्यपद की कामना नहीं की। वे केवल `गुरुद्वार` कहलाते हैं तथा ऐसी मान्यता है कि आचार्य वल्लभ ही इस `गुरुद्वार` के माध्यम से शिष्य को दीक्षा देते हैं। पुष्टिसम्प्रदाय के विद्वान् या `गोस्वामी` आज भी शिष्य को दीक्षा आचार्य वल्लभ के नाम से,उनके ही उत्तरदायित्व पर देते हैं;-अपने नाम से, अपने उत्तरदायित्व पर नहीं।

जहां तक वल्लभ का प्रश्न है, वे अपनी रचनाओं में ऐसा कोई संकेत नहीं देते कि दीक्षा उनके अथवा उनके वंशजों के द्वारा ही हो । वे तो व्यक्तिविशेष या जाति-वर्ग-विशेष का भी निर्देश नहीं करते, जो भी हो, वह आध्यात्मिक दृष्टि से सम्पन्न हो, कृष्णभक्त हो, बस--

`कृष्णसेवापरं वीक्ष्य दम्भादिरहितं नरम् ।
श्रीभागवततत्त्वज्ञं भजेत् जिज्ञासुरादरात् ।।` (तत्वदीपनिबन्ध २।२२७)

सेवा का अधिकार प्रदान करने वाली जो दूसरी दीक्षा है, वह पुष्टिमार्ग में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । इसे ही वल्लभ `ब्रह्मसम्बन्ध` कहते हैं । इस `ब्रह्मसम्बन्ध` के द्वारा भक्तिमार्ग में दीक्षित व्यक्ति के सहज, देशज, कालज, संयोगज और स्पर्शज ये पांचों प्रकार के दोष नष्ट हो जाते हैं[1] ।

`ब्रह्मसम्बन्ध` का स्वरूप है शरणगमनपूर्वक आत्मनिवेदन । दीक्षित व्यक्ति अपना `स्व` और `स्वीय` दोनों श्रीकृष्ण को अर्पित कर देता है, और पूर्ण प से उनका अथवा `तदीय हो जाता है । जीव का यह तदीयत्वसम्पादन पुष्टिमार्ग की प्रथम अपेक्षा है । आत्मनिवेदन-संस्कार के समय दीक्षित होने वाला व्यक्ति जो प्रतिज्ञा करता है, वह इस प्रकार है--`सहस्रपरिवत्सरमितकालजात-कृष्णवियोगजनिततापक्लेशानन्दतिरोभावोऽहं भगवते कृष्णाय देहेन्द्रियप्राणान्तःकरणानि तद्धर्मांश्च दारागारपुत्राप्तवित्तेहापराणि आत्मना सह समर्पयामि, दासोऽहं, कृष्ण तवाऽस्मि ।`

वल्लभ के अनुसार, ब्रह्मसम्बन्धस्थापित कराने वाली यह प्रतिज्ञा स्वयं भगवान् कृष्ण द्वारा उन्हें बताई गई थी । `सिद्धान्तरहस्यम्` के प्रथम श्लोक में उन्होंने यह बात कही है--

`श्रावणस्यामले पक्षे एकादश्यां महानिशि
साक्षाद्भगवता प्रोक्तं तदक्षरश उच्यते ।।`-(सिद्धांतरहस्यम् १)

इस प्रतिज्ञा के द्वारा जीव वह सब श्रीकृष्ण के चरणों में अर्पित कर देता है, जो उसकी अहन्ता-ममता की परिधि में आता है । वह स्वयं को, अपनी देह को और देहजन्य सभी सम्बन्धों को श्रीकृष्ण में समर्पित कर देता है । देह, इन्द्रिय, प्राण, अन्तःकरण, पत्नी, पुत्र, धनवैभव सब कुछ प्रभु के चरणों में अर्पित कर वह सर्वथा `भगवदीय` हो जाता है और इन सब के द्वारा भगवान् की सेवा करता है । उसकी कहीं, किसी पदार्थ में `स्वीयबुद्धि` रह ही नहीं जाती, सर्वत्र `भगवदीयत्व` या `तदीयत्व` की ही अनुभूति होती है । यह भगवदीयत्वबुद्धि ही आत्मनिवेदन की चरम परिणति है; `सुबोधिनी` में वल्लभ ने लिखा है-- `अस्मदीया बुद्धिरेव भगवति समर्पणीया `--(सुबो०१।६।३२) ।

---

१ `ब्रह्मसम्बन्धकरणात् सर्वेषां देहजीवयोः ।
सर्वदोषनिवृत्तिर्हि दोषाः पंचविधाः स्मृताः ।।
सहजादेशकालोत्थाः लोकवेदनिरूपिताः ।
संयोगजाः स्पर्शजाश्च न मन्तव्याः कथंचन ।।
अन्यथा सर्वदोषाणां न निवृत्तिः कथंचन । (सिद्धांत रहस्यम् २।४)

यह 'ब्रह्मसम्बन्ध' स्वस्वामिभाव- लक्षण होता है; जीव भगवान् को अपना 'प्रभु' स्वीकार कर स्वयं को उनका दास घोषित करता है । ब्रह्मसम्बन्ध होने के ~~करण~~ पश्चात् साक्षात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की सेवा का अधिकार प्राप्त हो जाता है और उनकी सेवा से जीव के सभी दोषों का निवारण हो जाता है । ब्रह्मसम्बन्ध से साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्ध ही समझना चाहिये ।[१]

यह विशेष बात है कि पुष्टिमार्ग में समर्पण केवल श्रीकृष्ण के ही प्रति होता है, अन्य किसी के प्रति नहीं । यह समर्पण आचार्य के माध्यम से सम्पन्न अवश्य होता है, किन्तु आचार्य के प्रति नहीं होता । पुष्टिमार्ग की मान्यता है कि ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी के प्रति सर्वात्मना समर्पण हो ही नहीं सकता ।

इस समर्पण के पश्चात् जब व्यक्ति सेवामार्ग में अधिकारी हो जाता है, तब उसका कर्तव्य है कि वह अपना सर्वस्व भगवत्सेवा में नियोजित कर दे । न केवल स्वयं सेवा करे,अपितु अपना वित्त, वैभव,पत्नी,पुत्र,सम्बन्धी, सभी कुछ भगवत्सेवा में लगा दे । साधक का स्त्रीपुत्रादि सम्पादन भी कृष्ण-सेवार्थ ही है, अत:स्त्रीपुत्र का भी भगवदर्पण आवश्यक है; अनिवेदित स्त्रीपरिवारादि बाहिर्मुख्य उत्पन्न करते हैं । पदार्थों से समस्त भक्षणादिव्यवहार करना चाहिये,किन्तु भगवदर्पित करके ही। यों तो पहिले ही सब कुछ भगवदर्पित किया जा चुका होता है, तो भी तत्तदवसर के लिये पुन: समर्पण किया जाता है । इस समर्पण से पदार्थों में व्यक्ति की आत्मबुद्धि या स्वीयबुद्धि समाप्त हो जाती है।

एकादशस्कन्ध में भगवान् ने कहा है कि व्यक्ति को संसार में जो कुछ भी अभीष्ट और प्रिय है, वह सब मुझे समर्पित कर देना चाहिये, तभी वह दैवी गति को प्राप्त हो सकता है--

'यद् यदिष्टतमं लोके यच्चातिप्रियमात्मन: ।
तत्तन्निवेदयेन्मह्यं तदानन्त्याय कल्पते ।।'

--श्रीमद्भा० ११।११।४१

---

१ (क) 'ब्रह्मसम्बन्धो नाम सर्वस्मिन् भगवत्स्वामिकत्वरूप: सम्बन्ध: , तस्य करणं नाम भगवता आचार्यान् प्रति गद्येनोक्तो य आत्मसमर्पणप्रकार: तद्रीत्या भगवति स्वात्मसहित स्वीयसर्वपदार्थानां भगवति-तथात्वविज्ञापनम् ।' -- सि०र० श्लो० २ पर पुरुषोत्तमकृत 'विवरण' ।

(ख) 'ब्रह्मणा सह सम्बन्ध: स्वस्वामिभावलक्षणो देहेन्द्रियप्राणान्त:करण दारागारपुत्रादीनामात्मनश्च तदीयत्वमिति यावत् ।'-- सि०र० २ लालूभट्टकृत टीका

(ग) 'ब्रह्मसम्बन्धकरणं नाम साक्षात्पुरुषोत्तमसम्बन्धकरणम् ।'

--सि०र०२ पर ब्रजोत्सवकृत 'विवृति'

पुष्टिमार्गीय भक्त की भगवान् के प्रति वही भावना होनी चाहिये, जो सेवक की स्वामी के प्रति होती है । जिस प्रकार सद्भृत्य स्वामी का उच्छिष्ट ग्रहण कर कृतार्थ होता है, वैसे ही जीव की कृतार्थता भी भगवान् के उच्छिष्ट ग्रहण में ही है । एकादशस्कन्ध में उद्धव ने यही बात कही है--

`त्वयोपभुक्तस्रग्गन्धवासोऽलंकारचर्चिता:

उच्छिष्टभोजनो दासास्तव मायां जयेमहि ।`

वल्लभ अनेकश: कहते हैं कि असमर्पित वस्तु दोषयुक्त है, और उसके उपयोग से स्वयं में भी दोष आने की सम्भावना है,अत: अनिवेदित वस्तु का उपयोग नहीं करना चाहिये । समस्त कार्यों में प्रारम्भ में ही सब वस्तुएं भगवदर्पित कर देनी चाहिए[1] ।

पुष्टिमार्ग के इस सर्वात्मना आत्मसमर्पण के पीछे अहंकार और आसक्ति की निवृत्ति का महत् उद्देश्य है । व्यक्ति की सांसारिक व्यक्तियों और वस्तुओं में जो अहन्ता-ममता रहती है,वही आसक्ति और आसक्तिजन्य बन्धन का कारण है । जब इस बात का बोध हो जाता है; यह भावना आ जाती है कि सब कुछ श्रीकृष्ण का है, श्रीकृष्ण के ही लिये है, तब पदार्थों में जो मोह और अभिनिवेश है, वह समाप्त हो जाता है । यहां तक कि अपनी देहादि में भी स्वीयत्वबुद्धि नहीं रह जाती[2] ।

हरिराय ने पुष्टिमार्ग का स्वरूप समझाते हुए कहा है कि पुष्टिमार्ग में विषयों का विषयत्वेन त्याग और भगवदीयत्वेन ग्रहण किया जाता है[3] । इस `भगवदीयता` का पुष्टिमार्ग में सर्वाधिक महत्त्व है । वल्लभ ने तृतीयस्कन्ध की सुबोधिनी में लिखा है कि जो व्यक्ति `भगवदीय` होकर सर्वदा देहादि के द्वारा `भगवदीय` कार्य ही करता है, वह `महाभागवत` है[4] ।

----

१ (क) `निवेदिभि: समर्प्यैव सर्वं कुर्यादितिस्थिति:` -- सि०र० ५

(ख) `तस्मादादौ सर्वकार्ये सर्ववस्तुसमर्पणम्` -- सि०र० ६

२ `समस्तविषयत्याग:सर्वभावेन यत्र हि ।
समर्पणं च देहादे: पुष्टिमार्ग: स कथ्यते ।। --`पुष्टिमार्गनिरूपणम्`

३ `विषयत्वेन तत्याग: स्वस्मिन् विषयतास्मृते: ।
यत्र वै सर्वभावेन पुष्टिमार्ग: स कथ्यते ।। --`पुष्टिमार्गनिरूपण`

४ `यस्तु भगवदीयो भूत्वा भगवदीयमेव देहादिभि: करोति, जानाति स भागवत: । यस्तु सर्वदैव तथाविध: स महाभागवत:` ।

-- सुबो० ३।१४।४७

भगवदीयता और आत्मनिवेदन के साथ-साथ पुष्टिमार्ग में शरणागति का विशेष महत्त्व है,शरणागति आत्मनिवेदन का मुख्य अंग है; आत्मनिवेदन होता ही है शरणागतिपूर्वक । शरणागति का सभी भक्तिसम्प्रदायों में विशेष महत्त्व रहा है । रामानुजाचार्य ने भी शरणागति को ही भगवत्प्राप्ति और मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट अथवा अनिवार्य साधन स्वीकार किया है । रामानुजमत में इसे `प्रपत्ति` कहा गया है । प्रपत्ति के छ: अंग हैं--भगवान् के कृपाभाजन होने की योग्यताप्राप्ति;भगवत्प्रतिकूल आचरण का निषेध; भगवान् रक्षा करेंगे- यह विश्वास; रक्षक के रूप में भगवान् का वरण; अपनी दीनता का बोध; तथा पूर्ण आत्मसमर्पण [1] । वल्लभ ने शरणागति का जो रूप बताया है,उसमें उपर्युक्त सभी बातें आ जाती हैं । पुष्टिमार्ग में शरणागति का विशेष महत्त्व इसलिये भी है,क्योंकि पुष्टिभक्ति शरणागति से ही आरम्भ होती है । आत्मनिवेदन जो नवधाभक्ति या मर्यादा भक्ति का अन्तिम सोपान है, वह पुष्टि भक्ति का प्रथम ही सोपान है । क्योंकि पुष्टिमार्गीयभक्ति अनुरागलक्षणा भक्ति है और रागमूलक भक्ति का प्रादुर्भाव भी होता है आत्मनिवेदन से । इसलिये पुष्टिमार्गीय भक्त के लिये वैधी भक्ति के अन्य अंगों का ग्रहण उतना आवश्यक नहीं है, जितना आत्मनिवेदन या शरणागति ।

शरणागति का अर्थ है अपनी अकिंचनता और असहायता का अनुभव करते हुए स्वयं को पूर्णतया उनकी कृपा पर आश्रित छोड़ देना । भक्त भगवान् से कोई दुराव या अलगाव नहीं रखता, वह जो है,जैसा है, वैसा ही भगवान् के सामने उपस्थित होता है । अपने सारे अभावों और दोषों को वह दीनता के साथ अनुभव करता है और उन्हें नि:संकोच अपने आराध्य के सामने उद्घाटित कर देता है । अपनी सभी त्रुटियों और विकृतियों के साथ वह भगवान् को समर्पित होता है, उनकी शरणकामना करता है और तब अतिशय कृपालु श्रीकृष्ण अपने अनुग्रह से उसका संस्कार करते हैं ।

कृष्णभक्ति में जो आत्मसमर्पण किया जाता है,उसकी विशेषता है कि वह व्यक्तित्व के स्थूलतम अंशों का भी होता है । मानव-व्यक्तित्व के सभी अंग श्रीकृष्ण के समक्ष प्रणत होते हैं । केवल मानसिक वृत्तियों का समर्पण पर्याप्त नहीं है, देहेन्द्रिय प्राण की भी समस्त ऋजु-कुटिल गतियां श्रीकृष्ण को समर्पित होती हैं । व्यक्ति का अहंकार,उसकी आसक्ति, उसके सारे कार्यकलाप भगवान् को निवेदित हो जाते हैं । यही `सर्वात्मना आत्मसमर्पण` है और यह शरणागतिपूर्वक ही होता है। एक बार श्रीकृष्ण को स्वामी और रक्षक स्वीकार कर उनकी शरण में चले जाने पर, व्यक्ति को किसी प्रकार की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, हां अविश्वास नहीं करना चाहिए, यह सबसे

---

१ `आनुकूल्यस्य सम्पत्ति: प्रातिकूल्यस्य वर्जनम् ।
रक्षिष्यतीति विश्वास: गोप्तृत्ववरणं तथा ।।
आत्मनिक्षेप कार्पण्ये षड्विधा शरणागति: ।।`

बड़ा बाधक है -- 'अविश्वासो न कर्त्तव्यः सर्वथा बाधकस्तुसः' । जिन्होंने[1] किसी भी तरह एकबार श्रीकृष्ण के चरणों में आत्मनिवेदन कर दिया है, उन्हें क्या दुःख है ? श्रीकृष्ण लौकिक स्वामी की भांति नहीं हैं,जो अपराध हो[2] जाने पर सेवक का परित्याग कर देते हैं, वे तो त्रिकाल में भी अंगीकृत जीव का त्याग नहीं करते । उनके प्रति भक्तिपूर्वक किया गया आत्मसमर्पण सुख का मूल है ।

वल्लभ का स्पष्ट मत है कि --- व्यक्ति भगवान् का दास है;उसके लिए यही उचित है कि वह अपने दास्य धर्म का निर्वाह करे । सर्वदा भगवान् की इच्छापूर्ति और आज्ञापालन के लिए तत्पर रहे,[3] उसका इतना ही कर्त्तव्य है । भगवान् शरणागत के प्रतिपालन का अपना धर्म स्वयं ही पूरा करेंगे । गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने आश्वासन दिया है कि जो व्यक्ति अनन्यभाव से मेरी उपासना करते हैं,और जिनका चित्त सदैव मुझमें ही लगा रहता है, उनके योग और क्षेम का उत्तरदायित्व मैं ही वहन् करता हूं -- 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जना पर्युपासते

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' (श्रीमद्भ०६।२२)

यह शरणागति दैन्यपूर्वक और सर्वथा निस्साधनभाव से होनी चाहिये । --

'कृष्णे सर्वात्मके नित्यं सर्वथा दीनभावना ।

अहंकारं न कुर्वीत मानापेक्षां विवर्जयेत् ।।'--त०दी०नि०२।२३६

जब तक अपने कर्तृत्व और सामर्थ्य पर विश्वास है, तब तक व्यक्ति वास्तविक अर्थ में शरणागत नहीं हो सकता । पुष्टिमार्ग में 'कार्पण्य' या 'दैन्य' ही सबसे बड़ी योग्यता है ।

वल्लभ बार-बार भाव की अनन्यता पर बल देते हैं । वस्तुतः अनन्यता भक्ति का प्राणतत्त्व है, जब तक किसी आराध्यविशेष पर आस्था और अनुराग का केन्द्रीकरण नहीं होता, भक्ति फलवती नहीं होती । भावना की एकनिष्ठता अथवा अनन्यता के बिना पूर्ण शरणागति

----

१ 'अज्ञानादथवा ज्ञानात्कृतमात्मनिवेदनम् ।
ये: कृष्णसात्कृतप्राणैस्तेषां का परिदेवना ।।' -- (नवरत्नम्',पृ०४)

२ 'लौकिकप्रभुवत्कृष्णो न द्रष्टव्यः कदाचन ।
सर्वं समर्पितं भक्त्या कृतार्थोऽसि सुखी भव ।।' --('अन्तःकरणप्रबोधः',पृ०७)

३ 'आज्ञैव कार्या सततं स्वामिद्रोहोऽन्यथा भवेत् ।
सेवकस्य तु धर्मोऽयं स्वामी स्वस्य करिष्यति ।।' -- (अन्तःकरणप्रबोधः ,पृ०४)

सम्भव ही नहीं है,अत: केवल श्रीकृष्ण में ही आत्मनिक्षेप कर उनकी ऐकान्तिक भक्ति करनी चाहिए । श्रीकृष्ण ही एकमात्र आश्रय हैं,क्योंकि वे ही हैं,जो सर्वथा सर्वदोषों से रहित हैं--

`अन्त:करण! मद्वाक्यं सावधानतया शृणु ।
कृष्णात् परं नास्ति दैवं वस्तुतो दोषवर्जितम् ।।` (`अंत:करणप्रबोध:` पृ०१

वल्लभ ने अपने प्रकरणग्रन्थ `विवेकधैर्याश्रयनिरूपणम्` में श्रीकृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी भी देवता के भजन का सर्वथा निषेध किया है । किसी भी प्रयोजन से अन्य देवता का भजन,शरणगमन,अथवा प्रार्थना मात्र दोषकारक है,क्योंकि इससे भगवान् में व्यक्ति की जो आश्रयभावना है वह खण्डित होती है और शरणागतधर्म लांछित होता है । यदि किसी अन्य देवता का ध्यान मन में आए भी तो उन्हें श्रीकृष्ण की विभूति या सेवक समझकर उनका समाधान करना चाहिये[१] । श्रीकृष्ण की भक्ति और शरणागति तभी सार्थक है, जब अनन्यभाव से केवल श्रीकृष्ण का ही चिन्तन,भजन किया जाय । वल्लभ ने अनन्यता के विषय में स्वातिनक्षत्र और चातक का दृष्टान्त दिया है । इसप्रकार वल्लभ ने अनन्य शरणागतिपूर्वक आत्मनिवेदन को पुष्टिमार्ग में अनिवार्य अपेक्षा माना है ।

अपने `सिद्धान्तमुक्तावली` तथा `भक्तिवर्द्धिनी` नामक प्रकरणग्रन्थों में वल्लभ ने भक्ति के परिपाक और भक्तिबीज की दृढ़ता के उपाय पर विचार किया है । यह पहले ही कहा जा चुका है कि भगवान् सृष्टि के प्रारम्भ में ही यह निश्चित कर लेते हैं कि अमुक जीव से अमुक कार्य कराकर उसे तदनुसार ही फल दूंगा । अपने इस संकल्प के अनुसार वे जीवों को मर्यादा,पुष्टि आदि मार्गों में स्वीकार करते हैं । इस भगवत्संकल्प में लीलावैचित्र्य क ही कारण होता है । जो जीव भगवान् के अतिशय अनुग्रहभाजन होते हैं, उन्हें भगवान् अपने अत्यन्त प्रिय पुष्टिमार्ग में अंगीकृत करते हैं तथा सृष्टि के आरम्भ में[२] ही उनमें पुष्टिभक्ति का सूक्ष्म बीज स्थापित कर देते हैं,जो कालान्तर में परिवर्द्धित होता है ।

बद्ध अवस्था में पुष्टिमार्गीय जीव भी मायाकार्य सत्त्व,रजस् और तमस् से व्याप्त रहते हैं,किन्तु पुष्टि-बीज के अनश्वर होने से अन्तत: प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त कर ही लेते हैं । यह अवश्य

१(क) `अन्यस्य भजनं तत्र स्वतो गमनमेव च ।
प्रार्थनाकार्यमात्रेऽपि ततोऽन्यत्र विवर्जयेत् ।।` (विवेकधैर्याश्रयनिरूपणम्`,पृ०१४)

(ख) `अन्येषां देवानां तद्विभूतित्वेन तत्सेवकत्वेन वा सम्मानननं यदि स्फुरति` ।
--त०दी०नि० २।२१५`प्रकाश`

२ `तत्र येषु जीवेषु भगवता परमार्थिकफलविशेषसाधनार्थं अलौकिकानुग्रहविशेषेण पुष्टिभक्ति-बीजरूपा स्थापितास्ति ते पुष्टिमार्गीया:` --`प्रमेयरत्नार्णव`,पृ०९८ ।

है कि पुष्टिमार्ग के सात्त्विक अधिकारी की अपेक्षा राजस् और तामस् अधिकारियों को बाह्यसाधनों का अधिक अवलम्ब लेना पड़ता है। वल्लभ कहते हैं कि त्यागपूर्वक, स्वमार्ग अर्थात् पुष्टिमार्ग में कहे गये जो भगवदुक्त सेवा, श्रवण कीर्तन आदि साधन हैं, उनके करने से भक्ति का बीजभाव दृढ़ होता है[1] और भक्ति उपचीयमान होती है। स्वधर्माचरणपूर्वक, गृह में रहकर भगवत्सेवा प्रतिकूल, अर्थात् सेवा में बाधा उपस्थित करने वाले सभी उद्योगों को छोड़कर, श्रवणादि के द्वारा श्रीकृष्ण का भजन करना चाहिए। यही भक्ति बीज[2] की दृढ़ता का उपाय है। शास्त्र में उसी बीज को दृढ़ कहते हैं, जो किसी भी कारण से नष्ट न हो। यदि अत्यन्त आवश्यक होने पर कोई अन्य उद्योग करना[3] भी पड़े तो भी यत्नपूर्वक श्रवणादि के द्वारा चित्त को भगवान् में ही नियोजित रखना चाहिए।

वल्लभ ने `भक्तिवर्द्धिनी` में भक्तिबीज के दृढ़ीकरण या भक्ति के परिपाक की जो अवस्थाएं बताई हैं, बालकृष्ण भट्ट ने अपने ग्रन्थ `प्रमेय रत्नार्णव`: में उनका बहुत सुन्दर रीति से पल्लवन किया है--

मार्गरुचि से किये गये श्रवणादि से चित्त में भगवदावेश होता है। इससे चित्तशुद्धि होती है, श्रीमद्भागवत में द्वितीयस्कन्ध में कहा गया है-- `प्रविष्ट: कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्।

धुनोति शमलं कृष्ण: सलिलस्य यथा शरत् ।।

धौतात्मा पुरुष: कृष्णपादमूलं न मुंचति ।

मुक्तसर्वपरिक्लेश: पान्थ: स्वशरणं यथा ।।

(श्रीमद्भा०२।८।५।६)

श्रवणादि की आवृत्ति से चित्त में जो भगवदावेश या भगवद्रुचि उत्पन्न होती है, वह अननुभूत विषया परोक्षा रुचि कहलाती है। इस परोक्षा रुचि से श्रवणादिरूप भजन होने पर बीजभाव रूप सूक्ष्मभक्ति परिवर्धित होती है। यही भाव श्रवणादि से सत्कृत होकर हृदय में भगवत्स्फूर्ति कराता है। इस भगवत्स्फूर्ति से उस भगवतत्त्व का कुछ अनुभव होने पर अपरोक्षा रुचि उत्पन्न होती है। इस अपरोक्षा

---

१ `यथाभक्ति: प्रवृद्धा स्यात् तथोपायो निरूप्यते।
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ।।`--`भक्तिवर्द्धिनी`, पृ०१

२ `बीजदार्ढ्यप्रकारस्तु गृहे स्थित्वा स्वधर्मत:।
अव्यावृत्तो भजेत्कृष्णं पूजया श्रवणादिभि: ।। -- `भ०व०`, पृ०२

३ `व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत् सदा` । --`भ०व०`, पृ०३

रुचि से श्रवणादिसाधनों के द्वारा उपचय को प्राप्त होकर भक्ति-बीज प्रेम या स्नेहरूप हो जाता है । यह स्नेह भगवान् के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में राग का निवर्तक है; वल्लभ ने `भक्ति-वर्द्धिनी` में कहा है --`स्नेहाद्रागविनाश: स्यात् ----` अत:इस स्नेह की परिभाषा हुई `भगवद्भिन्नरागनिवर्तको भगवद्भाव: स्नेह:`(प्र०र०,पृ०९८) ।

तत्पश्चात् निरन्तर सेवा और श्रवणादि की आवृत्ति से यह स्नेह आसक्तिरूप हो जाताहै । आसक्ति होने पर भगवदतिरिक्त अथवा भगवत्सम्बन्धरहित सभी पदार्थ मार्ग में बाधा रूप प्रतीत होने लगते हैं । `भगवदितरविषयबाधकत्वस्फूर्तिसम्पादको भाव आसक्ति:`-- यह आसक्ति का लक्षण है(प्र०र०,पृ०९८) । यही आसक्ति उत्तरोत्तर वृद्धि को प्राप्त होती हुई व्यसनरूपा हो जाती है यह व्यसनरूपा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है और यही मानसी सेवा कहलाती है । व्यसनभावापन्न भक्ति ही साध्य भक्ति कहलाती[1] है और यही चरम पुरुषार्थ है--`यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थ: स्यात् तदैव हि` (भ०व०,पृ०५)।

इस प्रकार भक्ति के परिपाक की प्रेम,आसक्ति और व्यसन ये तीन अवस्थाएं हैं,जिनमें से व्यसन साध्यावस्था है । इसका विवेचन अगले परिच्छेद में होगा । भक्ति के विकास की इस प्रक्रिया को ही वल्लभ ने `भक्तिवर्द्धिनी` के इन दो श्लोकों में कहा है--

> `व्यावृत्तोऽपि हरौ चित्तं श्रवणादौ यतेत्सदा ।
> तत: प्रेम तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत् ।।
> बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति ।
> स्नेहाद्रागविनाश: स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचि: ।।` (भ०व० ३।४)

पुष्टिमार्ग में सेवाका विशेष महत्त्व है; भक्ति स्वयं सेवारूप है । पुष्टिमार्ग में दीक्षित व्यक्ति का एकमात्र धर्म भगवत्सेवा ही है, अन्य लौकिक वैदिक कर्मों का अनुष्ठान उसके लिये आवश्यक नहीं है । इस मार्ग में श्रवणादि भी भगवत्सेवारूप ही हैं, नवधाभक्ति के अंग नहीं हैं ।

नवधाभक्ति के कुछ अंग क्रियात्मक हैं और कुछ भावात्मक, किन्तु`सेवा` में क्रिया और भावना का अद्भुत सम्मिश्रण है । सेवा को भक्त्यनुप्राणित-क्रिया कह सकते हैं,जो भगवदर्थ ही होती है ।यह इष्टदेव के नाम और स्वरूप दोनों की होती है । नामसेवा स्वरूप-सेवा की अपेक्षा अधिक अमूर्त और अभ्याससाध्य है, साथ ही प्रारम्भ में परात्परनाम में चित्तवृत्तियों का समाहित होना भी दुष्कर होता है । स्वरूप-सेवा अधिक सुकर और सरस है तथा साधना की प्रारम्भिक अवस्था में इसमें साधक का चित्त अधिक रमता है । उसकी मानसिक और दैहिक वृत्तियों का नियोजन स्वरूपसेवा में अधिक सरलतापूर्वक होता है,क्योंकि अपेक्षाकृत मूर्त और क्रियाप्रधान होने से यह उसकी स्थूल संवेदन-

-----

१ द्रष्टव्य-- `प्रमेयरत्नार्णव:`,पृ०९७-१००

शीलता के लिये अधिक ग्राह्य तो है ही,साथ ही इसमें उसके विविध मनोभावों के लिये भी अधिक अवकाश है । कृष्ण भक्तिसम्प्रदायों में राधाकृष्ण की मूर्तियों को प्रतीकमात्र न समझकर उनके स्वरूप की साक्षात् अभिव्यक्ति स्वीकार किया गया है । वल्लभसम्प्रदाय में तो स्वरूपसेवा की ही प्रमुखता है । पुष्टि-मार्ग में अष्ट-प्रहर सेवा का विस्तृत कार्यक्रम निश्चित है और सम्प्रदाय के मन्दिरों में तदनुसार ही सेवा होती है ।

सेवा तीन प्रकार की होती है--तनुजा,वित्तजा और मानसी । तन से की गई सेवा `तनुजा` कहलाती है । तन का अर्थ यहां केवल देह नहीं है, अपितु देहजन्य सम्बन्ध भी है । अत: स्त्री, पुत्र,परिवार आदि के माध्यम से जो भगवत्सेवा की जाती है, वह भी `तनुजा` के ही अन्तर्गत है । वित्त,अर्थात् धन-वैभव से की गई सेवा `वित्तजा` है । सभी दैहिक क्रियाओं से निरपेक्ष,विशुद्ध भावपरक सेवा `मानसी सेवा` कहलाती है । अन्तिम तथा सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण मानसी सेवा ही है । चित्त की कृष्णमयता या कृष्णप्रवणता ही इसका स्वरूप है । चित्त की सभी गतियां कृष्ण में लीन हो जाती हैं, और बाह्यसंवेदन से सर्वथा शून्य होकर, निराबाधरूप से `अखण्डतैलधारावत्` श्रीकृष्ण का ही अनुचिन्तन होता है[1] ।

वल्लभ ने मानसी सेवा को ही सबसे प्रमुख माना है । `सिद्धान्तमुक्तावली` में वे कहते हैं-- `कृष्णसेवा सदा कार्या,मानसी सा परा मता` । भाव की यह निविड़ तन्मयता साधना की अन्तिम स्थिति की वस्तु है,तथा तनुजा और वित्तजा सेवाओं के द्वारा क्रमश: इसकी पात्रता सम्पन्न होती है । यह एक सामान्य नियम है, किन्तु कुछ भक्त इसका अपवाद भी होते हैं । वे प्रारम्भ से ही भाव-भूमि के उच्चधरातल पर आसीन होते हैं । उन्हें भाव-जागृति के लिये न मर्यादामार्गीय साधनों की अपेक्षा रहती है न पुष्टिमार्गीय साधनों की; न तनुजा की न वित्तजा की ; वे तो कृष्णप्रेम में ऐसे आत्मविह्वल रहते हैं कि उन्हें कुछ भी करने की सुधि नहीं रहती । ऐसे भक्त प्रारम्भ से ही मानसी सेवा करते हैं, और उसकी पूर्वभूमिका के रूप में उन्हें तनुजा-वित्तजा के सम्पादन की आवश्यकता नहीं होती । ऐसे व्यक्ति श्रीकृष्ण के अतिशय कृपापात्र होते हैं ।

किन्तु सभी को श्रीकृष्ण की ऐसी कृपा साधना के प्रारम्भ में ही प्राप्त नहीं होती, न ही सब इस योग्य होते हैं । भगवान् के प्रति अभिनिवेश होते हुए भी सांसारिक कामनाओं और आसक्तियों की लक्ष्मण-रेखाओं में घिरे लोग मानसी सेवा की उदात्त भाव-भूमि का स्पर्श नहीं कर पाते । उनके लिए तनुजा और वित्तजा सेवाओं का अनुष्ठान आवश्यक है । इनसे उनके चित्त का संस्कार होता है, संसार में उनकी आसक्ति का नाश होता है,और मनोनिग्रह साधित होता है । तनुजा वित्तजा

१(क) `चेतस्तत्प्रवणं सेवा -----` -- सि०मु०,पृ०२

(ख) `मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ`-- श्रीमद्भा०३।२९।११

सेवाओं के द्वारा व्यक्ति की बहिर्मुखी दैहिक और मानसिक वृत्तियों को अन्तर्मुखी बनाया जाता है। जब तक देहेन्द्रिय और मन की वृत्तियों का संस्कार नहीं होता, मानसी सेवा की उदात्त मन:स्थिति की कल्पना भी नहीं हो सकती।

इन बातों को ध्यान में रखकर वल्लभ ने मानसी सेवा को सर्वश्रेष्ठ स्वीकार करते हुए भी उसकी सिद्धि के लिये तनुजा और वित्तजा सेवाओं[1] को आवश्यक माना है। इनके द्वारा संसार दु:ख की निवृत्ति और ब्रह्म का बोध होता है। इसी प्रयोजन से पुष्टिमार्ग में रात-दिन चलने वाली अष्टप्रहर-सेवा का विस्तृत मण्डान निर्मित हुआ है। जिन पुष्टिमार्गीय भक्तों को ब्रह्म के सर्वात्मत्व की अनुभूति नहीं है, अथवा अपने और ब्रह्म के वास्तविक स्वरूप का अवबोध नहीं है, उन्हें पूजा, उत्सव आदि तनुजा, वित्तजा सेवाओं का अनुष्ठान करना चाहिए[2]। इन सेवाओं के द्वारा मनुष्य के दैनन्दिन सामान्य क्रिया-कलाप को भी ईश्वरीय चेतना से अनुप्राणित करने की चेष्टा की गई है।

यह भगवत्सेवा ही पुष्टिमार्गीयों का एकमात्र धर्म है--व्रजाधिप श्रीकृष्ण ही इस मार्ग में सेवनीय हैं, और उनकी सेवा के अतिरिक्त भक्त का और कोई कर्तव्य नहीं है --

'सर्वदा सर्वभावेन भजनीयो व्रजाधिप:
स्वस्याऽयमेव धर्मो हि नान्य: क्वापिकदाचन् ।।' (चतु:श्लोकी १)

इससे पुष्टिमार्ग में लौकिक वैदिक कर्मों की स्थिति स्वत: स्पष्ट हो जाती है। पहिले भी कहा जा चुका है कि पुष्टिमार्ग विधिमार्ग नहीं है, अत: वेदोक्त और शास्त्रोक्त कर्मों का अनुष्ठान अनिवार्य नहीं है। कृष्णप्रेम से बढ़कर पुरुषार्थसाधक या पुरुषार्थरूप और कुछ नहीं है। जब समस्त-फलरूप और सर्वकामप्रद श्रीकृष्ण ही हृदय सिंहासन पर विराजमान हैं, तो लौकिक और अलौकिक फलों की इच्छा से शास्त्रोक्त और वेदोक्त साधनों के अनुष्ठान की आवश्यकता ही क्या है[3]?

किन्तु सामान्यरूप से वल्लभ ने इनकी भी उपयोगिता अस्वीकार नहीं की है। 'तत्त्वदीप-निबन्ध' के 'सर्वार्थनिर्णय' प्रकरण में उन्होंने भक्तिमार्ग के सन्दर्भ में आश्रमधर्मों तथा श्रौत व स्मार्त-आचारों[4] की स्थिति पर विस्तार से विचार किया है, तथा उन्हें मान्यता प्रदान की है। यह अवश्य

----

१ 'चेतस्तत्प्रवणं सेवा, तत्सिद्ध्यै तनुवित्तजा।
तत: संसारदु:खस्य निवृत्तिर्ब्रह्मबोधनम् ।।' -- सि०मु०, पृ०२

२ 'ज्ञानाभावे पुष्टिमार्गी तिष्ठेत्पूजोत्सवादिषु' -- सि०मु०, पृ०१७

३ 'यदि श्रीगोकुलाधीशो धृत: सर्वात्मना हृदि।
तत: किमपरं ब्रूहि लौकिकैर्वैदिकैरपि ।।' -- चतुश्लोकी, पृ०३

४ द्रष्टव्य -- त०दी०नि० २।१८१-१८३

है कि उनका भक्तिपूर्वकत्व आवश्यक है ।

वेदमार्ग का निर्माण भी तो भगवान् ने ही किया है,अत: उसके अप्रामाण्य या अनुपयोगित्व की शंका नहीं करनी चाहिये । मर्यादामार्ग में तो आश्रमधर्मों तथा श्रौत और स्मार्त कर्मों का पालन अपरिहार्य है । `पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद` के अनुसार वैदिकत्व मर्यादामार्गियों का मुख्य धर्म है । मर्यादामार्ग में भक्ति भी आश्रमधर्मादि तथा `सर्वं हरि:` इस ज्ञान से युक्त होकर ही `ब्रह्मभाव`सम्पादित करती है, आश्रमधर्मादि से वियुक्त होकर नहीं । मर्यादामार्ग में ज्ञान-कर्म-संवलिता भक्ति ही मोक्षसाधिका है । अत: मर्यादामार्ग में श्रौत स्मार्त कर्मकाण्ड के परित्याग का प्रश्न नहीं उठता । पुष्टिमार्गीय अवस्था आश्रमधर्मादि और श्रौतस्मार्त कर्मों का परित्याग कर सकते हैं,किन्तु तब जब उन्हें स्वतन्त्र फलरूप भक्ति की प्राप्ति हो जाये । जब माहात्म्यज्ञानपूर्वक स्नेहरूपा भक्ति,भगवत्परिचर्या से युक्त होकर स्वत: पुरुषार्थरूपा सेवा का रूप ग्रहण कर लेती है तो वह `स्वतंत्र` कहलाती है; यह स्वयं फलरूपा है । जब इस फलरूपाभक्ति का फलरूप से अनुभव होने लगे, तब आश्रमाचारादि के `फलानुभवप्रतिबन्धक` होने के कारण,उनका परित्याग[1] कर देना चाहिये । यदि ऐसी स्थिति न हो तो कदापि आश्रमधर्मों का त्याग नहीं करना चाहिए ।

इस प्रकार वल्लभ ने वेदोक्त कर्मकाण्ड और स्मार्त आचार पद्धति को भी अपने सम्प्रदाय में स्थान दिया है, किन्तु हैं ये भक्ति की अपेक्षा गौण ही । पुष्टिमार्ग में तो इनकी स्थिति नास्तिकल्प ही है[2] ।पुष्टिमार्गीय जिनके अभीष्ट पुरुषोत्तम हैं, उनके लिये तो वर्णाश्रम धर्म आदि अन्तरायरूप ही हैं । इसमें कोई सन्देह नहीं कि पुष्टिमार्ग में लौकिक वैदिक साधनों की अपेक्षा भगवद्धर्म ही मुख्य हैं । भगवद्धर्म का अर्थ है भगवत्सम्बन्धी श्रवण,कीर्तन,स्मरण आदि । वल्लभ का स्पष्ट आदेश है कि जिस किसी कार्य से भगवत्सेवा में बाधा पड़ती हो,उसका अविलम्ब परित्याग कर देना चाहिए। यदि आश्रमधर्म और भगवद्धर्म एकसाथ ही उपस्थित हो जायें तो मर्यादामार्गीय को भी भगवद्धर्म ही करने चाहिये,क्योंकि आश्रमकर्म देहधर्म होने से बहिरंग है,जब कि भगवद्धर्म आत्मधर्म होने से अन्तरंग हैं ।भगवद्धर्म से अविरुद्ध ही आश्रम धर्म करने चाहिये[3] । पुष्टिमार्ग यों भी सर्वसाधननिरपेक्ष मार्ग है । यही स्थिति ज्ञान के अन्तरंगसाधन शमदमादि की भी है । पुष्टिमार्ग में इनका सर्वथा `अप्रयोजकत्व` है । अत्यन्त कष्टसाध्य श्रम शमादि के द्वारा जो चित्तशुद्धि होती है, वह श्रीकृष्ण के प्रेम से सहज ही हो जाती है,क्योंकि कृष्णप्रेम से बढ़कर चित्तसंस्कारक और कुछ भी नहीं है । पुष्टिमार्ग में जो शमदमादि हैं, वे साधनरूप विधि के अंग नहीं हैं । जिस प्रकार पिता से स्नेह करने वाला पुत्र स्नेहवशात् ही उनकी

---

१ द्रष्टव्य-- त०दी०नि० २।१६२ `प्रकाश`

२ ,, -- अणुभा० ३।४।३५-३६

३ ,, -- अणुभा० ३।४।३३

सेवा करता है, सेवा विधि और तत्फलबोधक अर्थवाद की अपेक्षा नहीं रखता, वैसे ही पुष्टिमार्गीय व्यक्ति के शमदमादि भी भगवदानुराग-बल से स्वत: ही सिद्ध हो जाते हैं। इस प्रकार पुष्टिमार्ग सर्वथा साधननिरपेक्ष मार्ग है। भगवदनुग्रह और तज्जन्य वरण ही इस मार्ग में नियामक है।

इसके पूर्व कि पुष्टिमार्गीय साधना की चर्चा समाप्त की जाये, एक और महत्त्वपूर्ण विषय पर दृष्टि डालना आवश्यक है; और यह विषय है पुष्टिमार्ग में सन्यास की स्थिति।

पुष्टिमार्गीय भक्त प्राय: गृहस्थ ही रहते हैं, सन्यास ग्रहण ह नहीं करते। इसका प्रमुख कारण यह है कि पुष्टिमार्ग सेवामार्ग है तथा सेवामार्ग और सन्यास के स्वभाव में परस्पर बहुत वैषम्य है। वल्लभ ने 'सन्यासनिर्णय' नामक अपने प्रकरणग्रन्थ में भक्तिमार्ग में सन्यास की स्थिति पर विचार किया है। उनके अनुसार दूषित धर्मों वाले कलिकाल में सन्यासआश्रम के धर्मों का सम्यक् निर्वाह असम्भव है। कालदोष, अन्नदोष, वृत्तिदोष तथा कुसंग जैसे दोषों के कारण सन्यास आश्रम की पवित्रता स्थिर नहीं रह पाती।

यद्यपि एकादशस्कन्ध में भगवान् ने भक्तिमार्गीयों को सन्यास ग्रहण करने की आज्ञा दी है, तथापि साधनभक्ति में अथवा भक्ति की साधन-अवस्था में सन्यास ग्रहण करना उचित नहीं है। सन्यास स्वीकार कर लेने पर पुष्टिमार्गीय श्रवणादि धर्मों की सिद्धि नहीं हो सकती, क्योंकि सन्यास आश्रम के धर्मों तथा भक्तिमार्गीय श्रवणादि में विरोध है। यदि यह कहा जाय कि श्रवणादि की सिद्धि के लिये गृह-परित्याग कर देना चाहिए, तो यह भी उचित नहीं है, क्योंकि श्रवणादि की सिद्धि लोक-संग और साहाय्य से होती है, निस्संग रह कर नहीं। सेवा का जो सम्भार है उसका निर्वाह अनुकूल भार्यादि के साथ रहकर ही अच्छी तरह हो सकता है। यदि परिवारादि अनुकूल न हो, तो अन्य भगवदीयजनों के साथ रह कर भगवत्सेवा करनी चाहिये। साधनावस्था में भगवदावेश इतना दृढ़ और पुष्ट नहीं रहता कि व्यक्ति पुन: विषयाक्रान्त न हो। भक्तिमार्ग में जैसे पूर्णभाव की अपेक्षा होती है, प्राय: साधनावस्था में वैसा पूर्णभाव न होने से कभी कभी श्रवणादि साधन खण्डित भी हो जाते हैं। भगवदीयजनों के साथ रहने से भगवद्भक्ति दृढ़ रहती है, अत: साधनावस्था[1] में सर्वपरित्याग कर सन्यास ग्रहण करने में पतन और पाखण्डित्व की ही सम्भावना अधिक है। साधनावस्था में तो सर्वनिवेदनपूर्वक, घर में रहकर, भगवदीयजनों से प्रेरणा लेकर अपना सारा समय भगवत्सेवा में ही लगाना चाहिए।

इसका यह अर्थ नहीं है कि वल्लभ भक्तिमार्ग में सन्यास की अनुमति नहीं देते। भक्तिमार्ग में भी सन्यास होता है, किन्तु वह पूर्णभाववान् व्यक्तियों के ही लिये है। यह सन्यास स्मार्तसन्यास

---

१ द्रष्टव्य -- 'सन्यासनिर्णय', श्लोक २।६

नहीं है, न ही इसके लिये किसी विधिविधान या बाह्यप्रक्रिया सम्पन्न करने की आवश्यकता होती है। यह सन्यास सर्वथा आभ्यन्तर है; यह मन का सन्यास है। जब भगवान् में अनन्य आसक्ति हो जाती है तो संसार से, विषयों से, गृह-परिवार से स्वत: ही व्यक्ति विरक्त हो उठता है।वल्लभ जिस सन्यास की बात कहते हैं,वह व्यक्ति की सभी दैहिक,मानसिक वृत्तियों का भगवदोन्मुखी और भगवन्मय हो जाना है।

इस स्थिति में व्यक्ति को सभी लौकिक सम्बन्धों से विरक्ति हो जाती है; गृहपुत्र-परिवार आदि अनात्मभूत और भगवदानुभूति में बाधक प्रतीत होते हैं, गृह से स्वयं ही अरुचि हो जाती है तथा[1] उसकी सारी अहन्ता-ममता सांसारिक विषय-व्यक्तियों से हट कर कृष्ण-व्यसन का रूप ले लेती है। भक्त भगवान् के उत्कट विरह का अनुभव करता है। भक्ति की जो 'सर्वात्मभाव' शब्दवाच्य चरम अवस्था है, वह वियोग रूप ही है। यह भगवद्वियोग भी भगवद्विषयक होने के कारण आनन्द-रूप ही होता है। गृहपरिवार आदि से इस दिव्य भगद्विरह की अनुभूति में बाधा पहुंचती है, अत: इस अवस्था में गृह परिवार का सर्वथा परित्याग वल्लभ को मान्य है।

इस सन्यास में, जो काषायवस्त्र आदि धारण किये जाते हैं, वे सम्बन्धियों की आसक्ति निवृत्त करने भर के लिये हैं; इसके अतिरिक्त उनकी कोई उपयोगिता नहीं है[2]।

यह सन्यास ज्ञानमार्गीय चतुर्थ आश्रमरूप सन्यास से भिन्न है। इसके नियम धर्म भी भिन्न है। इस अवस्था में भी भगवत्सेवा ही एकमात्र धर्म है। यह अवश्य है कि यह तनुजावित्तजा न होकर मानसी सेवारूप है। यह सन्यास अत्यन्त दुर्लभ है तथा केवल प्रेमबल से ही सिद्ध होता है:--

'दुर्लभोऽयं परित्याग: प्रेम्णा सिद्धयति नान्यथा'--(सन्यासनिर्णय,पृ०१४)

यह भक्तिमार्गीय सन्यास व्रत,दान,तप आदि किसी साधन से साध्य नहीं है, न ही इसकी विधि किसी शास्त्र में लिखी हुई है। यह तो भगवान् में उत्कट प्रेम भाव होने पर स्वत: ही सिद्ध हो जाता है।

इस प्रकार वल्लभ सर्वपरित्याग और सन्यास की अनुमति तभी देते हैं,जब व्यक्ति की स्वत: हीसंसार से उपरामता हो जाय,जब यह फिर विषयाक्रान्त न हो सके। इसके पूर्व साधना की प्रारम्भिक या अपरिपक्व अवस्था में सन्यास एक आत्मप्रवंचनामात्र है-- यह वल्लभ का मत है।जो भगवद्भाव

---

१ 'स्नेहाद्रागविनाश: स्यादासक्त्या स्याद् गृहारुचि: ।।
गृहस्थानां बाधकत्वमनात्मत्वं च भासते ।
यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थ: स्यात्तदैव हि ।। -- भ०व०४।५

२ 'विरहानुभवार्थं तु परित्याग: प्रशस्यते ।
स्वीयबन्धनिवृत्त्यर्थं वेष: सोऽत्र न चान्यथा ।। -- 'सन्यासनिर्णय', ७

के औत्कट्य तक नहीं पहुंचे हैं, ऐसे गृहस्थ आदि साधकों के लिये घर में ही स्नेहपूर्वक भगवद्विग्रह में विविधोपचारपूर्वक सेवा करते हुए भगवद्भजन करना उचित है । उनकी इससे ही कृतार्थता होगी । त्याग में तो वाणी और मन की ही उपयोगिता है,किन्तु गृही की तो सभी इन्द्रियों से भगवत्सेवा होती है । यह पुष्टिमार्गीय गृही के लिये व्यवस्था है, मर्यादामार्गीय की नहीं[1] ।

यह पुष्टिमार्ग के मनोविज्ञान,मान्यताओं तथा आचारपद्धति का एक सामान्य परिचय था । पुष्टिमार्ग सभी वेदोक्त और शास्त्रोक्त मार्गों से स्वतंत्र, सभी साधनों से निरपेक्ष,ईश्वर और जीव को जोड़ने वाले शाश्वत प्रेम सम्बन्ध पर आधारित है । यह वल्लभाचार्य की आध्यात्मिक संपत्ति तथा मानव-मनोविज्ञान की उनकी गहरी समझ का परिचायक है ।

वल्लभ इस भक्तिमार्ग को व्यक्ति के श्रेय-प्रेय का रक्षक और उसके समस्त भौतिक-आध्यात्मिक लक्ष्यों की पूर्ति का एकमात्र समर्थ साधन मानते हैं । भक्तिमार्ग के उपास्य श्रीकृष्ण स्वयं फलरूप हैं और उनकी भक्ति स्वयं पुरुषार्थरूपा है ।

भक्तिमार्ग का अवलम्ब लेने वाले व्यक्ति को फिर और किसी साधन की आवश्यकतता नहीं है, भक्तिमात्र से उसके सभी प्रयोजन सिद्ध हो जाते हैं--

'यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत् ।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि ।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽजसा ।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथंचिद् यदि वांछति।।'(--श्रीमद्भा०११।२०।३२।३३)

भक्ति तो कल्पतरु के समान है, जो कुछ भी अन्य साधनों से सिद्ध होता है, वह सब भक्ति अकेले ही सिद्ध कर देती है । एकादशस्कन्ध में भगवान् ने कहा है--

'तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्राय: श्रेयो भवेदिह ।।'(श्रीमद्भा०११।२०।२१)

यह तो स्वर्ग-अपवर्ग की बात हुई, स्वयं परब्रह्म पुरुषोत्तम भक्ति के द्वारा ही लभ्य हैं,अन्य किसी साधन के द्वारा नहीं । यह भक्ति का असाधारण उत्कर्ष है कि जो सभी साधनों से अतीत हैं,वे पुरुषोत्तम भी उसकी अधिकार सीमा में हैं--'मामेव नैरपेक्ष्येण भक्तियोगेन विन्दति' (श्रीमद्भा०११।२७।५३) ।

स्पष्ट है कि वल्लभभक्ति को सर्वनिरपेक्ष मानते हैं, उसे फलदान में ज्ञान,योग,तप आदि किसी की भी आवश्यकता नहीं है । पुष्टिमार्ग- जो वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त है,उसमें

----

१ द्रष्टव्य-- अणुभा० ३।३।३६;३।४।४२ ;४३;४७

भक्ति की यही स्थिति है; किन्तु भक्तिमार्ग में मर्यादाभक्तिमार्ग भी गृहीत है । मर्यादाभक्ति साधन-सापेक्ष भक्ति है,इसमें ज्ञान,वैराग्य,योग,तप आदि साधनों की भी उपयोगिता स्वीकार की गई है। इस मार्ग में भक्ति पुष्टिमार्ग की भांति निरपेक्षरूप से फल नहीं देती,अपितु अन्य-साधन-संस्कृत होकर पुरुषार्थसाधिका बनती है ।

भक्तिमार्ग में मर्यादा का ग्रहण आवश्यक है,क्योंकि पुष्टिमार्ग का अधिकार तो दुर्लभ है। ऐसे निरुपधिप्रेमवान् भक्त जो निर्गुणभक्तियोग के अधिकारी हों बिरले ही होते हैं । बहुत से ऐसे भक्त होते हैं, जो पुष्टिमार्ग के अधिकारी न होने पर भी भगवदभिनिवेश और भगवत्प्रेम के कारण भक्तिमार्ग के अधिकारी होते हैं । ये सगुण भक्त हैं तथा इनकी भक्ति अनेकविध होती है । भागवत के तृतीयस्कन्ध में ही सगुणाभक्ति के ८१ भेद कहे गये हैं । यह सगुणाभक्ति ही सामान्यतः मर्यादा में गृहीत होती है । इन मर्यादामार्गीय भक्तों की अपेक्षा से वल्लभ ने अन्य साधनों की उपयोगिता पर भी विचार किया है । यहां संक्षेप में भक्तिमार्ग में अन्य साधनों की स्थिति की समीक्षा की जा रही है ।

वल्लभाचार्य उन आचार्यों में से हैं,जिन्होंने अपने सिद्धान्त में भक्ति को सर्वातिशायी महत्ता दी है । वल्लभ ने ज्ञान,कर्म,तप आदि को भी भगवत्प्राप्ति के साधनों के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु भक्ति-समन्वित कर के ही । ये सभी भक्ति से सत्कृत होकर ही पुरुषार्थसाधक हैं,स्वतन्त्ररूप से नहीं ।

`गतेरर्थवत्त्वमुभयथाऽन्यथा हि विरोधः` (वै०सू०३।३।२९) का भाष्य करते हुए वल्लभ ने ज्ञान की स्थिति पर विचार किया है । प्रेमात्मिका भक्ति के लिये पुष्टिमार्गीय को ज्ञान की अपेक्षा नहीं होती,किन्तु मर्यादामार्गीय को होती है । मर्यादामार्ग में भक्ति,ज्ञान-कर्म-सापेक्ष होकर ही फल देती है,अतः मर्यादामार्गीय को ब्रह्मानुभव या ब्रह्मज्ञान की भी आवश्यकता होती है । यह ज्ञान जीवब्रह्मैकत्वरूप न होकर जीव-ब्रह्म तादात्म्य रूप होता है । जीव अंश है और ब्रह्म अंशी है; साथ ही यह समस्त सृष्टि ब्रह्म की स्वरूपाभिव्यक्ति है तथा ब्रह्म सर्वरूप है । इस प्रकार `सर्वंहरिः` या `सर्वं कृष्णमयं जगत्` इस रूप का जो ज्ञान है, वही अपेक्षित है । मर्यादा मार्ग में भगवद्विषयक जो श्रवणादि हैं,उनसे पहिले यह ज्ञान उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् प्रेमा-भक्ति का अंकुरण सम्भव हो पाता है । भक्ति से विरहित ज्ञान को वल्लभ कोई मान्यता नहीं देते । ज्ञान के द्वारा जो कैवल्य या संघात से पृथग्भाव प्राप्त होता है, उसमें भी भक्ति का कारणत्व होता है । अविद्या-विनिवृत्ति और ज्ञानसम्पत्ति में जो पंचपर्वा विद्या सहायक होती है[1], उसके पर्वों में वैराग्य,सांख्य,योग,तप के साथ श्रीकृष्ण की भक्ति भी सम्मिलित है । वल्लभ का स्पष्ट मत है कि ज्ञान और कर्म की सारी

---

१ त०दी०नि० १।४६

व्यवस्थाएं मुमुक्षुभक्त अर्थात् मार्यादिकभक्त-विषयक ही हैं,पुष्टिमार्गीयभक्त के लिये नहीं,अतः `नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः ---` आदि श्रुतियों का बाध नहीं होता ।

कर्म की स्थिति भी ज्ञान जैसी ही है । कर्म का भक्तिसाधनत्व बस इतना ही है कि वह स्वरूपयोग्यता सम्पादक है[१]; और इस स्वरूपयोग्यता की आवश्यकता भी मार्यादिक को ही होती है, पौष्टिक को नहीं ।

वस्तुतः पुरुषोत्तम ही स्वतंत्र पुरुषार्थ रूप हैं,और उनकी प्राप्ति ही फल है । प्रेमाभक्ति से उत्पन्न पुरुषोत्तम का ज्ञान ही इसका साधन है, यही `ब्रह्मविदाप्नोतिपरम्` इत्यादि श्रुतियों से कहा गया है; अतः जब सर्वार्थप्रतिपादिका श्रुति स्वतः अपुरुषार्थरूप यज्ञादि का प्रतिपादन करती है,तो पुरुषोत्तमप्राप्ति के साधन रूप से ही करती है-- यही मानना उचित है । यह कर्म निष्काम भाव से ही सम्पन्न होकर पुरुषार्थसाधन बनता है । भगवदर्पित कर्मों का कर्मत्व[२] नष्ट हो जाता है। निष्कामभाव से कर्म करता हुआ साधक प्रभु में निरुपधिस्नेहयुक्त हो जाता है ।

ज्ञान और भक्ति का क्रमशः उत्तम और अत्युत्तम फल होने से उसके साधनरूप से ही कर्म करना चाहिए । कर्म मार्गान्तर से सम्बद्ध होकर ही उत्तम फल दे सकता है । स्वयं उसका फल तो श्रुति असकृत् आवृत्ति और पुनर्जन्म ही बताती है,जो म-- फल की[३] दृष्टि से हेय है । निवृत्तिमार्गीय का भी वह ज्ञानोपकारमात्र करता है,जन्मनिवर्तकत्व उसका नहीं है । कर्म का ज्ञानोपकारकत्व तभी है, जब कर्म भगवदर्पित हो और यह समर्पण ही भक्ति अथवा भक्तिका साध्य है । इस प्रकार ज्ञान और कर्म अन्ततः भक्ति के अंग ही ठहरते हैं । वल्लभ के अनुसार भक्ति ज्ञान और कम दोनों की ही स्वरूपोपकारिणी है,और इसके अभाव में ज्ञान-कर्म का स्वरूपत्व और फलत्व निष्पन्न नहीं होता[४] ।

----

१ `कर्मणा हि भक्त्युत्पत्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पादकत्वमेव । ---कर्मज्ञानाभ्यामलभ्यत्वाद्भगवतः स्वरूपयोग्यतापेक्षाऽपि मार्यादिकस्य न तु पौष्टिकस्य`। --अणुभा०३।४।२०

२(क) `----स्वतो पुरुषार्थरूपं यज्ञादिकं सर्वार्थतत्वप्रतिपादिका श्रुतिर्यन्निरूपयति तत्सर्वथा पुरुषार्थसाधनत्वेनैवेति मन्तव्यम् । तच्च निष्कामतयैव कृतं तथा । ---निरुपधिस्नेहवानुप्रभौ ततो भगवत्प्राप्त्याऽऽप्तकामो भवतीत्यर्थः`।--अणुभा०३।४।२५

(ख) `---अतो येनैव कर्मणा बन्धस्तदेव कर्म भगवति भावितं पुरुषं पुनातिइत्यर्थः`
--श्रीमद्भा०१।५।३३-सुबो०

(ग) `यत्कर्म भगवत्परितोषार्थं क्रियते तेन कर्मणा भगवद्भक्तिज्ञाने उत्पद्येते ।`
--श्रीमद्भा० १।५।३५--सुबो०

३ द्रष्टव्य-- अणुभा०४।१।२

४ `---अच्युतभक्तिरहितं ज्ञानं सांख्यं वैदिकं वा भक्त्यानलंकृतत्वान्न शोभते ।---किं बहुना सर्वेषु-शास्त्रेषु यत्सामयुक्ततस्य स्वरूपोपकारिणी वा भक्तिरिति भक्त्यभावे स्वरूपं फलं वा न सिद्ध्येदित्यर्थः । ---कर्मापि भक्तिसापेक्षम्।--साधनकाले फलकाले च क्लेशरूपत्वात् भक्त्यभावे न पुरुषार्थरूपं स्यात् ।` --श्रीमद्भा० १।५।१२-- सुबो०

विद्या के पांच वर्षों में वल्लभ ने वैराग्य,योग और तप की भी गणनाकी है ।वैराग्य का अर्थ है--विषयवैतृष्ण्य । विषयवैतृष्ण्य के बाद नित्यानित्यवस्तुविवेकपूर्वक सर्वपरित्याग होने पर वैराग्य निष्पन्न होता है । ज्ञान की भांति यह भी भक्ति का सहकारी है--"ज्ञानवैराग्ये भक्तेः सहकारिणी । भक्तिःकरणम् । क्षेमाय मोक्षाय स्वरूपसंरक्षणार्थं वा"।(--श्रीमद्भा०३।२५।४३--सुबो०)

योग का अर्थ है अष्टांगयोग । वल्लभ ने इसे भी भक्ति के साधनरूप में स्वीकार किया है । यहां यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि ज्ञान,कर्म,योग आदि का जो साधनत्व कहा जा रहा है- यह प्रेमाभक्ति या साध्यभक्ति के ही प्रति है, साधनभक्ति के प्रति नहीं ।

यद्यपि वल्लभ ने अपने स्वतंत्रग्रन्थ त०दी०नि० में अष्टांगयोग का उल्लेख किया है,किन्तु इसके आठ अंगों यमनियमादि पर वहां विशेषरूप से कोई विचार नहीं किया गया है । श्रीमद्भागवत के द्वितीयस्कन्ध के प्रथम अध्याय में शुकदेव ने परीक्षित को इस भक्तियोग या भक्तिसंवलित योग का स्वरूप समझाया है । इसी पर भाष्य करते हुए वल्लभ ने अपने विचार,या यह कहना अधिक उचित होगा कि अपनी सम्मति प्रकट की है । भागवतकार ने प्राणायाम,प्रत्याहार ,धारणा और ध्यान के स्वरूप का विशद् विवेचन किया है । धारणा,ध्यान और समाधि में जो ध्येयरूप है,वह श्रीकृष्ण का ही है । श्रीकृष्ण ही वह निर्गुणतत्व माने गये हैं,जो गुणातीत,द्वन्द्वरहित,आनन्दस्वरूप और सम हैं । ज्ञान और योग का पर्यवसान् श्रीकृष्णतत्व की प्रेममयी भक्ति में ही है ।

इस भक्तियोग का अर्थ स्पष्ट करते हुए वल्लभ कहते हैं कि चित्तवृत्ति का निरोध करने वाले अनेक योग प्रसिद्ध हैं,किन्तु जिससे भक्तिलक्षण योग साधित हो,वैसी ही धारणा करनी चाहिए । भक्ति ही जिसका असाधारण धर्म हो, जो कभी भक्ति से रहित न हो, अथवा भक्तिरूप से ही जिसकी प्रसिद्धि हो, वह भक्तियोग है[1] ।

यदि अष्टांग योग भगवद्भक्ति की ऊर्जा से अनुप्राणित नहीं है तो वह उत्कर्ष नहीं कर सकता । केवल[2] योग कैवल्य सम्पादित कर सकता है,किन्तु भगवद्भक्तिरूप चरमपुरुषार्थ की सिद्धि नहीं कर सकता ।

---

१ "तादृशी धारणा कर्तव्या यया धारणया योगः सिद्ध्येत् । सन्ति चबह्वो योगाश्चित्तनिरोधकाः कर्मादयः । तत्रापि भक्तिलक्षणो योगो यया सम्पद्यते तां धारणां कुर्यात् । --- भक्तिरेवलक्षणंयस्य गोसास्नादिवत्कदाऽपि भक्तिर्न व्यभिचरति, भक्त्यैव च तत्प्रसिद्धिस्तादृशो योगः सम्पद्यते ।"--श्रीमद्भा०२।१।२१--सुबो०

२ द्रष्टव्य-- त०दी०नि० २।२०२।२०४

तभी तप भी भगवद्विषयक होकर, भक्ति के माध्यम से ही पुरुषार्थसाधक है । तप का अर्थ स्पष्ट करते हुए वल्लभ कहते हैं कि एकाग्ररूप से स्थिति ही तप है । तप से इन्द्रियशुद्धि और मनःशुद्धि होती है । तप भी भगवदुपयोगी देहेन्द्रियसम्पादक होने के कारण भगवत्परक ही है,अन्यथा क्लेशात्मक होने के कारण इसका पुरुषार्थरूपत्व या पुरुषार्थसाधकत्व नहीं होगा [1] ।

इस भांति वल्लभ सभी साधनों को स्वीकार करते हुए भी जैसे केवल भक्तिमात्र स्वीकार करते हैं, क्योंकि भक्ति के बिना सभी साधन अर्थहीन और फलहीन हैं । ये भक्ति से युक्त हो भक्ति की ही प्राप्ति कराते हैं । स्वतन्त्ररूप से ये कोई फल देते भी हैं तो वह भगवद्भक्ति रूप चरम-पुरुषार्थ या कृष्णसायुज्य से हीन श्रेणी का ही होता है ।

इससे यह सिद्ध होता है कि भक्ति ही परमकाम्य है,तथा अन्य सभी साधनों का अनुष्ठान इसीलिये होता है कि श्रीकृष्णचरणों में रति उत्पन्न हो सके--

"दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः ।
श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ।।"

वल्लभ के सिद्धान्त में अन्य साधनों की क्या स्थिति है, यह इस तथ्य से भी स्पष्ट है कि इन साधनों के लिये केवल मर्यादामार्ग में ही अवकाश है । उत्तमअधिकाररूप पुष्टिमार्ग में इन साधनों का प्रयोजकत्व बिल्कुल नहीं है,उसमें तो भक्ति ही साधन और साध्य दोनों है ।

इस विस्तृत आलोचना से भक्ति की आध्यात्मिक दृष्टि, भक्ति का स्वरूप,वाल्लभसम्प्रदाय में भक्ति की स्थिति तथा वल्लभ को स्वीकृत भक्तिमार्गीयसाधनापद्धति का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है । इन अनुशीलन के आधार पर वल्लभ के भक्तिसम्बन्धी मुख्यसिद्धान्तों का संकलन इसप्रकार किया जा सकता है --

वल्लभ के अनुसार जीवन का सर्वोच्च पुरुषार्थ है भगवान् की अहैतुकी और आत्यन्तिकी भक्ति की प्राप्ति । यह भक्ति परब्रह्मपुरुषोत्तम श्रीकृष्णके निविड सान्निध्य के रूप की है । यह सान्निध्य भगवान् के प्रति अनन्य अनुराग होने पर प्राप्त होता है और यह अनुराग ही भक्तिमार्ग का प्राणतत्त्व है ।

वस्तुतः भगवत्प्राप्ति के सभी साधनों में भक्तिमार्ग ही सर्वश्रेष्ठ है,क्योंकि केवल इसी के द्वारा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति सम्भव है । अन्य किसी मार्ग का 'साक्षात्पुरुषोत्तम-प्रापकत्व' नहीं है । ज्ञानमार्ग के द्वारा जिस अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह सृष्टि की सर्वोच्च सत्ता नहीं,अपितु पुरुषोत्तम की अक्षर अभिव्यक्ति मात्र है । इसी प्रकार पूजा,मंत्रजप,उपासना

---

१ "तपस्तु भगवदुपयोगिदेहेन्द्रियसम्पादकत्वेन तत्परमेव ।
अन्यथा क्लेशात्मकस्य तस्य पुरुषार्थपर्यवसानं न स्यात् ।।"
--श्रीमद्भा०२।५।१६--सुबो०

आदि भी पुरुषोत्तम की विभुतियों को ही विषय बनाते हैं,पुरुषोत्तम को नहीं,अत: सभी मार्गों का परित्याग कर भक्तिमार्ग को ही सादर स्वीकार करना चाहिये ।

वल्लभ भक्ति को साधन और साध्य दोनों ही रूप में स्वीकार करते हैं ।भक्ति का शाब्दिक अर्थ है`भजनक्रिया`। यह भजनक्रिया सेवात्मिका है और साथ ही प्रेमपुर्विका भी । इस प्रकार भक्ति का अर्थ है प्रेमपूर्वक सेवा । वाल्लभमत में स्नेहपूर्वक कायिकव्यापाररूपा जो भक्ति है,वह साधनरूप तथा श्रीकृष्ण में निरतिशयस्नेहरूप जो मानसी सेवा है, वह साध्यरूपा स्वीकार की गई है। यह साधनभक्ति ही भक्तिमार्ग है तथा साध्यभक्ति इसके द्वारा साधित होने वाला परमपुरुषार्थ है ।

साध्यभक्ति अनुरागलक्षणा है,और साधनभक्ति मुख्यरूप से नवधाभक्ति रूप है । साधन और साध्य दोनों ही प्रकार की भक्ति में स्नेह परम आवश्यक है । यह स्नेह ही भक्ति का स्वरूपाधायक है; अत: नवधाभक्ति या साधनभक्ति का भी स्नेहपूर्वकत्व आवश्यक है ।

इस भक्तिमार्ग में प्रवेश पाने का अधिकारी वही होता है, जो श्रीकृष्ण का अनुग्रहभाजन हो । भगवान् का यह अनुग्रह `पुष्टि` शब्द वाच्य है । भक्तिमार्ग`स्वकृतिसाध्य` या`जीवप्रयत्नसापेक्ष` नहीं है, भगवान् कृपाविष्ट होकर जिसका आत्मीयरूप से `वरण` करते हैं,उसे ही इस मार्ग में प्रवेश मिलता है । अनुग्रह से प्राप्त होने वाली यह भक्ति द्विविध है--मर्यादाभक्ति और पुष्टिभक्ति ।

जिस जीव का वरण भगवान् और मर्यादाभक्तिमार्ग में करते हैं,उसे मर्यादाभक्ति प्राप्त होती है, और जिसका वरण पुष्टिभक्ति मार्ग में करते हैं, उसे पुष्टिभक्ति प्राप्त होती है । इस वरण में भगवदिच्छा ही नियामिका है ।

मर्यादाभक्तिमार्ग साधनसापेक्ष मार्ग है । इसमें नवधाभक्ति आदि साधनों के अनुष्ठान से प्रेमलक्षणा भक्ति प्राप्त होती है । इस मार्ग में ज्ञान,कर्म,योग आदि अन्यसाधनों की भी उपयोगिता है; लौकिक-वैदिक-कर्मानुष्ठान भी मान्य है । इसके विपरीत पुष्टिमार्ग सर्वसाधननिरपेक्ष तथा विधि से अतीत, प्रेममात्रोपजीवी मार्ग है । इसमें भगवान् जिस जीव का वरण करते हैं, उसका विहित साधनों के अभाव में भी अपने अनुग्रह बल से ही कल्याण करते हैं । पुष्टिमार्ग का अधिकार अत्यन्त दुर्लभ है,तथा उन्हें ही प्राप्त होता है,जिनपर श्रीकृष्ण का अतिशय अनुग्रह होता है ।

इन दोनों मार्गों में फल की दृष्टि से भी अन्तर है । पुष्टिमार्गियों की स्वर्ग-अपवर्ग आदि किसी भी मार्ग में कोई रुचि नहीं होती; पुरुषोत्तमप्राप्ति ही उसका एकमात्र लक्ष्य है । मर्यादामार्गियों की भगवान् में मोक्षकत्व बुद्धि होने के कारण उन्हें सालोक्य आदि चतुर्विध मोक्ष अथवा कृष्णसायुज्य की प्राप्ति होती है ।

वल्लभ ने अपने विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त के पूरक के रूप में जिस आचारपक्ष की प्रस्तावना की है, वह पुष्टिमार्ग ही है । इस पुष्टिमार्ग की साधना पद्धति का विस्तृत विवेचन उनके ग्रन्थों

में मिलता है । पुष्टिमार्गीयभक्ति के दो सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व हैं-- आत्मनिवेदन और सेवा । दैन्य-पूर्वक प्रभु के चरणों में सर्वात्मना आत्मसमर्पण ही आत्मनिवेदन कहलाता है । जो कुछ भी व्यक्ति की अहन्ता-ममता, स्व और स्वीय की परिधि में आता है, वह सब भगवान् को अर्पित कर दिया जाता है । यह आत्मनिवेदन शरणगमनपूर्वक होता है । इस आत्मनिवेदन के पश्चात् स्वयं को भगवान् का सेवक समझ कर उनकी सेवा में ही कालयापन करना चाहिये । पुष्टिमार्गीय भक्ति प्रमुखरूप से दास्यभाव की ही है ।

सेवा तीन प्रकार की होती है--तनुजा, वित्तजा और मानसी । वल्लभ के अनुसार मानसी सेवा ही मुख्य है, किन्तु प्राय: साधना की प्रारम्भिक अवस्था में यह सर्वसाध्य नहीं होती, अत: इसकी सिद्धि के लिए तनुजा और वित्तजा का विधान है ।

यह सेवा ही पुष्टिमार्गीयों का एकमात्र धर्म है अन्य लौकिक-वैदिक कर्मों का अनुष्ठान पुष्टिमार्ग में अनिवार्य नहीं है । मर्यादा मार्ग में अवश्य आश्रमधर्मों तथा नित्यनैमित्तिक आदि कर्मों का विधान है, किन्तु उसके भी भक्तिमार्ग ही होने के कारण, उसमें भी भगवद्धर्म अर्थात् भगवद्विषयक श्रवणादि ही प्रधान हैं ।

वल्लभ ने ज्ञान, कर्म आदि की भी उपयोगिता स्वीकार की है, किन्तु उन्हें भक्ति संवलित करके ही । भक्ति अंगी है, तथा अन्यसाधन अंगभूत है । ये ज्ञान आदि भी उसी सीमा तक ग्राह्य हैं जिस सीमा तक ये श्रीकृष्ण में प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न करने में सहायक होते हैं । इसके अतिरिक्त इनका कोई प्रयोजन नहीं है । मर्यादामार्ग में भक्ति सर्वप्रधान है तथा पुष्टिमार्ग में सर्वनिरपेक्ष ।

इस प्रकार वल्लभ भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति का सर्वोत्तम साधन स्वीकार करते हैं । जिसने भक्ति का अवलम्बन ले लिया अ उसके भोग-मोक्ष सब सिद्ध हैं ।

वल्लभाचार्य के भक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों के अनुशीलन से यह बात सिद्ध हो जाती है कि वे एक आचार्य हैं । वल्लभ का व्यक्तित्व प्रेमोन्मादविह्वल साधक या कवि के रूप में हमारे सामने न आकर एक ऐसे गम्भीर आचार्य के रूप में हमारे समक्ष आता है, जो भक्ति की शास्त्रीय मर्यादा से भलीभांति परिचित है और जो मनोभावों के आत्मविस्मृत प्रेमोन्मत्त प्रवाह को दास्यभक्ति की मर्यादा के तटों से बांध देता है । वल्लभ का पुष्टिमार्ग भागवत की भक्ति का शास्त्रीय विवेचन कहा जाता है ।

वल्लभ के सिद्धान्त में एक बात जो विशिष्ट ज्ञात होती है, वह यह है कि वे भक्ति को मानसी ही स्वीकार करते हैं । उन्होंने सर्वत्र भक्ति को मानसी सेवारूप ही कहा है । पुष्टिमार्ग की प्रारम्भिक साधना में जब कि क्रियाप्रधान सेवा ही अधिक होती है, उस समय भी वल्लभ उसे अनुराग-लक्षणा मानसी सेवा की, अथवा श्रीकृष्ण के प्रति अनुरागात्मिका मन:स्थिति का ही ज्ञापक मानते

हैं । यद्यपि उन्होंने तनुजा, वित्तजा सेवाओं को हि भी स्वीकार किया है, किन्तु यह ध्यान देने की बात है कि उनके साथ उन्होंने `भक्ति` शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया । वल्लभ साधनभक्ति या वैधीभक्ति में भक्ति पद का प्रयोग भी गौण की ही स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार चित्त का कृष्णमय हो जाना ही भक्ति है । यह भावतन्मयता की अत्यन्त ऊंची स्थिति है, जब न केवल मन अपितु देहेन्द्रिय की वृत्तियां भी पूर्णरूप से श्रीकृष्ण में तल्लीन हो जाती हैं । वल्लभ की भक्ति श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में वर्णित निर्गुणभक्ति योग की ही व्याख्या है, जिसपर अगले परिच्छेद में विचार होगा ।

वल्लभ ने भक्ति को मन:स्थितिविशेष के रूप में स्वीकार कर उसे कर्मकाण्ड और विधि-विधानों की सभी अपेक्षाओं से मुक्त कर दिया है । भक्ति का बाह्य कर्मकाण्ड से वैसा अटूट संबंध नहीं है, जैसा कि सामान्यत: समझा जाता है । पुष्टिमार्ग में तो वल्लभ ने कर्मकाण्ड का एकतरह से बहिष्कार ही किया है । यह समस्त वेदोक्त और शास्त्रोक्त साधनों से सर्वथा निरपेक्ष मार्ग है ।

पुष्टिमार्ग वल्लभ की एक अनूठी देन है । यह उनकी आध्यात्मिक अनुभूति तथा मानव-मनोविज्ञान में उनकी गहरी पैठ का समीकरण है । पुष्टिमार्ग अपने में भक्ति की सारी विशेषताएं संजोए हुए हैं और इसे व्यक्ति के आध्यात्मिक परिष्करण की एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया कहना उचित होगा ।

प्रेमपुष्टिमार्ग का उपजीव्य है । प्रेम मानवीय भावनाओं में सबसे श्रेष्ठ हैं तथा मानव की सभी चेष्टाओं की शक्ति है । सांसारिक प्रेम, प्रेम की अपेक्षाकृत सीमित और हीन अभिव्यक्ति है, किन्तु इस रूप में भी प्रेम में इतनी शक्ति है कि व्यक्ति उसके प्रभाव से थोड़ी देर के लिये , पात्रविशेष के ही सन्दर्भ में `स्व` और `स्वीय` के निम्न धरातल से ऊपर उठ जाता है । प्रेम के इस महत्सवेग को पहिचान कर ही भक्ति ने उसे आध्यात्मिक परिष्करण का माध्यम बनाया है ।

पुष्टिमार्ग ईश्वर और जीव के मध्य वर्तमान शाश्वत प्रेम सम्बन्ध को ही आधार बनाकर चलता है, और इस सम्बन्ध की पुनर्जागृति ही उसका उद्देश्य है । वल्लभ ने पुष्टिमार्ग में तीन तत्त्वों को प्रधानता दी है-- अनुग्रह, आत्मनिवेदन और सेवा । इन तीनों के ही विशिष्ट मनोवैज्ञानिक संदर्भ और स्पष्टीकरण हैं ।

भक्ति एक ऐसा सेतु है, जो चेतना के दो ध्रुवों को जोड़ता है--ईश्वरीय चेतना और मानवीय चेतना को । भक्ति के लिये दो की अपेक्षा होती है, वह जिसकी भक्ति की जाये अर्थात् आराध्य तथा वह जो भक्ति करे अर्थात् आराधक । आराध्य तथा आराधक के गुणों, शक्ति और योग्यता में तारतम्य होना आवश्यक है, अन्यथा भक्ति सम्भव नहीं होगी । ईश्वर अंगी है; वह अपने अंश जीव की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ, महान् और सामर्थ्यशाली है; पूर्ण है । उसकी इस पूर्णता और श्रेष्ठता के समक्ष ही जीव नतमस्तक होता है, आत्मसमर्पण करता है । यह वैषम्य इतना

महत् है कि ईश्वर से सम्बन्ध स्थापित करने के लिये भी जीव को उसकी कृपा की आवश्यकता होती है । वल्लभ के अनुसार भक्ति अपने अध्यवसाय से उस प्रकार साध्य नहीं है,जिस प्रकार ज्ञान ।अन्तरंग और बहिरंग साधनों का भक्ति के प्रति वैसा उपकारकत्व भी नहीं है, जैसा ज्ञान के प्रति है ।भक्त तो ईश्वर की अनुकम्पा और संरक्षण के आश्वासन पर आश्रित रह कर ही भक्तिभाव प्राप्त करता है । इसलिये वल्लभ ने श्रीकृष्ण की कृपा को ही भक्तिमार्ग,विशेषरूप से पुष्टिमार्ग का नियामक और घटक स्वीकार किया है । पुष्टिमार्ग का अर्थ ही है--अनुग्रहमार्ग ।

यह अनुग्रह श्रीकृष्ण का `पराक्रम` है, उनकी स्वरूपशक्ति है । ईश्वर का वह असीम प्रेम जो सारी सृष्टि को अपने अंक में समेटे है,वह अहैतुकी करुणा जो प्राणिमात्र के संरक्षण के लिये व्याकुल है, वही प्रेम, वही करुणा उनके अनुग्रह के रूप में अभिव्यक्त होती है । श्रीकृष्ण ईश्वर है; सर्वशक्तिमान् हैं; `कर्तुमकर्तुमन्यथावाकर्तुम्` की सामर्थ्य से युक्त हैं, अत: उनकी कृपा साधनों के अभाव में भी अपने स्वरूप-बल से जीव का उद्धार कर देती है ।

वल्लभ ने जो साधनों के परित्याग की बात कही है, उसके पीछे भी एक कारण है । साधन जीवप्रयत्नसापेक्ष होते हैं, वे जीव के कर्तृत्व और सामर्थ्य की अपेक्षा रखते हैं । साधनसम्पन्न व्यक्ति फलविशेष के प्रति अपेक्षा या अधिकारभावना रखता है, जो उसके दृप्त अहम् की परिचायिका होती है । इस अहम्भावना या कर्तृत्वबोध के कारण जीव में वह दैन्य नहीं आ पाता जो आना चाहिये । अहम्बोध हृदय को शुष्क और कठोर बना देता है और वह कृष्णप्रेम में द्रवीभुत या तरलीकृत नहीं हो पाता । और फिर, अनन्तसामर्थ्यशाली,शक्ति के चरमविकासरूप,सर्वनियन्ता ईश्वर के समक्ष जीव के क्षुद्र प्रयत्नों और सीमित योग्यताओं का क्या अस्तित्व है, क्या मूल्य है? भगवान् अगर रीझते हैं तो जीव की शक्ति पर नहीं अनुरक्ति पर रीझते हैं; उसके समर्पण पर मुग्ध होते हैं । इसीलिये वल्लभ ने आत्मनिवेदन पर इतना बल दिया है ।

जो एकबार अपने समस्त अभावों और असमर्थताओं के साथ भगवान् के सामने प्रणत हो जाते हैं, उन्हें अपनी एकमात्र शरण स्वीकार कर लेते हैं, भगवान् उन्हें साग्रह ग्रहण करते हैं । फिर वे उसकी योग्यता-अयोग्यता का विचार नहीं करते । रामानुजाचार्य ने भगवद्भक्तों की दो स्थितियां बतलायी हैं-- एक मार्जारकिशोरकी भांति और एक मर्कटकिशोर की भांति । वल्लभ के अनुसार भक्त का भगवान् के प्रति वैसा ही समर्पण होना चाहिये, जैसा बिल्ली के बच्चे का बिल्ली के प्रति होता है । बिल्ली के ~~बच्चे~~ बच्चे स्वयं कुछ नहीं करते, वे अपनी रक्षा के लिये पूर्णरूप से बिल्ली पर ही आश्रित रहते हैं, वह ही उन्हें मुंह में दबाये संकटों से बचाती फिरती है । भगवान् की कृपाशक्ति भी इसी प्रकार अपने निस्साधन भक्तों के योग-क्षेम की रक्षा करती हैं,भक्त को चिन्ता करने की कोई आवश्यकता नहीं होती । वल्लभ ने भगवद्भक्तों के लिये चिन्ता का सर्वथा निषेध किया है । इसके

विपरीत मर्कटकिशोर याने बन्दर का बच्चा अपनी ओर से बन्दरिया से चिपका रहता है, बन्दरिया उसे नहीं पकड़ती । साधनमार्ग में व्यक्ति अपनी ओर से प्रयत्नशील रहता है,और भूल होने पर पतन की भी सम्भावना रहती है । यह स्थिति प्राय: स ज्ञानी और ज्ञानीभक्तों की रहती है । भक्त तो, बिल्ली के बच्चे की तरह निश्चिन्त होकर भगवान् के चरणों में पड़ा रहता है; उसके योगक्षेम का निर्वाह, भक्तिपथ पर उसे ले जाने की व्यवस्था, उसकी रक्षा का प्रबन्ध, सब कुछ वे ही करते हैं। कभी उसकी ओर से हाथ छूट भी जाये तो सम्हाल लेते हैं, गिरने नहीं देते ।

भगवदनुग्रह और अनन्य शरणागति के अतिरिक्त पुष्टिमार्गीयसाधना का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व है `सेवा` । भक्त की शरणागति, उसकी भगवदीयता ही `सेवा` के रूप में अभिव्यक्त होती है । भक्ति स्वयं सेवारूप ही है । मानसी सेवा को तो पुष्टिमार्ग में चरमप्राप्तव्य समझा ही गया है, तनुजा और वित्तजा का भी कम महत्त्व नहीं है । पुष्टिमार्गीय साधना-पद्धति में तनुजा-वित्तजा सेवाओं का महत् आयोजन दिखाई पड़ता है । ब्रज के कृष्णभक्ति सम्प्रदायों में सेवा का विशेषमहत्त्व है । वार्षिकी सेवाओं और भगवदुत्सव का विधान तो है ही, दैनिक अष्टप्रहर सेवा भी नित्यकर्तव्य है ।

तनुजा वित्तजा सेवाओं के द्वारा भक्त का मनोनिग्रह साधित होता है । तन और वित्त से सम्पृक्त पदार्थों का जब भगवदर्पण हो जाता है तो उनमें स्वीयत्व नहीं,अपितु भगवदीयत्व की अनुभूति होने लगती है और आसक्ति के बन्धन शिथिल हो जाते हैं । सेवा के द्वारा व्यक्ति की बाह्य चेतना का भी उन्नयन होता है । देह और इन्द्रियों की प्रवृत्तियां भगवान् से सम्बद्ध होकर उदात्त और संस्कृत हो जाती हैं । मनुष्य स्वभाव से ही क्रियाशील है । सेवा के इस सक्रियविधान से उसका क्रिया-प्रिय स्वभाव सन्तुष्ट होता है । अष्टप्रहर सेवा में सारी लौकिक क्रियाएं भगवदर्थ सम्पन्न की जाती हैं । इस प्रकार सेवा के माध्यम से व्यक्ति के दैनन्दिन क्रियाकलाप को भी ईश्वरीयचेतना से स्फूर्त करने का प्रयत्न किया गया है । ईश्वरीयचेतना की अनुभूति के घनिष्ठ साहचर्य से धीरे-धीरे साधक की वैयक्तिकचेतना लुप्त होने लगती है, और उसे अपने अस्तित्व में,अपनी प्रत्येक प्रवृत्ति में, अपने समस्त जीवनमें `भगवदीयता` या `भगवदर्थीयत्व` की अशेष अनुभूति होने लगती है ।

पुष्टिमार्गीय सेवा का मानव की अभिरुचियों तथा अभिनिवेश से विशेष सम्वाद है । सेवा का स्वरूप अत्यन्त सरस और रोचक होने से व्यक्ति का सौन्दर्य-बोध और अनुरागात्मिका वृत्तियों की विशेष तृप्ति होती है, साथ ही उसकी बहिर्मुखी प्रवृत्तियां अपने आलम्बन के परिवर्तित हो जाने के कारण अन्तर्मुखी हो जाती हैं ।

इस प्रकार वल्लभाचार्य ने पुष्टिमार्ग के रूप में प्रवृत्तियों के परिष्करण की एक

विधा सामने रखी है । आत्मनिवेदन और सेवा के माध्यम से जब भगवदनुराग दृढ़ हो जाता है, तो व्यक्ति स्वयं विरक्त हो जाता है, किसी बाह्य विधिविधान की आवश्यकता नहीं होती । वह पूर्णरूप से भगवन्मय हो जाता है, उसकी वैयक्तिकता, उसका अहंबोध कृष्ण की दिव्यचेतना में न जाने कहां घुल जाता है और सबसे बड़ी बात यह है कि परमनिवृत्तिमय यह स्थिति प्रवृत्ति के द्वारा ही आती है । पुष्टिमार्ग प्रवृत्तिमार्ग है, और यह प्रवृत्ति स्वयं निवृत्तिमयी है ।
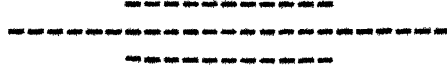
अष्टम परिच्छेद

विशुद्धाद्वैत दर्शन में साध्य का स्वरूप

साध्य की स्थापना दार्शनिक विचारणा का सबसे अनिवार्य अंग है । इसकी स्थिति वही है,जो अनुमान-प्रक्रिया में `प्रतिज्ञावाक्य` की होती है । इसकी सिद्धि और फिर इसकी प्राप्ति ही न दार्शनिक विचारणा का प्रयोजन है । साध्य ही वह लक्ष्य है,जिसकी आश्वासनमय प्राप्ति के लिये व्यक्ति की चेतना सक्रिय और सचेष्ट होती है । समस्त साधनों की अर्थवत्ता इसी में है कि वे साधक को साध्य की अनुभूति के योग्य बना सकें ।

भारतीयदर्शन की विशेषता यह है कि उसके सम्प्रदाय अपने स्वरूप और मान्यताओं में भिन्नता रखते हुए भी एक ऐसी स्थिति की अवधारणा में एकमत हैं,जो अपरिच्छिन्न है,शाश्वत है,और दु:खाभावरूप है । यही `मोक्ष` है; मोक्ष का अर्थ ही है, सांसारिक बन्धनों और तज्जन्य कष्टों से से जीव की विनिर्मुक्ति । व्यक्ति भौतिक जीवन की विभीषिकाओं और अपूर्णताओं से त्रस्त और असन्तुष्ट होकर ही अपना परितोष भौतिक सीमाओं से परे खोजने का यत्न करता है । ऐसीस्थिति में व्यक्ति को सांसारिक-चेतना के अत्यन्त हीन और स्थूल स्तर से आध्यात्मिक-चेतना के सत्य-स्फूर्त,चिन्मय स्तर तक उठाने का श्रेय साध्य के आकर्षण और आश्वासन का ही होता है ।

दु:ख से सर्वथारहित, आत्मावस्थितिरूप मोक्ष की इस कल्पना में वेदान्त ने `आनन्द` तत्त्व और संयुक्त कर दिया है । इस प्रकार मोक्ष केवल दु:खाभावरूप न रहकर निरतिशय सुखस्वरूप हो गया । इसके पश्चात् वैष्णव-वेदान्तियों ने इस अमूर्त और निराकार `आनन्द` तत्त्व को एक आकार देकर मानवीय सम्वेदना के और निकट ला दिया, जिससे व्यक्ति के लिये इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति अधिक ग्राह्य और सम्वेदनीय बन गई । वैष्णव-दार्शनिकों ने शंकराचार्य के निराकार, निर्विशेष और सर्वनिरपेक्ष ब्रह्म के स्थान पर जिस साकार और सविशेष ईश्वर की स्थापना ~~पर जिस साकार और सविशेष ईश्वर की स्थापना~~ का, उससे दर्शन और धर्म का अन्तर समाप्त हो गया । दर्शन का असीम अतीन्द्रिय चरम सत्य ही धर्म की भावनाप्रवण अनुभूति में एक भावुक आराध्य के रूप में अवतीर्ण हुआ ।

कृष्णभक्ति दर्शन में विश्व का यह आदि तत्त्व श्रीकृष्ण के रूप में अभिव्यक्त हुआ है । अध्यात्म की सारी गम्भीरता और गरिमा स्वयं में समेट कर श्रीकृष्ण का व्यक्तित्व इतना आकर्षक और मनोहारी है कि उसने न केवल व्यक्ति की आध्यात्मिक तृषा, अपितु उसकी रागात्मिका वृत्तियों और सौन्दर्य-बोध को भी तृप्त कर दिया । न केवल उसकी अन्तश्चेतना,अपितु उसकी

बाह्य-चेतना भी ईश्वरीय अनुभूति से अनुप्राणित होकर उदात्त बन गई ।

परमतत्त्व के मूर्तिमान् रूप ईश्वर के प्रति व्यक्ति के हृदय में जो आस्था,श्रद्धा और प्रेम के भाव स्फुरित होते हैं, उनकी समष्टि ही भक्ति है । वैष्णव दर्शनों में ईश्वर की यह भक्ति ही चरम साध्य के पद पर प्रतिष्ठित की गई है । इस भक्ति के समक्ष स्वर्ग,अपवर्ग सभी तुच्छ और निर्मूल्य है --`अनिमित्ता भागवती भक्ति: सिद्धेर्गरीयसी`(भाग० ३।२५।३३) । भक्ति की यह सर्वातिशायी महत्ता वैष्णव-दर्शन की सर्वाधिक प्रमुख विशेषता है । वल्लभाचार्य भी वैष्णव-चिन्तन-धारा के ही एक प्रतिनिधि आचार्य हैं; फलत: वे भी भक्ति को ही जीव का सर्वोच्च प्राप्य घोषित करते हैं । परब्रह्म,पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की जो अहैतुकी और आत्यन्तिकी भक्ति है, वही जीव का एकमात्र साध्य और परम-पुरुषार्थ है ।

वल्लभ ने अपने दर्शन में साध्य का जो स्वरूप प्रस्तुत किया है, उसकी विवेचना और समीक्षा ही इस परिच्छेद का प्रयोजन है । साध्यस्वरूप के अन्तर्गत वल्लभ ने भक्ति के अतिरिक्त कृष्णसायुज्य,अक्षरसायुज्य तथा सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तियों का भी कथन किया है; उन सब पर भी यथासन्दर्भ विचार किया जायेगा । पिछले परिच्छेद में `विशुद्धाद्वैत दर्शन में साधना का स्वरूप` शीर्षक के अन्तर्गत भक्ति के दो रूपों की चर्चा हुई है-- साधनभक्ति और साध्यभक्ति । साधन भक्ति मुख्यरूप से नवधा या वैधी भक्ति है,जो पराभक्ति या साध्यभक्ति की प्राप्ति में सहायिका है । साध्यभक्ति अनुरागात्मिका भक्ति है,जो श्रीकृष्ण में निरतिशयप्रेमरूप है । इसे ही वल्लभ ने मानसी सेवा कहा है ।

पिछले परिच्छेद में इस साध्यभक्ति का उल्लेखमात्र हुआ है,क्योंकि वहां साधनभक्ति की व्याख्या ही प्रकृत थी, साध्यभक्ति की नहीं । प्रस्तुत परिच्छेद में सर्वप्रथम साध्यभक्ति के स्वरूप का विश्लेषण किया जा रहा है, क्योंकि वल्लभ के अनुसार वस्तुत: वही जीव का सर्वोच्चसाध्य है ।

भक्त दार्शनिकों ने जिस भक्ति को साध्य स्वीकार किया है, वह प्रेमलक्षणा भक्ति है । पिछले परिच्छेद में `भक्ति` शब्द के अर्थ पर विचार करते समय यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भक्ति का शब्दार्थ है `प्रेमपूर्विका सेवा` । `भज्` धातु सेवा अर्थ में होती है; उससे भाव अर्थ में `क्तिन्` प्रत्यय की संयोजना हुई है, अत: वह भजिक्रिया का द्योतन करता है । वल्लभ के अनुसार प्रधानभूता क्रिया `मानसी` ही होती है, इसलिये भक्ति का तात्पर्य मानसी सेवा ही समझना चाहिये । केवल सेवा कायक्लेशजनक होने के कारण अपुरुषार्थरूपा होगी,अत: सेवा का प्रेमपूर्वक होना भी आवश्यक है ।`भक्ति` शब्द में धात्वर्थ सेवा और प्रत्ययार्थ प्रेम समझना चाहिये । इस प्रकार वल्लभ के अनुसार भक्ति का अर्थ है प्रेमपूर्विका मानसी सेवा । उनकी दृष्टि में यह

मानसी सेवा ही भक्ति है, वैधी या साधनभक्ति में तो भक्तिपद का प्रयोग गौण है । साधना की प्रारम्भिक अवस्था में जो क्रियाप्रधान तनुजा और वित्तजा सेवाओं तथा अन्यान्य साधनों का आश्रय लिया जाता है, उनका प्रयोजन केवल इतना है कि उनके अनुष्ठान से श्रीकृष्ण में परमप्रेमरूपा भक्ति का उदय हो सके । प्रेम के मानस होने के कारण, स्वभावत: ही प्रेमलक्षणा भक्ति मानसी सेवा-होती है । मानसी सेवा का स्वरूप है-- श्रीकृष्ण में चित्त की एकतानता अर्थात् चित्त का कृष्णमय हो जाना । वल्लभ ने सेवा की जो परिभाषा बताई है,वह यही है--`चेतस्तत्प्रवणं सेवा ---` ।

इस प्रेमलक्षणा भक्ति का आश्रय श्रीकृष्ण हैं,क्योंकि सर्वात्मरूप होने के कारण वे ही जीव का परमप्रेमास्पद हैं । वे जीव की न केवल मानसिक अपितु समस्त ~~ब~~ दैहिक गतियों के भी एकमात्र लक्ष्य हैं, `एकायन` हैं । श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति नित्य-निरतिशय आनन्द से युक्त होने के कारण स्वयंपुरुषार्थरूपा है, जीव का सर्वोच्चसाध्य है । यह अत्यन्त दुर्लभ है, ब्रह्मभाव प्राप्त लोग मिल जाते हैं, परन्तु भगवान् के प्रति उत्कट प्रेम से युक्त भक्त नहीं ~~लिमल~~ मिलते । यह भक्ति उन्हें ही प्राप्त होती है, जिनपर भगवान् का अतिशय अनुग्रह होता है और जिनका भगवान् स्वीयरूप से पुष्टिमार्ग में वरण करते हैं ।

वल्लभ ने अपने प्रकरणग्रन्थ `भक्तिवर्द्धिनी` में साध्यस्वरूपा प्रेमाभक्ति के विकास की तीन स्थितियां निरूपित की हैं-- प्रेम,आसक्ति और व्यसन । पुष्टिमार्गीय श्रवण-स्मरण आदि से बीजभावरूप जो सूक्ष्मभक्ति है,उसका विकास होता है । पुष्टिमार्गीयत्व की सिद्धि के लिये भगवान् जीवत्वसम्पादन के अनन्तर ही जीव में यह भक्ति-बीज स्थापित कर देते हैं । त्यागपूर्वक श्रवणादि से भक्ति का यह बीज दृढ़ होता है[1] । शास्त्र में उसी बीज को दृढ़ कहते हैं,जो किसी कारण से नष्ट न हो[2] ।यह बीजभाव श्रवणादिसाधनों से उपचय को प्राप्त होकर स्नेह अथवा `प्रेम` रूप हो जाता है । श्रीकृष्ण में यह अनुराग अन्य सभी विषयों में विराग का कारण बनता है । भगवान् के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों में व्यक्ति का जो राग रहता है,वह निवर्तित हो जाता है[3] ।

---

१ `यथा भक्ति: प्रवृद्धास्यात् तथोपायो निरूप्यते ।
बीजभावे दृढे तु स्यात् त्यागाच्छ्रवणकीर्तनात् ।। --`भक्तिवर्द्धिनी`,पृ०१

२ `बीजं तदुच्यते शास्त्रे दृढं यन्नापि नश्यति` --`भक्तिवर्द्धिनी`,पृ०४

३(क) `स्नेहाद्रागविनाश: स्यात् ---` -- भ०व०,पृ०४

(ख) `भगवद्भिन्नरागनिवर्तको भगवद्भाव: स्नेह:` --`प्रेमामृतार्णव`,पृ०६८

सेवा श्रवणादि की आवृत्ति से निरन्तर वर्द्धमान होता हुआ यह प्रेम 'आसक्ति' में परिणत हो जाता है । इस अवस्था में साधक को भगवत्सम्बन्ध रहित सभी पदार्थ प्रतिकूल और बाधा रूप प्रतीत होते हैं । गृह, परिवार, धनवैभव, सब कुछ अनात्मभूत और त्याज्य लगते हैं ।[1]

यही आसक्ति उत्तरोत्तर दृढ़ और घनीभूत होती हुई 'व्यसन' का रूप धारण कर लेती है ।[2] यह व्यसन श्रीकृष्ण में निरतिशय प्रेम रूप है । कृष्णप्रेम इतना प्रगाढ़ हो जाता है कि सर्वत्र कृष्णातत्त्व की ही अनुभूति होती है । चित्त की समस्त वृत्तियां तदाकाराकारित होकर कृष्णमय हो जाती हैं । यह जो व्यसनरूपा भक्ति है, वही मानसी सेवा है । इस व्यसनभावापन्न भक्ति को ही वल्लभ सर्वश्रेष्ठ कहते हैं--'यदा स्याद्व्यसनं कृष्णे कृतार्थः स्यात्तदैव हि' (भ०व० ५) ।

इस प्रकार भगवद्रुचि की उत्पत्ति के अनन्तर किये श्रवणादि साधनों से सम्वर्द्धित अनुरागलक्षणा भक्ति की प्रथम अवस्था 'प्रेम' शब्द वाच्य है, तत्पश्चात् मध्यमावस्था 'आसक्ति' है और अन्तिम परिपक्वावस्था 'व्यसन' शब्द वाच्य है ।[3] वस्तुतः यह प्रेम की ही क्रमशः प्रगाढ़ होती हुई तीन स्थितियां हैं, इसी कारण कहीं-कहीं प्रेम शब्द से ही आसक्ति और व्यसन का भी कथन किया जाता है । जहां-जहां साधनों का प्रेमावधिकत्व कहा गया है, वहां प्रेम का अर्थ व्यसन ही है । व्यसनपर्यन्त ही साधनों का आचरण किया जाना चाहिए । व्यसनभावप्राप्त प्रेम की आत्मविस्मृत अवस्था में साधनों के अनुष्ठान का अवकाश ही कहां है, और यदि हो तो भी वे आनन्दानुभूति में बाधा डालने के कारण प्रत्यवायस्वरूप ही हैं ।[4] यह व्यसनभावापन्न भक्ति ही वह निर्गुण भक्तियोग है, जिसका श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध में वर्णन हुआ है । तृतीय स्कन्ध के २९ वें अध्याय में महर्षि कपिल ने देवहूति के प्रश्न करने पर भक्तियोग का सविस्तर वर्णन और भक्ति के भेदों का

---

१ (क) ' ----आसक्त्या स्याद्गृहारुचिः'

-- भ०व० ४

(ख) 'भगवदितरविषयबाधकत्वस्फूर्तिसम्पादको भाव आसक्तिः'

-- प्र०र०, पृ०९८

२ 'ततः स एवोत्तरोत्तरं वृद्धो व्यसनत्वं प्राप्नोति'

--प्र०र० , पृ०९८

३ 'ततः प्रेम: तथाऽऽसक्तिर्व्यसनं च यदा भवेत्'

--'भक्तिवर्द्धिनी', पृ०३

४ '----अपितु तस्मिन् पुरुषोत्तमे धर्मिण्येव दृष्टिस्तात्पर्यं यस्य पुंसस्तस्याश्रमधर्मा अन्तरा च फलसिद्धौ व्यवधानरूपाश्च --'

-- अणुभा०३।४।३५

विवेचन किया है ।

साधकों के स्वभाव के अनुसार भक्तियोग का भी अनेक प्रकार से प्रकाशन होता है । पहिले उन्होंने सगुण भक्ति के ८१ भेद बताये हैं । सात्त्विक,राजस और तामस भक्ति के तीन -तीन भेद हैं, इसी प्रकार नवधा भक्ति में से भी प्रत्येक के तीन-तीन भेद होते हैं । दोनों के मिश्रण से सगुणा भक्ति इक्यासी प्रकार की कही गई है । इसके पश्चात् उन्होंने निर्गुणा भक्ति या निर्गुण भक्तियोग का प्रतिपादन किया है । यह निर्गुणा भक्ति एकविध ही होती है ।

वल्लभ सगुणा भक्ति को अस्वीकार कर निर्गुण भक्तियोग का ही अभीष्ट सिद्धान्त के रूप में प्रतिपादन करते हैं--"अस्मत्प्रतिपादितं चनैर्गुण्यम्" । इस निर्गुण भक्तियोग की व्याख्या करते हुए महर्षि कपिल कहते हैं-- "मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये,

मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गंगाम्भसोऽम्बुधौ ।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्,

अहेतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे ।।"

(श्रीमद्भा०३।२९।११।१२)

भगवान् के भक्तवात्सल्य आदि गुणों के श्रवणमात्र से सागर में गंगा के निरन्तर प्रवाह की भांति उनमें चित्त की अविच्छिन्नगतिरूप जो अहैतुकी और अव्यवहिता भक्ति है, वही भक्तियोग है ।

वल्लभ ने अपनी 'सुबोधिनी' में इन दो श्लोकों की विशद् व्याख्या की है । वे कहते हैं कि प्रकृति के जो सत्वादि गुण हैं वे परिच्छेदक होते हैं, किन्तु भगवान् के जो गुण हैं, वे प्राकृतिक गुणों की भांति परिच्छेदक नहीं हैं । वे भगवान् से अभिन्न और उत्कर्षहेतु होने के कारण अपने आश्रय भगवान् का अपरिच्छिन्नरूप से ही बोध कराते हैं । यही भगवद्गुणों का प्राकृतिक गुणों से वैशेष्य है । इन भगवद्गुणों के श्रवणमात्र से सर्वात्मभूत भगवान् में मन की जो अविच्छिन्न गति है, वही भक्ति है । अविच्छिन्न का अर्थ है प्रतिबन्धरहित । जिसप्रकार पर्वतादि-का भेदन करती हुई गंगा सागर की ओर अग्रसर होती है, वैसे ही समस्त लौकिक-वैदिक प्रतिबन्धों को दूर कर भगवान् में जो अविरल चित्त-प्रवाह है, वही निर्गुण भक्तियोग का स्वरूप है । मन की यह गति भगवान् में निरुपधि प्रेमरूप है ।

इस निर्गुण भक्ति की दो और विशेषताएं हैं-- यह अहैतुकी और आत्यन्तिकी होती है । वल्लभ लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध इस प्रकार स्थापित करते हैं--"आत्यन्तिक भक्तेर्लक्षणमाह अहेतु-कीति । या अहेतुकी पुरुषोत्तमे भक्तिः स एव भक्तियोग आत्यन्तिक उदाहृत इति सम्बन्धः" । पुरुषोत्तम में जो अहैतुकी भक्ति है, वही आत्यन्तिक भक्तियोग है । यह भक्ति पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में ही होती है,पुरुषस्वरूप या अवतारों में नहीं । भक्ति का तात्पर्य है प्रेमपूर्विका सेवा।

निर्गुण भक्तियोग के सन्दर्भ में यह सेवा मानसी ही समझनी चाहिए, क्योंकि यह भक्तियोग अविच्छिन्न मनोगतिरूप ही है।

अहैतुकी का अर्थ है फलाकांक्षारहित। जिस भक्ति में कोई हेतु अर्थात् किसी फलविशेष की कोई इच्छा नहीं है, वह 'अहैतुकी' अथवा अनिमित्ता भक्ति है। तृतीय स्कन्ध के पच्चीसवें अध्याय में एक श्लोक आया है -- 'अनिमित्ता भागवती भक्तिः सिद्धेर्गरीयसी।

जरयत्याशु या कोशं निगीर्णमनलो यथा ॥'[1]

इसकी व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं--'सा अनिमित्ता भवति, स्वतंत्रा, भगवन्निमित्ता वा'। इसमें किसी प्रकार की कोई फलाकांक्षा नहीं रहती, कोई निमित्त नहीं रहता, अतः यह अनिमित्ता कहलाती है; अथवा भगवान ही इसमें निमित्तरूप होते हैं, उनकी ही आकांक्षा रहती है, इसलिये यह भगवन्निमित्ता है। यह अहैतुकी अथवा अनिमित्ता भक्ति ही फलाकांक्षा से रहित और स्वतंत्र-पुरुषार्थरूप होने के कारण 'स्वतंत्रा' भी कहलाती है।

'अहैतुकी' पद से महर्षि कपिल ने सगुणाभक्ति का निषेध किया है। सगुणाभक्ति सत्त्वादि से परिच्छिन्न होने के कारण फलानुसन्धानपूर्वक होती है, जब कि निर्गुणाभक्ति गुणों से अतीत होने के कारण फलेच्छा से सर्वथा रहित होती है। निर्गुणाभक्ति की दूसरी विशेषता है--अव्यवहिता होना। 'अव्यवहिता' का अर्थ है -- सातत्य या नैरन्तर्ययुक्त, जिसमें काल अथवा कर्म से भगवत्सेवा में कोई व्यवधान न पड़ता हो। ऐसी भक्ति से युक्त जो भक्त हैं, उनके दैनन्दिन क्रिया-कलाप निद्राभोजन आदि भी भगवत्सेवारूप ही होते हैं, अतः उनसे भक्ति में किसी व्यवधान की आशंका नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार सभी कामनाओं से रहित, पुरुषोत्तम में चित्तवृत्ति का जो सतत् प्रवाह है, वही आत्यन्तिक भक्तियोग या निर्गुणभक्ति योग है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर निर्गुणभक्तियोग की दो प्रमुख विशेषताएं सामने आती हैं। पहिली यह कि यह चित्त की अनन्य कृष्णमयता रूप है और दूसरी यह कि यह आत्मनिवेदन की चरम परिणति है। प्रथम विशेषता है, कि चित्त का श्रीकृष्ण में तन्मय होना। श्रीकृष्ण में अविच्छिन्न मनोगति का अर्थ है-- कृष्ण का निरन्तर प्रीतिपूर्वक अनुस्मरण। इस अवस्था में किसी अन्य वस्तु या प्रत्यय का बोध ही नहीं होता, सर्वत्र सर्वदा श्रीकृष्ण के स्वरूप की ही अनुभूति होती है। चित्त की ध्येय श्रीकृष्ण में 'तन्निष्ठता' या 'तदाकाराकारितता' ही मानसी सेवा है, और इसे ही वल्लभ ने प्रेम की 'व्यसन' अवस्था कहा है।

---

१ श्रीमद्भा॰ ३।२५।११-१२-- सुबो॰

इस अवस्था में भक्त का व्यक्तित्व इतना कृष्णमय हो जाता है कि उसके समस्त आवेग-संवेग, उसकी सभी मानसिक गतियां, यहां तक कि उसकी दैहिक चेष्टाएं और प्रवृत्तियां भी कृष्णप्रेम से ही परिचालित होने लगती हैं तथा उसका सारा जीवन ही भगवन्मय हो जाता है । पुष्टिमार्ग में दीक्षित होते समय व्यक्ति श्रीकृष्ण के चरणों में अपनी सारी अहन्ताममता, अपनी देहेन्द्रियों, अपनी कामनाओं और वासनाओं के समर्पण की जो प्रतिज्ञा करता है, उसका वह समर्पण इस अवस्था में श्रीकृष्ण के प्रेम का व्यसन बनकर पूरा होता है । निर्गुण भक्तियोग की यह स्थिति 'भाव-समाधि' की दशा है, जिसमें भक्त को अपनी वैयक्तिक सत्ता का भान ही नहीं होता । वह अपने लिये कुछ नहीं करता, जो भी करता है भगवान् के लिये करता है, भगवान् का होकर करता है[१] । उसका सम्पूर्ण जीवन भगवत्सेवा के एक बृहत् संयोजन का रूप ले लेता है ।

इस भक्ति को निर्गुण भक्तियोग क्यों कहते हैं, यह विचारणीय है । 'निर्गुण' शब्द के दो सम्भावित अभिप्राय हो सकते हैं और दोनों ही उचित प्रतीत होते हैं । इस भक्तियोग का विषय पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं । वे प्रकृति के गुणों से अतीत हैं अर्थात् प्राकृतिक सत्त्वादि से परिच्छिन्न नहीं हैं । उनके समस्त गुण भी दिव्य और अप्राकृत हैं तथा उनके स्वरूप से अभिन्न हैं । वल्लभ ने ब्रह्म को इसी अर्थ में निर्गुण माना है । इस निर्गुण ब्रह्म अथवा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण को विषय बनाने के कारण यह भक्तियोग निर्गुण भक्तियोग है ।

निर्गुण का दूसरा अर्थ है, निष्काम भक्तियोग । यह अर्थ भक्ति के स्वरूप से सीधे व सम्बद्ध होने के कारण अधिक उचित और उपयुक्त है । एकादश स्कन्ध में उद्धव को भक्तिमार्ग का उपदेश देते हुए भगवान् ने कहा है-- 'न ह्यंगोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि ।
मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः ।।'
--(श्रीमद्भा०११।२९।२०)

'उद्धव, मेरे इस भागवत धर्म को प्रारम्भ कर देने पर इसमें विघ्नबाधा से रत्तीभर भी अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि यह धर्म निष्काम है, और स्वयं मैंने ही इसे निर्गुण होने के कारण सर्वोत्तम निश्चित किया है ।'

कामनाएं और वासनाएं गुणों का ही कार्य हैं । जो भक्ति सत्त्वादि गुणों से परिच्छिन्न है, वह फलानुसन्धानपूर्वक अर्थात् फलाकांक्षायुक्त ही होती है । फल की इच्छा से की

---

१ 'मदर्थेऽङ्गचेष्टा च वचसा मद्गुणेरणम् ।
मय्यर्पणं च मनसः सर्वकामविवर्जनम् ।।
मदर्थेऽर्थपरित्यागो भोगस्य च सुखस्य च ।
इष्टं दत्तं हुतं जप्तं मदर्थं यद्व्रतं तपः ।।' -- श्रीमद्भा०११।१९।२२।२३

गई भक्ति को महर्षि कपिल सगुणभक्ति कहते हैं । जिस भक्तियोग का वर्णन यहां किया गया है, वह सभी कामनाओं से रहित `भगवत्स्वरूपैकपर्यवसायी` है । इस भक्ति को अनिमित्ता या अहैतुकी कहा गया है । यह भक्ति प्राकृत सत्त्वादि गुणों से परिच्छिन्न नहीं है,अत: निर्गुण है । फलेच्छा रूप निमित्त का अभाव यह सूचित करता है कि इस भक्ति में गुणों का प्रतिसंक्रम नहीं है --`स एव भक्तियोगाख्य आत्यन्तिक उदाहृत: । येनातिव्रज्य त्रिगुणं मद्भावायोपपद्यते ।।`

इन सब बातों पर विचार करते-हुए निर्गुणभक्तियोग का अर्थ निष्काम भक्तियोग ही समझना चाहिये । यह निर्गुणा भक्ति स्वयं फलरूप है । इसे पाने के पश्चात् भक्त आप्तकाम और आत्मतृप्त हो जाता, उसके हृदय में और कोई आकांक्षा बचती ही नहीं । इसके समक्ष मोक्ष भी हीन है; भक्तजन इस आनन्दस्वरूपा भगवत्सेवा के बिना, सालोक्यादि चतुर्विध मुक्ति और सायुज्य को भी अस्वीकार कर देते हैं । कपिल ने भक्तियोग की इसी महत्ता का वर्णन इस श्लोक में किया है--

`सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति बिना मत्सेवनं जना: ।।`

श्रीमद्भा०-- ३।२९।१३--सुबो०

जब भगवान् में प्रेम अत्यन्त प्रगाढ़रूप धारण कर लेता है तो यह भक्ति स्वयं रसरूप हो जाती है । वल्लभ के अनुसार वही भक्ति आत्यन्तिकी है,जो स्वत: रसरूप है । ऐसी रसघन भक्ति की प्राप्ति के पश्चात् भक्त को स्वभावत: ही अन्य किसी फल की आकांक्षा नहीं रहती[1] ।

यह निर्गुणाभक्ति ही वाल्लभमत में जीव का सर्वोच्च साध्य है । इसका दुर्लभ अधिकार केवलपुष्टिमार्गीय जीवों का ही होता है, जो भगवान् के अतिशय अनुग्रह भाजन होते हैं ।

-- वल्लभ के अनुसार इस प्रेमलक्षणा निर्गुणभक्ति के द्वारा ही पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की प्राप्ति हो सकती है । अन्य किसी साधन में इतनी सामर्थ्य नहीं है कि वह साक्षात्पुरुषोत्तम को अपना विषय बना सके ।

अब तक इस साध्यभक्ति की तीन अवस्थाओं का विवेचन हुआ है-- प्रेम,आसक्ति और व्यसन । वल्लभाचार्य व्यसन के पश्चात् एक स्थिति और स्वीकार करते हैं`सर्वात्मभाव` की स्थिति। इसका पुरुषोत्तम प्राप्ति के प्रति अव्यवहितकारणत्व है, अर्थात् यह अवस्था पुरुषोत्तम प्राप्ति के प्रति ~~अव्यवहितकारणत्व है, अर्थ~~ साक्षात् कारण है । एकादश स्कन्ध में भगवान् ने सर्वात्मभाव

---

१ `सेवाऽऽत्यन्तिकी या स्वतो रसभावं प्राप्ता सैव नाऽन्यत्फलमंगीकारयति । अत्यन्तप्रेमोत्पत्तौ एवं भवति ।`

--श्रीमद्भा० ३।२९।१३-- सुबो०

को ही अपनी प्राप्ति का हेतु बताया है--"मामेकमेव शरणमात्मानं सर्वदेहिनाम् ।

याहि सर्वात्मभावेन यास्यसे ह्यकुतोऽभयम् ।।"

(श्रीमद्भा०१.।१२।१५)

पुष्टिभक्ति के सिद्धान्त में इस सर्वात्मभाव का विशेष महत्त्व है और वल्लभ तथा उनके सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रन्थकारों ने इस पर विशेषरूप से विचार किया है।

सर्वात्मभाव साध्यभक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। व्यसनात्मिका भक्ति जब अत्यन्त प्रगाढ़रूप धारण कर लेती है, तब उसका यह सान्द्रभाव ही 'सर्वात्मभाव' शब्दवाच्य होता है। इसकी व्याख्या करते हुए वल्लभ कहते हैं कि भगवत्स्वरूप की प्राप्ति में विलम्ब न सहन कर पाने के कारण अत्यन्त आर्तभाव से सर्वत्र भगवत्स्वरूप की ही अनुभूति 'सर्वात्मभाव' है[1]। इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए भाष्यप्रकाशकार पुरुषोत्तम कहते हैं कि भगवद्दर्शन के अभाव में, तीव्र वियोग से उत्पन्न प्रेम का परमासक्तिरूप जो विगाढभाव है, वही सर्वात्मभाव कहलाता है। परमासक्ति सदैव आनन्दप्रद में ही होती है और सर्वाधिक प्रिय आत्मस्वरूप ही होता है; यह उसका प्रियत्वाख्य धर्म है। जीवात्मा के प्रिय धर्म का अंशिभूत जो भगवान् का प्रियत्व धर्म है, सर्वात्मभाव की अवस्था में सर्वत्र उसका ही अनुभव होता है। भगवत्स्वरूप से भिन्न किसी वस्तु का भान न होने के कारण सर्वत्र भगवान् के इस प्रियत्व धर्म का विगाढभाव से अनुभव होना ही सर्वात्मभाव है-- यह निर्गलितार्थ है[2]।

'प्रमेयरत्नार्णव' में भी सर्वात्मभाव का स्वरूप बहुत अच्छी तरह समझाया गया है-- "भगवद्विषयको निरुपधिस्नेहो भक्तिविशेषः सर्वात्मभावः"। भाव का अर्थ है रति--"रतिर्देवादि-विषया भाव इत्यभिधीयते" और आत्मभाव का अर्थ है--'आत्मनोभाव आत्मभावः'। इस भांति 'आत्मभाव' इस पद का अर्थ हुआ आत्मविषयक रति। आत्मा में ही व्यक्ति का निरुपधिस्नेह होता है, अतः जैसा शुद्ध स्नेह आत्मा में ही होता है, वैसा ही भगवान् में भी करना चाहिये। इस प्रकार भगवान् में निरुपधि आत्मभाव सिद्ध होने पर, तिरोधान-नाश हो जाने के कारण पदार्थमात्र

----

१ "प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिविलम्बासहिष्णुत्वेनात्यार्त्या स्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या ---"
--अणुभा० ३।३।४३

२ "--- अनुरागात्मा भगवद्दर्शने तीव्रवियोगाधिप्रभूतिजनको विगाढभावः परमासक्तिरूपो य उक्तः स सर्वात्मभावः शरणागतिकारणत्वेनोपदिष्ट इति सिद्ध्यति। --- अतो विगाढभावेन सर्वत्र तथानुभावरूपयत्कार्यं तादृशः प्रियत्वानुभवः सर्वात्मभाव इति फलति"।
--अणुभा०३।३।४३ पर भा०प्र०

में परमानन्दरूप पुरुषोत्तम की स्फूर्ति होने से सर्वत्र आत्मभाव सम्पन्न हो जाता है[१]।

स्वयं वल्लभ इस प्रक्रिया को स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि 'आत्म' शब्द से पुरुषोत्तम का ही ग्रहण होता है,क्योंकि वे ही सबके प्रत्यगात्मभूत हैं। भक्तिमार्ग में वे ही निरुपधिस्नेह का विषय है[२]। समस्त सृष्टि में सर्वदा पुरुषोत्तम की अनुभूति ही सर्वात्मभावपद से कही जाती है। 'निबन्ध' में भी आचार्य वल्लभ ने लिखा है कि सृष्टि में अप्रियत्व और वैषम्य का भान अज्ञानियों को ही होता है, भक्तों के लिये तो सब कुछ कृष्णमय होने के कारण कुछ भी अप्रिय नहीं है।

आत्मपद का प्रयोग होने से संसार में जो भगवत्प्रीति है,वह अभेदावगाहिनी होनी चाहिये, अधिष्ठानभेदसंसृष्ट नहीं। जिन्हें सर्वत्र ब्रह्म की अद्वयानुभूति होती है वे ही उत्तम अधिकारी हैं। जिन्हें कार्यरूपेण भेद और कारणात्मना अभेदकी प्रतीति होती है वे सर्वात्मभाव रूपा भक्ति केअधिकारी नहीं हैं[३]। श्रीधर स्वामी ने सर्वात्मभाव को 'एकान्तभक्ति' कहा है--'सर्वात्मभाव एकान्तभक्ति:' ; और एकान्तभक्ति का लक्षण है--' एकान्तभक्तिर्गोविन्दे यत्सर्वत्र तदीक्षणम्'। एकान्तभक्तिरूप यह सर्वात्मभाव स्वयं भगवदात्मक है। इसके अतिरिक्त और किसी भावका साक्षात्पुरुषोत्तमप्रापकत्व नहीं है। केवल इससे ही पुरुषोत्तमप्राप्ति होती है,अत: यह परमकाष्ठापन्न महित्वरूप भाव है[४]।यह सर्वात्मभाव ही वास्तव में 'पराविद्या' है, अक्षरविद्या में 'परा' का प्रयोग गौण है। परमकाष्ठापन्न होने के कारण वेदान्त के चरम प्रतिपाद्य भी पुरुषोत्तम ही हैं। अक्षर-ब्रह्म आदि तो पुरुषोत्तम की विभूति के रूप में अथवा पुरुषोत्तमप्राप्ति की स्वरूपयोग्यतासम्पादक

---

१ द्रष्टव्य-- 'प्रमेयरत्नार्णव',पृ०१०५-१०६।

२ ' तत्रात्मशब्देन पुरुषोत्तम उच्यते। भक्तिमार्गे तु निरुपधिस्नेहविषय: स एव यत:।'

--अणुभा० ३।३।४७ और ३।३।५०

३ 'सर्वं ब्रह्मैव तत्राद्ये,द्वितीये भगवान् यथा।
तथा विश्वमिदं सर्वं ब्रह्मकार्यं निजेच्छया।।
कार्यरूपेण भेदो हि न भेद: कारणात्मना।।।
तृतीये भगवन् भिन्नो जगत: कर्तृत: स्फुट:।
इति द्वैतप्रतीतिस्तु श्रुतिबाधान्न गृह्यते।। -- शुद्धाद्वैतमार्तण्ड ३१।३३

४ '---- भगवदात्मकत्वात् सर्वात्मभावस्य। तदितरस्य साक्षात्पुरुषोत्तमा प्रापकत्वादस्यैव तत्प्रापकत्वात् परमकाष्ठापन्नमहित्वरूपोऽयमेव भाव:।'

--अणुभा० ३।३।५०

और मध्य अधिकारी के फलरूप से प्रतिपादित किये गये हैं । यद्यपि मुण्डक में `अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते` ऐसा कहा गया है, तथापि आगे `अक्षरात्परत: पर:` कहकर पुरुष का परत्व प्रतिपादित किया गया है । अत: अक्षरविद्या में `पराविद्या` का प्रयोग औपचारिक ही समझना चाहिये । सर्वात्मभाव में ही विद्यापद का प्रयोग मुख्य है।[1]

यह सर्वात्मभाव स्वकृतिसाध्य नहीं है,अपितु वरणजन्य है--`यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम्` । मृतजीव की भगवान् आत्मा है, अत: जीवात्मा उनकी `तनू` रूप है । वरण की आवश्यकता ज्ञापित करने के लिए `स्वाम्` पद का प्रयोग है । सभी अपने शरीर को आत्मीय और आत्मरूप से स्वीकार कर तद्विशिष्ट ही भोग करते हैं । यद्यपि सामान्यत: आत्मा मात्र का[2] भगवच्छरीरत्व है, तथापि जिसे विशेषरूप से स्वीयत्वेन ग्रहण करते हैं, उसका ही वरण करते हैं।

वल्लभ के अनुसार सामोपनिषत् के नवम प्रपाठक में `सनत्कुमार नारदसंवाद` में `भूमा` का जो स्वरूप कहा गया है, वह सर्वात्मभाव की ही अवस्था का वर्णन है । सनत्कुमार ने नारद से पहिले `सुख क्या है?` यह जिज्ञासा की । नारद ने बताया `यो वै भूमा तत्सुखम्` । इसके पश्चात् भूमा का स्वरूप पूछने पर कहा --` यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा` । ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य किसी प्रत्ययान्तर का अवबोध न होना-- यही भूमा का स्वरूप बताया गया है । वस्तुत: यह सर्वात्मभाव का ही स्वरूप है । भूमा का स्वरूप निरतिशय निरवधि सुख का है -- `यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति, भूमैव सुखं भूमैव त्वेव विजिज्ञासितव्य:` ऐसा श्रुति में कहा गया है । अक्षरब्रह्मपर्यन्त सब कुछ गणितानन्द अर्थात् सीमित आनन्दवाला है । पुरुषोत्तम ही निरवधि

---

१ `------ स तु सर्वात्मभावैकसमधिगम्य इति सर्वात्मभाव एव विद्याशब्देनोच्यते । परमकाष्ठापन्नं यद्वस्तु तदेव हि वेदान्तेषु मुख्यत्वेन प्रतिपाद्यम् । अक्षरब्रह्मादिकं तु तद्विभूतिरूपत्वेन तदुपयोगित्वेन मध्यमाधिकारिफलत्वेन च प्रतिपाद्यते । तेन तत्र विद्याशब्दप्रयोग औपचारिक: सर्वात्मभाव एव मुख्य: ।`

-- अणुभा० ३।३।४७

२ द्रष्टव्य-- अणुभा० ३।३।४७--
`---तस्य वृतस्यात्मन एव भगवानाऽऽत्माऽत एव तत्तनूरूप: स जीवात्मा । तद्वरणस्यावश्यकत्वज्ञापनाय स्वामिति । सर्वो हि स्वकीयां तनुमात्मीयत्वेनात्मत्वेन च वृणुते । तद्विशिष्ट एव भोगान् भुङ्क्ते --` ।

आनन्द से युक्त होने के कारण निरतिशय सुखरूप है, और यही 'भूमा' शब्द वाच्य है। भूमाविद्या में पुरुषोत्तम का ही 'विजिज्ञासितव्य' रूप से निर्धारण किया गया है। इसी पुरुषोत्तम की अनन्यानुभूति 'नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति--' आदि से कही गई है। इस सर्वात्मभाव का सम्यगनुभव विप्रयोगावस्था में ही सम्भव है। वियोगावस्था में अत्यन्त विगाढभाव से सर्वत्र आनन्दस्वरूप पुरुषोत्तम का ही स्फुरण होता है। यही बात 'स स्वाधस्तात् स उपरिष्टात् स पश्चात् स पुरस्तात्' इत्यादि श्रुति में कही गई है।[2]

यहां यह आशंका होती है कि पुरुषोत्तमप्राप्ति तो रसरूप और आनन्दरूप है; श्रुतिमें कहा गया है --'रसो वै स:, रसं ह्येवाऽयं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति'; फिर उक्तरूप आनन्दप्राप्ति में दु:सहविरहताप होना तो असम्भव है। इस अनुपपत्ति का परिहार वल्लभ 'अस्यैव चोपपत्तेरूष्मा' का भाष्य करते हुए देते हैं। उनके अनुसार आनन्दात्मक और रसात्मक भगवान् का ही धर्म यह विरह ताप भी है। यद्यपि भगवद्विरह सर्वसाधारण है, तथापि जिसके हृदय में स्थायिभावात्मक रस रूप भगवत्प्राप्त्युद्भाव होता है, उसे ही पहिले भगवान् की अप्राप्ति से होने वाला विरहताप और फिर नियमत: भगवत्प्राप्ति भी होती है। इस भांति अन्वय व्यतिरेक के आधार पर यह ताप भी रसरूप भगवान् का ही धर्म सिद्ध होता है। भगवद्वस्तु के ही तथाभूत होने के कारण यह ताप भी रसात्मक है[3]। तीव्रविरह रूप सर्वात्मभाव वियोगदु:खजनक है, किन्तु अनन्यलभ्य साक्षात्पुरुषोत्तमप्राप्ति का हेतु होने के कारण इसे आनन्दरूप ही समझना चाहिए। 'रसो वैस:' इत्यादि से परमवस्तु को रसरूप कहा गया है, और वह रस संयोगविप्रयोगभावों से सहकृत होकर ही पूर्णरूप से निष्पन्न होता है। केवल संयोग के माध्यम से उसकीपूर्ण अभिव्यक्ति संभव नहीं है[4]। यह विरहताप दु:खात्मक नहीं है, क्योंकि यह कर्मजन्य शारीर दु:ख नहीं है। यह विरह रूप सर्वात्मभाव भगवद्भक्ति की पराकाष्ठा है। ऐसे सर्वात्मभाव से युक्त भक्त के हृदय में ही भगवदाविर्भाव होता है। इसे ही भक्त का 'भगवद्भाव' होना कहते हैं।

इस सर्वात्मभाव का कभी मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता। मुमुक्षु भक्त की स्वेष्टदाता के रूप में जो भगवद्विषयिणी प्रज्ञा है, वह सर्वात्मभाववान् भक्त की भगवद्विषयिणी प्रज्ञा से सर्वथा भिन्न है। सर्वात्मभावयुक्त भक्त की जिस प्रकार की भगवद्विषयिणीप्रज्ञा है, उसी प्रकार के भाव

---

१ द्रष्टव्य-- अणुभा० ३।३।४४,४७

२ '--- भूम्न: स्वरूपजिज्ञासायामाह यत्र नान्यत्पश्यति ---स भूमेति। एतेन सर्वात्मभावस्वरूपमेवोक्तं भवति। तत्र विरहभावेऽतिविगाढभावेन सर्वत्र तदेव स्फुरति --'।--अणुभा०३।३।४४

३ 'आनन्दात्मकरसात्मकस्यास्यैव भगवत एव धर्म ऊष्मा विरहताप इत्यर्थ:।---तस्यवस्तुन एव तथात्वात् स तापोऽपि रसात्मक एव'। -- अणुभा० ४।२।११

४ '---- स रसस्तु संयोगविप्रयोगभावाभ्यामेव पूर्णो भवत्यनुभूतो नैकतरेण'।
-- अणुभा० ४।२।१३

सिद्ध करती है ; इसीलिये उसका मोक्ष में पर्यवसान नहीं होता[१]। भगवान् ऐसे भक्तों के सर्वदा वशवर्ती होते हैं। भागवत में `अहं भक्तपराधीन:` से उपक्रम कर वे कहते हैं--`वशेकुर्वन्ति मां भक्त्या सत्स्त्रिय: सत्पतिं यथा`। भक्तों के वशवर्ती होने के कारण वे उन्हें उनकी इच्छा के अनुसार सायुज्यादि न देकर भजनानन्द ही प्रदान करते हैं[२]।

भगवान् श्रीकृष्ण की यह अहेतुकी भक्ति ही वाल्लभमत में जीव का सर्वोच्चसाध्य है। वल्लभ ने भक्ति की बीजभूत अवस्था से आरम्भ कर उसके पुष्कल विकास सर्वात्मभाव की अवस्था तक उसकी प्रत्येक भाव-भूमि का विस्तृत विवेचन किया है। यह साध्यभक्ति ही पुष्टिभक्ति है और स्वयं फलरूपा है। इस भक्ति को ही देहपात के अनन्तर पुष्टिमार्गीयों का `अलौकिक-सामर्थ्य` कहा जाता है। वल्लभ के अनुसार यह पुष्टिमार्गीयभक्तितत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म और दुर्बोध है। पुष्टिमार्ग के अन्तर्गत पुष्टिमर्यादा का भी अतिक्रमण कर पुष्टिपुष्टि में प्रवेश होने पर ही यह तत्त्व अनुभवगम्य होता है। इस मार्ग में प्रवेश भी भगवान् के अतिशय अनुग्रह से ही सम्भव है,अत: अन्य अतिशय कृपापात्र भक्तों के अतिरिक्त (`अतिशयितानुग्रह भाजनातिरिक्त`) के लिये यह तत्त्व अज्ञेय ही है। सामान्य-भक्तों तथा ज्ञानियों के लिये मुक्ति ही फल है। जिस

जिस प्रकार अधिकार न होने के कारण स्वर्गादिकामियों के लिये निवृत्तिमार्गतत्त्व दुर्ज्ञेय है वैसे ही मोक्षकामियों के प्रति पुष्टिमार्गतत्त्व भी दुर्ज्ञेय है। `साध्यमीमांसा` के अन्तर्गत इस सर्वात्मभावरूपाभक्ति का विवेचन सर्वप्रथम इसीलिये किया गया है,क्योंकि यह भक्तिमार्ग का सर्वोत्कृष्ट फल है और पुष्टिभक्तिमार्ग में तो यही एकमात्र फल ही है।

इसके अतिरिक्त अक्षर-सायुज्य और कृष्णसायुज्य रूप दो अन्य मुख्य फल वल्लभ ने और स्वीकार किये हैं। `मुख्य` इसलिए,क्योंकि मर्यादामार्गीय भक्तों की वैकुण्ठ में सेवोपयोगी देहादि -प्राप्ति भी कही गई है। वल्लभ ने ज्ञानियों तथा मर्यादा एवं पुष्टिमार्गीयभक्तों के सन्दर्भ में सद्यो-मुक्ति तथा क्रममुक्ति के अधिकार और स्वरूप पर भी विस्तार से विचार किया है। इन सब का विवेचन उन्होंने तुलनात्मक और परस्पर सापेक्ष रीति से किया है,अत: विविक्तरूप से एक -एक का

---

१ `मुमुक्षुभक्तस्य स्वेष्टदातृत्वेन भगवद्विषयिणी या प्रज्ञा सा सर्वात्मभाववद्भक्तप्रज्ञात: प्रज्ञान्तरमित्युच्यते। --- तथा सर्वात्मभाववतो भक्तस्य यत्प्रकारिका भगवद्विषयिणी प्रज्ञा तमेव प्रकारं स भाव: साधयति नान्यमिति न मुक्तौ पर्यवसानमित्यर्थ:।`-- अणुभा० ३।३।५०

२ `यो हि वशीकृत: स तदिच्छानुरूपमेव करोत्यतो न सायुज्यादिदानं,किन्तु भजनानन्ददानमेव`।
--अणुभा० ३।३।५०

विवरण देना कठिन है; फिर भी यथासम्भव प्रयत्न किया जा रहा है।

अपने प्रकरणग्रन्थ `सेवाफलम्` के `विवरण` में वल्लभ ने तीन फल कहे हैं--`सेवायां फलत्रयम् अलौकिकसामर्थ्यं, सायुज्यं सेवोपयिक देहो वा वैकुण्ठादिषु` । अलौकिकसामर्थ्य,सायुज्य तथा वैकुण्ठ आदि में सेवोपयोगी देहादि । इनमें से अलौकिक सामर्थ्य पुष्टिमार्गियों का फल है,तथा अवशिष्ट दो मर्यादामार्गीय भक्तों के फल हैं । सायुज्य का अर्थ यहां कृष्णसायुज्य है । अलौकिक-सामर्थ्य का तात्पर्य है नित्यलीलान्त: प्रवेश । `पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद` ग्रन्थ में भगवत्स्वरूप का ही फलत्व कहा गया है --` भगवानेव हि फलम्` । भगवान् का फलरूपत्व लीलाप्रवेश रूप ही है । यह प्रवेश अनेकविध है; कोई भक्तरूप से, कोई गोपशुपक्षिवृक्षादिरूप से लीला में प्रवेश पाकर निर-वध्यानन्दरूप पुरुषोत्तमात्मक फल का भोग करता है । इनके अतिरिक्त ज्ञानमार्ग के अनुसार अक्षर-ब्रह्म की उपासना करने वाले ज्ञानियों का फल अक्षरसायुज्य कहा गया है । वल्लभ ने अणुभाष्य में तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में बहुत विस्तारपूर्वक इन फलों के स्वरूप पर विचार किया है ।

विषय-विवेचन की सुविधा के लिए सर्वप्रथम अक्षरसायुज्य से फल-विवेचन प्रारम्भ किया जा रहा है--

वल्लभ का अभीष्ट यद्यपि भक्ति मार्ग ही है,तथापि उन्होंने ज्ञानमार्ग की स्थिति भी स्वीकार की है,उसके स्वरूप और फल का भी विवेचन अपने ग्रन्थों में किया है । इस ज्ञानमार्ग में ब्रह्म का अक्षररूप ही उपास्य है । इसी प्रबन्ध के तृतीय परिच्छेद में ब्रह्मवस्तु के स्वरूप पर विचार करते हुए अक्षर के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया जा चुका है । यह परब्रह्म पुरुषोत्तम का सृष्टीच्छाव्यापृत स्वरूप है,जो गणितानन्द होने के कारण अगणितानन्द पुरुषोत्तम से न्यून तथा अवरकोटि का है ।

इसका प्रकाशन द्विविध है; एक तो निखिलप्रपंचात्मककार्य रूप है, और दूसरा इससे विलक्षण प्रापंचिक धर्मशून्य`अस्थूलमनणु` आदि श्रुतियों का विषय है[१] । अक्षरब्रह्म का यह अव्यक्त रूप ही ज्ञानियों का उपास्य है । ज्ञानी आत्मरूप से इसका ध्यान करते हैं; आत्मरूप यह है भी, क्योंकि व्युच्चरणादि श्रुति में अक्षर से ही जीव और जड की उत्पत्ति कही गई है । श्रुतियां अनेक स्थलों पर ज्ञान का मोक्षसाधकत्व प्रतिपादित करती हैं --`ज्ञानादेव तु कैवल्यं`,`ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति` इत्यादि । ये सभी श्रुतियां अक्षर-परक हैं । अस्थूलादि शब्दों से भी अक्षर ही वाच्य है-- `एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलम्`--- ; `अथपरा यया तदक्षरमधिगम्यते`--- ; अत:

---

१ `परब्रह्म तु कृष्णो हि सच्चिदानन्दकं बृहत् ।
द्विरूपं तद्धि सर्वं स्यात् एकं तस्माद्विलक्षणम् ।।`-- सि०मु० ३

ज्ञानमार्ग में अक्षरविषयक ज्ञान का ही मुक्तिसाधकत्व कहा गया है[1]।

अक्षरोपासकों अर्थात् ज्ञानमार्गीयसाधकों के लिये अक्षर ही चरमलक्ष्य है, `परमगति` है; उन्हें पुरुषोत्तमस्वरूप की प्राप्ति नहीं होती, क्योंकि तद्विषयक श्रवणादि का अभाव रहता है। पुरुषोत्तम का `भक्त्यैकलभ्यत्व` है और भक्ति के अभाव में पुरुषोत्तमप्राप्ति असम्भव है[2]। स्वधर्म ज्ञानी आत्मरूप से भगवान् के इस अक्षररूप का चिन्तन करते हैं। अभ्यास से उनके हृदय में अक्षरब्रह्म का स्फुरण होता है; इसे ही जीव का `ब्रह्मभाव` कहते हैं। ब्रह्मभावप्राप्त ज्ञानियों की अविद्या नष्ट हो जाती है, और उन्हें आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है। स्वानन्दांश का आविर्भाव होने पर वे ब्रह्मभूत होकर; तदानन्दात्मक होकर, ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते हैं और प्रारब्ध समाप्ति होने पर देहमुक्त हो उसमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं[3]। यही ज्ञानियों का अक्षरसायुज्य कहलाता है।

ज्ञानमार्गियों को पर-प्राप्ति अथवा पुरुषोत्तम प्राप्ति नहीं होती, यह अधिकार भक्तों का ही है। वल्लभ के अनुसार भक्तिमार्ग में उसे ही प्रवेश मिलता है, जिसका भगवान् इस मार्ग में `वरण` करते हैं। ज्ञानियों का भक्तिमार्ग में वरण न होने के कारण उनका भगवद्भाव सम्पन्न नहीं होता, फलत: उनके प्रति पुरुषोत्तम का आविर्भाव भी नहीं होता, क्योंकि यह आविर्भाव केवल ज्ञानविषयत्वमात्रता नहीं है, यह तो दर्शनविषयत्वयोग्यता रूप है[2]। ज्ञानियों को केवल अक्षरब्रह्म का ही अनुभव होता है, और वह भी पुरुषोत्तमाधिष्ठान रूप से नहीं, अपितु सच्चिदानन्द देशकालापरिच्छिन्न, स्वयम्प्रकाश, गुणातीत अव्यक्त रूप से[3]। ज्ञानियों की मुक्ति के विषय में कोई नियम नहीं है; उनकी सद्योमुक्ति भी होती है और क्रममुक्ति भी।

भक्तिमार्ग में भगवान् जीव का द्विधा वरण करते हैं, मर्यादाभक्तिमार्ग में और पुष्टि-भक्तिमार्ग में। मर्यादामार्ग और पुष्टिमार्ग के स्वरूप पर पिछले परिच्छेद में विस्तारपूर्वक विचार किया जा चुका है। मर्यादामार्ग साधनमार्ग है, अत: इसमें भक्ति भी ज्ञान-कर्म-सहकृत होती है। इस

---

१ "ज्ञानिनो हि भगवन्तमात्मत्वेनैवोपासते। तस्या नैरन्तर्येऽनेकजन्मभिस्तथैव तेषां हृदि भगवान् स्फुरति। तदास्वानन्दांशस्याप्याविर्भावाद् ब्रह्मभूत: सन्नात्मत्वेनैव ब्रह्म स्फुरितमिति तदा-नन्दात्मक: संस्तमनुभवति। एवं स्थित: प्रारब्धसमाप्तौ देहापगमे तत्रैव प्रविष्टो भवति।"
--अणुभा० ४।१।३

२ "तथा च ज्ञानिनां गुहासु परमव्योम्नो व्यतिरेक एव तत्र हेतुभगवद्भावाभावित्वादिति। यमेवैष वृणुतइति श्रुतेर्वरणाभावे भगवद्भावस्यासम्भवाज्ज्ञानिनां तथा वरणाभावाद्भगवद्विषयको भावो न भावी तथेत्यर्थ: "। --अणुभा० ३।३।५४

३ "---- एवं सति सच्चिदानन्दत्वदेशकालापरिच्छेदस्वयम्प्रकाशत्वगुणातीतत्वादिधर्मवत्त्वेनैव ज्ञानिनाम-क्षरविज्ञानम्।" -- अणुभा० ३।३।५४

मार्ग के विधि-निषेध-सापेक्ष होने के कारण भगवान् जीव को उसके कर्मों के अनुसार ही फल देते हैं, कर्म-मर्यादा-निरपेक्ष होकर नहीं ।

इस मार्ग में भी उपास्य पुरुषोत्तम ही हैं, किन्तु मर्यादाभक्त पुष्टिभक्तों की तरह उनमें निरुपधि निर्हेतुक प्रेम नहीं करते, अपितु भगवान् में मोचकत्वबुद्धि होने के कारण ही उनकी भक्ति करते हैं । मर्यादामार्गीयभक्त भगवान् को मुक्तिसाधन जानकर ही भजते हैं, अत: मर्यादाभक्तों का मोक्ष ही फल है । यदि कभी विषय-माहात्म्य अर्थात् पुरुषोत्तम श्रीकृष्णके स्वरूपज्ञान से मोक्षे-च्छा निवृत्त हो जाये, और उनके स्वरूपानन्द की लालसा उत्पन्न हो जाये तो भी मर्यादामार्ग के साधनमार्ग होने से मोक्ष मिलता ही है । यही बात `अनिच्छितो में गतिमण्वीं प्रयुंक्ते` से कही गई है । कृष्णसायुज्य के अतिरिक्त भागवत में सालोक्य, सार्ष्टि, सामीप्य और सारूप्य व ये जो चतुर्विध मुक्तियां कही गई हैं, वे भी ~~मक्त~~ मर्यादामार्गीय भक्तों का ही फल है ।

मर्यादामार्गीय भक्त पुरुषोत्तम में प्रेमलक्षणा भक्ति ~~हने~~ की उत्पत्ति के लिये लौकिक-वैदिक सभीप्रकार के साधनों का सहारा लेते हैं । जब साधनानुष्ठान तथा भगवद्विषयक श्रवणादि से पुरुषोत्तम में प्रेमलक्षणा भक्ति दृढ़ हो जाती है तब पुरुषोत्तम पहिले भक्त के हृदयाकाश में अक्षरब्रह्मरूप अपने धाम `व्यापिवैकुण्ठ` का आविर्भाव करते हैं, तत्पश्चात् स्वयं आविर्भूत होते हैं । इस प्रकार मर्यादामार्गीय भक्त को कृष्णसायुज्य अथवा पुरुषोत्तमसायुज्य प्राप्त होता है ।

मर्यादामार्गीय भक्तों की प्राय: सद्योमुक्ति होती है, किन्तु कभी-कभी भगवन् माया से व्यामोह होने पर अन्यविषयक उपासनादि में अभिनिवेश होने पर देवयान मार्ग से क्रममुक्ति भी होती है । सद्योमुक्ति तथा क्रममुक्ति के स्वरूप और क्रम पर आगे यथासन्दर्भ विचार किया जायेगा ।

पुष्टिमार्गीय भक्तों की लौकिक-वैदिक किसी भी प्रकार के फलों में कोई रुचि नहीं होती; स्वर्ग-अपवर्ग सब कुछ उनकी दृष्टि में हेय और तुच्छ हैं । पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की निर्हेतुक निष्काम भक्ति ही उनका एकमात्र अभीष्ट है । इस भक्ति के आगे वे ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों के द्वारा सयत्न-काम्य बहुविध मुक्तियों तथा सायुज्य को भी अस्वीकार कर देते हैं-"

"सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जना: ।"

--श्रीमद्भा० ३।२९।१३

ये पुष्टिभक्त भक्तिमार्ग के सर्वोच्च अधिकारी है तथा श्रीकृष्ण की निष्कामभक्ति भक्ति-मार्ग का सर्वोच्चफल है । यह भक्ति ही `अलौकिकसामर्थ्य` में पर्यवसित होती है । अलौकिकसामर्थ्य पुष्टिभक्तों का फल है तथा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की गोलोक में अहर्निश गतिमान् नित्यलीला में प्रवेश रूप है ।

अणुभाष्य के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में पुष्टिमार्गीय भक्तों के भोग का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है, जिसपर अभी विचार किया जायेगा । पुष्टिमार्गीय भक्त को क्रममुक्ति कभी नहीं होती, सदैव सद्योमुक्ति ही होती है । इस

इस प्रकार शुद्धाद्वैतसिद्धान्त में ज्ञानियों, मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय भक्तों की अपेक्षा से अक्षर-सायुज्य, कृष्ण-सायुज्य तथा अलौकिक सामर्थ्य या लीलाप्रवेश-- ये तीन फल कहे कहे गये हैं । इस दृष्टि से चतुर्थ अध्याय के तृतीयपाद का `विशेषं च दर्शयति` इस सूत्र का भाष्य विशेष महत्त्वपूर्ण है । `सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता`-- यह जो जीव के ब्रह्म-सम्बन्धी भोग का कथन करने वाली श्रुति है, इसका अर्थान्वयन तीनों प्रकार के अधिकारियों के संदर्भ में किया गया है । इस श्रुति का व्याख्यान करते हुए वल्लभ कहते हैं कि यहां यह शंका उठती है कि ज्ञानमार्गीय और भक्तिमार्गीय साधकों को अविशेषरूप से ही ब्रह्मप्राप्ति होती है, अथवा दोनों की परिप्राप्ति में कुछ अन्तर है ? यहां श्रुति ने `ब्रह्मविदाऽऽप्नोति परम्` यह सामान्य कथन कर पुनः[1] `तदेषाऽभ्युक्ता, सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म ---` इत्यादि से परप्राप्ति में वैशेष्य का भी कथन किया है ।

यह पूरी श्रुति इस प्रकार है-- `ब्रह्मविदाऽऽप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता` (तै०२।१)। इस श्रुति की अर्थसंयोजना तीन प्रकार से होगी । सर्वप्रथम ज्ञानियों के सन्दर्भ में-- `ब्रह्मविदक्षरब्रह्मविदाऽऽप्नोति सान्निध्यादक्षरमेवाप्नोति`-- अक्षरब्रह्म की उपासना करने वाला वेदनसान्निध्य रूप से अक्षरब्रह्म को[2] प्राप्त करता है । वेदनविषयरूप अक्षरब्रह्म की स्वरूपव्याख्या की गई है `सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म` से । इस तरह `ब्रह्मविदाऽऽप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म, यो वेद` इतने से ज्ञानियों की अक्षरब्रह्मप्राप्ति कही गई है । सत्यज्ञानादि से वर्णित अक्षरब्रह्म की जो उ उपासना करते हैं, उन्हें अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है । यह ज्ञानियों की व्यवस्था है ।

`ब्रह्मविदाप्नोति परम्` में से `परम्` शब्द को अलग कर पुरुषोत्तमवाचक मानना चाहिए । आप्नोति क्रिया मध्यगत होने के कारण देहलीदीपकन्याय से ब्रह्म अर्थात् अक्षरब्रह्म तथा `पर` अर्थात् पुरुषोत्तम दोनों के साथ अन्वित होती है । `नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यः ----` से

---

१ द्रष्टव्य-- अणुभा० ४।३।१७

२ "---- सान्निध्यादिति । वेदनसान्निध्यात् । यद्वेदतदेव प्राप्नोति । वेदनशेषं च, सत्यज्ञानमनन्तं ब्रह्म इत्यनेनोक्तम् । यस्तादृशमक्षरं ब्रह्मैव, सान्निध्यात् तदाप्नोतीत्यर्थः " ।

— भा०प्र० ४।३।१७

पुरुषोत्तमप्राप्ति में भगवद्वरण के अतिरिक्त अन्य सभी साधनों का असामर्थ्य घोषित किया गया है, अत:अक्षरब्रह्मज्ञान का पुरुषोत्तमप्राप्ति में साधनत्व न होने से अक्षर ब्रह्मवित् की परप्राप्ति[1] स्वीकार नहीं की जा सकती । इसीलिये इस भांति अर्थसंयोजना की गई है कि ज्ञानमार्गियों को अक्षर-प्राप्ति और भक्तों को परप्राप्ति होती है ।

परप्राप्ति भी मर्यादा और पुष्टि के भेद से दो प्रकार की है । जब भगवान् ब्रह्मवित् अर्थात् अक्षरब्रह्मवित् को स्वीयत्वेन स्वीकार कर लेते हैं, तो उसके हृदय में भक्ति उत्पन्न होती है । इस भक्ति-भाव के प्रगाढ़ होने पर पुरुषोत्तम स्वयं उसके हृदय में प्रकट होने के इच्छुक,उसके हृदय में अपने स्थानभूत व्यापिवैकुण्ठ का प्राकट्य करते हैं । यही `परमव्योम` शब्द से कहा गया है[2] ।वस्तुत: ज्ञानिभक्तभेद से अक्षर का भी द्विविध प्राकट्य होता है । ज्ञानियों को उसकी अनुभूति[3] आत्मरूप से होती है और भक्तों के प्रति वह भगवद्धाम व्यापिवैकुण्ठ रूप से आविर्भूत होता है ।

`यो वेद निहितं गुहायां परमेव्योमन्` यह मर्यादामार्गीयों की परप्राप्ति का प्रकार है । उन्हें अपने हृदयाकाश में आविर्भूत परमव्योम शब्द वाच्य भगवत्स्थान व्यापिवैकुण्ठ में स्थित पुरुषोत्तम की प्राप्ति होती है । दहराकाश में भगवत्प्राकट्य होने पर जीव की सद्योमुक्ति[4] हो जाती है, उत्क्रमण नहीं होता । इस प्रकार उसे पुरुषोत्तमसायुज्य की प्राप्ति होती है ।

इसके पश्चात् अवशिष्ट श्रुति `सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता` से शुद्ध-पुष्टिमार्ग में अंगीकृत पुष्टिभक्तों की व्यवस्था कही गई है । भगवान् अत्यनुग्रहवशात् स्वान्त:स्थित भक्त को भी बाहर प्रकट कर,उसके स्नेहातिशय के कारण उसके वशीभूत होकर उसे अपने दुर्लभ लीलारस

----

१ `इहा ऽयमाशयो ज्ञेय: । नायमात्मा प्रवचनेनेति श्रुत्या भगवद्वरणातिरिक्तसाधननिरास: क्रियते पुरुषोत्तमप्राप्तौ । एवं सत्यक्षरब्रह्मज्ञानस्य तत्साधनत्वे उच्यमाने तद्विरोध: स्यात् तेनैवमेतदर्थो निरूप्यते । ज्ञानमार्गीयाणामक्षरज्ञानेनाक्षरप्राप्तिस्तेषां तदेक पर्यवसायित्वात्, भक्तानामेव पुरुषोत्तमपर्यवसायित्वात्` । -- अणुभा० ४।३।१७

२ `तथाच ब्रह्मविदं चेद्भगवान् वृणुते तदा भक्तिरुदेति । तत्प्रचुरभावे सति स्वयं तद्धृदि प्रकटीभविष्णु स्वस्थानभूतं व्यापिवैकुण्ठं तद्गुहायां हृदयाकाशे प्रकटीकरोति तत्परमव्योमशब्देनोच्यते ।` अणु०वही

३ `एवं सति सच्चिदानन्दत्वदेशकालापरिच्छिन्नत्वस्वयम्प्रकाशत्वगुणातीतत्वादिधर्मवत्त्वेनैव ज्ञानिनामक्षरविज्ञानम् । भक्तानामेव पुरुषोत्तमाधिष्ठानत्वेन तथेतिज्ञेयम्` ।--अणुभा०३।३।५४

४(अ) `तथा च गुहायां यदाविर्भूतं परमं व्योम पुरुषोत्तमगृहात्मकमक्षरात्मकं व्यापिवैकुण्ठं भवति, तदा तत्र भगवानाविर्भवति इति तत्प्राप्तिर्भवतीत्युच्यते यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्नित्यनेन ।`--अणुभा०३।३।५४

(आ) `तथा च परमाप्नोति इति पदविवृतिरूपत्वादस्य गुहायां परमेव्योम्नि निहितं यो वेद स, नास्यप्राणा उत्क्रामन्तीहैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येतीति श्रुत्युक्तरीत्या परमाप्नोतीत्यर्थ: सम्पद्यते ।` --अणुभा० वही

का अनुभव कराते हैं। ऐसा भक्त परब्रह्म पुरुषोत्तम के साथ उनके लोकोत्तर आनन्द के आस्वादरूप भोगों की प्राप्ति करता है। इस व्यवस्था के अनुसार[1] केवल भक्तों की ही पुरुषोत्तमप्राप्ति कही गई है; ज्ञानमार्गीयों को अक्षरसायुज्य ही मिलता है।

भाष्यप्रकाशकार पुरुषोत्तम लिखते हैं कि यहां 'सोऽश्नुते' श्रुति का जो व्याख्यान प्रस्तुत किया गया है, उसमें 'अश्नुते' इस क्रियापद की संयोजना तीन प्रकार से की गई है। 'सत्यं-ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद,सोऽश्नुते'; 'गुहायां परमे व्योमन् निहितं परंब्रह्म पुरुषोत्तमं वेद सोऽश्नुते'; और 'पूर्वं अक्षरब्रह्मवित्, ततस्तन्निहितपुरुषोत्तमवित् पुरुषोत्तमे लीनो सम्भावितलीलारसानुभव: स चेदतिकृपया शुद्धपुष्टिमार्गे वृत: सन् विपश्चिता ब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुते'। इनमें से प्रथम अश्नुते का अर्थ है 'अक्षरसायुज्य प्राप्त करता है'; द्वितीय का[2] अर्थ है 'पुरुषोत्तमसायुज्य प्राप्त करता है'; और तृतीय का अर्थ है 'लीलारसानुभव प्राप्त करता है'। इस प्रकार सर्वप्रथम अक्षरब्रह्मवित् ज्ञानी, फिर वरणसत्कृत मर्यादाभक्त और फिर अहैतुकीभक्ति सत्कृत पुष्टिभक्त की क्रमिक व्यवस्था कही गई है।

यों सामान्यरूप से ज्ञानियों का फल अक्षरसायुज्य है, मर्यादाभक्तों का कृष्णसायुज्य तथा पुष्टिभक्तों का लीलान्त:प्रवेश, किन्तु यदि पुरुषोत्तम का अनुग्रह हो तो ज्ञानियों को भक्ति तथा मर्यादाभक्तों को लीलारस की भी प्राप्ति हो सकती है। इस विषय में पुरुषोत्तम की इच्छा ही एकमात्र नियामिका है, अन्यथा इस फलव्यवस्था का अतिक्रमण नहीं होता।

वल्लभ ने पुष्टिमार्गीयफल लीलाप्रवेश तथा पुष्टि भक्तों के अलौकिक भोग का वर्णन बहुत विस्तारपूर्वक किया है। इसके पूर्व कि इसपर विचार किया जाय, ज्ञानमार्गीयों और मर्यादा-मार्गीयों की बात समाप्त करने के लिए उनकी सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति प्रक्रिया पर विचार करना आवश्यक है। पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति का विचार उनके फलभोग के सन्दर्भ में होगा।

वल्लभ ने ज्ञानियों और मर्यादामार्गीयभक्तों की सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति दोनों ही

---

१ 'अथ शुद्धपुष्टिमार्गाङ्गीकृतस्य व्यवस्थामाह,सोऽश्नुत इत्यादिना। अत्राऽयमभिसन्धि:। यथा स्वयं प्रकटीभूय लोके लीलां करोति तथाऽत्यनुग्रहवशाद् स्वान्त: स्थितमपि भक्तं प्रकटीकृत्य तत्स्नेहातिशयेन तद्वश: सन् स्वलीलारसानुभवं कारयतीति सभक्तो ब्रह्मणा परब्रह्मणा पुरुषोत्तमेन सह सर्वान् कामानश्नुते। -- एवं सति ज्ञानमार्गीयाणामक्षरप्राप्तिरेव, भक्तानामेव पुरुषोत्तम-प्राप्तिरिति सिद्धम्।'-- अणुभा० ४।३।१७

२ द्रष्टव्य-- भा०प्र० ४।३।१७, पृ०१३८१

स्वीकार की हैं। ज्ञानियों के विषय में ऐसा कोई नियम नहीं है, किन्तु मर्यादाभक्तों की प्राय: सद्योमुक्ति ही होती है।

ज्ञानियों तथा मर्यादाभक्तों की सद्योमुक्ति पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति से भिन्न है। पुष्टिमार्गीयों की सद्योमुक्ति होने पर उनके प्राणादि का लय पुरुषोत्तम में होता है, किन्तु मर्यादामार्गीयों का वागादिलय महाभूतों में होता है, पुष्टिमार्गीयों की भांति भगवान् में नहीं। 'यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रं---' इत्यादि एतद्विषयक श्रुति है[1]। यह मर्यादामार्गीयविद्वद्विषयिणी श्रुति है। करणग्राम का भूतों में लय ज्ञानिभक्तसाधारण है अर्थात् ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों दोनों को वागादिलय महाभूतों में ही होता है। पुष्टिमार्गीय और मर्यादामार्गीय भक्तों में भक्तिमत्व समान होने पर भी पुष्टिभक्तों की भांति मर्यादाभक्तों का वागादिलय जो भगवान् में नहीं होता, उसका कारण यह है कि ऐसा स्वीकार करने पर अतिशय-अनुग्रहभाजन प्रकृतिसम्बन्धरहित पुष्टिजीवों का भगवत्कृत जो विशेष 'वरण' है, वह व्यर्थ हो जायेगा[2]। पुष्टिजीव मर्यादाजीवों की अपेक्षा श्रेष्ठ अधिकारी हैं, अत: मर्यादाजीवों से यह उनका वैशिष्ट्य है। ~~जिन ज्ञानियों अ~~

जिन ज्ञानियों और भक्तों की सद्योमुक्ति होती, उनके प्राणादि का लय तो भूतों में होता है, और जिनकी क्रममुक्ति होती है, उनके प्राणादिका उनके साथ ही उत्क्रमण होता है। मर्यादामार्गीयों की सद्योमुक्ति भी दो प्रकार से होती है। कुछ तो साधनप्राबल्य से हृदयाकाश में आविर्भूत ब्रह्म का सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं और उन्हें वहीं सद्योमुक्ति प्राप्त हो जाती है। कुछ साधनप्राबल्य के अभाव में ब्रह्माण्डस्थित दशमद्वार का भेदन करने के पश्चात् ही ब्रह्म में लीन होते हैं। क्रममुक्तिगामी दशमद्वार का भेदन कर विभिन्न लोकों में संचरण करते हुए अन्त में प्रारब्धसमाप्ति होने पर ब्रह्म की प्राप्ति करते हैं। इनमें से प्रथम प्रकार की सद्योमुक्ति में उत्क्रमण की आवश्यकता नहीं होती, किन्तु द्वितीय प्रकार की सद्योमुक्ति और होती है। अक्षरोपासक ज्ञानियों तथा मर्यादाभक्तों का उत्क्रमणप्रकार एक ही है, किन्तु ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग भिन्न हैं। इनका उत्क्रमण मूर्द्धन्या शताधिका नाड़ी से होता है। एतद्विषयक श्रुति इस प्रकार है--'तस्य हैतस्य हृदयस्याग्रं प्रद्योतते तेनैष आत्मा निष्क्रमति चक्षुषो वा मूर्द्ध्नो वा'-- इत्यादि। मुमुक्षु जीव का जो आयतन है,

---

१ '--- तेषां ते भूतेषु लीयन्ते, न तुक्तरीत्याभगवति। अत्र प्रमाणमाह तच्छ्रुते:। यत्रास्य पुरुषस्य मृतस्याग्निं वागप्येति वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं --- इतिश्रुते:'।

--अणुभा० ४।२।५

२ द्रष्टव्य-- अणुभा० ४।२।६ पर भा०प्र०

अर्थात् हृदय, उसका नाडीमुखरूप अग्रभाग प्रकाशित हो उठता है, और इसी मार्ग से करणग्रामसहित जीव का उत्क्रमण होता है। इतनी सर्वजीव साधारण व्यवस्था है। विद्वान् का उत्क्रमण इस अर्थ में विशिष्ट है कि उसका उत्क्रमण र इतरजीव के समान इतर नाड़ियों से न होकर हृदय की एक सौ एक नाड़ियों में से शिरस्थित जो एक सौ एकवीं नाड़ी अर्थात् सुषुम्ना है, उससे होता है। विद्वान् से अक्षरोपासकों, मर्यादामार्गियों तथा अन्य उपासनापरक जीवों का कथन है। इस वैशिष्ट्य में हार्द अर्थात् जीव के हृदयाकाश में निवास करने वाले परमात्मा का अनुग्रह ही कारण है[1]। इस प्रकार शिरस्थित नाड़ी से जिनका उत्क्रमण होता है, वे जीव दशमद्वार का भेदन कर तुरन्त ही ब्रह्म में लीन हो जाते हैं तथा इनके करणग्राम का लय भूतों में हो जाता है।

जिन जीवों की क्रममुक्ति होती है, उनका उत्क्रमण हृदयसम्बन्धिनी नाड़ियों से होता है। एतद्विषयक श्रुति इस प्रकार है--'अथ यत्रैतदस्माच्छरीरादुत्क्रामत्यथैतैरेव रश्मिभिरूर्ध्व आक्रमते इति'। यह रश्म्यनुसारी गति भी विद्वान् जीवों की ही होती है। इन जीवों का उत्क्रमण करणग्राम सहित ही होता है, अर्थात् तत्तत्लोकों में ये करणग्राम सहित ही भ्रमण करते हैं। प्रारब्धसमाप्ति पर मुक्ति होने पर इनका वागादिलय भी भूतों में ही होता है[2]।

क्रममुक्तिजीवों की ब्रह्मप्राप्ति के अनेक मार्ग कहे गये हैं। नाडीरश्मिसम्बन्धी एक है, अर्चिरादि का कथन करने वाली श्रुति अलग है; 'स एवं देवयानं पन्थानमापद्याग्निलोकमागच्छति'; 'स यदा वै पुरुषोऽस्माल्लोकात् प्रैति स वायुमापद्यते', 'सूर्यद्वारेण ते विरजाः प्रयान्ति' इत्यादि से भी भिन्न-भिन्न गतियां कही गई हैं। वस्तुतः ये भिन्न-भिन्न मार्ग नहीं हैं, अपितु अनेक पर्वविशिष्ट एक ही मार्ग है। 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः' इस सूत्र में बादरायण के द्वारा एक वचन का प्रयोग भी यही सूचित करता है। वस्तुतः सभी ब्रह्मप्रापक मार्ग देवयान हैं। 'दैवीसम्पद्विमोक्षाय' ऐसा भगवद्वाक्य है, अतः जिस किसी जीव का इस दैवी सम्पद् में अंगीकार होता है, वह 'देव' है, तथा जिन मार्गों से उनका गमन होता है, वे सब 'देवयान' हैं। श्रुतियों में जितने मार्ग कहे गये हैं, वे सब अर्चिरादिमार्ग के ही पर्व हैं। जिन जीवों का यावत्पर्वभोग होता है, उनके प्रति उतने ही पर्वों का कथन किया जाता है[3]।

---

१ "-----यद्यप्येतावत् सर्वजीवसाधारणं तथापि विद्वांस्तु नैवमितरनाड्या निष्क्रामति, किन्तु शताधिकया नाड्या मूर्द्धन्या निष्क्रामति। --- अत्र हेतुमाह हार्दानुगृहीत इति हेत्वन्तगर्भं विशेषणम्। गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे इति श्रुतेर्हृदयाकाशसम्बन्धीयः परमात्मा तदनुग्रहात् तथैव भवतीत्यर्थः" -- अणुभा० ४।२।१७

२ अणुभा० ४।२।१८

३ अणुभा० ४।३।१ -- 'अर्चिरादिना तत्प्रथितेः'

सामान्यरूप से क्रममुक्ति का क्रम इस प्रकार है-- पहिले अर्चिलोक, तत्पश्चात् क्रमश: अह: -लोक , सितपक्ष, उदगयन, संवत्सरलोक, वायुलोक, देवलोक, आदित्यलोक, चन्द्रलोक, विद्युतलोक, वरुणलोक इन्द्रलोक तथा प्रजापतिलोक में भ्रमण करते हुए तत्तल्लोकसम्बन्धी भोगों का भोग करके जीव को अमानव पुरुष के द्वारा ब्रह्म की प्राप्ति होती है । किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि नियमत: इन सारे लोकों में परिभ्रमण हो ही । प्रारब्धसमाप्ति होने पर जिस किसी लोक से ब्रह्मप्राप्ति होनी होती है, उसी लोक से अमानवीय पुरुष ब्रह्म की प्राप्ति करा देता है । भक्तों को वह वैकुण्ठ लोक ले जाता है,जो अनेक प्रकार के हैं तथा ज्ञानियों को अक्षरब्रह्म की प्राप्ति कराता है[1] । यह अमानव पुरुष भगवदीयपुरुष होता है और स्वयं की नहीं, अपितु ब्रह्मसम्बन्धी अपनी सामर्थ्य से ही ज्ञानियों और भक्तों को ब्रह्मप्राप्ति कराता है । इन्हें जिस ब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह कार्यरूप ब्रह्म नहीं, अपितु विशुद्ध ब्रह्म ही है[2] ।

वल्लभ का कथन है कि विभिन्न उपासनाओं का अनुष्ठान करने वाले ये जीव भी सगुण नहीं हैं, निर्गुण ही हैं । वस्तुत: जितने भी उपास्यरूप हैं, वे भगवद्विभूतिरूप होने के कारण `निर्गुण` ही हैं, सगुण तो उपासक होते हैं, जिनके तारतम्य से फलतारतम्य होता है । जो भगवदनुग्रह से प्राकृत गुणों से रहित हो जाता है, वह निर्गुण ब्रह्मविद्यावान् कहलाता है । सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति ये जो दो मुक्ति के भेद हैं, वे निर्गुण जीवों अर्थात् निर्गुण ब्रह्मविद्यावान् साधकों के ही कहे गये हैं[3] । जिनका प्रारब्ध शेष नहीं रहता, उनकी सद्योमुक्ति होती है, और जिनका रहता है, उनकी क्रममुक्ति होती है । प्रारब्धवान् जीवों का जिस किसी लोक में प्रारब्ध समाप्त हो जाता है, उनकी वहीं से मुक्ति हो जाती है । निर्गुण ब्रह्मविद्यावान् का प्रारब्धभोग नहीं हो सकता, ऐसा नहीं कहा जा सकता, अन्यथा ज्ञानमार्ग का ही उच्छेद हो जायेगा । `न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्ति अत्रैव समवलीयन्ते, ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति` यह श्रुति प्रारब्धरहित जीवविषया है, और `ते ब्रह्मलोकेतु परान्तकाले ---` यह श्रुति जिनका प्रारब्धभोग शेष है, उनको विषय बनाती है[4] । मर्यादामार्गियों और पुष्टिमार्गियों के

----

१ द्रष्टव्य-- अणुभा० ४।३।७

२ द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।३।१३-१४

३ `---किंच उपास्यरूपाणां सर्वेषां निर्गुणत्वमेव, उपासकस्य परं सगुणत्वेन तत्तारतम्यात् फलतारतम्यम् यस्तु भगवदनुग्रहेण प्राकृतगुणरहितोऽभूत् स निर्गुणब्रह्मविद्यावानित्युच्यते । तादृशस्यैव मुक्तिप्रकारद्वयमुक्तं, सद्योमुक्तिक्रममुक्तिभेदेन ।`--अणुभा०४।३।१४

४ अणुभा० ४।३।१४

इस प्रकार वल्लभ ज्ञानमार्गीयों तथा मर्यादामार्गीयों की सद्योमुक्ति और क्रममुक्ति का निरूपण करते हैं । यहां यह जिज्ञासा अवश्य होती है कि `तेषामिह न पुनरावृत्तिरस्ति` इत्यादि श्रुतियों से देवयानपथ को प्राप्त करने वाले जीवों का ब्रह्मज्ञानी होना निश्चय ही सिद्ध होता है, फिर ऐसी अवस्था में सद्योमुक्ति सम्भव होने पर भी क्षयिष्णु और क्षुद्र आनन्दवाले होने के कारण हेय और ब्रह्मप्राप्ति में विलम्बहेतु अर्चिरादिलोकों और उनकी उपायभूत उपासनादि में इन जीवों की रुचि क्यों होती है? और फिर मर्यादाभक्त के लिये सभी पुरुषार्थों की साधिका भक्ति के समक्ष इन भोगों में कौन-सा आकर्षण है,जो उसे आकृष्ट कर लेता है । इसका उत्तर वल्लभ ने `उभयव्यामोहात् तत्सिद्धे:`--(वे०सू०४।३।६) इस सूत्रभाष्य से दिया है । अन्तत: देवयानमार्गों की सृष्टि भी तो ईश्वर ने ही की है । यदि उपर्युक्त हेतुओं से उस मार्ग में किसी की रुचि ही न हो तो उनकी रचना ही व्यर्थ होगी,अत: भगवान् ही किन्हीं ज्ञानियों और मर्यादाओं का व्यामोह कर इन लोकों के भोग के लिये इनके उपायभूत उपासना आदि कर्मों में प्रवृत्त करते हैं । यह सब कुछ सृष्टि-वैचित्र्य के लिये ही है[1] । वल्लभ का यह कथन पुन: इस बात की पुष्टि करता है कि उनके सिद्धान्त में जीव को अपने जीवन के दिशा-निर्धारण में कोई स्वतंत्रता नहीं है । जीवकर्तृत्व के संदर्भ में वल्लभ की इस प्रवृत्ति की विस्तृत आलोचना की जा चुकी है । यहां भी जिस शंका का उन्हें बहुत तर्कसंवलित उत्तर देना चाहिये था, उसे भी उन्होंने भगवदिच्छा और सृष्टिवैचित्र्य की चिरपरिचित युक्तियों से ही निराकृत किया है ।

ज्ञानमार्गीय तथा मर्यादामार्गीयों की पारलौकिक नियति पर विचार कर लेने के पश्चात् अब पुष्टिमार्गीय भोग पर विचार करना ही अवशिष्ट रहता है । वल्लभ ने इसका विवेचन सर्वाधिक विस्तार से किया है । `सर्वान्कामानश्नुते सह ब्रह्मणा विपश्चिता` से जीव का ब्रह्मसम्बन्धी या ब्रह्म के साथ जो भोग कहा गया है,वह पुष्टिमार्गीयों का ही होता है । मर्यादाभक्तों और ज्ञानियों का तो इसमें अधिकार ही नहीं है । सायुज्य सुख की अपेक्षा यह लीला-सुख कहीं अधिक श्रेष्ठ है, और इसके अधिकारी भगवान् के अतिशयअनुग्रहभाजन पुष्टिजीव ही हैं । वस्तुत: देखा जाये तो यही `लीला-प्रवेश` विशुद्धाद्वैतमत में एकमात्र फल है,क्योंकि वल्लभ का स्वाभिमान आचारपक्ष पुष्टिभक्तिमार्ग ही है, मर्यादाभक्ति या ज्ञानमार्ग नहीं । वल्लभ ने अणुभाष्य के तृतीय और चतुर्थ अध्याय में प्रधानत: पुष्टिमार्गीयों के भोग का ही वर्णन किया है तथा उसका स्वरूप और प्रक्रिया अत्यन्त स्पष्टरूप से समझाई है ।

---

१ अणुभा० ४।३।६

यह जो नित्यलीलान्त: प्रवेश है, इसके प्रति श्रीकृष्ण की अहेतुकी और प्रेमलक्षणा भक्ति ही एकमात्र कारण है। वस्तुत: जैसे-जैसे साधना परिपक्व होती जाती है, यह भक्ति स्वयं फलरूपा होती जाती है। इसे ही वल्लभ ने निर्गुणभक्तियोग कहा है और यही पुष्टिभक्ति है। इस पुष्टिभक्ति की सर्वोच्च अवस्था 'सर्वात्मभावरूपा' है। सर्वात्मभाव की अवस्था प्रगाढ़ भगवदानुभूति की स्थिति है; भक्ति के अत्यन्त प्रगाढ़ होने पर सर्वत्र भगवान् की ही अनुभूति होती है, किसी प्रत्ययान्तर का बोध नहीं होता।

इस प्रकार का जो 'केवलभाववान्' भक्त है, उसे प्रत्ययान्तर से अव्याहत भगवत्तत्त्व की अनुभूति होती है। अपने हृदय में और बाहर समस्त सृष्टि में उसे रसात्मक श्रीकृष्ण के स्वरूप की स्फूर्ति होती है। यह उसका 'भगवद्भाव' है; किन्तु अभी तक उसके समक्ष भगवान् अपने लीला-विशिष्ट अलौकिकविग्रहवान् रूप से प्रकट नहीं हुए। भक्त उनके प्रत्यक्षदर्शन के लिये व्याकुल हो उठता है। जैसे-जैसे दर्शन में विलम्ब होता है, उसकी व्याकुलता बढ़ती जाती है। भगवान् के अतिरिक्त उसे और किसी वस्तु का तो भान होता नहीं, अत: वह अत्यन्त आर्तभाव से उनकी ही परिचर्या और गुणगानादि करता है, इस आशा में कि वे प्रसन्न होकर दर्शन देंगे। भगवान् जब तब भी प्रकट नहीं होते, तब वह अपनी ओर से सभी प्रयत्नों का[१] परित्याग कर अपनी असमर्थता पहिचान कर अत्यन्त दीनभाव से उनका ही शरणागत होता है। भगवान् का यह प्राकट्य स्वकृतिसाध्य नहीं है, यह भगवत्कृपा से ही होता है और भगवान् भक्त के दैन्य पर ही रीझते हैं।

भक्त भगवद्विरह में इतना सन्तप्त हो जाता है कि उसके लिये जीवित रहना कठिन हो जाता है। ऐसे विरहदग्ध भक्तों का वर्णन करते हुए भगवान् कहते हैं-- 'धारयन्त्यथ कृच्छ्रेण प्राय: प्राणान् कथंचन्' : किन्तु मरणहेतु उपस्थित होने पर भी भक्तों का मरण नहीं होता, क्योंकि भगवद्विरह ताप होते हुए भी अमृतस्वरूप है। वल्लभ इसे ब्रह्मानन्द से भी श्रेष्ठ 'पूर्णानन्द' की संज्ञा देते हैं। वे इस सन्दर्भ में यह श्रुति उद्धृत करते हैं--'रसो वै स:, रसं ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति, को ह्येवान्यात् क: प्राण्यात्, यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्, एष ह्येवानन्दयाति'। विरहताप से उपमर्दित होने पर प्राणों की स्थिति ही सम्भव न होती, यदि हृदयाकाश

---

१ 'प्रकृतेऽपि सर्वात्मभावे स्वरूपप्राप्तिविलम्बासहिष्णुत्वेनार्त्यार्त्या स्वरूपातिरिक्तास्फूर्त्या तद्भावस्वाभाव्येन गुणगानादिसाधनेषु कृतेष्वप्यप्राप्तौ स्वाशक्यत्वं ज्ञात्वा प्रभुमेव शरणं गच्छत्येतच्च न स्वकृतिसाध्यमिति सुष्ठूक्तं प्रदानवदिति।'

-- अणुभा० ३।३।४३

में भगवान् निवास न करते होते । इससे सिद्ध होता है कि भक्त का भगवान् से अतिरिक्त जीवन नहीं है । यह विरहताप भी भगवद्रस का अंग है । तापात्मक होते हुए भी यह आनन्दरूप है,यह बतलाने के लिये ही `रसंह्येवाऽयंलब्ध्वाऽऽनन्दी भवति` ऐसा कहा है ।[1]

भक्त का यह दैन्य देखकर भगवान् उसके समक्ष साकार रूप से प्रकट होते हैं,और दर्शन, स्पर्श,आलिंगन और सम्भाषण से पूर्वताप की निवृत्ति कर, स्वरूपानन्द देकर उसे आनन्दपूर्ण `आनन्दित` कर देते हैं ।[2] `एष ह्येवानन्दयाति` से यही बात कही गई है । इस संयोगावस्था का ही निर्देश `आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन:` इत्यादि से किया गया है । यहां `आत्म` शब्द का अर्थ पुरुषोत्तम ही समझना चाहिये,क्योंकि आत्मशब्द का मुख्य अर्थ पुरुषोत्तम ही है ।[3] भक्तों के प्रति पुरुषोत्तम का यह आविर्भाव केवल ज्ञानविषयत्वमात्रता नहीं है,अपितु दर्शनविषयत्व योग्यता रूप है ।[4] यह एक विशेष बात है कि वल्लभ पुरुषोत्तम और अक्षरब्रह्म दोनों का ही चाक्षुषत्व स्वीकार करते हैं ।[5] शुद्धपुष्टिमार्ग में अंगीकृत होने वाले जीव के प्रभु के साथ आलाप, अवलोकन,श्रीचरणस्पर्शादि दृष्ट फल ही होते हैं, अदृष्ट सायुज्य नहीं ।

भगवत्प्राकट्य के पश्चात् जीव की क्या अवस्था होती है और उसका योग किसप्रकार सम्पन्न होता है,इसका विवेचन वल्लभ ने चतुर्थ अध्याय के चतुर्थ पाद में विस्तारपूर्वक किया है । चतुर्थ के प्रथमपाद में भी इस सन्दर्भ में पुष्टिमार्गीय जीव के प्रारब्ध भोग तथा देहादि के लय पर विचार किया गया है ।

---

१ "तत्र विरहतापस्यात्युपमर्दित्वेन तदा प्राणस्थितिरपि न स्याद् यदि रसात्मको भगवान् हृदि न स्यादित्याशयेनाह को ह्येवान्यादिति । ---तादृशस्य भगवत्स्वरूपातिरिक्तान्न जीवनम् ।--- तापात्मकस्याप्यानन्दात्मकत्वमेवेति ज्ञापनायानन्दपदम्" ।--अणुभा०४।२।१३

२ "तदनन्तरं प्रकटीभूय तदन्य: को वा प्रकर्षेण दर्शनस्पर्शाश्लेषभाषणादिभि: स्वरूपानन्ददानेनाऽन्यात् पूर्वतापनिवृत्तिपूर्वकमानन्दपूर्णं कुर्यादित्यर्थ:" । --अणुभा०४।२।१३

३ " ---ततोऽतिदैन्यतो जाते भगवदाविर्भावे या अवस्थास्ता आत्मरतिरात्मक्रीड इत्यादिनोच्यन्ते इति । अत्र आत्मशब्द पुरुषोत्तम वाचको ज्ञेय: । अन्यथौपचारिकत्वं स्यात् ।"

--भक्तिमार्तण्ड,पृ०२०

४ "--- स चाविर्भावो दर्शनविषयत्वयोग्यतारूपो, न तु ज्ञानविषयत्वमात्रम्"

--अणुभा०३।३।५४ भा०प्र०

५ " यत्र पुरुषोत्तमस्य चाक्षुषत्वं तत्र ततोऽध: कदास्य तस्य तथात्वे का शंका नाम?"

--अणुभा० ३।३।५४

भगवत्प्राकट्य होने पर जीव की तत्क्षण ही मुक्ति हो जाती है, प्रारब्ध भोग उसमें बाधक नहीं बनता । मर्यादाभक्तों तथा ज्ञानमार्गियों का प्रारब्धभोग अवश्यम्भावी होने केकारण उन्हें ब्रह्मप्राप्ति के लिये प्रारब्धसमाप्ति तक प्रतीक्षा करनी पड़ती है,किन्तु पुष्टिमार्गियों के साथ यह कठिनाई नहीं है । केवल पुष्टिमार्गीय भक्तों के ही प्रारब्ध -अप्रारब्ध दोनों प्रकार के कर्मों का नाश भोग के बिना ही हो जाता है । यह उनका दुर्लभ अधिकार है । पुष्टिमार्ग भगवत्कृपाश्रयी होने के कारण विधिनिषेध से अतीत है, व मर्यादामार्ग के विपरीत स्वभाव का है,अत: अनुपपत्ति की आशंका नहीं करनी चाहिए ।[1]

जीवनिष्ठा विद्या भगवान् की ज्ञानशक्ति की अंशभूत है । जब धर्म सम्बन्ध से कर्मों का नाश हो सकता है,तो साक्षात् धर्मी ब्रह्म से सम्बद्ध होने पर कोई असम्भावना नहीं करनी चाहिए ।[2] इस प्रकार फलप्राप्ति में प्रतिबन्ध का अभाव होने से आगे प्राप्त होने वाली अलौकिक देहेन्द्रियादि से भिन्न स्थूल और सूक्ष्म शरीर का परित्याग कर, जीव भगवल्लीलोपयोगी देहादि की प्राप्ति के अनन्तर `सोऽश्नुते सर्वान्कामान्` में कहे गये भोग की प्राप्ति करता है ।[3]

पुष्टिमार्गीय भक्त का वागादिलय ज्ञानियों अथवा मर्यादामार्गियों की भांति महाभूतों में नहीं होता, अपितु भगवान् में ही होता है ।[4] उसका उत्क्रमण भी नहीं होता । प्रारब्ध या अन्य उपासनाविषयक फलकामना के अभाव में क्रममुक्ति का तो प्रश्न ही नहीं उठता । एतद्विषयक श्रुति इसप्रकार है-- `आत्मकाम आप्तकामो भवति, न तस्मात् प्राणा उत्क्रामन्त्यत्रैव समवलीयन्ते ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ।`आत्मकाम` में आत्म पद पुरुषोत्तमवाचक है । भक्तिमार्ग में पुरुषोत्तमप्राकट्य के ही

---

१ `एकेषां पुष्टिमार्गीयाणां भक्तानामुभयो: प्रारब्धाप्रारब्धयोर्भोगं विनैव नाशो भवति । --- मर्यादाविपरीतस्वरूपत्वात् पुष्टिमार्गस्य न काचनात्राऽनुपपत्तिर्भावनीया, तस्या अत्र भूषणत्वात्। अत्र एकेषामिति दुर्लभाधिकार: सूचित:` ।--अणु भा०४।१।१७

२ `जीवनिष्ठा विद्या हि भगवज्ज्ञानशक्तेरंशभूता । एवं सति यत्र धर्मसम्बन्धिसम्बन्धादन्येभ्योऽतिशयं कर्मणि वदति श्रुतिस्तत्र साक्षाद्धर्मिसम्बन्धेऽतिशयितकार्यं सम्पद्यते कथमसम्भावना कर्तुमुचितेति निगूढाशय:` --अणु भा०४।१।१८

३ `अग्रे प्राप्यालौकिकदेहादिभिन्ने स्थूललिंगशरीरे क्षापयित्वा दूरीकृत्य,अथ भगवल्लीलोपयोगिदेहप्राप्त्यनन्तरं भोगेन सम्पद्यते । सोऽश्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता` इति श्रुत्युक्तेन भोगेन सम्पद्यते । ~~सो श्नुते सर्वान्कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता इति~~ इत्यर्थ:`
--अणु भा० ४।१।१९

४ `सोऽध्यक्षे तदुपगमादिभ्य:` --ब्र०सू०४।२।४

५ `सर्वेन्द्रियविशिष्टमनोविशिष्ट: प्राणोऽध्यक्षे पुरो हृदि वा प्रकटे भगवति सम्पद्यत इत्यर्थ: ।अत्र हेतु: । उपगमादिभ्य इति । उपगमोऽभ्युपगम: पुष्टिमार्गाङ्गीकार इति यावत्` ।
--अणु भा० ४।२।४

परमफलरूप होने के कारण पुरुषोत्तमप्राकट्य के इनि ब० दर्शन से ही व्यक्ति आप्तकाम होता है । इसके पश्चात् साक्षात् आलिंगन आदि की कामना होने पर प्राचीन प्राकृत देहप्राणादि से उनका स्पर्श भी न हो सकने के कारण वे वहीं भगवत्स्वरूप में ही लीन हो जाते हैं । बहिः प्रकट पुरुषोत्तम के हृदय में भी प्रकट हो जाने के कारण उत्क्रमण का प्रश्न ही नहीं उठता, अतः भगवदतिरिक्त गति न होने के कारण 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' कहा गया है । पुष्टिमार्गीयभक्त को सदैव सद्योमुक्ति ही होती है । इसके पश्चात् उसे अलौकिक देहेन्द्रिय प्राप्त होते हैं, जिनसे उसका दिव्य भोग सम्पन्न होता है । ये देहादि पुरुषोत्तम[1] से भिन्न नहीं, अपितु पुरुषोत्तमात्मक ही होते हैं, इसीलिये 'ब्रह्मैव-सन् ब्रह्माप्येति' कहा गया है ।

अब प्रश्न उठता है कि 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ऐसा उपक्रम कर जो 'सोऽश्नुते सर्वान् कामान्' से जो भोग कहा गया है, वह अन्तःस्थित ही होता है, अथवा इसके लिये जीव को पुनः जन्म ग्रहण करना होता है । इसका उत्तर देते हुए वल्लभ कहते हैं कि जब प्रभु की अत्यन्तअनुग्रहवशात भक्त को स्वरूपात्मक भजनानन्द देने की इच्छा होती है, तो स्वयं में लीन हुए भक्तों का[2] भी वे आविर्भाव में जीव का कोई कर्तृत्व नहीं है । भगवत्स्वरूपबल[3] से ही यह आविर्भाव होता है । आविर्भाव का अर्थ है ब्रह्म से भिन्नरूप से अपने अनुभव की क्षमता । यह ज्ञातव्य है कि भेद के अभाव में ब्रह्म पुरुषोत्तमानन्द का भोग असम्भव है ।

जीव का आविर्भाव स्वीकार करने में श्रुति से कोई विरोध नहीं है । 'यत्रहि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति' ऐसा उपक्रम कर 'यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि से प्रापंचिक भेददर्शन का ही विरोध किया गया है । अखण्डब्रह्माद्वैतमान होने पर ब्रह्मवित् को प्रापंचिक-

---

१ "--- आत्मकामशब्देन भगवद्वाचकात्मपदग्रहणेन भक्तस्य स्नेहातिशयजनितप्रभुदिदृक्षात्यतिशयः -- तादृशः सन् ब्रह्म बृहत्वाद् बृंहणत्वात् पुरुषोत्तमस्वरूपं प्राप्तो भवतीत्यर्थः ।"

द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।२।१

२ (क) "सम्पद्याविर्भावः स्वेन शब्दात्"

-- बे०सू०४।४।१

(ख) "-----स्वेनेति । स्वशब्दोऽत्र भगवद्वाची । तथा च भगवत्स्वरूपबलेनैवाविर्भाव इत्यर्थः ।"

--अणुभा० ४।४।१

३ "आविर्भाव इति । स्वस्य ब्रह्मभिन्नतयाऽनुभवविषयत्वयोग्यता"

-- अणुभा० ४।४।१ भा०प्र०

भेद की अनुभूति नहीं होती, इतना ही श्रुति प्रतिपादित करती है; प्रपंच से अतीत पदार्थ के दर्शन का न वह कथन करती है, न निषेध करती है। पुरुषोत्तम का स्वरूप तो यावत्स्वधर्मविशिष्ट प्रपंचातीत ही है, अत: उनके दर्शन में कोई अनुपपत्ति नहीं है[1]। श्रुति का तात्पर्य है कि ब्रह्मप्राप्त जीवों की इस प्रपंच में पुनरावृत्ति नहीं होती। लीला के प्रपंचातीत होने के कारण लीला में आविर्भाव निषेध का विषय नहीं है[2]। 'भोगेन त्वितरे क्षपयित्वाऽथ सम्पद्यते' (ब्र०सू०४।१।१६) तथा 'सम्पद्याविर्भाव: स्वेन शब्दात्' (ब्र०सू०४।४।१)-- इन दो सूत्रों के आधार पर भाष्यप्रकाशकार लीला में ब्रह्म के आविर्भाव की दो प्रक्रियाएं स्वीकार करते हैं। पुष्टिमार्गीयभक्तों के भी दो स्तर हैं। अत्यन्त कृपाभाजन पुष्टिभक्तों को, ब्रह्म में वागादिलय के पश्चात् तुरन्त ही पुरुषोत्तमात्मक देह की प्राप्ति हो जाती है, और उनका भोग सम्पन्न होता है। उनसे कुछ न्यून अधिकारियों का पहिले पुरुषोत्तम में लय होता है, फिर सम्पद्याविर्भावाधिकरणोक्त प्रक्रिया के अनुसार उनका पुन: आविर्भाव होता है। इसके पश्चात् ही भगवदात्मक देहादि प्राप्ति के अनन्तर भोग सम्भव होता है[3]।

श्रुति जीव का पुरुषोत्तम के साथ जो सर्वकामभोग कहती है, उससे जीवात्मा के विग्रह की स्थिति स्वत: सिद्ध है। परप्राप्ति मुक्तिरूप है, और पुष्टिमार्गीय मुक्ति सर्वकामाशन रूप है। इसके लिये अलौकिकविग्रह की ही आवश्यकता है। पुरुषोत्तमलीला भी भगवदात्मक है; उसमें अंगीकारमात्र से प्राचीन समस्त सांसारिक धर्मों की निवृत्ति से शुद्ध हुए जीव को पुरुषोत्तमलीलात्मकदेहादि भी प्राप्त हो जाती हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि यह भगवद्दत्त विग्रह भी भगवदात्मक ही होता है, प्राकृत नहीं; और इसके अभाव में भोग सम्भव नहीं है[4]।

---

१ '---- यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूदिति श्रुतिरखण्डब्रह्माद्वैतभाने ब्रह्मविद: प्रापंचिकभेदादर्शनं वदति, न तु प्रपंचातीतार्थदर्शनं बोधयति निषेधति वा। पुरुषोत्तमस्वरूपं तु यावत्स्वधर्मविशिष्टं प्रपंचातीतमेवेति तद्दर्शनादौ किमायतम्'-- अणु भा० १।१।११

२ 'तेषामिहप्रपंचे न पुनरावृत्तिरस्तीति हि श्रुतिराह। लीलाया: प्रपंचातीतत्वात् तत्राविर्भावस्य निषेधाविषयत्वादपि न विरोध:'--अणुभा० ४।४।१

३ द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।२।४ भा०प्र०

४ द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।२।१

भक्त को भगवत्प्राप्ति हो, उसके पूर्व ही जैसा भोग भगवान् उसे देना चाहते हैं, तदनुरूप शरीरादि सम्पन्न हो जाते हैं। वस्तुत: सर्वकामाशनरूप भोग में जिन जिन उपकरणों की योजना आवश्यक है, वे सभी श्रुत्यभिमत स्वीकार किये जाने चाहिये[1]। अत: पुष्टि जीवों के ब्रह्मसम्बन्धयोग्य नित्य शरीर होते हैं, यह निर्गलितार्थ है। जीव के अलौकिक विग्रह का `शरीरत्व` इतना ही है कि वे भोगायतन हैं, अन्यथा महाभूतों से व्याप्त न होने के कारण वे अशरीररूप ही हैं[2]। इसीलिये श्रीमद्भागवत में `देहेन्द्रियासुहीनानां वैकुण्ठपुरवासिनाम्` ऐसी उक्ति है।

इस प्रकार वल्लभ ब्रह्मरूपभोग प्राप्त पुष्टिभक्तों का दिव्य और नित्यविग्रह स्वीकार करते हैं, जो प्राकृत न होकर भगवदात्मक होता है।

पहिले कहा जा चुका है कि लीला में जीव का आविर्भाव भगवान् के स्वरूपबल से ही होता है। इसी प्रकार जीव का भोग भी भगवत्सामर्थ्य से ही होता है, स्वयं अपनी सामर्थ्य से नहीं। परप्राप्ति[3] सभी जीवों की नहीं होती। जिन्हें भगवान् भजनानन्द देने का संकल्प करते हैं, उन्हें ही होती है। ये जीव अन्य किसी हेतु या साधन का आश्रय नहीं लेते। भगवान् ही उनके हृदय में साधन और फलरूप से आविर्भूत होते हैं। इसीलिये ये जीव `अनन्य` हैं। इनका आधिपत्य भगवान् पुरुषोत्तम[4] स्वयं करते हैं, जब कि अन्य जीवों पर उनका आधिपत्य उनकी विभूतियों के माध्यम से होता है।

ऐसे पुष्टिभक्तजीवों को भोग भी वे अपने स्वरूपबल से कराते हैं। जीव अपनी नैसर्गिक ज्ञानक्रियाशक्ति में ब्रह्म के साथ भोग नहीं कर सकता, अपितु भगवदाविष्ट होकर ही करता है। भगवान् उसमें आविष्ट हो, उसे भी अपने ही समान कर लेते हैं। जिस प्रकार प्रदीप अर्थात् `प्रकृष्ट` अथवा `प्राचीन` दीप अर्वाचीन स्नेहयुक्त वर्तिका में आविष्ट होकर उसे भी अपने समान कार्य करने में सक्षम बना लेता है, उसी प्रकार भगवान् भी जीव में आविष्ट होकर उसे अपनी भांति बना लेते हैं, और स्वयं प्रदीप की भांति स्नेहाधीनस्थिति होकर रहते हैं। यही बात `भर्ता सम्भ्रियमाणो बिभर्ति,` आदि से कही गई है। स्नेहाधीनत्व[5] द्योतित करने के लिये ही अयोगोलकादि का दृष्टान्त छोड़कर प्रदीप का दृष्टान्त दिया गया है।

---

१ द्रष्टव्य-- अणुभा० ४।४।७

२ `ब्रह्मणा सह सर्वकामाशनप्रयोजकं शरीरं शरीरत्वस्य भूतजन्यत्वव्याप्यत्वाज्जभावेनाशरीररूपं तद्भोगायतनत्वेन शरीररूपमपीति बादरायण आचार्यो मन्यते।` --अणुभा० ४।४।१२

३ `संकल्पादेव च तच्छ्रुते:` -- ब्र०सू०४।४।८

४ `अतस्व चानन्याधिपति:` -- ब्र०सू०४।४।९

५ `न हि तदा नैसर्गिकज्ञानक्रियाभ्यां तथा भोक्तुं शक्तो भवति, किन्तु भगवांस्तस्मिन्नाविशति यदा तदाऽयमपि तथैव भवतीति सर्वमुपपद्यते। एतदेवाह प्रदीपवदिति। यथा प्राचीन: प्रकृष्टो दीप: स्नेह युक्तायां वर्त्यामर्वाचीनायामाविष्ट: स्वसमानकार्यक्षमां तां करोति स्नेहाधीनस्थितिश्च भवति स्वयं तथाऽयमपीत्यर्थ:।--अतस्व स्नेहराहित्येनायोगोलकादिकं विहाय प्रदीपं दृष्टांतमुक्तवान्‌व्यास:। --अणुभा०४।४।१५

इस प्रकार का भोग पुरुषोत्तमस्वरूप में ही सम्भव है । वे ही जीवकृत आत्मनिवेदन को स्वीकार कर अत्यन्त कृपालु होने के कारण अपने स्वरूपानन्द का अनुभव कराते हुए जीव को प्रधान अर्थात् स्वसाम्ययुक्त कर देते हैं,[1] अन्यथा जीव की अनुभवसामर्थ्य नहीं है कि वह ब्रह्मानन्द का अनुभव कर सके ।

यह तो योग की प्रक्रिया हुई , अब इसके स्वरूप पर विचार किया जा रहा है ।

तैत्तिरीयोपनिषद् में भोगसम्बन्धी श्रुति इस प्रकार है--`सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्, सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता' । यहां जीव का सर्वकामाशन-रूप भोग कहा गया है, उसका तात्पर्य यह नहीं है कि कामनाओं का भोग ही फल है । `आप्नोति परम्' से जो स्वरूपानुभव कहा गया है, वही सर्वकामाशनरूप भोग कहा गया है ।[2] `ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह सामान्य कथन कर, उसका तात्पर्य ही `सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इत्यादि से कहा गया है, अत: सर्वात्मभाववान् भक्त भगवान् के साथ भगवत्स्वरूपात्मक भोगों की प्राप्ति करता है ।[3] इस प्रकार भगवत्स्वरूपानन्द कीप्राप्ति ही सर्वकामाशनरूप भोग से कही गई है ।

कामयोग के गुणसाध्य होने से यहां ब्रह्म का अर्थ सगुण होना चाहिये, यह उचित नहीं है । `ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस उपक्रम से गुणातीत ब्रह्म का ही प्रकरण सिद्ध होता है । इस ब्रह्म का अर्थ माया और उसके गुणों से रहित व्यापक परब्रह्म ही है । अत: परप्राप्तिलक्षणा[4] मुक्ति का अर्थ मायातीत परब्रह्म पुरुषोत्तम के स्वरूपानन्द का अनुभव ही है ।

ब्रह्म के साथ यह भोग लौकिकव्यापाररूप नहीं है । जगत्सम्बन्धी जो शरीर,इन्द्रिय और मन के व्यापार हैं,उनसे यह भोग सर्वथा अस्पृष्ट है । यह भोग `ब्रह्मविदाप्नोति परम्' ऐसा उपक्रम कर मुक्ति प्रकरण में कहा गया है, अत: लौकिक व्यापार युक्त होने का प्रश्न ही नहीं

---

१ `सोऽश्नुते --- इति श्रुतौ भक्तसाम्यमुच्यते । तच्च पुरुषोत्तम एव सम्भवति । यत: सख्यं दत्वा तत्कृतात्मनिवेदनमंगीकुर्वन्नतिकरुण: स्वस्वरूपानन्दमनुभावयन् तं प्रधानी करोति ।अन्यथा भक्तोऽनुभवितुं न शक्नुयात् ।' -- अणुभा० ४।४।२१

२ `नचात्र कामभोगस्य फलत्वं शंकनीयम् । आप्नोतिपरमित्येतद्व्याकृतिरूपत्वात् स्वरूपानुभवरूपत्वाद् भोगस्य ।' -- अणुभा० ४।४।२१

३ `ब्रह्मविदाप्नोति परमितिवाक्येन ब्रह्मविद: परप्राप्तिं सामान्यतउक्त्वा तत्तात्पर्यं सत्यंज्ञानमित्यृचोक्तम् । तत्र सर्वात्मभाववान् भक्तो भगवता सह तत्स्वरूपात्मकान् कामान् भुंक्त इति ।'
--अणुभा०१।१।११

४ द्रष्टव्य-- अणुभा० ४।४।२ व ३

उठता । छान्दोग्य में `भूमैवसुखं भूमात्वेव विजिज्ञासितव्य` ऐसा कहकर भूमा का लक्षण कहा गया है--`यत्र नान्यत्पश्यति, नान्यच्छृणोति, नान्यद्विजानाति स भूमेति` । यहां जो इन्द्रिय - व्यापार निषिद्ध है, वह अन्यविषयक है, भगवद्विषयक नहीं, इसलिये `सोऽश्नुते` में जो भोग कहा गया है, वह लौकिक नहीं है[1] ।

परब्रह्म पुरुषोत्तम के इस लोकोत्तर आनन्द का उच्छलन उनकी दिव्यलीला में होता है, अत: पुष्टिमार्गियों का आनन्दभोग लीलाप्रवेशरूप होता है । `रसो वै स:` इस श्रुति से पुरुषोत्तम लीलाविशिष्ट ही सिद्ध होते हैं,इसलिये लीला विशिष्टरूप से ही वे परमफल हैं[2] । पुष्टि-लीला में मुक्ति प्रवेश के अनन्तर जीव अलौकिक व देहादि से सम्पन्न हो जाता है और दिव्यशरीर में या दिव्यशरीर के माध्यम से ब्रह्मानन्द का सम्यक् भोग करता है अर्थात् भगवान् के द्वारा क्रियमाण लीलारस का अनुभव करता है । यही पुष्टिमार्गीय भोग का स्वरूप है[3] ।

भगवान् की दिव्यलीला नित्य है, और इसके अनेकविध होते हुए भी इससे ब्रह्म के एकरसस्वरूप में कोई व्याघात नहीं पहुंचता । `साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च इत्यादि श्रुतियों में जो अन्यधर्मराहित्यलक्षणा` केवलता कही गई है,वह लीलात्मिका ही है,अत: शुद्धब्रह्म सदैव लीलाविशिष्ट ही है, यह स्वीकार करना चाहिये । इस प्रकार लीला[4] का स्वरूपात्मकत्व पर्यवसित होता है और स्वरूपात्मकत्व होने के कारण नित्यत्व स्वत:सिद्ध है । भगवान् भक्तों को स्वरूपानन्द देने के लिये ही `लोकवत्तु लीलाकैवल्यम्` इस न्याय से लीला करते हैं । यह लीला ही कैवल्यरूपिणी है, और जीवों का इसमें प्रवेश ही उनकी परममुक्ति है । भगवान् की जो रिंगणादिलीलाएं हैं,वे

---

१ `जगदित्यादि । पुर्वोक्तस्य जगत्सम्बन्धी लौकिको यो व्यापार: कायवाङ्मनसां तद्वर्ज्जं तद्रहितं भोगकरणम् । ---ब्रह्मविदाप्नोति परमित्युपक्रमेण मुक्तिप्रकरणात्तु तत्र लौकिकव्यापारो सम्भावित: ` । दृष्टव्य-- अणुभा० ४।४।१७

२ `एतेन रसोवै स इतिश्रुतेर्लीलाविशिष्ट एव प्रभुस्तथैतितादृश एव परमफलमिति ज्ञापितं भवति`
--अणुभा०४।४।१६

३ दृष्टव्य -- अणुभा० ४।२।१

४ `साक्षी चेता ---निर्गुणश्च इत्यादिश्रुतिषु याऽन्यधर्मराहित्यलक्षणा कैवलतोक्ता सा लीलात्मिकैव लीलाविशिष्टमेव शुद्धं परं ब्रह्म, न कदाचित्तु तद्रहितमित्यर्थ: पर्यवस्यति । तेन स्वरूपात्मकत्वं लीलाया: पर्यवस्यति । तेन च नित्यत्वम् ।`
--अणुभा० ४।४।१४

भगवान् की नैसर्गिक धर्मरूप और आनन्दात्मक है । मोहरहित भक्त ही इन अप्राकृतलीलाकार्यों के दर्शन करते हैं[1] ।

यह लीला कालमायादि से अतीत है । जब लोक में लीला प्रकट करने की इच्छा होती है,तो मथुरादि शुद्धस्थलों में,गोलक में चक्षुरिन्द्रिय की भांति,अक्षर-धाम को स्थापित कर लीला का प्राकट्य करते हैं[2] । तब भी लीला का लौकिकव्यापाररूपत्व नहीं होता । भक्त की इच्छा से ही उसके प्रति लीला का आविष्करण और अनाविष्करण होता है । इस लीलाभोग की कोई इयत्ता और अवधि नहीं होती । जो पुष्टिजीव इसमें प्रविष्ट हो जाते हैं, उनका इससे फिर वियोग नहीं होता,क्योंकि यह परममुक्तिस्वरूपा है । तैत्तिरीय में `तद्विष्णो: परमंपदं सदा-पश्यन्तिसूरय:` ऐसा कहा गया है । पुरुषोत्तम के स्वरूप को जानने वाले भक्तों का ही यहां `सूरय:` पद से निर्देश किया गया है --`पुरुषोत्तमस्वरूपवित्त्वम् सूरित्वम्` । वे सदैव ही विष्णु के परमपद का दर्शन करते हैं,ऐसा कहा गया है । अत: लीला प्रविष्टभक्तों का कभी लीला से अविभाग या वियोग नहीं होता[3] ।

यही बात `अनावृत्ति: शब्दादनावृत्ति: शब्दात्`(ब्र०सू०४।४।२२)-- इस सूत्र से कही गई है । `तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति`,`न तेषां पुनरावृत्ति:` इत्यादि से ज्ञानियों और भक्तों की पुनरावृत्ति कही गई है । `इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते`, ब्रह्मलोकमभिसम्पद्यते, न च पुनरावर्तते` इत्यादिरूपअपुनरावृत्ति ज्ञानियों की है । संसाराभाव और स्वरूपानन्द की प्राप्ति ज्ञानियों का फल है ।

भक्तों का अमृतत्व नाड्यादिप्रयुक्त नहीं है; `यमेव ---` इत्यादि श्रुति के अनुसार वरणमात्रलभ्य पुरुषोत्तम ही उनका अमृतत्व है । इन पुरुषोत्तमप्राप्त भक्तों की प्रपंच में पुनरावृत्ति नहीं होती ; न भगवान् की ही उनके विषय में ऐसी इच्छा होती है--`ये दारागार-पुत्राप्तप्राणान् वित्तमिमं परम् । हित्वा मां शरणं याता: कथं तांस्त्यक्तुमुत्सहे ।।` इस भगवद्वाक्य और लीलाप्रवेश के परप्राप्तिरूप होने के कारण भक्तों की भी पुनरावृत्ति नहीं होती[4] ।

---

१ `भक्तेभ्य: स्वरूपानन्ददानाय,लोकवत्तुलीलाकैवल्यमिति न्यायेन या लीला-करोति,यथा रिंगणा-दिलीला भगवतो नैसर्गिकधर्मरूपानन्दात्मकत्वेन विद्यमाना एव, ता भक्ता: पश्यन्तीति`
--अणुभा० ४।४।१४

२ द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।४।१७

३ द्रष्टव्य -- अणुभा०४।२।१६ `अविभागोवचनात्`

४ द्रष्टव्य -- अणुभा० ४।४।२२

इस प्रकार लीलाप्रवेशरूप परप्राप्ति का वल्लभ ने अत्यन्त विस्तारपूर्वक विवेचन किया है । यह पुष्टिमार्गियों का फल है । `प्रमेयरत्नार्णव` में लीलाप्रवेश में भी अवान्तर भेदों की चर्चा की गई है, परन्तु वल्लभ ऐसा कोई निर्देश नहीं करते हैं और सभी पुष्टिभक्तों का लीलाप्रवेशरूप एक ही फल स्वीकार करते हैं ।

इस प्रकार वल्लभाचार्य अक्षर-सायुज्य, पुरुषोत्तम-सायुज्य और नित्यलीलाप्रवेश ये तीन फल स्वीकार करते हैं । इनके स्वरूप-विवेचन से स्पष्ट है कि इनमें जीव की स्थिति क्या है । अन्य वैष्णव - दार्शनिकों की भांति वल्लभ भी जीव और ब्रह्म में आत्यन्तिक अभेद स्वीकार नहीं करते । जीव ब्रह्मात्मक भले ही हों, वह स्वयं ब्रह्म नहीं हो सकता । वल्लभ प्रत्येक स्तर पर जीव और ब्रह्म में इतना अन्तर अवश्य स्वीकार करते हैं कि भक्ति के लिये अवकाश निकल आये । चाहे सायुज्य हो, चाहे लीलाप्रवेश, उसमें अद्वैत की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ भी, चाहे जितनी भी हल्की हो, अन्तर की एक सूक्ष्मरेखा अवश्य विद्यमान रहती है, जो एकात्मता की इस निविड अनुभूति में भी भक्त और भगवान् की वैयक्तिकता सुरक्षित रखती है । इसलिये वल्लभ कहते हैं कि `आत्मा का ब्रह्मरूप से ज्ञान नहीं, अपितु ब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान ही मोक्ष का साधन है ।`[१] बात कहने की यह भंगिमा सिद्धांत में विशिष्टता ला देती है । पुष्टिमार्गीय फल पर विचार करते हुए वल्लभ ने स्पष्टत: अभेदबुद्धि का विरोध किया है ।

वल्लभ ने पुरुषोत्तमप्राप्ति अथवा भजनानन्द की अपेक्षा ब्रह्मानन्द को हीनफल माना है, क्योंकि ब्रह्म स्वयं गणितानन्द है, और पुरुषोत्तम निरवधि आनन्दरूप है । पुरुषोत्तम जिसे भजनानन्द प्रदान करते हैं, उसकी अभेदबुद्धि सम्पादित नहीं करते । ज्ञानमार्ग में साधक की जैसी अभेद बुद्धि होती है, वैसी भक्तिमार्ग के साधक की नहीं हो सकती । स्वयं और ब्रह्म में जो अभेदबुद्धि है, वह भजनानन्द में अन्तरायभूत है, अत: भगवान् जिस जीव को पुष्टिमार्ग में स्वीयरूप से स्वीकृत करते हैं, उसे अभेदज्ञान नहीं देते । इस प्रकार भक्तिमार्गीय को पूर्णदशा में भी जीवब्रह्माभेदबुद्धि नहीं होती, अर्थात् उसे `सोऽहम्` या `ब्रह्मास्मि` इत्याकारक ज्ञान नहीं होता । जीव को ब्रह्म की अनुभूति उपास्य अथवा आराध्य के ही रूपमें होती है ।[२]

---

१ (क) `----तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्या ब्रह्मत्वेन ज्ञानं नात्मनो मोक्षाय । ब्रह्मण एव तुज्ञानमात्मत्वेनापि` ।-- अणुभा० १।३।१५

(ख) `आत्मनो ब्रह्मत्वेन ज्ञानं न मोक्षायेति योजना` -- अणुभा० १।३।१५--भा०प्र०

२ `स्वात्मत्वेनज्ञानं च भजनानन्दान्तरायरूपम् । --भगवता भक्तिमार्गे स्वीयत्वेनांगीकृतो य आत्मा जीवस्तस्य यदात्मत्वेन ज्ञानं तद्भजनानन्दानुभवे अन्तरा व्यवधानरूपमिति भगवता तादृशे जीवे तन्न सम्पाद्यत इत्यर्थ:`

-- अणुभा० ३।३।३५, ३७ ।

यद्यपि वल्लभाचार्य ने अक्षरसायुज्य और पुरुषोत्तम सायुज्य भी स्वीकार किये हैं, परन्तु वे निश्चितरूप से पुष्टिमार्गियों की अहैतुकी भक्ति से हीन हैं। वल्लभ ने यह बात बहुत ही स्पष्ट शब्दों में अनेकबार कही है।

वल्लभ के अनुसार न तो अक्षर ही अन्तिम सत्ता है, न उसका ज्ञान अन्तिम फल ही है। 'अक्षरात् परत:पर:'; 'अक्षरादपि चोत्तम:' इत्यादि अनेक श्रुतिस्मृतिवाक्यों से पुरुषोत्तम का अक्षर की अपेक्षा श्रेष्ठत्व और अतीतत्व सिद्ध होता है। वस्तुत: अक्षरप्राप्ति पुरुषोत्तम-प्राप्ति कीपूर्वकथा रूप है। यह अक्षरज्ञान मर्यादामार्गीयभक्तों की पुरुषोत्तमप्राप्ति में स्वरूपयोग्यता सम्पादक होने के कारण उनके लिये मुक्तिसाधनभूत है[1]। ब्रह्मभूत जीव का जो भक्तिलाभ कहा जाता है, वह आनन्दाविर्भावरूप है,आविर्भाव अविद्यानाशजन्य है,और अविद्या का नाश अक्षरज्ञान-जन्य है[2]। इस प्रकार अक्षरज्ञान या अक्षरप्राप्ति पुरुषोत्तमप्राप्ति की पूर्वपीठिका मात्र है।

अक्षरज्ञान को जो मुक्ति कहा जाता है, वह दो कारणों से। अक्षर पुरुषोत्तम का धाम है। धाम होने के कारण उनसे अविनाभाव रूप से स्थित होने के कारण वह पुरुषोत्तम सम्बन्धी है। पुरुषोत्तम सम्बन्धी के सम्बन्ध से भी एकादशस्कन्ध में मुक्ति का कथन किया गया है, अत: अक्षरसम्बन्ध से भी मुक्ति की बात कही गई है। इसके अतिरिक्त अक्षर का स्वरूपयोग्यता-सम्पादकत्व तो है ही। मर्यादामार्ग में ब्रह्मभाव के अनन्तर ही भगवद्भाव सम्भव होने के कारण ब्रह्मभाव या अक्षरभाव का भी परम्परया उपादेयत्व है। इन दोनों हेतुओं के कारण अक्षरब्रह्म-प्राप्ति को भी मुक्ति कहा गया है[3]। वस्तुत: तो पुरुषोत्तम प्राप्ति ही मुक्ति है। निबन्ध में भी आचार्य वल्लभ ने कहा है कि ब्रह्मज्ञान से कैवल्य या संघात से पृथग्भाव ही प्राप्त होता है, विश्वमायानिवृत्ति रूप आत्यन्तिक मोक्ष प्राप्त नहीं होता। उसकी प्राप्ति तो भक्तिमात्र से संभव है[4]।

---

१ 'अक्षरज्ञानस्य मुक्तिसाधनेषु प्रवेश:। मर्यादामार्गीयाणां पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता-सम्पादकत्वेन प्रवेश इत्यर्थ:' -- अणुभा० ३।३।३३ -- भा०प्र० ।

२(क) 'ब्रह्मभूतस्य भक्तिलाभोक्तेस्तस्य चानन्दाविर्भावात्मकत्वात्तस्यचाविद्यानाशजन्यत्वात्तस्य चाक्षर-ज्ञानजन्यत्वात् पूर्वकक्षाविश्रान्तमेवाक्षरज्ञानम्।' -- अणुभा० ३।३।३३

(ख) 'अक्षरब्रह्मज्ञानेनाविद्यानिवृत्त्या प्राकृतधर्मराहित्येन शुद्धत्वसम्पादनेन पुरुषोत्तमप्राप्तौ स्वरूपयोग्यता सम्पाद्यते। तादृशे जीवे स्वीयत्वेन वरणे भक्तिभावात् सहकारियोग्यतासम्पत्त्या पुरुषोत्तमप्राप्तिर्भवति इति निर्णीयते।'

-- अणुभा० १।१।११

३ द्रष्टव्य-- अणुभा० ३।३।३३

४ द्रष्टव्य-- त०दी०नि० १।३७

इसी प्रकार ब्र०सू० ३।३।३० के भाष्य में वल्लभ ने कृष्णसायुज्य को भी कृष्ण की प्रेमलक्षणाभक्ति से हीन ठहराया है । यद्यपि मोक्ष अथवा पुरुषोत्तम सायुज्य और भक्ति में 'श्रौतत्व' और भगवत्सम्बन्धित्व समान हैं तथापि मुमुक्षु की अपेक्षा रहस्यभजनकर्त्ता अर्थात् निर्हेतुक-भक्ति करने वाला श्रेष्ठ है । भक्त को स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप भगवत्स्वरूपात्मकअर्थ की स्वाधीनरूप से प्राप्ति होती है; अथवा भगवान् ही जिसका असाधारणधर्म अर्थात् लक्षण है, ऐसे उद्भट भक्तिभाव की प्राप्ति होती है । यह उद्भट भक्तिभाव स्वतः पुरुषार्थरूप है । जो भी अर्थ स्वीकार करें, उन्हें पुरुषोत्तमप्राप्ति होती है, यह निश्चित है[1]।

यद्यपि पुरुषोत्तम में प्रवेश होने पर भी उनके आनन्द का अनुभव होता है, किन्तु वे मोक्षप्राप्त जीव के अधीन नहीं रहते, प्रत्युत जीव ही उनसे नियमित होते हैं, क्योंकि भक्ति का तिरोभाव हो जाता है । इसके विपरीत भक्त को भगवान् की स्वाधीनरूप से प्राप्ति होती है, अर्थात् भगवान् ही भक्त के अधीन, उसके वशवर्ती होकर रहते हैं । इसलिये न्यूनार्थ की कामना करने वाले की अपेक्षा पूर्णार्थवान् निश्चय ही महान् हैं[2]।

इसके अतिरिक्त मोक्ष में तो स्वरूपमात्र की उपयोगिता होती है । भक्त अपनी समस्त इन्द्रियों और देह से भी भगवदानन्द का अनुभव करता है । मुक्तजीवों का तो माया से विनिर्मुक्त आत्मस्वरूपमात्र होता है, देहेन्द्रियादि नहीं होतीं, जिससे भजनानन्द का भी अनुभव हो सके । भक्तों की तो देहेन्द्रियादि भी होते हैं, जो माया और मायाकार्य अर्थात् त्रिगुण के स्पर्श से सर्वथा रहित और आनन्दाकार होने के कारण भगवदुपयोगी भी होते हैं, अर्थात् उनके द्वारा

---

१ "----- तथा च श्रौतत्वभगवत्सम्बन्धित्वयोरविशेषात् कतमो गरीयानिति संशये गूढाभिसन्धिः पठति । मुमुक्षोः सकाशाद्रहस्यभजनकर्तैवोपपन्नः । उपपत्तियुक्तः । ---- तल्लक्षणो भगवत्स्वरूपात्मको योऽर्थः । स्वतन्त्रपुरुषार्थरूपस्तदुपलब्धेः । स्वाधीनत्वेन तत्प्राप्तेरित्यर्थः । ------- अथवा स भगवानेव लक्षणमसाधारणो धर्मो यस्य स तल्लक्षण उद्भटभक्तिभावः स स्वार्थः स्वतन्त्रपुरुषार्थरूप इत्यर्थः पूर्ववत् ।"

-- अणुभा० ३।३।३०

२ "यद्यपि पुरुषोत्तमे प्रवेशे तदानन्दानुभवो भवति तथापि न प्रभोस्तदधीनत्वम् । भक्तितिरोभावात् । प्रत्युत वैपरीत्यम् । ---- तस्मान्न्यूनार्थजिघृक्षोः सकाशात् पूर्णार्थवान्महानिति युक्तमेवास्योपपन्नत्वम् ।"

-- अणुभा० ३।३।३०

भगवान् की सेवा-अभ्यर्थना[1] की जा सकती है । इसके विपरीत मुक्तात्माओं का भगवदुपयोगित्व नहीं होता ।

इस प्रकार वल्लभ ने अक्षरसायुज्य और पुरुषोत्तम सायुज्य की अपेक्षा श्रीकृष्ण की निष्काम भक्ति को ही महत्त्व दिया है । देहपात के अनन्तर यह भक्ति ही लीलारसानुभव में परिणत होती है । यह पुष्टिमार्गीय फल ही `फलभक्ति' के नाम से जाना जाता है । मर्यादा-मार्गीय साधकों की पुरुषोत्तमभक्ति भी इस फलभक्ति से अवर और हीन है । इस आलोचना का निष्कर्ष यही है कि पुष्टिमार्गियों को प्राप्त होने वाला `लीलाप्रवेश' या `भजनानन्द' ही सर्वोत्कृष्ट फल है ।

पुष्टिमार्गियों का यह फल नित्य और शाश्वत है। जिन्हें एक बार पुष्टिमार्गीय भगवद्भाव की प्राप्ति हो जाती है,उनके इस भाव का कभी तिरोभाव नहीं होता । इस भाव का कभी मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता । उक्तरूप भगवदीयत्व मुक्ति का साधन नहीं है,अपितु मुक्ति का भी फलरूप है --" मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायण: । सुदुर्लभ: प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ।।(श्रीमद्भा० ६।१४।५)" आदि वाक्यों से यही सिद्ध होता है । फल का साधन से उत्तम होना आवश्यक है; भगवदीयत्व से उत्तम और कोई अर्थ न होने से मुक्ति को भगव-दीयत्व का फल या भगवदीयत्व को मुक्ति का साधन नहीं समझना चाहिए[2] । इस प्रकार भगवदीयत्व ही परमार्थरूप है । इस भगवदीयत्व से ही पुरुषोत्तम की अहैतुकी भक्ति प्राप्त होती है । विषयविवेचन के समय भगवदीयत्व, भजनानन्द,लीलाप्रवेश आदि शब्दों का वल्लभ ने पर्यायवाची के रूप में प्रयोग किया है ।

इस परिच्छेद में वल्लभ के दर्शन में साध्य के स्वरूप पर विस्तार से विचार किया गया है । इस आलोचना के आधार पर वल्लभ के साध्य सम्बन्धी विचारों का संकलन इस रूप में किया जा सकता है : --

आचार्य वल्लभ वैष्णववेदान्त की परम्परा में है । वैष्णव चिन्तनधारा की यह विशेषता है कि वह भक्ति को मानव के सर्वोच्च साध्य के रूप में प्रतिष्ठित करती है । वल्लभ

---

१ "मुक्तानां तु मायाविनिर्मुक्तमात्मस्वरूपमेव, न तु देहेन्द्रियादिकमप्यस्ति येन भजनानन्दानुभव: स्यात् । भक्तानां तु देहेन्द्रियादिकमपि, मायातत्कार्यरहितत्वेनानन्दरूपत्वेन च भगवदुपयोज्यतोऽपि तत्त्वेत्यर्थ: । न हि मुक्तात्मनां कश्चन भगवदुपयोगोऽस्तीतिभाव: ।" अणुभा० ३।४।३८

२ द्रष्टव्य-- अणुभा० ३।४।३६।

भी भक्ति को ही सर्वोच्च साध्य घोषित करते हैं । परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की जो अहैतुकी और आत्यन्तिकी भक्ति है, वही जीव का प्राप्य और परम पुरुषार्थ है । भक्ति के अतिरिक्त वल्लभ ने अधिकारीभेद से कृष्णसायुज्य,अक्षर-सायुज्य और चतुर्विधमुक्तियों का भी कथन किया है ।

साध्यभक्ति अनुरागात्मिकाभक्ति है,जो श्रीकृष्ण में निरतिशयप्रेमरूप है । इसे ही वल्लभ मानसी सेवा कहते हैं । साध्यस्वरूपा प्रेमा भक्ति के विकास की तीन अवस्थाएं हैं-- प्रेम,आसक्ति और व्यसन । यह प्रेम की ही क्रमश: प्रगाढ़ होती हुई तीन स्थितियां हैं । वल्लभ ने व्यसन के पश्चात् `सर्वात्मभाव` की स्थिति स्वीकार की है । यह साध्य भक्ति की सर्वोच्चस्थिति है । व्यसनात्मिकाभक्ति जब अत्यन्त प्रगाढ़भाव धारण कर लेती है तो उसकी यह सान्द्र-अवस्था ही सर्वात्मभाव शब्द वाच्य होती है । सर्वात्मभाव पुरुषोत्तमप्राप्ति का साक्षात्कारण है,अर्थात् इसके और पुरुषोत्तमप्राप्ति के बीच कोई व्यवधान नहीं है । यह अहैतुकी प्रेमलक्षणा ही `निर्गुण-भक्तियोग` के नाम से जानी जाती है । यह पुष्टिमार्गीय भक्तों का एकमात्र काम्य है ।

जो ज्ञानमार्गीय हैं,और अक्षरब्रह्म की आत्मरूप से उपासना करते हैं, उन्हें अक्षरसायुज्य प्राप्त होता है । भक्तिमार्गीय भक्तों के दो भेद हैं । मर्यादामार्गीय और पुष्टिमार्गीय । इनमें से मर्यादामार्गीय भक्त साधनमार्ग का अनुसरण कर पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में मोचकत्वबुद्धि रखकर उनकी भक्ति करते हैं, निष्काम,निर्हेतुक भक्ति नहीं । इन्हें मोक्ष अर्थात् पुरुषोत्तमसायुज्य प्राप्त होता है । सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तियां भी इन्हें ही प्राप्त होती हैं । यदि भगवान् इनसे प्रसन्न हो जायें तो मोक्ष न देकर वैकुण्ठ में सेवोपयोगी देहादि भी प्रदान करते हैं । इस प्रकार मर्यादा-मार्गियों के ये तीन फल हैं ।

पुष्टिमार्गीयभक्त भक्तिमार्गीय सर्वश्रेष्ठ अधिकारी है । इनका पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण में निर्हेतुक प्रेम रहता है । इन्हें स्वर्ग-अपवर्ग किसी भी वस्तु की आकांक्षा नहीं होती; श्रीकृष्ण की निष्काम निर्हेतुक भक्ति ही इनका एकमात्र अभीष्ट है । इस भक्ति के समक्ष ये ज्ञानियों और मर्यादाभक्तों के द्वारा काम्य चतुर्विध मुक्तियों और सायुज्य को भी अस्वीकार कर देते हैं ।पुष्टि-मार्गियों की यह भक्ति `अलौकिक सामर्थ्य` में पर्यवसित होती है । `सेवाफलम्` में वल्लभ ने इस अलौकिक सामर्थ्य को ही पुष्टिमार्गियों का फल कहा है । अलौकिक सामर्थ्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की गोलोक में अहर्निश गतिमान् नित्यलीला में प्रवेश रूप है । भक्त भगवद्दत्त दिव्य विग्रह धारण कर लीला में प्रवेश करता है, और पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के आनन्द-रस का उपभोग करता है । इसे ही भजनानन्द,स्वरूपानन्द या जीव के दिव्य भोग का नाम दिया जाता है । इस तरह--

पुष्टिमार्गीय भक्त को साक्षात् पुरुषोत्तमस्वरूप की प्राप्ति होती है । पुष्टिजीवों का यह लीलाभोग लौकिक व्यापार रूप न होकर सर्वथा दिव्य और अलौकिक है । यह भोग नित्य और शाश्वत है तथा लीला से जीव की कभी संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती । इस लीलाभोग या भजनानन्द का कभी मुक्ति में पर्यवसान नहीं होता,क्योंकि यह स्वयं मुक्ति की अपेक्षा कहीं अधिक श्रेष्ठ है ।

वल्लभ ने इसे सर्वोत्कृष्ट फल बताया है । इस दुर्लभफल के अधिकारी पुष्टिजीव ही हैं, जो भगवान् के अतिशय अनुग्रह के पात्र हैं । मोक्ष अर्थात् ज्ञानियों का अक्षरसायुज्य, और मर्यादाभक्तों का पुरुषोत्तमसायुज्य भी भजनानन्द या लीलाभोग के समक्ष हेय और तुच्छ है ।

इस प्रकार वाल्लभदर्शन में ज्ञानियों और भक्तों की कोटियों के आग्रह से अनेक फल स्वीकार किये गये हैं,किन्तु मुख्य फल पुरुषोत्तम की अहैतुकी भक्ति और उसके फलस्वरूप साक्षात्पुरुषोत्तमस्वरूप की प्राप्ति ही है । वल्लभ द्वारा प्रतिपादित पुष्टिमार्ग में तो यही एकमात्र फल है+ है ।

अब, परिच्छेद के अन्त में वल्लभ के पूर्वोक्त सिद्धान्तों का एक मूल्यांकन प्रस्तुत किया जा रहा है । इसके अन्तर्गत उनके कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्तों का स्पष्टीकरण तथा कुछ विशिष्ट मान्यताओं की समीक्षा की जा रही है ।

आचार्य वल्लभ के द्वारा उपस्थापित साध्य समुदाय के स्वरूपानुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि उन्होंने आध्यात्मिक साधना के दो लक्ष्य रखे हैं-- मुक्ति और भक्ति। इनमें से निश्चय ही भक्ति मुक्ति से श्रेष्ठ है और आध्यात्मिक उपलब्धि के शिखर पर आसीन है । मुक्ति के अन्तर्गत अक्षर-सायुज्य और पुरुषोत्तम सायुज्य का ग्रहण होता है,जो निश्चय ही पुरुषोत्तम की अहैतुकी भक्ति से हीन हैं ।

वल्लभ के द्वारा स्पष्टरूप से दो ही साधनामार्गों को मान्यता मिली है--भक्तिमार्ग और ज्ञानमार्ग । भक्तिमार्ग का लक्ष्य पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण हैं,और ज्ञानमार्ग का लक्ष्य उनकी ही एक अवर अभिव्यक्ति अक्षरब्रह्म है । उपायभेद मानने पर उपेयभेद मानना भी आवश्यक है । वल्लभ ने ज्ञानमार्ग को मान्यता तो दी है, किन्तु उनके सिद्धान्त में उसकी वह स्थिति और महत्व नहीं है, जो भक्तिमार्ग का है । उन्होंने अनेकशः यह बात कही है कि ईश्वरप्राप्ति का सर्वोत्कृष्ट उपाय भक्ति ही है; और तो और यह भक्ति स्वयं साध्यस्वरूपा है और जीव का परमपुरुषार्थ है । उनकी यही प्रवृत्ति साध्य-व्यवस्था में भी परिलक्षित होती है । ज्ञानमार्ग का लक्ष्य भक्ति-मार्ग के लक्ष्य की अपेक्षा हीन है । ज्ञान के द्वारा जिस अक्षरब्रह्म की प्राप्ति होती है, वह गणितानन्द और सृष्टीच्छाव्यापृत है, तथा परब्रह्म पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण का चरणस्थानीय और

धामरूप है । इसके विपरीत भक्तिमार्ग का लक्ष्य अगणितानन्द परब्रह्म साक्षात्पुरुषोत्तम ही हैं। इसीलिये अक्षरोपासकों तथा मर्यादाभक्तों में मुमुक्षुत्व समान होने पर भी अक्षरोपासकों अर्थात् ज्ञानमार्गियों को अक्षरसायुज्य तथा मर्यादाभक्तों को कृष्ण-सायुज्य की प्राप्ति होती है । इस प्रकार साध्य-व्यवस्था के अन्तर्गत वल्लभ ने भक्ति की सर्वातिशायी महत्ता की पुष्कल घोषणा कर दी है ।

वल्लभ ने अक्षरसायुज्य और पुरुषोत्तम सायुज्य को मोक्ष फल कहा है तथा इनके अधिकारियों को मुमुक्षु कहते हुए पुष्टिमार्गीय भक्तों से इनका भेद प्रदर्शित किया है । यहां `मोक्ष` का अर्थ स्पष्ट करना आवश्यक है । वाल्लभदर्शन में मोक्ष का अर्थ जीव-ब्रह्म का एकीभाव अथवा परम अद्वैतरूपा मुक्ति नहीं है । वल्लभ मोक्ष का वह अर्थ स्वीकार ही नहीं करते हैं, जो अर्थ जीव और ब्रह्म में वास्तविक अभेद स्वीकार करने वाले शंकर अथवा भास्कर करते हैं । उनके अनुसार मोक्ष जीवब्रह्मैक्य रूप न होकर कैवल्यरूप है । यह धारणा भी वैष्णव-चिन्तन की एक विशेष प्रवृत्ति है । मुक्तावस्था में जीव को प्रकृति अथवा अविद्या से रहित अपने आत्मस्वरूप का ज्ञान हो जाता है । इसे ही जीव का स्वरूपलाभ कहते हैं । अपने `तत्त्वदीपनिबन्ध` नामक ग्रन्थ में वल्लभ ने लिखा है--

> "विद्याऽविद्यानाशे तु जीवो मुक्तो भविष्यति ।
> देहेन्द्रियासवः सर्वे निरध्यस्ता भवन्ति हि ।।"
>
> (त०दी०नि० १।३७)

अविद्यानिवृत्ति होने पर मुक्त जीवों के `संसार` का नाश हो जाता है । वल्लभ की यह विशिष्ट मान्यता है,कि संसार और प्रपंच परस्पर भिन्न हैं । प्रपंच अथवा जगत् भगवान् का वास्तविक परि-णाम होने से सत्य और वस्तुभूत है । जिसे आविद्यक या मायिक कहा जाता है, वह संसार है । यह वास्तविक प्रपंच के ऊपर अध्यारोपित है और जीव की अविद्या का कार्य है । यह संसार विषयासक्ति अथवा अहन्ता-ममताबुद्धिरूप है । विद्या के द्वारा अविद्या का नाश हो जाने पर यह संसार नष्ट हो जाता है तथा जीव मुक्त कहलाता है । देहपात के अनन्तर जीव प्रपंच के अंगभूत देहादिसंघात से भी अलग हो जाता है । इस प्रकार मोक्ष का अर्थ है अविद्यारहित आत्मावस्थिति अर्थात् कैवल्य और संघात से पृथग्भाव । अक्षरसायुज्य तथा पुरुषोत्तम सायुज्य दोनों ही उक्त अपेक्षाएं पूरी करते हैं, अतः उन्हें `मोक्ष`-- इस सामान्य संज्ञा से अभिहित किया जाता है ।

एक विशेष बात यह भी है कि सायुज्य मुक्ति लयात्मक तो है,किन्तु अभेदात्मक नहीं है; यद्यपि श्रीमद्भागवत में जहां सायुज्य का कथन किया गया है, वहां उसे एकत्व रूप ही कहा गया है--

> "सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
> दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः ।" (श्रीमद्भा०३।२९।१३)

इस लोक में कही गई मुक्तियों का अर्थ बतलाते हुए वल्लभ भी सायुज्य का एकत्व रूप होना स्वीकार करते हैं, तथा उसे परम फल कहते हैं--"सालोक्यं वैकुण्ठेवास:, सार्ष्टि:समानैश्वर्यम्, सामीप्यं भगवत्समीपे स्थिति:, सालोक्येऽप्ययं विशेष:, सारूप्यं स्वस्यापि चतुर्भुजत्वम् , एकत्वं सायुज्यम् । उतेति तस्य मुख्यफलत्वं ज्ञापयति ।" (श्रीमद्भा०११।२९।१३ -- सुबो०) ।

इस प्रकार सायुज्य का अभेदरूप होना सिद्ध है,किन्तु वल्लभ की अद्वैत सम्बन्धी मान्यताएं तथा उनके मत में स्वीकृत जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध कुछ ऐसा है कि सायुज्य का अभेदरूपत्व वैसा नहीं हो सकता,जैसा अभेद शंकर को मान्य है । सायुज्य का स्वरूप समझने के लिए मुक्तावस्था में जीव की स्थिति पर विचार करना आवश्यक है । यों भी यह सर्वाधिक विचारणीय प्रश्न है कि सायुज्य प्राप्ति या भगवत्प्राप्ति के समय जीव क्या स्थिति रहती है ।

वल्लभाचार्य ने अक्षरसायुज्य,पुरुषोत्तमसायुज्य और नित्यलीलाप्रवेश ये तीन फल स्वीकार किये हैं । इस परिच्छेद में इनका जो स्वरूपविवेचन किया गया है, उससे स्पष्ट है कि इनमें जीव की स्थिति क्या है । इस विषय में सबसे पहिली बात जो जानने की है, वह यह है कि वल्लभ का अद्वैत भक्तिसमन्वित अद्वैत है । भक्ति के लिये द्वैत आवश्यक है,अन्यथा उपास्योपासक भाव ही सम्भव नहीं होगा, अत: भक्ति से प्रभावित अद्वैत आत्यन्तिक-अभेद रूप से यह तो सम्भव ही नहीं है । जीव ब्रह्म का अंश है,और ब्रह्म अंशी है; जीव खण्ड है और ब्रह्मपूर्ण है । अंशी का स्वभाव अंश में, और पूर्ण का स्वभाव खण्ड में निश्चितरूप से अनुवर्तित होता है, इसलिये जीव ब्रह्म-स्वभाव या ब्रह्मात्मक है,किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि जीव ही ब्रह्म है । जीव प्रत्येक अवस्था में ब्रह्म से हीन है और उनका सेवक है । अन्य वैष्णवदार्शनिकों की भांति वल्लभ भी जीव और ब्रह्म में आत्यन्तिक अभेद स्वीकार नहीं करते । जीव और ब्रह्म का अभेद अंशांशिभाव पर आधारित है,अत: वल्लभ उसे ब्रह्मात्मक या तदात्मक कहते हुए भी ब्रह्म से उसका तादात्म्य स्वीकार नहीं करते ।अद्वैत की ऐसी मान्यता के आधार पर वल्लभ जीव और ब्रह्म के मध्य प्रत्येक स्तर पर इतना अन्तर अवश्य स्वीकार करते हैं कि भक्ति के लिए अवकाश निकल आये । चाहे सायुज्य हो चाहे लीलाप्रवेश, उसमें अद्वैत की पूर्ण अभिव्यक्ति के साथ,चाहे जितनी भी हल्की हो, अन्तर की एक सूक्ष्मरेखा अवश्य विद्यमान रहती है,जो एकात्मता की निविड़ अनुभूति में भी भक्त और भगवान् की वैयक्तिकता सुरक्षित रखती है । इसलिये वल्लभ कहते हैं कि "आत्मा का ब्रह्मरूप से ज्ञान नहीं,अपितु ब्रह्म का आत्मरूप से ज्ञान ही मोक्ष का साधन है ।"[1] बात कहने की यह भंगिमा सिद्धान्त में मौलिक अंतर

---

१ "---- तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्य: पन्था विद्यतेऽयनायेति श्रुत्या ब्रह्मत्वेन ज्ञानं ह्यात्मनो मोक्षाय । ब्रह्म एव तु ज्ञानमात्मत्वेनापि ।" -- अणुभा० १।३।१५

ला देती है । वल्लम स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि परममुक्तिदशा में मी जीवों की मगवन्नियम्यता समाप्त नहीं होती --" --- तेन परममुक्तिदशायामैक्याभिव्यक्तावपि पुरुषस्य स्वांगेष्विव मगवतो जीवेषु नियम्यता न विरुद्ध्यते"[१] ।

जीव और ब्रह्म के इस सम्बन्ध के परिप्रेक्ष्य में सायुज्य को सर्वथा अमेदरूप नहीं माना जा सकता । वल्लम ने सामान्यरूप से ज्ञानियों का फल अक्षरसायुज्य कहा है, और मर्यादामक्तों का पुरुषोत्तमसायुज्य; किन्तु मगवान् की कृपा होती वे इस नियम को मंग कर ज्ञानियों को मगवत्सायुज्य और मर्यादामक्तों को लीलारसानुमव मी प्रदान कर देते हैं । इसलिये मर्यादामक्तों का फल वैकुण्ठादि में मगवत्सेवोपयोगी देहादि की प्राप्ति मी कहा गया है । यदि जीव और ब्रह्म में आत्यन्तिक मेद स्वीकार करेंगे तो जीव की ये विमिन्न गतियां कैसे उपपन्न होंगी ।

सायुज्य को अमेदरूप स्वीकार करने में एक अनुपपत्ति और है; वह है सायुज्यप्राप्त मक्तों को मगवान् के स्वरूपानन्द का अनुमव होना । ब्र०सू०३।४।३८ का माष्य इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। वहां वल्लम कहते हैं कि सायुज्यप्राप्त मक्तों का तो माया से विनिर्मुक्त आत्मस्वरूप मात्र होता है, जिससे वे स्वरूपमात्र से मगवदानन्द का अनुमव कर पाते हैं; देहेन्द्रियादि के अमाव में उन्हें मजनानन्द का अनुमव नहीं होता । पुष्टिमक्तों का मगवदुपयोगी दिव्य विग्रह मी होता है, जिससे वे मजनानन्द या लीला-रस का अनुमव करते हैं,अत: पुष्टिमक्त सायुज्यप्राप्त मक्तों से श्रेष्ठ हैं । त०दी०नि० में मी वल्लम ने यही बात बहुत स्पष्ट शब्दों में कही है--

"ब्रह्मानन्दे प्रविष्टानामात्मनैव सुखप्रमा ।
संघातस्य विलीनत्वाद्, मक्तानां तु विशेषत: ।।
सर्वेन्द्रियैस्तथा चान्त:करणैरात्मनापि हि ।
-----------------------------------।। (त०दी०नि०१।५३, ५४)

इसप्रकार यह सिद्ध है कि सायुज्यप्राप्त मक्त और मगवदानन्द में अनुमविता और अनुमवनीय का सम्बन्ध है । आत्यन्तिक अमेद होने पर यह सम्बन्ध उपपन्न नहीं होता । यह आनन्दानुमव शंकर द्वारा मान्य आनन्दानुमव से निश्चितरूप से मिन्न है, क्योंकि यहां वेदनकर्त्ता को स्वयं से विविक्तरूपमें वेदन-विषयपुरुषोत्तम का अनुमव होता है । पुष्टिमक्त का मर्यादामक्त से यही अन्तर है कि वह दिव्य शरीरेन्द्रिय से सम्पन्न होकर साकाररूप से इस आनन्द का अनुमव कर सकता है ।

---

१ " द्रष्टव्य -- अणुमा० २।३।५३ --मा०प्र०

इच्छा होने पर भगवान् स्वयं में निरुद्ध मर्यादाभक्त का भी लीला में आविर्भाव कर लेते हैं । इस प्रकार सायुज्यावस्था में जीव व परब्रह्म पुरुषोत्तम में लीन अवश्य रहता है,किन्तु उनसे अभिन्न नहीं होता । ऐसा स्वीकार करने पर तो सिद्धान्तभंग का प्रसंग उपस्थित हो जायेगा ।विचार करने पर ज्ञात होता है कि यह वही स्थिति है जो रामानुजाभिमत मोक्ष में जीव की होती है । रामानुज के अनुसार मुक्त जीव ब्रह्म में लीन होकर भी सर्वथा ब्रह्म नहीं हो जाता । वह विशेष्य ब्रह्म के अपृथग्सिद्ध विशेषण के रूप में उसपर आवृत हो, उससे अविभक्तरूप में वर्तमान रहता है । शरीर और आत्मा की भांति जीव और ब्रह्म का भी आत्यन्तिक अभेद सम्भव नहीं है । अनेकानेक श्रुतिसूत्रों के द्वारा ब्रह्म का जीव से भेद और श्रेष्ठता सिद्ध होती है । मुक्तावस्था में `ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति` इत्यादि श्रुतियों में जीव का ब्रह्म से जो अभेदकथन है, वह जीव के धर्मभूत ज्ञान के आधार पर है,जिसका मुक्तावस्था में अपरिच्छिन्न और पूर्णप्रकाशन हो जाता है । चिदचित् का ब्रह्मरूपत्व केवल इस दृष्टि से है कि ब्रह्म उनका आत्मभूत है और अन्तर्यामीरूप से उनमें प्रविष्ट होकर उनका नियमन करता है । इस प्रकार रामानुज के मत में जीव और ब्रह्म का सर्वथा ऐक्य सम्भव नहीं है । वे मुक्तावस्था में जीव की ब्रह्म से भिन्न किन्तु अपृथक्स्थिति स्वीकार करते हैं, जिसे वे `नित्य-सन्निधि` का नाम देते हैं ।[१] `सन्निधि` यह शब्द ही सर्वथा-ऐक्य के अभाव को सूचित करता है । रामानुज की भांति वल्लभ भी परममुक्तिदशा में जीव की वैयक्तिक सत्ता को सुरक्षित रखते हैं, तथा ब्रह्म के साथ उसके सर्वथा अभेद का निषेध करते हैं ।

भजनानन्द प्राप्त पुष्टिभक्तों के सन्दर्भ में तो यह बात और भी स्पष्टरूप से सामने आ जाती है । वल्लभ स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि स्वयं और ब्रह्म में जो अभेद बुद्धि है,वह भजनानन्द में अन्तरायभूत हैं,अत: भगवान् जिस जीव को पुष्टिमार्ग में स्वीयरूप से अंगीभूत करते हैं,उसे अभेदज्ञान नहीं देते । इस प्रकार भक्तिमार्गीय को पूर्णदशा में भी जीवब्रह्माभेदबुद्धि प्राप्त नहीं होती । यहां `अभेदबुद्धि` का अर्थ `जीव और ब्रह्म का सर्वथा ऐक्य` है, इससे यह नहीं समझना चाहिये कि वल्लभ अद्वैत का खण्डन कर रहे हैं । भक्त को `मैं ही ब्रह्म हूं` ऐसा ज्ञान नहीं होता, अन्यथा अपनी ब्रह्मात्मकता तो वह पहिचानता ही है ।

पुष्टिमार्गीयभक्त जो न केवल भक्तिमार्ग,अपितु आध्यात्मिक साधना के सर्वश्रेष्ठ अधिकारी हैं, वे भी अलौकिक विग्रह सम्पन्न होकर गोलोक में अहर्निश गतिमान् भगवल्लीला में दास, दासी या सुहृत् रूप से उपस्थित रहते हैं और भगवान् के स्वरूपानन्द का भोग करते हैं । इसप्रकार भक्त को भगवान् की अनुभूति सदैव अपने आराध्य या उपास्यरूप में ही होती है,मुक्तावस्था में भी (वल्लभ सर्वत्र अक्षर को `ब्रह्म` और पुरुषोत्तम को `पर` अथवा `परब्रह्म` कहते हैं । दोनों का अन्तर स्पष्ट करने के लिए वे प्राय: पुरुषोत्तम के लिये केवल `पर` का प्रयोग करते हैं और

अक्षर के लिये 'ब्रह्म' का । इसी दृष्टि से अक्षरानन्द को ब्रह्मानन्द कहा गया है)। ज्ञानियों को अक्षर सायुज्य प्राप्त होता है, पर यह अक्षरसायुज्य भी सर्वथा अभेदरूप नहीं माना जा सकता । भगवान् चाहें तो इन्हें भी अपनी भक्ति प्रदान कर सकते हैं -- यह बात इसका विरोध करती है । जब तक इनमें पृथगाविर्भाव की योग्यता है, और इनमें ब्रह्मानुभूति की सम्वेदना और उसका कर्तृत्व विद्यमान है, तब तक इनकी स्थिति में भी रामानुजाभिमत जीव की ब्रह्म के साथ नित्यसन्निधिरूप है, अभेदात्मक मोक्ष की नहीं । और फिर यह अक्षर भी पुरुषोत्तम कृष्ण की ही अभिव्यक्ति है, उनसे तत्वत: भिन्न कुछ नहीं है । तब यदि अक्षर और जीव में सर्वथा अभेद स्वीकार कर लेंगे तो यह भी तो सिद्धान्त का खण्डन ही होगा ।

वल्लभाचार्य कभी-कभी परस्पर विरुद्ध बातें भी कह जाते हैं । यदि उनमें स्पष्ट विरोध नहीं होता तो स्पष्ट संगति भी नहीं होती । ऐसी परिस्थिति में समस्त सिद्धांत के परिप्रेक्ष्य या सन्दर्भ में ही अर्थसंयोजना करनी पड़ती है । वल्लभ ने सायुज्य का जो एकत्व अर्थ किया है, उसका अर्थ केवल भगवत्स्वरूप में लय ही स्वीकार किया जाना चाहिये ।

इस विवेचन से मुक्तावस्था में जीव की स्थिति से स्पष्ट है । जीव का कभी ब्रह्म में आत्यन्तिक लय या अभेदनहीं होता । जीव में ब्रह्म के ऐश्वर्यादि षड्गुणों का आविर्भाव होने पर भी वह ब्रह्म के समान नहीं हो सकता। जीव ब्रह्म से पृथक् रहकर उनके आनन्द का अनुभव करते हैं, चाहे ब्रह्मानन्द या अक्षरानन्द के रूप में करें, चाहे पुरुषोत्तमानन्द के रूप में, चाहे भजनानन्द के रूप में । भगवदात्मैक्य की निबिड और आत्मविस्मृत अनुभूति में भी उपास्योपासक भाव और भगवदाराधन के लिये जितने द्वैत की अपेक्षा है, उतना द्वैत वल्लभ को अद्वैत के स्वरूप में भी स्वीकृत है । वल्लभ को स्वीकृत अद्वैत की धारणा पर तृतीय परिच्छेद में ब्रह्मस्वरूप के अन्तर्गत विस्तार से विचार किया जा चुका है ।

यों वल्लभ ने भागवत में कही गई सालोक्यादि चतुर्विध मुक्तियों का भी मर्यादाभक्तों के सन्दर्भ में कथन किया है, किन्तु सिद्धान्तविवेचन में उन्हें स्थान नहीं दिया है । 'सालोक्यसार्ष्टि ---' श्लोक की व्याख्या करते समय जितना कुछ कहा है, बस उतना ही कहा है ।

वल्लभ ने अणुभाष्य में क्रममुक्ति और सद्योमुक्ति के क्रम पर बहुत विस्तारपूर्वक चर्चा की है, किन्तु जीवन्मुक्ति पर अपने विचार प्रकट नहीं किये हैं । अणुभाष्य में तो जीवन्मुक्ति के विषय में कुछ कहा ही नहीं गया, 'तत्वदीपनिबन्ध' में अवश्य वल्लभ ने जीवन्मुक्ति का उल्लेख किया है । प्रमेयप्रकरण के ३१ वें तथा ६१ और ६२ वें श्लोक में जीवन्मुक्ति का कथन है, किन्तु दोनों ही स्थलों पर उसका उल्लेख स्वपक्षस्थापन के लिये न होकर मायावाद के निराकरण के प्रसंग में किया है । एक बार प्रतिबिम्ब प्रपंच के मिथ्यात्व के निराकरण के लिये और एक बार

---

१ विस्तार के लिये द्रष्टव्य १।३७ और १।६१,६२ और इन पर 'प्रकाश'

जीव के प्रतिबिम्ब रूपत्व के निराकरण के लिये । इन स्थलों पर वल्लभ ने प्रपंचमिथ्यात्व और जीवप्रतिबिम्बत्व की जीवन्मुक्ति से विसंगति दिखलाई है । स्वाभिमत सिद्धान्त के रूप में वल्लभ ने कहीं भी जीवन्मुक्ति को प्रस्तुत नहीं किया, न ही उनके किसी शिष्य या सम्प्रदायवित् ने वल्लभ के द्वारा स्वीकृत सिद्धान्तों में जीवन्मुक्ति की गणना की है । इतनी तो मुक्ति की बात हुई, जहां तक भक्ति का प्रश्न है, वह निश्चय ही मुक्ति से श्रेष्ठ है ।

वल्लभ श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति को स्वर्ग-अपवर्ग से भी श्रेष्ठ स्वीकार करते हैं,लौकिक भोगों की तो बात ही क्या है । प्रस्तुत प्रबन्ध के साधन और साध्य परिच्छेदों में मुख्य विवेच्य विषय भक्ति ही रहा है । वल्लभ ने भक्ति के अंकुरण या उसके सूक्ष्मबीज से प्रारम्भ कर पुष्टि-मार्गीय भक्तों को प्राप्त होने वाले भजनानन्द तक भक्ति विकास का सूक्ष्म विश्लेषण प्रस्तुत किया है । यह भक्ति निश्चितरूप से पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के ही प्रति होनी चाहिये, अन्य किसी के प्रति नहीं । इस भक्ति के द्वारा भक्त को वह प्राप्त होता है,जो अन्य किसी साधन के द्वारा प्राप्य नहीं है, अर्थात् अखिलविश्वात्मा पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण । यह पुरुषोत्तमप्राप्ति सर्वोत्कृष्ट-फल है, अन्य किसी फल की इससे कोई तुलना ही नहीं है ।

पुरुषोत्तमप्राप्ति हो जाने पर भक्तिभाव समाप्त हो जाता है, ऐसी बात भी नहीं है । नित्यलीला में प्रवेश पा लेने के पश्चात् भी भक्त भगवान् को अपने आराध्यरूप में ही देखता है,उनकी आराधना करता है । भक्ति की अर्थमीमांसा करते हुए पिछले परिच्छेद में और इस परिच्छेद में भी यह बताया जा चुका है कि भक्ति का अर्थ है `प्रेमपूर्विका सेवा` । वल्लभ ने भगवत्सेवा को ही परमपुरुषार्थ स्वीकार किया है । भक्ति में सेवा की यह धारणा उन्होंने लीलाप्रवेश रूप अन्तिम फल में भी अक्षुण्ण रख रखी है । भगवदुपयोगी देहादि की प्राप्ति का यही प्रयोजन ही है । इसीलिये वल्लभ ने लीलारसानुभव रूप पुष्टिफल को `भजनानन्द` की संज्ञा दी है । पुष्टिमार्गियों का मर्यादामार्गियों और ज्ञानियों से यही तो आधिक्य है कि उन्हें भगवान् के दर्शन,आलिंगन आदि का सौभाग्य प्राप्त होता है; उनके साक्षात् स्वरूप की सेवा का अधिकार-मिलता है ।

इन प्रमुख विशेषताओं के अतिरिक्त अन्य भी कुछ छोटी-छोटी बातें या विशेषतायें ही कह लीजिए, वल्लभ के साध्य सम्बन्धी विचारों के अनुशीलन पर सामने आती हैं ।

पिछले परिच्छेद में भक्ति के मनोविज्ञान पर विचार करते समय यह देखा जा चुका है कि भक्ति का लक्ष्य है,मानवीय चेतना के स्थूल से स्थूल स्तर पर भी सत्य की अनुभूति कराना । ऐसी अनुभूति जिसके माध्यम से विभिन्न सम्वेदनाओं में बंटी मानवीय चेतना को एकरूपता मिल सके

और उसे उदात्त बनाया जा सके । इसी प्रवृत्ति से प्रेरित होकर भक्ति ने मानव के भौतिक अस्तित्व को उपेक्षित नहीं किया, तथा देहेन्द्रिय की वृत्तियों को ईश्वरीय चेतना से अनुप्राणित कर उन्हें भी भगवत्प्राप्ति में सहायक बना दिया ।

लीला में प्रवेश होने पर वल्लभ ने जीव के जिस सम्पूर्ण व्यक्तित्व की परिकल्पना की है, वह भक्ति की इसी प्रवृत्ति का प्रतीक है । वहां भी जीव का दिव्य शरीर होता है, दिव्य इन्द्रियां होतीहैं, दिव्य अन्त:करण होता है । ये सब प्राकृतिक गुणों से सर्वथा परे आनन्दाकार होते हैं । इनके माध्यम से जीव पुरुषोत्तम के आनन्द का उसकी समग्रता में सम्पूर्ण भावतीव्रता के साथ ग्रहण करता है । गोलोक में होने वाली लीला का वर्णन भले ही कुछ लोगों को कपोल कल्पना लगे,किन्तु यह इस बात का प्रतीक है कि मानव के व्यक्तित्व का कोई पक्ष हेय और त्याज्य नहीं है,भगवत्प्रेम के संस्पर्श से व्यक्ति का भौतिक अस्तित्व भी सत्यस्फूर्त हो सकता है और ईश्वर के अनुभव का माध्यम बन सकता है ।
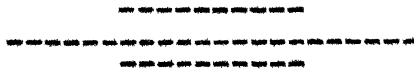
नवम परिच्छेद

उपसंहार

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के पिछले परिच्छेदों में आचार्य वल्लभ के दार्शनिक सिद्धान्तों की समीक्षात्मक आलोचना प्रस्तुत की गई है। वल्लभ की पृष्ठभूमि तथा उनके मनोविज्ञान के परिप्रेक्ष्य में उनकी मान्यताओं को समझने की चेष्टा की गई है, और उनके सिद्धान्तों को यथासम्भव सुसम्बद्ध और सुलझे हुए रूप में रखा गया है। वल्लभ के दर्शन के आलोचनात्मक अध्ययन और उनकी चिन्तनप्रक्रिया के अनुशीलन के पश्चात् हम इस स्थिति में आ जाते हैं कि उनके दर्शन के आधारभुत मुल्यों तथा स्वभावगत विशिष्टताओं का निर्धारण कर सकें।

वल्लभ के दर्शन की प्रमुख विशेषताएं वे ही हैं,जो वैष्णवदर्शन या वैष्णव-वेदान्त की सर्वसामान्य मूलभूत प्रवृत्तियां हैं। वाल्लभदर्शन का अध्ययन करते समय जो दो बातें बहुत स्पष्टरूप से सामने आती हैं, वे हैं-- ब्रह्म का सविशेषत्व और सृष्टि की सत्यता। वस्तुत: इन्हीं दोनों बातों के परिप्रेक्ष्य में वल्लभ के सिद्धान्त का रूप निश्चित हुआ है।

वैष्णवदर्शन की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि उसमें धर्म और दर्शन की विभाजक-रेखा अत्यन्त धूमिल और निश्शेषप्राय हो चुकी है तथा दोनों के आदर्श अलग-अलग न रहकर एक हो गये हैं। वैष्णववेदान्त में तो ब्रह्म का एक विशिष्ट व्यक्तित्व ही बन गया है और वह पुर्णरूप से `ईश्वर` के पद पर अधिष्ठित हो गया है। शंकराचार्य के बाद के जितने वेदान्तसम्प्रदाय हैं,उनका शंकर से सबसे बड़ा मतभेद यही है कि वे सब ब्रह्म को सविशेष स्वीकार करते हैं तथा सृष्टि की सत्यता प्रतिपादित करते हैं। ब्रह्म के ईश्वरत्व और सृष्टि के सत्यत्व की इन दो धारणाओं के कारण परवर्ती वेदान्तसम्प्रदायों की दार्शनिक मान्यताएं शंकर से बहुत भिन्न हो गई। सभी वैष्णवआचार्यों के सर्वाधिक प्रबल प्रतिपक्षी शंकर ही हैं और वे सब एकस्वर से शंकर के इस सिद्धान्त का खण्डन करते हैं कि ब्रह्म सर्वथा निर्द्धर्मक और निर्विशेष है, तथा सृष्टि एक मायाजनित भ्रम है।

इस प्रकार वैष्णवदर्शन,तदनुसार वाल्लभदर्शन की जो सबसे पहिली विशेषता सामने आती है, वह है सिद्धान्त की सविशेषवस्तुवादिता अथवा ब्रह्म का सधर्मकत्व।

उपनिषदों में ब्रह्म का द्विविधवर्णन प्राप्त होता है-- कहीं उसे निर्विशेष,निर्गुण कहा गया है, तो कहीं सविशेष और सगुण। वस्तुत: उपनिषद् भी मंत्रसंहिताओं की भांति संकलित रचनाएं हैं और उनमें सत्य की अनेक परिभाषाएं,अनेक धारणाएं प्रस्तुत की गई हैं,उसके अनेक रूप,अनेक पार्श्व उद्घाटित हुए हैं। यदि उपनिषदों को विभिन्न ऋषियों की रचनाएं मानकर इन्हें परस्पर भिन्न और स्वतन्त्र मतों का प्रतिपादक स्वीकार कर लें तब तो उनकी अर्थ-मीमांसा और अर्थसंयोजना में कोई कठिनाई ही न हो; परन्तु भारतीयपरम्परा उन्हें एक ही

संगठित और संश्लिष्ट सिद्धान्त का प्रतिपादक मानती है । ऐसी स्थिति में उनके परस्पर विरुद्ध से प्रतीत होने वाले कथनों में सामंजस्य स्थापित करना और किसी एक ही सिद्धान्त के सन्दर्भ में उनका समुचित अर्थान्वयन करना प्रत्येक दार्शनिक के लिये एक महत्त्वपूर्ण समस्या रही है और सभी ने इसे अपने-अपने ढंग से सुलझाया भी है ।

शंकर ने इस समस्या का जो समाधान प्रस्तुत किया है,वह बड़ा अनोखा है; उन्होंने श्रुतियों की व्याख्या उन्हें चिन्तन के दो स्तरों पर विभाजित करके की है । उन्होंने सगुण श्रुतियों को उपासनापरक और सविशेष `अपर` ब्रह्मवाचक माना है तथा निर्गुण श्रुतियों को वस्तुपरक और निर्विशेष `पर` ब्रह्म का प्रतिपादक स्वीकार किया है । व्यवहार और परमार्थ का अन्तर न स्वीकार करने वाले वैष्णव-आचार्यों की दृष्टि शंकर से भिन्न रही है । उन्होंने निर्गुण और सगुण श्रुतियों का ब्रह्म के विषय में समान प्रामाण्य स्वीकार किया है तथा उनमें गौण-मुख्य का कोई भेद नहीं किया है । वल्लभ भी इसी परम्परा के आचार्य हैं,अत: वे भी सगुण और निर्गुण श्रुतियों को ब्रह्म की साक्षात्प्रतिपादिका स्वीकार करते हैं ।

वल्लभ ने सिद्धान्त-प्रतिपादन में श्रुति को बहुत महत्त्व दिया है । ब्रह्म के विषय में वे श्रुति का सर्वोच्च प्रामाण्य स्वीकार करते हैं । ब्रह्म `अलौकिकप्रमेय` है और उसे केवल श्रुति के ही माध्यम से जाना जा सकता है,उसके स्वरूप में तर्कबुद्धि के लिये कोई अवकाश नहीं है--`अलौकिका हि ये भावान्तांस्तर्केण योजयेत्`[१] । ब्रह्म का स्वरूप वैसा ही स्वीकार करना चाहिये, जैसा श्रुति में प्रतिपादित है । यदि श्रुति ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों रूपों में प्रतिपादित करती है,तो उसे सगुण-निर्गुण ही स्वीकार किया जाना चाहिये । वल्लभ `निर्गुण` शब्द को एक विशिष्ट अर्थ में स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार निर्विशेष श्रुतियों के द्वारा ब्रह्म के स्वरूप में जो धर्मों का निषेध किया गया है, वह लौकिक और प्राकृत गुणों का ही निषेध है,अलौकिक,अप्राकृत गुणों का नहीं । सविशेष श्रुतियां भी विशुद्ध ब्रह्म का ही विवेचन करती हैं और उसे असंख्य अप्राकृत दिव्यगुणों का आगार कहती हैं । इस प्रकार श्रुति के आग्रह से ब्रह्म को सविशेष ही स्वीकार करना चाहिए ।

वल्लभ के ब्रह्म की एक बहुत बड़ी विशेषता है, उसका `विरुद्धधर्माश्रयत्व` । श्रुति `अणोरणीयान् महतो महीयान्` इत्यादि से ब्रह्म में विरुद्ध धर्मों का कथन करती है । ब्रह्म का

---

१ (क) `तस्मात्प्रमाणमेवानुसर्तव्यम् । न युक्ति: । युक्तिगम्या त्वब्रह्मविधैव ।

(ख) `ब्रह्मणुनयादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्; अणुभाष्येऽन्यथाकल्पनेऽपि दोष: स्यात् ।

--अणुभा०१।१।१

स्वरूप इतना विशाल है कि उसमें परस्पर विरुद्धधर्मों के लिये ह भी अवकाश है । `सर्वभवनसमर्थ` होने के कारण ब्रह्म सर्वरूप है; यही उसका असाधारण उत्कर्ष है । वल्लभ के ब्रह्म की एक अन्य विशेषता है, उसका `भगवत्त्व`। वह श्री, ऐश्वर्य आदि षड्गुणों के असाधारण उत्कर्ष से युक्त, अचिन्त्यानन्तशक्तियों का स्वामी, ईशिता और प्रभु है । ब्रह्म की धारणा को देखते हुए यह सहज अनुमेय है कि वल्लभ ब्रह्मको अचिन्त्य, अज्ञेय और सर्वथा अनिर्देश्य तत्त्व नहीं स्वीकार करते । श्रुति जब ब्रह्म को अचिन्त्य, अज्ञेय कहती है तो उसका तात्पर्य केवल इतना ही होता है कि ब्रह्म लौकिक प्रमाणों तथा प्राकृत इन्द्रियादि का `अविषय` है; स्वयं श्रुति-प्रमाण का विषय तो वह है ही । वल्लभ शुद्धब्रह्म का उपास्यत्व और भक्तों के प्रति उसका दृश्यत्व स्वीकार करते हैं ।

परमवस्तु को ज्ञेय मानने के पीछे एक विशिष्ट मनोविज्ञान है; और यह मनोविज्ञान अपने-आप में बहुत सही और प्रामाणिक भी है । वस्तुत: देखा जाय तो वह सारी धार्मिक चेतना जो मनुष्य के भौतिक और नैतिक जीवन का संस्कार करती है; तथा वह सारी दार्शनिक चेतना जो आध्यात्मिकस्तर पर उसे उन्नत और बन्धनमुक्त करती है-- जिसे लक्ष्य बनाकर चलती हैं वह यही `ईश्वर` या सापेक्षसविशेष ब्रह्म है, निरपेक्ष और निर्विशेष नहीं । यह एक वास्तविकता है कि उस रहस्यमय, दुर्बोध सत्य का जो ज्ञान आज तक मानव को हो सका है और आगे भी जो होगा, वह सविशेष और साकार रूप का ही होगा, क्योंकि यह असम्भव है कि मानव का कोई भी ज्ञान उसकी मानवीय-प्रकृति से सर्वथा अप्रभावित हो । यदि यह सच न होता तो शंकर जैसा निर्भीक दार्शनिक व्यावहारिक सत्ता और उसके अधिष्ठाता `ईश्वर` की धारणाएं स्वीकार ही न करता । इस व्यावहारिकसत्ता को `अपरार्थ` भले ही कहा जाये, इस सत्ता का क्षेत्र कितना विस्तृत है, यह कहने की आवश्यकता नहीं है; और शंकर जहां इसकी इयत्ता समाप्त करते हैं, वह स्थिति वह है, जहां हमारा `मानव` रूप से कोई अस्तित्व ही नहीं रहता, और न ही रह जाती हैं बन्ध और मोक्ष, उत्थान और पतन की धारणाएं ।

आचार्य रामानुज के शब्दों में--

`मयि नष्टेऽपि मत्तोऽन्या काचिज्ज्ञप्तिर्व्यवस्थिता ।
इति तत्प्राप्तये यत्न: कस्यापि न भविष्यति ।।`[1] -- तो जो सविशेष ब्रह्म आध्यात्मिक क्षेत्र में मानव की सारी चेष्टाओं और प्रयत्नों को गति और अर्थ देता है, उसे गौण या बाधित स्वीकार करना मानवीय प्रयत्नों और निष्ठाओं की उपयोगिता और अर्थवत्ता

---

१ श्री०भा० १।१।१

पर कितना विडम्बनापूर्ण प्रश्नचिह्न लगाना है-- इस बात का अनुभव शंकर के परवर्ती दार्शनिकों ने किया, फलत: शीघ्र ही उनकी दृष्टि की प्रतिक्रिया प्रारम्भ हो गई। रामानुज वल्लभ आदि वैष्णव दार्शनिक तो स्पष्टत: परमवस्तु को साकार, सविशेष मानने वालों में से हैं; भास्कर तक जो रामानुज के पूर्ववर्ती हैं, तथा परमवस्तु को स्वरूपत: निराकार स्वीकार करते हैं, ब्रह्म को शंकराभिमत अर्थ में अचिन्त्य और वाङ्मनसागोचर स्वीकार नहीं करते। उनका स्पष्ट मत है कि ब्रह्म को जो अवाङ्मनसगोचर कहा गया है, वह रागादिदोष से दूषित इन्द्रियों की दृष्टि से कहा गया है; शुद्ध और पवित्रीकृत वाणी और मन आदि का विषय तो वह हो ही सकता है, क्योंकि 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया ---' आदि श्रुतियां इस विषय में प्रमाण हैं[1]। भास्कर ने यह भी स्वीकार किया है कि यह निराकारब्रह्म भक्तों के प्रति दृश्य भी हो सकता है, और उस समय यह सर्वशक्तिमान् ब्रह्म जिन विविधरूपों में प्रकट होता है, वे भी वास्तविक होते हैं, मायिक नहीं[2]।

इस प्रकार शंकर की दृष्टि की प्रतिक्रिया भास्कर के सिद्धान्त में ही बहुत स्पष्ट है, और वैष्णव-दर्शनों में तो यह बहुत ही उग्र और दुर्धर्ष हो उठी है। यही कारण है कि वैष्णव दार्शनिकों की परमसत्तासम्बन्धी धारणा शंकर से बहुत भिन्न रही है।

वैष्णवदर्शन या यह भी कहा जा सकता है कि परवर्ती हिन्दू-दर्शन के मनोविज्ञान के आधार पर वल्लभ ने अपने ब्रह्म को साकार, सविशेष स्वीकार किया है। इतना ही नहीं, कृष्ण-भक्तिदर्शन की परम्परा में होने के कारण उनके 'ब्रह्म' में गीता के 'पुरुषोत्तम' तथा श्रीमद्भागवत के रसमय श्रीकृष्ण की धारणाएं भी आ जुड़ी हैं। वाल्लभदर्शन में उपनिषदों का ब्रह्म और भागवत के श्रीकृष्ण एकात्म हो गये हैं। उनकी ईश्वर-भावना में जहां एक ओर एकत्व, अद्वितीयत्व और अविकारित्व की मान्यताएं सुरक्षित हैं, वहीं दूसरी ओर सौन्दर्य, लालित्य, रस और लीला की धारणाएं अपने पूर्ण-प्रकर्ष पर हैं। यह कहा जा सकता है कि कृष्णभक्तिदर्शन, विशेषरूप से वाल्लभ-दर्शन में भारतीयचिन्तन की महत्तम उपलब्धि अर्थात् उसकी ईश्वर-भावना का

---

१ "----यतो वाचा निवर्तन्ते इति च रागादिदोषदूषितयोर्वाङ्मनसोरगोचरं ब्रह्मेत्यर्थ: । शुद्धयोस्तु पुन: गोचर एव । तथा च श्रुत्यन्तरं 'दृश्यते त्वग्र्या बुद्धया'; 'ज्ञानप्रसादेन विशुद्धसत्त्व' इति च ।" --- भा०भा० १।१।१६

२ "----- परमेश्वरस्यापि सर्वशक्तित्वादुपासकानुग्रहाय रूपोपादनसम्भवात् । किं मायामयं रूपं नेति ब्रूम: परमार्थिकमेवैतत् ।"

--भा०भा० १।१।२०

सर्वाधिक सुन्दर,गरिमामय और सहज,किन्तु रहस्यावेष्टित रूप सुरक्षित है ।

वल्लभ के ब्रह्म की सृष्टि से घनिष्ठ आत्मीयता है : वह सृष्टि की प्रस्तावना,व्याख्या और उपसंहार सभी कुछ है । जीव उसकी ही अभिव्यक्ति है,सृष्टि उसका ही परिणाम है; किन्तु विकृत और विकृति में अनुस्यूत होता हुआ भी वह स्वयं अविकारी है । ब्रह्म समस्त विश्व में व्याप्त होता हुआ भी विश्व से अतीत है,अधिक है, अपरिच्छिन्न है । जिस प्रकार सूर्य-किरण जल-बिन्दु में प्रवेश कर इन्द्रधनुषी रंग ग्रहण करते हुए भी कभी अपनी शुभ्रता और श्वेतता नहीं खोती ;एक बहुरंगी पक्षी जल में सौ-सौ बार डूब कर भी अपने पंखों का रंग नहीं खोता; उसी प्रकार ब्रह्म इस विविधनामरूपात्मक सृष्टि के कण-कण में व्याप्त होकर भी अपनी पूर्णता,विशुद्धता,विज्ञता और आनन्दमयता नहीं खोता ।

ब्रह्म की भांति वल्लभ की जीवसम्बन्धी धारणा भी उनके सिद्धान्त की इ एक विशिष्टता है । उनके अनुसार जीवभाव मिथ्या और औपाधिक नहीं है, सत्य और वास्तविक है । जीवभी उतना ही सत्य है,जितना ब्रह्म,क्योंकि वह उसकी ही स्वरूपाभिव्यक्ति है । जीव की वैयक्तिक सत्ता के प्रति वल्लभ का प्रबल आग्रह है, और वे अन्त तक, यहां तक कि मुक्तावस्था में भी,जीव की वैयक्तिक सत्ता अर्थात् जीव की जीवरूप से ही अवस्थिति स्वीकार करते हैं । वल्लभ के जीव-सम्बन्धी सिद्धान्तों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है , अंशांशिभाव का सिद्धान्त । यह अंशांशि-भाव एक तरह से वल्लभ की जीवसम्बन्धी सभी मान्यताओं की आधारशिला है ।

जीव का ब्रह्मांश होना जीव और ब्रह्म के मध्य तात्त्विक एकता की सिद्धि करता है, साथ ही तत्त्वान्तर का भी निषेध करता है । जीव का ब्रह्मांश होना ही मुक्तावस्था में उसके ब्रह्मरूपत्व का प्रयोजक है,अन्यथा जो तत्त्वत: ब्रह्म नहीं है उसका ब्रह्मरूप होना सर्वथा असम्भव है । जीव की वास्तविकता; जीवबहुत्व; ब्रह्म से जीव की न्यूनता; ब्रह्म और जीव के मध्य उपास्योपासक भाव; तथा ब्रह्म और जीव के बीच सदैव ही एक सुनिश्चित अन्तर का निर्वाह -- इन सब बातों की सिद्धि सिद्धि अंशांशिभाव के आधार पर ही होती है ।

वल्लभ को मान्य अंशांशिभाव से प्रेरित जो अद्वैत है, वह मूलत: अद्वयता का समर्थक होते हुए भी अपने-आप में न्यूनाधिक भाव के लिये पर्याप्त अवकाश रखता है । जीव अंश होने के कारण अंशी ब्रह्म से तत्त्वत: अभिन्न अवश्य हैं, किन्तु ब्रह्म का आंशिक प्रकाशन होने के कारण उससे न्यून और अवर है । बद्ध-अवस्था में तो वह ब्रह्म के समान हो ही नहीं सकता, मुक्त-अवस्था में भी उसकी ब्रह्मतुल्यता नहीं होती । मुक्त-अवस्था में भी जीव की भगवन्मियम्यता बनी रहती है,क्योंकि वल्लभ के अनुसार मुक्तावस्था में अभिव्यक्त होने वाले आनन्द आदि जीवधर्म भगवद्धर्मों से न्यून ही होते हैं ।

इस भांति वाल्लभमत में जीव के अंश होने के कारण परापरभावघटित अद्वैत की ही मान्यता है[1]। वल्लभ ने सर्वत्र ही जीव की गतिविधियों तथा उसके क्रिया-कलाप पर भगवदिच्छा का अंकुश रखा है, इस सीमा तक कि वह अपने किसी भी निश्चय, किसी भी संकल्प में स्वतंत्र नहीं है। जीव का कर्तृत्व इसका उदाहरण है। जीवस्वरूप पर विचार करते समय वल्लभ के जीवकर्तृत्व सम्बन्धी सिद्धान्त की विस्तृत पर्यालोचना की गई है।

वल्लभ के जीव-विषयक सिद्धान्त की एक अन्य विशेषता है जीव और ब्रह्म में पूर्ण तादात्म्य का अभाव। दार्शनिक विचारणा की दृष्टि से जीव और ब्रह्म का सम्बन्ध और उनकी सापेक्षस्थिति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होती है, तथा उसका स्वरूप एक तरह से समग्र सिद्धान्त का ही नियामक होता है।

वल्लभ का अद्वैत भक्तिसंवलित-अद्वैत है। भक्ति में द्वैत की अपेक्षा होती है; अत: वल्लभ ने अद्वैत में भी उतना द्वैत सर्वत्र स्वीकार किया है, जितना भक्ति के निर्वाह के लिये आवश्यक है। इस भेदरंजित -अभेद के मनोविज्ञान से प्रेरित होकर ही वल्लभ 'तत्त्वमसि' महावाक्य का अर्थ, शंकर की भांति, जीव और ब्रह्म का तादात्म्य स्वीकार नहीं करते। उनके अनुसार इस श्रुति का पर्यवसान जीवब्रह्मैक्य में नहीं, अपितु ब्रह्म के सर्वरूपत्व में होता है। वल्लभ का मत है कि केवल 'तत्त्वमसि' नहीं, अपितु 'तत्त्वमसि' पद से युक्त सम्पूर्ण वाक्य ही 'महावाक्य' है। इस वाक्य में 'ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्' से जैसे जड जगत का तदात्मकत्व अर्थात् ब्रह्मात्मकत्व प्रतिपादित किया गया है, वैसे ही 'तत्त्वमसि' से जीव की भी ब्रह्मरूपता निरूपित की गई है।

वस्तुत: शंकर के अमूर्त अद्वैत की प्रतिक्रिया में तथा सहज मानवीय आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में, वैष्णवदर्शन में अद्वैत-भावना के जो अन्य पार्श्व अनावृत हुए, उन्होंने द्वैत को भी अपने अन्दर समेट लिया। रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, तथा वल्लभ का शुद्धाद्वैत -- ये सब अद्वैत के ही विभिन्न रूप हैं। इन अद्वैतसिद्धान्तों ने द्वैत को सर्वथा अस्तित्वहीन घोषित न कर उसे अद्वैत की ही एक विशिष्ट अभिव्यक्ति या अवस्था स्वीकार किया है।

सविशेष ईश्वर की धारणा तथा द्वैत-संवलित अद्वैत स्वीकार करने की इस प्रवृत्ति ने वल्लभ को सृष्टि की सत्यता स्वीकार करने की प्रेरणा दी। सृष्टि की सत्यता वल्लभ के दर्शन की

---

१ 'अतोंऽशत्वेन नानात्वस्य विद्यमानत्वात् परापरभावघटित स्वैकात्म्यवादो भगवदभिमत इति सिद्ध्यति'। -- अणुभा० २।३।५३ पर भा० प्र०

अत्यन्त महत्वपूर्ण विशेषता है । वस्तुत: सृष्टि को सत्य स्वीकार करने की यह प्रवृत्ति शंकर के सम्पूर्ण परवर्ती दर्शन में ही बहुत प्रखर रही है । सृष्टि की सत्यता प्रतिपादित करते हुए वल्लभ ने शंकर के मायावाद की बहुत आलोचना की है तथा उसे `प्रतारणाशास्त्र' बतलाया है । उनके अनुसार माया ब्रह्म की उपाधि नहीं,अपितु शक्ति है तथा उससे ही नियंत्रित और परिचालित है; ब्रह्म मायाच्छन्न नहीं,अपितु मायापति है । अपनी मायाशक्ति से ही ब्रह्म भोक्ता जीव और भोग्य जगत् के रूप में अवतीर्ण होता है । इस प्रकार जीव और जगत् ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति है, औपाधिक नहीं ।

वल्लभ के अनुसार ब्रह्म ही इस सृष्टि का कर्ता और अभिन्ननिमित्तोपादानकारण है । ब्रह्म ही इस सृष्टि के रूप में परिणमित होता है और यह परिणाम भी वास्तविक है । इस तरह ब्रह्म का वास्तविक परिणाम होने के कारण सृष्टि भी उतनी ही सत् है,जितना स्वयं ब्रह्म; यह और बात है कि उसकी सत्यता ब्रह्मरूप से ही है, ब्रह्म-भिन्न स्वतंत्ररूप से नहीं । वल्लभ के स सृष्टि-विषयक सिद्धान्तों में तीन सर्वप्रमुख हैं,और उन्हें वल्लभ के दर्शन की विशिष्टताएं कहा जा सकता है । वे तीन सिद्धान्त हैं--(१) सत्कार्यवाद;(२) अविकृतपरिणामवाद; तथा (३) प्रपंच और संसार का भेद ।

वल्लभ यह स्वीकार करते हैं कि कार्य उत्पत्ति के पूर्व अपने कारण में सत्रूप से वर्तमान रहता है तथा उत्पत्ति और विनाश आविर्भाव-तिरोभाव के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं । वल्लभ के अनुसार यह समस्त कार्यजात सूक्ष्मावस्था या कारणावस्था में ब्रह्म में वर्तमान था और उसकी इच्छा से ही इन विविधनामरूपों में प्रकट हुआ है । सृष्टि में जो नाशोत्पत्ति की प्रतीति होती है, वह भ्रान्तिजन्य है । आविर्भावतिरोभाव-युक्त होने के कारण जगत् नित्य है । जगत् का अ आविर्भाव-तिरोभाव ही सामान्यत: उत्पत्ति और नाश शब्दों से कहा जाता है । वल्लभ के द्वारा स्वीकृत सत्कार्यवाद सांख्याभिमत सत्कार्यवाद के पर्याप्त निकट है । अन्तर केवल इतना है कि सांख्य मूलकारण के रूप में प्रकृति को स्वीकार करता है और श्रुति-सूत्र-परम्परा का अनुयायी शुद्धाद्वैत ब्रह्म को ।

अविकृतपरिणामवाद दूसरा महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । इसके अनुसार ब्रह्म जगत् के रूप में सुवर्णवत् अविकृत ही परिणमित होता है । जिस प्रकार सुवर्ण-कुण्डल,वलय आदिआभूषणों का रूप ग्रहण करते हुए भी तत्वत: विकारग्रस्त नहीं होता, उसी प्रकार ब्रह्म भी जगत् के रूप में स्वरूपत: अविकृत रहकर ही परिणमित होता है । इस सिद्धान्त के द्वारा वल्लभ अ ब्रह्म का सर्वव्यापित्व और अविकारित्व, दोनों एक साथ ही सिद्ध करते हैं ।

सृष्टिविषयक तीसरा प्रमुख सिद्धान्त है-- प्रपंच और संसार का भेद । प्रपंच या जगत् ब्रह्मरूप है, और संसार विषयासक्ति रूप । अविद्या से मोहित जीव ब्रह्मरूप प्रपंच को ब्रह्म से भिन्न समझता है, और उसमें वास्तविक द्वैत देखने लगता है । प्रपंच में भगवदीयबुद्धि न रहने पर वह उसमें अपनी अहन्ता-ममता स्थापित कर लेता है । यह अहन्ता-ममताबुद्धि ही आसक्ति रूप होने के कारण `संसार` कहलाती है । यही जीव के बन्ध का कारण और उसके संसरण का हेतु है ।

वल्लभ के दर्शन के विशिष्ट तत्वों का विवरण तब तक पूरा नहीं होता जब तक भक्ति की बात न कही जाये । वस्तुत: भक्ति ही वाल्लभदर्शन का प्राणतत्त्व है । यदि इसे निकाल दिया जाय तो वल्लभ का पूरा दर्शन ही निस्सार और सत्त्वहीन प्रतीत होगा । वल्लभ के दर्शन में भक्ति की इतनी महत्त्वपूर्ण भूमिका पूर्वोक्त इस तथ्य का समर्थन करती है कि वैष्णव-चिन्तन में धर्म और दर्शन एकरूप हो गये हैं । वल्लभ ने भक्ति को साधन और साध्य दोनों ही रूपों में स्वीकार किया है । साधन के रूप में वह ज्ञान,योग,कर्म आदि सभी साधनों से श्रेष्ठ है तथा साध्य के रूप में मोक्ष से भी महान् ।

वल्लभ की भक्ति का आधार श्रीमद्भागवत है । श्रीमद्भागवत के छठें स्कन्ध में भगवान् के निर्हेतुक अनुग्रह का विशद् वर्णन हुआ है । यह अनुग्रह ही `पोषण` या `पुष्टि` कहलाता है । पुष्टिशब्दवाच्य यह अनुग्रह ही वल्लभ की भक्ति का आधार और उपजीव्य है । इसीलिये वल्लभ के द्वारा स्थापित सम्प्रदाय का नाम पुष्टिसम्प्रदाय या पुष्टिमार्ग है । वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित भक्ति अनुरागलक्षणा भक्ति है । भागवत के तृतीय स्कन्ध में जिस निर्गुण भक्तियोग का वर्णन है, उस निराकांक्षा,निर्हेतुक भक्ति को ही वल्लभ ने स्वाभिमत भक्ति के रूप में स्वीकार किया है । शांकर मत के तथा कुछ अन्य आचार्य भी निर्गुण भक्ति को ज्ञानमिश्रा भक्ति के रूप में स्वीकार करते हैं,तथा इसे भक्ति को निर्गुण परब्रह्म के ज्ञान का साधन मानते हैं । इस प्रकार उनके मत में निर्गुण भक्ति साधनमात्र है,साध्य नहीं । इसके विपरीत वल्लभ भागवतोक्त इस निर्गुण भक्ति को स्वयंसाध्य स्वरूपा स्वीकार करते हैं, साधनरूपा ज्ञानमिश्रा नहीं ।ज्ञान-मिश्रा का अन्तर्भाव तो वे मर्यादाभक्ति में ही कर देते हैं । जिस निर्गुण भक्ति को वे साध्य-स्वरूपा कहते हैं, वह ज्ञानमिश्रा से श्रेष्ठ है तथा `शुद्धा` और `स्वतंत्रा` संज्ञाओं से अभिहित की जाती है ।

वल्लभ के द्वारा प्रतिपादित भक्ति के सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व हैं--अनन्यशरणागतिपूर्वक आत्मनिवेदन और सेवा । भक्ति स्वयं सेवारूप है । वल्लभ के अनुसार मानसी सेवा ही भक्ति है; इस प्रकार वल्लभ ने भक्ति को बाह्य कर्मकाण्ड और पूजा-अभिचार के बन्धनों से मुक्त कर दिया है ।

वल्लभ भक्ति को ही भगवत्प्राप्ति का सर्वाधिक समर्थ साधन स्वीकार करते हैं। मर्यादा-मार्ग में तो किसी सीमा तक ज्ञान आदि साधनों की उपयोगिता है भी; किन्तु पुष्टिमार्ग में तो भक्ति ही एकमात्र साधन है। उसे सहकारी के रूप में ज्ञान, कर्म आदि किसी भी साधन की अपेक्षा नहीं है, फलदान में वह सर्वथा स्वतन्त्र और निरपेक्ष है। इस प्रकार वल्लभ का मत शंकर के ज्ञान-वाद, रामानुज के ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद तथा रामानुज के भक्ति-ज्ञान-कर्मसमुच्चयवाद से बहुत भिन्न हो जाता है। यद्यपि वाल्लभमत में मर्यादामार्ग के अन्तर्गत ज्ञान, कर्म आदि साधनों को भी स्वीकार किया गया है, तथापि वे भक्ति की अपेक्षा गौण और उसके अंगरूप हैं। भक्ति अंगी है।

वल्लभ के द्वारा स्वीकृत भक्ति की एक अन्य विशेषता यह भी है कि प्रेमलक्षणा होते हुए भी वह अतिशय भावुकता से मुक्त है। मध्ययुगीन कृष्णभक्ति उत्तरोत्तर भावुक होती गई है, तथा शास्त्रीयता का ह्रास होता गया है। चैतन्य सम्प्रदाय की भक्ति इसका उदाहरण है। वल्लभ ने यथासम्भव अपनी भक्ति को अनियंत्रित भावातिरेक से बचाया है। उनके द्वारा प्रतिपादित भक्ति अपने स्वरूप में बहुत शास्त्रीय है, जब कि मध्ययुग के अन्य सभी सम्प्रदायों की भक्ति में शास्त्रीयता का अभाव ही है। अपनी इसी दृष्टि के कारण वल्लभ ने दास्यभाव की भक्ति को सर्वश्रेष्ठ कहा है। यों उन्होंने वात्सल्य और माधुर्य भाव की भक्ति भी स्वीकार की है, किन्तु प्रधानता दास्यभाव की भक्ति की है। वल्लभ की भक्ति का स्वरूप रामभक्ति के स्वरूप से बहुत मिलता जुलता है।

यह भक्ति ही वाल्लभसम्प्रदाय में जीव का परमपुरुषार्थ और चरमलक्ष्य है। श्रीकृष्ण के प्रति निरतिशय प्रेमरूप यह भक्ति मोक्ष से भी श्रेष्ठ है। पुष्टिमार्ग में तो यही एकमात्र फल भी है।

श्रीकृष्ण की अहैतुकी भक्ति के अतिरिक्त वल्लभ ने अधिकारी-भेद से कुछ अन्य फल भी कहे हैं। इनमें से अक्षर-सायुज्य और पुरुषोत्तम-सायुज्य क्रमशः ज्ञानियों तथा मर्यादाभक्तों के फल हैं। वैकुण्ठ में सेवोपयोगिदेहादि की प्राप्ति केवल मर्यादाभक्तों का फल है, ज्ञानियों को इनकी प्राप्ति नहीं होती है।

पुष्टिमार्गियों का फल लीला-प्रवेश है, इसे ही अलौकिक सामर्थ्य भी कहते हैं। पुष्टिमार्गियों की अहैतुकी भक्ति ही इस अलौकिक सामर्थ्य में पर्यवसित होती है। अष्टम परिच्छेद में साध्य-स्वरूप के अन्तर्गत इन फलों की विस्तृत स्वरूप समीक्षा की जा चुकी है।

वाल्लभदर्शन की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है कि इसमें स्वीकृत कोई भी फल यहां तक कि सायुज्य भी ऐक्य रूप नहीं है। वल्लभ किसी भी अवस्था में जीव और ब्रह्म का

आत्यन्तिक अभेद स्वीकार नहीं करते । मुक्तावस्था में जीव को ब्रह्म के साथ अपनी एकात्मता का बोध होता है, ऐक्य का नहीं । ब्रह्मानुभूति के चरमक्षणों में भी जीव और ब्रह्म में अनुभविता और अनुभवनीय का सम्बन्ध बना रहता है । परममुक्त दशा में भी ब्रह्म और जीव में परापरभाव वर्तमान रहता है । वल्लभ को स्वीकृत भक्तिसंवलित अद्वैत तथा जीव की वैयक्तिकता के प्रति उनका आग्रह ही उनकी इस मान्यता का आधार है । मुक्त-अवस्था में जीव की स्थिति तथा ब्रह्मजीव सम्बन्ध पर प्रस्तुत प्रबन्ध के तीसरे,पांचवें और आठवें परिच्छेद में विस्तार से विचार किया जा चुका है ।

संक्षेप में ये ही वाल्लभदर्शन के प्रमुख तत्व हैं । इनके आधार पर वाल्लभदर्शन की जो महत्वपूर्ण विशेषताएं ह या प्रमुख प्रवृत्तियां निश्चित होती हैं, वे ये हैं--(१)सिद्धान्त की सविशेषवस्तुवादिता या ब्रह्म का सविशेषत्व; (२) सृष्टि की सत्यता;(३) जीव और ब्रह्म में सर्वथा ऐक्य का अभाव;(४) भेदसहिष्णु अभेद;तथा (५) भक्ति की सर्वातिशायी महत्ता ।

वाल्लभदर्शन विभिन्न प्रभावों का समीकरण है । उसके स्वरूप के तीन घटकावयव हैं-- उपनिषद्,श्रीमद्भगवद्गीता तथा श्रीमद्भागवत । इनमें भी भागवत सर्वाधिक प्रभावशाली है । वस्तुत: भागवत ही वाल्लभदर्शन का उपजीव्य है तथा वल्लभ के सिद्धान्तों पर उसका प्रभाव सर्वातिशायी है । वल्लभ के लिये प्रत्येक विषय पर भागवत का निर्णय अन्तिम होता है ।

वल्लभ की अधिकांश मान्यताएं भागवत से ही गृहीत अथवा प्रेरित हैं । यहां तक तो ठीक है,क्योंकि किसी दार्शनिक की किसी ग्रन्थविशेष या विचारधाराविशेष के प्रति आस्था या प्रतिबद्धता में कोई अनौचित्य नहीं है; किन्तु असन्तोष तब होता है जब वल्लभ भागवत के सिद्धान्तों को ब्रह्मसूत्रों, यहां तक कि उपनिषदों पर भी आरोपित कर देते हैं; तथा भागवत के प्रतिपाद्यविषय को उपनिषदों का प्रतिपाद्य घोषित करते हैं । वल्लभ की इस प्रवृत्ति के अनेक उदाहरण दिये जा सकते हैं : -

वल्लभ के दर्शन में परमसत्ता का जो स्वरूप है, वह पूरा-का-पूरा ही भागवत से गृहीत है । भागवत में उपनिषदों का ब्रह्म तथा महाभारत और गीता के श्रीकृष्ण एकरूप हो गये हैं । ईश्वर की ऐसी धारणा भागवत तथा उससे अनुप्रेरित दर्शनों की अपनी विशेषता है,किन्तु उपनिषदों तथा ब्रह्मसूत्रों में ऐसी किसी धारणा का कोई अस्तित्व नहीं है । ब्रह्मसूत्रों में ब्रह्म का निर्देश किसी विशिष्टविग्रहसम्पन्न देव के रूप में नहीं मिलता, किन्तु वल्लभ सर्वत्र ही सूत्रों की भक्ति श्रीकृष्ण के चरणों में समर्पित कराने को विशेष उत्सुक दिखते हैं । यों सभी वैष्णव भाष्यकारों ने परमवस्तु को एक विशिष्ट विग्रह सम्पन्न देव के रूप में भी स्वीकार किया है; किन्तु रामानुज और निम्बार्क ने इन रूपों का सूत्रप्रतिपाद्यत्व दिखलाने की चेष्टा नहीं की,जबकि वल्लभ इस दिशा में विशेष प्रयत्नशील हैं ।

इसी प्रकार उपनिषदों और सूत्रों में परमतत्व को विभिन्न स्थितियों में स्थित मानते हुए भी उसके स्वरूप में कोई तारतम्य नहीं माना गया है । इस दृष्टि से वल्लभ के इस सिद्धान्त की सूत्रानुकूलता प्रतीत नहीं होती कि परमतत्त्व पुरुषोत्तम है तथा उसकी जब सृष्टि करने की इच्छा होती है, तब उससे एक स्वरूप आविर्भूत होता है जो `अक्षर` है । यह अक्षर गणितानन्द तथा सृष्टीच्छाव्यापृत होने के कारण निरतिशयआनन्दवान् पुरुषोत्तम से हीन है; तथा उनका चरणस्थानीय और धामरूप है ।यह सिद्धान्त श्रुति-सूत्रों के स्वभाव के बिल्कुल ही विपरीत है । वस्तुस्थिति यह है कि उपनिषदों में ब्रह्म तथा अक्षर में कोई भेद स्वीकार नहीं किया गया है । जिस परमसत्ता को ब्रह्म या अव्यक्त कहा गया है, उसे ही अक्षर भी कहा गया है । सूत्रकार ने भी ब्रह्म और अक्षर में किसी अन्तर या परापरभाव का प्रतिपादन नहीं किया है, किन्तु वल्लभ के अणुभाष्य का बहुत बड़ा भाग पुरुषोत्तम तथा अक्षर के वैषम्य-विवेचन से भरा पड़ा है ।वस्तुत: वल्लभ की अक्षर-धारणा उनके सिद्धान्त की एक विशिष्टता है । उनके द्वारा परिभावित अक्षर-स्वरूप में मुण्डक,बृहदारण्यक, भागवत और गीता में प्राप्त अक्षरसम्बन्धी सिद्धान्तों का समन्वय है । इस समन्वय के होने पर भी यह कहा जा सकता है कि वल्लभ की अक्षर-धारणा गीता और भागवत के भले ही निकट हो, उपनिषदों तथा सूत्रों से बहुत दूर,बहुत अपरिचित है ।

इसी प्रकार ब्रह्म के रसरूपत्व और लीला की धारणाएं,जो स्पष्टत: भागवत से गृहीत हैं, उपनिषद् और सूत्रों पर आरोपित कर दी गई हैं । वल्लभ `रसो वैस:`-- श्रुति के आधार पर ब्रह्म के रसरूपत्व की सिद्धि करते हैं, जब कि श्रुति का तात्पर्य केवल इतना है कि ब्रह्म आनन्दरूप है । श्रीकृष्ण को साक्षात् रसराज शृंगाररसरूप मानकर रसशास्त्र की पारिभाषिक शब्दावली में उनके रसरूपत्व की व्याख्या की गई है,जो सूत्रों के वातावरण और अर्थसंयोजना में विचित्र और असंगत सी लगती है ।

इसी भांति पुष्टिमार्ग और मर्यादामार्ग का विवेचन भी ब्रह्मसूत्रों का विषय नहीं है, किन्तु तृतीय और चतुर्थ अध्याय के अधिकांश सूत्रों को वल्लभ ने पुष्टि और मर्यादा के स्वरूपवर्णन और भेद-विवेचन में प्रवृत्त किया है । इसी प्रकार के अन्य कई उदाहरण दिये जा सकते हैं ।

वस्तुत: वल्लभ का दर्शन श्रीमद्भागवत के सिद्धान्तों को ही एक दार्शनिक मतवाद के कलेवर में प्रस्तुत करता है । यह तथ्य यदि वल्लभ स्पष्ट शब्दों में स्वीकार कर लेते और तदनुसार ही सिद्धान्तप्रतिपादन करते तो उनका सिद्धान्त निश्चय ही अधिक संहत और तर्कसम्मत होता । यह सत्य है कि भागवत में औपनिषद् दर्शन तथा पांचरात्र धर्म का असाधारणरूप से सुन्दर समन्वय किया गया है,किन्तु दो विचारधाराओं के समन्वय से निष्पन्न हुए किसी तीसरे सिद्धान्त को यदि पुन: उसके मूल स्रोतों पर प्रत्यारोपित किया जाय तो जो विसंगति उत्पन्न होगी वह दुर्निवार है । भागवत तथा उपनिषद् और ब्रह्म सूत्रों के बीच कई सौ वर्षों का अन्तर है और

भागवत की मान्यताओं का उपनिषदों पर यह आरोपण बड़ा भारी काल-व्यतिक्रम उपस्थित करता है। श्रीकृष्ण की धारणा का विकास उपनिषदों के बहुत बाद में हुआ है, अत: उपनिषदों में उनका लीला-वर्णन ढूढ़ना उचित प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार अक्षर की विशिष्ट धारणा, अक्षर और पुरुषोत्तम के भेद, तथा मर्यादा और पुष्टि जैसे विशिष्ट साम्प्रदायिक तत्त्वों का सूत्र-प्रतिपाद्यत्व दिखलाना भी अनेक तार्किक असंगतियाँ उत्पन्न करता है।

वल्लभ की यह भी एक विशिष्ट प्रवृत्ति है कि वे भागवत में प्राप्त मान्यताओं को अपने दर्शन में, हर तरह से, हर मूल्य पर सुरक्षित रखना अपना परमकर्तव्य समझते हैं। वाल्लभ दर्शन में अनेक ऐसे तत्त्व हैं जैसे काल, कर्म, स्वभाव आदि जो केवल भागवत के आग्रह पर ही स्वीकार किये गये हैं अन्यथा सिद्धान्त में उनकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं है। वस्तुत: देखा जाय तो वल्लभ ने श्रीमद्भागवत के दर्शन को ही उपनिषद्-दर्शन से संवलित और समन्वित कर प्रस्तुत कर दिया है तथा भागवत के सिद्धान्तों को एक दार्शनिक मतवाद के रूप में स्थापित करने के लिये उसके प्रतिपाद्य को उपनिषदों का प्रतिपाद्य सिद्ध कर, उसे वह प्रामाणिकता देने की चेष्टा की है, जो शंकर के पश्चात् किसी भी दार्शनिक सिद्धान्त की प्रतिष्ठा और मान्यता के लिये एक अनिवार्य अपेक्षा बन गई थी। यद्यपि वाल्लभदर्शन में भागवत की ही सर्वाधिक प्रतिष्ठा है तथापि श्रुतियों को भी पर्याप्त मान्यता मिली है। वल्लभ के अनुसार ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान केवल श्रुतियों के ही आधार पर हो सकता है, अन्य सभी प्रमाणों का तो वह अविषय है। वल्लभ बार-बार यह कहते हैं कि शुष्क तर्क और श्रुतिविरुद्ध युक्तियों के लिए उनके सिद्धान्त में कोई अवकाश नहीं है। ब्रह्म को वैसा ही स्वीकार करना चाहिये, जैसा श्रुतियों में प्रतिपादित किया गया है-- 'ब्रह्म पुनर्यादृशं वेदान्तेष्ववगतं तादृशमेव मन्तव्यम्'। इस प्रकार वल्लभ अन्य किसी भी प्रमाण की अपेक्षा शब्दप्रमाण को अधिक महत्त्व देते हैं। तर्क के प्रति वल्लभ की कोई आस्था प्रतीत नहीं होती और इस अनास्था की भी कभी कभी अति हो जाती है। कई बार वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का कोई तर्कपूर्ण उत्तर देने की अपेक्षा केवल इतना कहकर सन्तुष्ट हो जाते हैं कि 'ऐसा इसलिये है, क्योंकि श्रुति ऐसा ही प्रतिपादित करती है'; या फिर बड़ी से बड़ी समस्या का समाधान, बड़ी से बड़ी अनुपपत्ति का निराकरण, वे 'भगवदिच्छा' या 'सृष्टिवैचित्र्य' के आधार पर कर लेते हैं।

वल्लभ के अनुसार श्रुति के तथाकथित विरुद्धकथन ब्रह्म के स्वरूप में कोई विसंगति उत्पन्न नहीं करते, क्योंकि ब्रह्म 'विरुद्धधर्माश्रय' और 'सर्वभवनसमर्थ' है। यदि लौकिक-विचारणा के स्तर पर यह बात असंगत लगती है तो लगे; ब्रह्म तो 'अलौकिकप्रमेय' है, उसके विषय में लौकिकयुक्तियों के लिए अवकाश ही कहाँ है? वल्लभ ने 'नैषा तर्केण मतिरापनेया'-- के सिद्धान्त को बहुत ही स्थूल और शाब्दिक अर्थ में स्वीकार किया है। उनके सिद्धान्तों के अध्ययन से यह बात स्पष्ट हो

जाती है । उन्होंने किसी भी सिद्धान्त का न तो युक्तिमूलक खण्डन किया है, न समर्थन; स्वपक्ष की स्थापना और पूर्वपक्ष के निराकरण के लिये वे सदैव श्रुति का ही आश्रय ग्रहण करते हैं । वल्लभ यह कहते अवश्य हैं कि उनके मत में श्रुति-अविरुद्ध तर्क-प्रक्रिया मान्य है, किन्तु अपने इस वचन का पालन वे स्वयं नहीं कर पाते । आधुनिक विद्वानों ने वल्लभ की इस प्रवृत्ति की बहुत आलोचना की है ।

न केवल इसी बात की अपितु, वल्लभ के पूरे दर्शन की ही आलोचना की गई है । अनेक पश्चिमी तथा भारतीय विद्वानों का मत है कि वल्लभ सही अर्थों में दार्शनिक ही नहीं हैं और ब्रह्मसूत्रों की उनकी व्याख्या--'अणुभाष्य'-- साम्प्रदायिकमान्यताओं से भरा एक ग्रन्थ है,जिसका दर्शन के क्षेत्र में कोई विशेष मूल्य नहीं है । वल्लभ के प्रति इस धारणा के दो कारण हैं-- पहिला तो यह कि वे जो कुछ भी देखते हैं, शंकराचार्य की दृष्टि से देखते हैं; तथा हर दर्शन को शांकर अद्वैत की कसौटी पर ही कसते हैं; और दूसरा यह कि वे वल्लभ को वैष्णव-चिन्तन के उस विशिष्ट मनोविज्ञान और वातावरण से काटकर देखते हैं,जिसमें वह पोषित हुआ है । 'द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ वल्लभाचार्य' की लेखिका श्रीमती मृदुला मारफ़तिया के मूल्यांकन में यही एक कमी है कि वे सर्वत्र शंकर के प्रभाव से बहुत बुरी तरह आक्रान्त हैं,तथा वल्लभ के मनोविज्ञान को समझने की बिल्कुल चेष्टा नहीं करतीं ।

वाल्लभदर्शन की प्राय: तीन बातों को लेकर बहुत आलोचना होती है--(१)भागवत के प्रति उनकी प्रतिबद्धता; (२) उनके दर्शन में साम्प्रदायिक तत्त्व; तथा (३) तार्किक विचारणा अथवा बौद्धिक-विश्लेषण के प्रति उनकी उदासीनता । ये तीनों बातें वाल्लभ दर्शन की विशिष्ट प्रवृत्तियां ही हैं; अब इन्हें विशेषताएं कह लिया जाये या दोष और अभाव, यह तो आलोचक की अपनी दृष्टि पर निर्भर है । यदि वल्लभाचार्य की पृष्ठभूमि और मनोविज्ञान पर विचार किया जाये तो इन तीनों ही बातों का स्पष्टीकरण खोजा जा सकता है । विचार करने पर ज्ञात होता है कि वाल्लभदर्शन की जिन कमियों अथवा दोषों की चर्चा की गई है, वे बहुत बड़ी सीमा तक उनकी सम-सामयिक परिस्थितियों की देन है । यह सच है कि यदि उनके सिद्धान्त धर्म से विविक्त दर्शन की परम्परागत कसौटी पर कसे जायें, या भावना-निरपेक्ष,तथ्यपरक बौद्धिक-विचारणा मात्र के परिप्रेक्ष्य में देखे जायें तो वे खरे नहीं उतरेंगे; किन्तु यदि गहराई में जाकर उनकी मान्यताओं के यथादृष्ट स्वरूप के लिये उत्तरदायी तत्त्वों की छानबीन की जाये तो बहुत सम्भव है कि वल्लभ का दर्शन उतना सारहीन और व्यर्थ न लगे जितना कि उनके आलोचकों को लगता है । इसी दृष्टि से यहां उन परिस्थितियों और तथ्यों का निर्देश किया जा रहा है, जो वाल्लभदर्शन की स्वरूप-निर्मिति में कारण रहे हैं तथा जिनपर प्रस्तुत शोधप्रबन्ध के प्रथम परिच्छेद में सविस्तार विचार किया

जा चुका है ।

वल्लभ का दर्शन अपने युग की आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में सामने आया । मध्ययुग की परिस्थितियां बहुत ही अस्तव्यस्त हो उठी थीं । व्यक्ति इतना संत्रस्त विखण्डित और असंतुलित हो चुका था कि उसमें इतना धैर्य और सामर्थ्य ही शेष नहीं रही थी कि वह दर्शन के सर्व-निरपेक्ष , अति भौतिक तत्त्व-विश्लेषण में रुचि लेता । उसे तो आवश्यकता थी सुरक्षा और सहानुभूति की,जो उसे धर्म से ही मिल सकती थी, और मिली भी । वैष्णवधर्म के द्वारा व्यक्ति और समाज का जितना व और जैसा संस्कार मध्ययुग में हुआ, वह स्वयं में एक उपलब्धि है । मध्ययुग की धार्मिक चेतना इतनी समर्थ और लोकव्यापी हो गई कि उसने दर्शन को भी अपने में समेट लिया । अभी तक धर्म और दर्शन एक-दूसरे के पूरक थे, किन्तु मध्ययुग में वे एकात्म हो गये, इस सीमा तक कि दोनों को एक-दूसरे से पृथक् करना असम्भव हो गया । धर्म और दर्शन की इस घनिष्ठता के कारण मध्ययुग के जितने मतवाद हैं, उनमें धर्म और दर्शन दोनों की ही विशेषताएं दृष्टिगत होती हैं । वैष्णववेदान्त के सभी सम्प्रदाय अपनी शैली और दृष्टि, यहां तक कि अपने विवेच्य-विषय में भी धर्म से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके हैं । यही कारण है कि सभी वैष्णवदर्शनों में किसी न किसी रूप में धार्मिक या साम्प्रदायिक आग्रह वर्तमान हैं । इस वस्तुस्थिति में वल्लभ के साम्प्रदायिक आग्रह ऐसा अक्षाम्य अपराध प्रतीत नहीं होते कि उन्हें दार्शनिक कहलाने के अधिकार से ही च्युत कर दिया जाये । साम्प्रदायिक आग्रह तो रामानुज के दर्शन में भी हैं,जो शंकर के अद्वैत के बाद वेदान्त का सर्वाधिक सशक्त मत कहा जाता है । यह बात और है कि उसमें इन धार्मिक तत्त्वों ने रामानुज की दार्शनिक मान्यताओं को अधिक रागरंजित नहीं किया है । ग्यारहवीं शती में यों भी धर्म और दर्शन ऐसे एकात्म नहीं थे,जैसे वल्लभ के समय अर्थात् पन्द्रहवीं शती में हो गये थे ।

जहां तक वाल्लभदर्शन पर भागवत के प्रभाव का प्रश्न है वह समस्त कृष्णभक्ति और कृष्ण-दर्शन की ही एक सामान्य विशेषता है, वल्लभ का व्यक्तिगत वैशिष्ट्य नहीं है । कृष्ण-भक्ति से प्रेरित सभी दार्शनिक सम्प्रदायों पर भागवत का ऐसा ही प्रभाव है । सभी कृष्णभक्ति सम्प्रदायों और कृष्ण-प्रधान दर्शनों ने अपने प्रमुख सिद्धान्त तथा स्वरूपाधायक तत्त्व भागवत से ही ग्रहण किये हैं । फिर भी यह कहा जा सकता है कि वाल्लभ मत भागवत के प्रति सर्वाधिक आस्था-वान् होने के साथ -साथ उसे दार्शनिक उपलब्धि के चरम शिखर पर आसीन कराने और उसके विश्वासों को दर्शन के निष्कर्षों का रूप देने के लिये भी विशेष प्रयत्नशील है ।

तत्त्व के बौद्धिक विश्लेषण और तर्क की उपयोगिता की ओर से वल्लभ की उदासीनता भी दर्शन और धर्म के इस समन्वय का ही परिणाम है । धर्म विश्वास है,और विश्वास में तर्क के

लिये अवकाश नहीं होता । इसके अतिरिक्त वैष्णवदर्शन की नियामिका भक्ति ही है, और भक्ति जीव और ब्रह्म के मध्य इतना अन्तर स्थापित कर देती है; जीव के दैन्य, अल्पज्ञता और हीनता पर इतना अधिक बल देती है कि उसके किसी भी प्रयत्न की कोई अर्थवत्ता नहीं रह जाती । ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान भी `सोई जानै जेहि देहु जनाई` की रीति से भगवत्कृपा से ही सम्भव हो सकता है, जीव-कृत प्रयत्नों की न कोई सार्थकता है, न उपयोगिता । फिर भक्ति के मनोविज्ञान को आत्मसात् कर लेने वाले वल्लभ यदि तर्क और युक्ति को व्यर्थ घोषित करते हैं, तो यह चौंकाने वाली बात बिल्कुल नहीं है । यह सच है कि वे उपनिषदों की अपेक्षा भागवत के प्रति अधिक आसक्त हैं; रामानुज की अपेक्षा उनके साम्प्रदायिक आग्रह अधिक प्रगल्भ हैं,तथा तर्क-संवलित तात्त्विक-विश्लेषण के प्रति उनकी उपेक्षा शंकर के और नागार्जुन के प्रशंसकों को असह्नीय है,तो भी उनका दर्शन चिन्तन की एक विशिष्ट दृष्टि प्रस्तुत करता है, तथा मध्ययुगीन भक्तिदर्शन की विशिष्ट मान्यताओं का प्रतिनिध है, इसमें सन्देह नहीं ।

एक दार्शनिक के अतिरिक्त वल्लभ हमारे सामने एक व्याख्याकार के रूप में भी उपस्थित होते हैं । उन्होंने ब्रह्मसूत्रों पर अणुभाष्य तथा श्रीमद्भागवत पर `सुबोधिनी`नामक टीका की रचना की है ।

ब्रह्मसूत्रों के व्याख्याकार के रूप में वे कितने सफल हैं, यह तो उनके सिद्धान्तों की पूर्वोक्त आलोचना से ही स्पष्ट है । यों ब्रह्मसूत्रों के जितने भी भाष्यकार हैं,उनमें शंकर ही ऐसे हैं,जो साम्प्रदायिक आग्रहों से सर्वथा मुक्त हैं; अन्यथा बाकी सभी भाष्यकार ऐसे किसी न किसी सम्प्रदाय या विश्वास के समर्थक और कुछ अनुयायी हैं,जो स्वयं उपनिषदों की मान्यताओं से भिन्न हैं । वल्लभ के साथ यह विशेष बात है कि उन्होंने भागवत के लगभग सभी सिद्धान्तों को उपनिषदों और सूत्रों में पढ़ने का प्रयास किया है और इसके लिये प्राय: उन्हें `द्राविड़-प्राणायाम` भी करना पड़ता है । इतना होते हुए भी उनके भाष्य या उनके सिद्धान्त में उपनिषदों की मौलिक विशेषताएं, और आधारभूत मूल्य औपनिषद् दर्शन और पांचरात्र धर्म का समन्वित रूप है, और इसीलिये अपने मौलिक स्वरूप में औपनिषद् दर्शन से अत्यन्त भिन्न नहीं है । जहां तक साम्प्रदायिक मान्यताओं का प्रश्न है, वे निश्चय ही कई बार उपनिषदों के चिन्तन और मनोविज्ञान से बहुत दूर जा पड़ती हैं और उनका अस्तित्व बहुत असंगत, बहुत अवांछित प्रतीत होता है ।

जहां तक भागवत की टीका का प्रश्नहै, वह अवश्य भागवत की मान्यताओं को अविकलरूप में प्रस्तुत करती है । वल्लभ की `सुबोधिनी` टीका भागवत के प्रथम,द्वितीय,तृतीय,दशम और एकादश के कुछ भाग पर उपलब्ध है । भागवत वल्लभ का सर्वाधिक प्रिय ग्रन्थ तो है ही, साथ ही उनके सिद्धांतों का उपजीव्य भी है,अत: वल्लभ ने बहुत मन से इसका व्याख्यान किया है । अपना सारा

ज्ञान, अपनी सारी अनुभूति उन्होंने इस टीका में उड़ेल दी है । `सुबोधिनी` भागवत की अत्यन्त विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण व्याख्या है तथा इसमें मूल ग्रन्थ में आई छोटी-से-छोटी बात का विशद् व्याख्यान किया ह गया है । इस टीका के आधार पर वल्लभ निश्चय ही एक उच्चकोटि के व्याख्या-कार सिद्ध होते हैं । इसके पूर्व कि यह बात समाप्त की जाये, एक महत्त्वपूर्ण तथ्य का निर्देश आवश्यक है । यह क पहिले भी कहा जा चुका है कि भागवत भक्तिसमन्वित अद्वैत का ग्रन्थ है, किन्तु कहीं-कहीं भागवतकार ने उस अद्वैत का भी प्रतिपादन किया है,जिनका स्वरूपशंकराभिमत केवलाद्वैत का है । ऐसे स्थलों पर अवश्य वल्लभ ने मूलार्थ से थोड़ी भिन्न व्याख्या की है,क्योंकि वल्लभ को केवलाद्वैत मान्य् नहीं है, अन्यथा सामान्यत: वे सर्वत्र मूलानुसारी व्याख्या ही करते हैं ।

वल्लभ के व्यक्तित्व का एक और पार्श्व भी है,और सम्भवत: यही सबसे सुन्दर और श्रद्धेय है । वल्लभ हमारे समक्ष एक स्वतन्त्र चिन्तक के रूप में भी उपस्थित होते हैं; एक ऐसे सहृदय विचारक के रूप में जो अपनी ज्ञानसम्पत्ति तथा अनुभूति-गरिमा से समाज के प्रत्येक व्यक्ति का उद्धार करने के लिए प्रयुत्नशील है । वल्लभ अपने समय के महान् धार्मिक नेता और कृष्णभक्ति के आधार-स्तम्भ थे । उन्होंने अनुभव किया कि समाज का उद्धार केवल भक्ति के द्वारा ही सम्भव है । भक्ति में ही यह सामर्थ्य है कि वह संवेदना के अत्यन्त स्थूल धरातल पर खड़े व्यक्ति को भी आध्यात्मिक अनुभूति के सत्य-स स्फूर्त, प्रज्ञासम्पन्न स्तर पर खींच लाये । इस बात को ध्यान में रखकर युग की आवश्यकता को पहिचानते हुए उन्होंने व्यक्ति के समक्ष आत्मकल्याण का जो मार्ग प्रशस्त किया, उसका नाम `पुष्टिमार्ग` या `पुष्टिसम्प्रदाय` है ।

`पुष्टि` का अर्थ है,भगवान् का वह अनुग्रह, वह अनुकम्पा जो अकारण,अनायास ही प्रत्येक जीव का उद्धार करने के लिये व्याकुल रहती है । इस मार्ग में भगवदनुग्रह या पुष्टि के ही सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और नियामक होने के कारण ही इस मार्ग का नाम `पुष्टिमार्ग` रखा गया । इस पुष्टि-मार्ग को असाधारण सफलता और लोकप्रियता मिली । भारत के सुदूर क्षेत्रों में इसका व्यापक प्रचार और प्रसार हुआ । सौराष्ट्र,गुजरात ,मारवाड़ और सम्पूर्ण उत्तरभारत को इसने अपने प्रभाव-क्षेत्र में समेट लिया । सहस्रों की संख्या में लोग पुष्टिमार्ग में दीक्षित हुए; और इस तरह पुष्टिमार्ग के द्वारा भौतिकता के पंक में डूबे पथभ्रष्ट समाज को एक नया जीवन , एक नयी दिशा मिली ।

पुष्टिमार्ग की इस असाधारण सफलता का कारण था, उसकी ऋजुता; उसका सरल-सहज रूप । इस मार्ग में न जाति की अपेक्षा थी न वर्ग का बन्धन; न वैराग्य का आग्रह था, न कर्मकाण्ड की अनिवार्यता । यह तो सर्वथा निस्साधन मार्ग था; भगवान् के प्रति असीम अनुराग और अनन्य शरणागति-बस यही दो अपेक्षाएं थीं इसकी । पुष्टिमार्ग ने लोगों के सामने कोई विस्तृत और जटिल आचारसंहिता नहीं रखी, न ही अविलम्ब सर्वस्व त्याग कर प्रव्रज्या ग्रहण करने का आदेश

दिया; उसका लक्ष्य तो और भी ऊंचा था। उसने कृष्ण-प्रेम और कृष्ण-भक्ति के द्वारा मानव का स्वभाव ही कुछ इस प्रकार परिवर्तित कर दिया कि उसकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिमयी हो उठी, भोग भी योग बन गया। उसका जीवन ही कृष्णमय हो गया, कृष्ण की उपासना का माध्यम बन गया।

इस प्रकार मध्ययुग के भक्तिआन्दोलन ने मानवमात्र के आध्यात्मिक उन्नयन और उद्धार का जो महत् अनुष्ठान किया था, 'पुष्टिमार्ग' के रूप में वल्लभ ने उसमें पूर्णाहुति समर्पित की। यह पुष्टिमार्ग भारतीय धर्म और दर्शन के क्षेत्र में वल्लभ का सबसे बड़ा योगदान है।

इस प्रकार वल्लभ के सिद्धान्तों, मान्यताओं, उनके विश्वासों और आस्थाओं के माध्यम उन्हें जानने-पहिचानने के बाद हमारे सामने वल्लभाचार्य का जो व्यक्तित्व उभरता है, वह अपने-आप में एक पूर्णता है, उपलब्धि है। वल्लभ एक साथ एक आस्थावान्, दार्शनिक, एक भावुक भक्त, एक समर्थ चिन्तक और सर्वोपरि एक संवेदनशील मानव के रूप में हमारे सामने आते हैं। चिन्तन के विविध क्षेत्रों में उनका जो योगदान रहा है, वह बहुमूल्य है।

वैष्णवधर्म और दर्शन के क्षेत्र में वल्लभाचार्य एक बड़ा नाम है। पन्द्रहवीं शती के कृष्ण-भक्ति-आन्दोलन को गति और शक्ति देने का सर्वाधिक श्रेय वल्लभ को ही है। उन्होंने पुष्टि-मार्ग के माध्यम से न केवल कृष्णभक्ति को लोक-व्यापी विस्तार दिये, अपितु विशुद्धाद्वैत के रूप में उसे शास्त्रीय प्रतिष्ठा भी प्रदान की। यद्यपि मध्व और निम्बार्क ने भी अपने दार्शनिक सिद्धान्तों में श्रीकृष्ण को ब्रह्मरूप से मान्यता दी है, तथापि वल्लभ के विशुद्धाद्वैत में श्रीकृष्ण की सृष्टि के एक और अद्वितीय सत्य के रूप में जैसी पुष्कल प्रतिष्ठा हुई, वैसी अन्य किसी दर्शन में नहीं हुई। वल्लभ ने शास्त्रीय दृष्टि से दर्शन की गहन-गम्भीर शैली में श्रीकृष्ण तत्त्व की जैसी प्रचुर व्याख्या की है, वैसी अन्य किसी भक्त या दार्शनिक ने नहीं की। विशुद्धाद्वैत दर्शन में वल्लभ ने सर्वप्रथम भागवत की मान्यताओं को एक सुसंहत दार्शनिक सिद्धान्त के रूप में प्रस्तुत किया है।

भागवत से गृहीत अपनी अनुरागात्मिका भक्ति को शास्त्रीय मर्यादाओं की लक्ष्मण-रेखा से घेर कर वल्लभ ने उसे तत्कालीन अतिभावुकता की उस प्रवृत्ति से बचाया, जिसका अन्त आगे चलकर रीतिकाल में वैष्णवदर्शन के महामहिम परब्रह्म श्रीकृष्ण को साधारण शृंगारी नायक बनाकर हुआ। वल्लभ वैष्णवदर्शन की आचार्य-परम्परा के अन्तिम आचार्य हैं, जिन्होंने भक्ति की शास्त्रीय मर्यादा सुरक्षित रखी है। उनके बाद तो भक्ति अधिकाधिक अ-शास्त्रीय और भावोद्वेगप्रधान होती गई है।

वल्लभ की साधना का मूर्तिमान् स्वरूप है--पुष्टिमार्ग, जिसने उनके तप का बल लेकर सहस्र सहस्र दिशाभ्रष्ट पथिकों का मार्गनिर्देश किया है, उन्हें संजीवनी दी है। आज भी पुष्टिमार्ग उनकी अनुभूति की ऊष्मा समेटे सजीव है और सक्रिय है। वल्लभ के सिद्धान्तों से परवर्ती वैष्णव-चिन्तन बहुत अधिक समन्वित और प्रभावित हुआ है। ब्रजप्रदेश में जितने भी कृष्णभक्ति सम्प्रदाय जन्में

और विकसित हुए, सब वल्लभ के प्रभाव की छाया में ही रहे। मध्ययुग के सभी भक्तिसम्प्रदायों में पुष्टिमार्ग का प्रभाव-क्षेत्र सर्वाधिक विस्तृत रहा है। न केवल धर्म और दर्शन, अपितु साहित्य भी वल्लभ के सिद्धान्तों से प्रभावित और लाभान्वित हुआ। भक्तिकाल का पूरा कृष्ण-साहित्य ही पुष्टिमार्ग की मान्यताओं के प्रति आस्थावान् है।

अष्टछाप के सभी कवि पुष्टिमार्ग में दीक्षित थे तथा उनका समस्त साहित्य उनकी पुष्टि-मार्गीय मान्यताओं का ही निदर्शक है। अष्टछाप के माध्यम से पुष्टिमार्ग का व्यापक प्रचार हुआ, तथा यह अधिकाधिक लोकप्रिय होता गया। वल्लभ ने अपने सभी शिष्यों को भाषा में काव्यरचना करने का आदेश दिया, और उनकी इस दूरदर्शिता ने पुष्टिमार्ग को जनसामान्य की आत्मीयता और स्नेह का पात्र बनाकर उसके दीर्घजीवन की भूमिका प्रस्तुत कर दी; और इसीलिये आज भी पुष्टिमार्ग जनता के संस्कारों में जीवित है।

इस भांति वल्लभ का अपने समसामयिक और परवर्ती धर्मदर्शन तथा साहित्य पर जो प्रभाव पड़ा, वह बहुत बड़ी सीमा तक उनके स्वरूप का शिल्पी और उनकी ~~भक्तिविषयक~~ गतिविधियों का निर्णायक रहा। कृष्णभक्ति के शास्त्रीय आधार के रूप में उनका विशुद्धाद्वैत तथा विशुद्धाद्वैत के व्यावहारिकपक्ष के रूप में उनका पुष्टिमार्ग, वैष्णवदर्शन की अत्यन्त सुन्दर और महत्त्वपूर्ण उपलब्धियां कही जा सकती हैं।

इसके पूर्व कि वाल्लभसम्प्रदाय की समीक्षा, और वल्लभ के योगदान का मूल्यांकन समाप्त किया जाये, एक प्रश्न का उत्तर देना आवश्यक है, जो प्राय: बुद्धि के असाधारण ऐश्वर्य से युक्त, वाल्लभदर्शन के आलोचकों के द्वारा पूछा जाता है। वह प्रश्न है--`क्या वल्लभ दार्शनिक भी हैं?` उनका कहना है कि यह ठीक है कि वल्लभ एक भावुक भक्त हैं, एक महत्त्वपूर्ण भक्तिसम्प्रदाय के सफल संस्थापक हैं, किन्तु इन बातों से यह तो सिद्ध नहीं होता कि वे एक दार्शनिक भी हैं। ऐसी बातें प्राय: वे ही करते हैं, जो दर्शन को तथ्यों के अत्यन्त संहत, सुसम्बद्ध बौद्धिक-विश्लेषण के ही रूप में लेते हैं; उसे अनुभूति की गहराई की अपेक्षा, तर्क-सामर्थ्य का क्षितिज-विस्तृत विस्तार समझते हैं। यह सच है कि आत्मनिष्ठ अनुभूति भी जब सिद्धान्तों के रूप में सामने रखी जाती है तो लोगों को विश्वास दिलाने के लिये उसका तर्कसम्मत और युक्तिसंगत होना आवश्यक हो जाता है, किन्तु इसके अभाव में वह अनुभूति, अनुभूति नहीं रह जाती--यह सोचना गलत है। दर्शन तो विश्व के कण-कण में व्याप्त रहस्यमय सत्य का अभिज्ञान है, उससे व्यक्ति की घनिष्ठ आत्मीयता है। शंकर के दर्शन को जो ख्याति और सम्मान प्राप्त हुआ है, वह उसे केवल युक्तिपूर्ण तथ्य-विश्लेषण के कारण नहीं, अपितु उसकी असाधारण अनुभूति-ऐश्वर्य के कारण मिला है। वल्लभ की अनुभूति में कहीं कोई कमी नहीं है; अपनी अनुभूति की पारदर्शिता और अपने चिन्तन की गहराई में वे भारत के प्रतिष्ठित

दार्शनिकों से किसी भी अर्थ में हीन नहीं हैं। यदि उनकी अनुभूति केवल इसीलिये दर्शन कहलाने योग्य न समझी जाये,क्योंकि वह निर्विशेष ब्रह्म के अनचीन्हे,अनजाने स्वरूप को चरम सत्य स्वीकार नहीं करती, अपितु सविशेष ब्रह्म श्रीकृष्ण के सुललितरूप के रसास्वादन में आत्मविभोर है, तो बात और है। सविशेष ब्रह्म के प्रति यह अनास्था तो स्वयं अपने ही प्रति अनास्था है; और इस अनास्था से कम-से-कम 'मानव' का कोई कल्याण सम्भव नहीं है और न ही यह उसमें किसी प्रकार का आत्मविश्वास ही जगाती है। यह भी एक सत्य है कि जो दर्शन निर्विशेष ब्रह्म को विषय बनाकर चलता है, वह ईश्वरवादी दर्शन की अपेक्षा स्वयं में तर्क और युक्ति के लिये अधिक अवकाश रखता है। ईश्वरवादी दर्शन धर्म से अनिवार्यत: प्रभावित होते हैं,और धर्म तो आस्थाप्रवण और विश्वासी होता ही है।

इसलिये केवल इन कारणों से वल्लभ के चिन्तन को दर्शन की राज्यसीमा से ही निष्कासित कर देना उचित नहीं है। यह सच है कि वाल्लभदर्शन में बौद्धिक-विश्लेषण और तथ्य के युक्तिपरक मूल्यांकन का अभाव उसकी एक कमी है,तो भी उसकी अनुभूति-समृद्धि के आधार पर उसे 'दर्शन' कहा जा सकता है। अनृत के आवरणों में छुपे 'सत्य' को अनावृत करने का वल्लभ का प्रयास और जीवन के रहस्यों में उनकी गहरी पैठ उन्हें दार्शनिक कहलाने का अधिकार देती है।
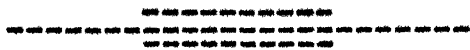
प रि शि ष्ट

परिशिष्ट - १-

वल्लभाचार्य--जीवनपरिचय

मध्ययुगीन जनमानस की वीणा पर कृष्णभक्ति की जो रागिनी अवतरित हुई,वल्लभ उसके अमर गायकों में से हैं।

वल्लभ भक्तिसम्प्रदाय के आचार्यों में अन्तिम प्रमुख आचार्य हैं। वल्लभ का व्यक्तित्व आत्मविस्मृत प्रेमविह्वल साधक या कवि के रूप में हमारे सामने न आकर एक ऐसे आचार्य के रूप में सामने आता है, जो भक्ति की शास्त्रीय मर्यादा से भली भांति परिचित है, और जो मनोभावों के आत्मविस्मृत प्रेमोन्मत्त प्रवाह को दास्यभाव की मर्यादा के तटों से बांध देता है।वल्लभ ने भक्ति के शास्त्रप्रतिपादित रूप को ही अधिक महत्त्व दिया है। भक्ति के शास्त्रीय स्वरूप को मान्यता देने वाले आचार्यों में वल्लभ कालक्रम से भी अन्तिम माने जा सकते हैं, रामानुज,मध्व, निम्बार्क,विष्णुस्वामी और वल्लभ। यों कृष्णभक्ति के एक अन्य आधार स्तम्भ चैतन्य वल्लभ के समकालीन थे,तो भी उन्हें शास्त्रीय आचार्यों की परम्परा में स्वीकार करना समीचीन ज्ञात नहीं होता,क्योंकि चैतन्य ने भक्ति के शास्त्रीय स्वरूप की अपेक्षा उसके प्रेमविह्वल स्वरूप का ही प्रतिपादन किया है।

उत्तरभारत में कृष्णभक्ति के दृढ़ीकरण में आचार्य वल्लभ का योगदान अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। उन्होंने भगवदनुग्रह पर आधारित एक भक्ति सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया, जो पुष्टिमार्ग के नाम से प्रसिद्ध हुआ हुआ। इस मार्ग के अन्तर्गत उन्होंने भक्ति का शास्त्रीय विवेचन किया तथा स्वमतानुसार विधि-विधान सहित पूजा की प्रणाली भी निश्चित की। इस सम्प्रदाय का एक पुष्ट दार्शनिक आधार भी वल्लभाचार्य ने प्रस्तुत किया। वल्लभ का दार्शनिक सिद्धान्त विशुद्धाद्वैत नाम से प्रसिद्ध है। इस प्रकार वल्लभ का मतवाद सैद्धान्तिक पक्ष तथा व्यावहारिक पक्ष दोनों ही दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। वल्लभ का व्यक्तित्व भारत के धार्मिक-दार्शनिक क्षेत्र का एक अत्यन्त सशक्त व्यक्तित्व है। वे आचार्य भी हैं और भक्त भी।

पन्द्रहवीं-सोलहवीं शती में भारत की जैसी शोचनीय राजनीतिक,सामाजिक और धार्मिक दशा थी, उसमें वल्लभाचार्य का आविर्भाव अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और युगान्तरकारी था।कृष्णभक्ति के माध्यम से उन्होंने व्यक्तिचेतना तथा सामाजिक चेतना के परिष्करण के क्षेत्र में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य किया।

वल्लभाचार्य के समय के विषय में कोईमतभेद नहीं है। उनका जीवन-परिचय भी अत्यन्त स्पष्ट और विस्तारपूर्वक मिलता है। उनके शिष्यों तथा वंशजों ने उनकी जीवन-घटनाओं का विस्तार से वर्णन किया है।

अन्य धार्मिक विभूतियों की भाँति श्री वल्लभाचार्य के साथ भी अनेक चमत्कार-गाथाएं जुड़ी हैं, जो उनके लौकिक जीवन में अलौकिकता और दिव्यता का समावेश करती है तथा एक साधक और भक्त के रूप में उनकी असाधारण शक्तियों की परिचायिका हैं।

वल्लभाचार्य का जन्म सम्वत् १५३५ में हुआ था। इनकी जन्म-भूमि मध्यप्रदेश में रायपुर के पास चम्पारण्य नामक ग्राम में थी। इनके पूर्वज आन्ध्रप्रदेश में व्योमस्तम्भ पर्वत के पास कृष्णा नदी के दक्षिण की ओर कांकरवाड़ नामक बड़े नगर में रहते थे। यह परिवार पूर्ण सदाचारी, वैष्णवी दीक्षावाला, शुद्ध वैलनाट(यावेलनाडु) यजुर्वेदी, तैत्तिरीय शाखीय तथा भारद्वाज गोत्रीय था। इस कुल की देवी रेणुका (परशुराम जी की माता) थीं।

इस वंश के मूल पुरुष श्री गोविन्दाचार्य जी थे। उनके पुत्र वल्लभ दीक्षित हुए और उनके पुत्र यज्ञनारायण भट्ट जी हुए। इन्होंने द्रविड़ देश के विष्णुमुनि नामक सन्त से गोपालमंत्र की दीक्षा ली। तब से यज्ञनारायण भट्ट जी श्री गोकुलेश की आराधना तथा गोपालमंत्र का जप करने लगे, तथा प्रत्येक वर्ष प्रभु को प्रसन्न करने के लिये एक सोमयज्ञ करने लगे। इस प्रकार यज्ञनारायण भट्ट जी के द्वारा सोमयज्ञ का प्रारम्भ हुआ। एक बार कहते हैं, ध्यानावस्था में भगवान् ने इन्हें दर्शन दिये, तथा कहा कि जब सौ सोमयाग पूरे हो जायेंगे, तब मैं तुम्हारे यज्ञ का विस्तार करने तुम्हारे वंश में अवतार लूंगा।

इन्होंने अपने जीवन-काल में सौ यज्ञ पूरे किये। इनके पुत्र का नाम गंगाधर सोमयाजी था। इन्होंने अपने जीवन में २८ सोमयज्ञ किये। गंगाधर सोमयाजी के पुत्र गणपति भट्ट थे। इनके विषय में कहा जाता है कि इन्होंने दक्षिण के अनेक शाक्तों और तांत्रिकों को वाद में पराजित किया था, तथा 'सर्वतंत्रनिग्रह' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। इन्होंने ३० सोमयाग किये थे। गणपति भट्ट के पुत्र बालभट्ट थे। ये अत्यन्त समर्थ विद्वान् थे तथा इन्होंने 'भक्तिदीप' नामक ग्रन्थ की रचना की। इन्होंने ५ सोमयाग किये थे। इनके दो पुत्र थे--लक्ष्मण भट्ट और जनार्दन। वल्लभाचार्य श्री लक्ष्मण भट्ट के पुत्र थे।

लक्ष्मण भट्ट ख्यातिलब्ध विद्वान् थे। इन्होंने विद्यानगर के राजपुरोहित सुशर्मा नामक विद्वान् ब्राह्मणवर्य की पुत्री यल्लम्मागारु से विवाह किया। इन्होंने १० सोमयाग किये। इस प्रकार यज्ञनारायण भट्ट के द्वारा लिये गये सौ सोमयाग करने के व्रत को पूर्ण किया। उस समय तक कांकरवाड़ नगर का पराभव हो चुका था, अतः इनका परिवार अग्रहार नामक ग्राम में आकर रहने लगा था।

१०० सोमयाग पूरे हो जाने पर लक्ष्मण भट्ट ने यज्ञ की पूर्णाहुति के लिये सवालाख ब्राह्मण-भोजन का संकल्प किया। इस हेतु वे सकुटुम्ब काशी में आकर रहने लगे। कुछसमय पश्चात्

यह समाचार मिला कि तत्कालीन मुगल बादशाह काशी पर आक्रमण करने आ रहा है। इस समाचार से आतंक फैल गया तथा नगरनिवासी नगर छोड़कर भागने लगे । यह देखकर लक्ष्मण भट्ट जी भी अपने परिवार तथा दक्षिण के अन्य व्यक्तियों के साथ अपने ग्राम अग्रहार जाने के लिये चल पड़े । मार्ग में रायपुर के समीप चम्पारण्य ग्राम में कृष्णपक्ष की अंधेरी रात्रि में यल्लमागारु को आठ मास का गर्भपात हुआ । बालक जीवित न था, यह देखकर उन्होंने उसे एक वस्त्र में लपेट कर एक शमीवृक्ष के कोटर में रख दिया और ऊपर से पत्ते ढांक दिये । फिर लक्ष्मण भट्ट अपने दल के साथ आगे चले और थोड़ी दूर पर जाकर आपने रात्रिकालीन पड़ाव किया । रात्रि में लक्ष्मण भट्ट तथा यल्लमागारु को भगवान् ने स्वप्न में दर्शन दिये तथा कहा कि मेरा अवतार तुम्हारे यहां हो चुका है । प्रात: पति-पत्नी ने एक-दूसरे को अपने-अपने स्वप्न सुनाये । इसी बीच समाचार मिला कि काशी में सन्यासियों ने मुसलमानों को हरा दिया है ।

यह सुनकर लक्ष्मणभट्ट पुन: काशी जाने को तैयार हुए । लक्ष्मण भट्ट तथा उनकी पत्नी वहां गये,जहां बालक को शमीवृक्ष के कोटर में रखा गया था । वहां जाने पर उन्होंने जो कुछ देखा, उससे वे आश्चर्यचकित हो उठे । उन्होंने देखा कि अग्नि का प्रज्ज्वलित मण्डल चारों ओर धधक रहा है तथा उसके बीच में अप्राकृत रूप वाला श्यामवर्ण का एक अत्यन्त सुन्दर बालक यल्ल-म्मागारु के लपेटे वस्त्र पर खेल रहा है ।

लक्ष्मणभट्ट ने बालक के शुभ संस्कार किये तथा श्रीवल्लभ नाम रखा । वल्लभाचार्य का जन्म वि०सं०१५३५ तदनुसार सन् १४७८ में वैशाख कृष्णपक्ष एकादशी को धनिष्ठा नक्षत्र में शुक्र रात्रि में हुआ था । आज भी चम्पारण्य में जहां महाप्रभु का जन्म हुआ था, वहां बैठक बनी हुई है तथा कहा जाता है कि उस वन में कोई गर्भवती स्त्री जाती है,तो उसका गर्भपात हो जाता है । लक्ष्मणभट्ट ने अपने इस पुत्र का नाम श्रीवल्लभ रखा था । जब वल्लभ पांच वर्ष के थे, तो लक्ष्मण भट्ट के यहां एक और पुत्र का जन्म हुआ, जिसका नाम केशव रखा गया । इस प्रकार लक्ष्मण भट्ट जी की पांच सन्तानें हुईं । रामकृष्ण,सुभद्रा,सरस्वती,वल्लभ और केशव । रामकृष्ण,सुभद्रा और सरस्वती वल्लभ से बड़े थे, और केशव छोटे ।

बालक वल्लभ सभी दिव्यचिह्नों से युक्त थे, तथा बाल्यकाल से ही अत्यन्त कुशाग्रबुद्धि थे । वल्लभ का उपनयन संस्कार सं०१५४२ में हुआ, जब उनकी अवस्था ८ वर्ष की थी । इसी वर्ष आपको विद्याध्ययन के लिये कुल-पुरोहित श्री विष्णुचित के पास भेजा गया । उन्होंने अध्ययनकाल में ही ब्रह्मवाद, जो बाद में 'शुद्धाद्वैत' नाम से प्रसिद्ध हुआ, का प्रवर्तन किया । अवकाश के समय में उन्होंने इस सिद्धान्त का अपने सहपाठियों में प्रचार भी प्रारम्भ किया । बहुत से विद्वान् इस सिद्धान्त के विरोधी हुए,किन्तु उन्होंने सिद्धान्त की तर्कसम्मत और वैदग्ध्यपूर्ण पुष्टि कर उन्हें

विस्मित कर दिया । वल्लभ बाल्यावस्था में ही विद्वानों में आदरणीय हो गये तथा उन्होंने शीघ्र ही सभी शास्त्रों में कुशलता प्राप्त कर ली ।

वल्लभ का विद्याभ्यास पूर्ण होने के थोड़े ही दिन बाद उनके पिता का स्वर्गवास हो गया । इस समय वल्लभ १२ वर्ष के थे ।

वल्लभाचार्य ने अपने जीवन में भारतवर्ष की तीन परिक्रमाएं कीं । प्रथम परिक्रमा उन्होंने पिता की मृत्यु के बाद बारह वर्ष की ही आयु में की । उस समय वल्लभाचार्य का वेश ब्रह्मचारी का था । वे सर्वप्रथम चित्रकूट आये, वहां से अपनी जन्मभूमि चम्पारण्य होते हुए अपने मूल निवास स्थान अग्रहार ग्राम आये । यहां पर उनके पितृव्य (काका) श्री जनार्दन भट्ट जी ने उनका स्नेहपूर्ण स्वागत किया । अग्रहार में उनके अनेक शिष्य हुए ।

वल्लभ के मामा श्री विद्याभूषण विद्यानगर के राजा कृष्णदेव के दानाध्यक्ष थे । उनके यहां से एक ब्राह्मण वल्लभाचार्य की माता यल्लम्मागारु का शोक शान्त करने के लिये अग्रहार आया, उससे वल्लभ को विद्यानगर के राजा कृष्णदेव के यहां होने वाले वाद का समाचार मिला । राजा का मन्तव्य था कि जो इस वाद में जीतेगा, उसे ही वे अपना दीक्षागुरु बनायेंगे। यह सुनकर वल्लभाचार्य ने वहां जाने का निश्चय किया ।

वल्लभाचार्य की विद्यानगर की यात्रा और वहां शास्त्रार्थ में उनकी विजय का बड़ा विशद् वर्णन वल्लभ के जीवनचरित्रों में मिलता है ।

अपने शिष्यों के साथ विद्यानगर (विजयनगर ?) पहुंचकर उन्होंने वाद के विषय में जानकारी प्राप्त की । कृष्णदेव राजा की पत्नी माध्वमतानुयायी थीं, तथा माध्व सम्प्रदाय के आचार्य व्यासतीर्थ की शिष्या थीं । वे राजा से भी उनका शिष्य होने का आग्रह कर रही थीं । राजा ने एक सभा का आयोजन किया था और यह निश्चय किया था कि जो इस शास्त्रार्थ में अन्य मतानुयायियों को पराजित करेगा, उसका ही मत वे स्वीकार करेंगे । शांकर मत के विद्वानों ने माध्वाचार्य व्यासतीर्थ को परास्त कर दिया था तथा दूसरे दिन शंकराचार्य का कनकाभिषेक होने वाला था । यह सुनकर वल्लभाचार्य ने दूसरे दिन सभा में जाने का निश्चय किया । उनकी अल्पायु और तेज देखकर सभी चकित और प्रभावित हुए । कृष्णदेव ने वल्लभाचार्य का बहुत सम्मान किया । इसके पश्चात् शास्त्रार्थ प्रारम्भ हुआ । विवाद का मुख्य विषय था-- ब्रह्मवस्तु का स्वरूप क्या है ? शांकरमतानुयायियों का कथन था कि ब्रह्म निर्विशेष है,और वल्लभाचार्य का मत था कि ब्रह्म सविशेष है । २८ दिनों के शास्त्रार्थ के पश्चात् वल्लभाचार्य ने सभा के सभी आचार्यों तथा विद्वानों को परास्त कर ब्रह्मवाद या शुद्धाद्वैत मत की स्थापना की । उस समय वल्लभाचार्य की अवस्था १३ या १४ वर्ष की थी । कृष्णदेव ने वल्लभाचार्य का शिष्यत्व स्वीकार किया

तथा उन्हें 'अखण्डभूमण्डलाचार्यवर्य जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य महाप्रभु' की उपाधि से विभूषित किया। कृष्णदेव ने महाप्रभु का कनकाभिषेक किया तथा उन्हें धन,स्वर्ण, रत्न आभूषणादि समर्पित किये। वल्लभाचार्य ने इस सम्पत्ति में से स्वयं के लिये कुछ भी स्वीकार न करते हुए समस्त सम्पत्ति कृष्णदेव के ही हाथों से दान करवा दी । चौदहवर्ष के बालक का यह अद्भुत त्याग देखकर लोग विस्मित हो उठे ।

इसके अनन्तर राजा ने आचार्य से स्वयं को सपरिवार शरण में लेने की प्रार्थना की ।तब आचार्य ने उन्हें शरणाष्टक मंत्र (श्रीकृष्ण: शरणं मम) की दीक्षा दी तथा तथा वैष्णवत्व के चिह्न के रूप में तुलसीकाष्ठ की माला प्रदान की । विद्यानगर का कनकाभिषेक वल्लभाचार्य की प्रथम यात्रा की सर्वप्रमुख घटना है ।

भारतवर्ष की प्रथम परिक्रमा, आचार्य ने कृष्णभक्ति का प्रचार करते हुए तथा अनेकानेक दैवी चमत्कार दिखाते हुए पूर्ण की तथा अग्रहार में अपनी माता तथा कुटुम्ब के अन्य स्वजनों के पास लौटे । कुछ दिन वहां निवास कर आपने द्वितीय परिक्रमा की तैयारी प्रारम्भ की । मंगलप्रस्थ और वेंकटेश होते हुए आप विद्यानगर पधारे तथा कृष्णदेव राजा को उपदेश देकर पण्ढरपुर गये । वहां विट्ठलनाथ जी ने प्रकट होकर उन्हें विवाह करने की आज्ञा दी, जिससे उनके वंश के माध्यम से पुष्टिमार्ग का समुचित प्रचार हो सके । वहां से पश्चिम की यात्रा पूर्ण कर आचार्य व्रज में आये । वहां गोवर्द्धन पर्वत पर श्रीनाथ जी का प्राकट्य हुआ औरआचार्य उनकी सम्यग्स्थापना कर व्रजयात्रा पूर्ण कर वहां से बद्रीनाथ गये । वहां से दूसरी यात्रा पूर्ण कर गंगासागर, गुजरात होते हुए अपनी दूसरी यात्रा पूर्ण कर काशी पधारे । काशी में अग्रहार से आपका कुटुम्ब आया और श्री देवभट्ट की पुत्री महालक्ष्मी के साथ काशी में सं०१५६२ आषाढ़ मास शुक्ल पंचमी को बड़े समारोह के साथ आपका विवाह सम्पन्न हुआ । अवस्था २८ वर्ष की थी ।

विवाह के पश्चात् आप छ: मास तक काशी में रहे और फिर तृतीय परिक्रमा आरम्भ की ।

तृतीय परिक्रमा के क्रम में सर्वप्रथम आचार्य श्री बद्रीनाथधाम पधारे । वहां पर श्रीनाथजी की आज्ञा हुई कि आप व्रज में आकर मेरा सेवा-प्रकार निश्चित करें । वल्लभाचार्य व्रज में आये और उन्होंने श्रीनाथ जी की सेवा का प्रकार निश्चित किया । फिर जगन्नाथपुरी तथा गुजरात की यात्रा करके बद्रीनाथ,हरिद्वार,कुरुक्षेत्र होते हुए पुन: व्रज में आकर श्रीनाथ जी के दर्शन किये । इस परिक्रमा में विभिन्न तीर्थों की यात्रा करते हुए वे जब अड़ैल आये, तो उनके शिष्य सोमेश्वर ने उनसे प्रार्थना की कि अब आपने अपने सम्प्रदाय की स्थापना कर दी है । अब आप सकुटुम्ब यहां

निवास कीजिए। आचार्य श्री ने वहां रहने की स्वीकृति दे दी।

इस प्रकार आचार्य श्री तृतीय परिक्रमा पूर्ण कर काशी लौटे। प्रथम परिक्रमा में नौ वर्ष, दूसरी में पांच वर्ष तथा तीसरी में चार वर्ष लगे। इस प्रकार वल्लभाचार्य जी ने १८वर्ष में तीन परिक्रमाएं पूरी कीं। सम्पूर्ण भारत का भ्रमण करते हुए आचार्य ने व्यापक स्तर पर कृष्ण-भक्ति का तथा पुष्टिमार्गका प्रचार किया। अनेक स्थानों पर विद्वानों तथा प्रतिद्वन्द्वियों से शास्त्रार्थ करते हुए उन्होंने अन्य मतों को निरस्त किया तथा विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त की स्थापना की। वल्लभाचार्य जीके सत्प्रयत्नों से दक्षिण,गुजरात,मारवाड़ तथा ब्रज क्षेत्र में कृष्णभक्तिको असाधारण लोकप्रियता, आस्था और सम्मान प्राप्त हुआ। कृष्णभक्ति की भावना को बल तथा एक स्थूल आधार देने के लिये वल्लभाचार्य ने अपने तृतीय परिक्रमा काल में स्थान-स्थान पर श्रीकृष्ण के मन्दिर बनवाये और मूर्तियां स्थापित कीं। तीन परिक्रमाओं के पूर्ण होने के उपलक्ष में काशी में तीस हजार ब्राह्मणों को भोज दिया। तत्पश्चात् वे अपनी पत्नी के साथ चरणाद्रि होते हुए अड़ैल आये। वे यहां स्थाई रूप से रहने लगे।

आचार्यश्री के दो पुत्र हुए। बड़े पुत्र गोपीनाथ जी का जन्म सं०१५६७ में अड़ैल में ही हुआ था। छोटे पुत्र श्री विट्ठलनाथ जी का जन्म स०१५७२ में चरणाद्रि में हुआ।

गोपीनाथ जी ने तो अधिक आयु नहीं पाई,किन्तु विट्ठलनाथ जी ने आगे चलकर संप्रदाय के संवर्धन और संरक्षण में बहुमूल्य योगदान दिया। अपने बड़े पुत्र के जन्म के पश्चात् वल्लभाचार्य ने प्रयाग में बड़े समारोह के साथ ज्योतिष्टोम याग भी सम्पन्न किया।

अड़ैल में रहकर आपने अनेक ग्रन्थों की रचना की। विशुद्धाद्वैत दर्शन के मानक ग्रन्थ 'अणुभाष्य' की रचना भी यहीं हुई। जब महाप्रभु ने श्रीमद्भागवत के तृतीयस्कन्ध पर अपनी सुबोधिनी टीका पूरी कर ली, तब उन्हें नित्यलीला में पधारने की प्रथम भगवदाज्ञा हुई। यह प्रथम भगवदाज्ञा उन्हें जगन्नाथ जी में हुई। वल्लभाचार्य जी ने चार से नौ स्कन्ध तक की सुबोधिनी लिखने का कार्य छोड़ दिया तथा दशम स्कन्ध के ऊपर टीका लिखने का कार्य आरम्भ किया। यहां से ब्रजयात्रा करते-करते आचार्य मथुरा के पास मधुबन आये। यहां इन्हें परमधाम में पधारने की दूसरी आज्ञा हुई,किन्तु सुबोधिनी का कार्य पूरा नहीं हुआ था। आगरा और कड़ेगांव होते हुए आचार्य अड़ैल आये। यहां दशम स्कन्ध की सुबोधिनी समाप्त कर एकादश स्कन्ध की सुबोधिनी प्रारम्भ की। तभी आपको भगवान् की तीसरी आज्ञा हुई। उन्होंने अपनी माता और पत्नी से सन्यास की आज्ञा चाही। शोकाकुल परिवार को ज्ञानोपदेश कर उन्होंने सन्यास की अनुमति प्राप्त कर ली। इसके बाद वल्लभाचार्य ने 'सन्यास निर्णय' ग्रन्थ की रचना की। उन्होंने स्मार्त और भागवत सन्यास में भागवत सन्यास को ही श्रेष्ठ समझकर अपने पितामह वल्लभ दीक्षित

द्वारा रचित सन्यास पद्धति की पुस्तक को प्रमाण मानकर माधव उपाध्याय से सन्यास की दीक्षा ली। उनका नया नाम पूर्णानन्द रखा गया। सर्वप्रथम आचार्य कुटीचक आश्रम धारण कर काषाय वस्त्र, त्रिदण्ड, शिखासूत्र, यज्ञोपवीत सहित अपने ही घर में भिक्षा मांगकर अपने कक्ष में छः दिन रहे। इसके बाद बहूदक आश्रम ग्रहण कर घर छोड़कर गंगातट पर अपने सम्बन्धियों के यहां से भिक्षा लेते हुए ८ दिन तक रहे। वहां से हंसाश्रम ग्रहण कर काशी के लिए प्रस्थान किया। मार्ग में वैष्णव समाज द्वारा भगवदुत्सव कराते हुए और वैष्णव ब्राह्मणों के यहां से फलादि की भिक्षा लेते हुए वे १८ दिनों में काशी पहुंचे। यहां हनुमानघाट के ऊपर सात दिन परमहंसाश्रम में स्थित रह, कौपीन मात्र धारण कर वल्लभाचार्य गंगा में प्रवेश करने को उद्यत हुए। उसी समय उनके दोनों पुत्र गोपीनाथ जी और विट्ठलनाथ जी वहां पहुंचे, और उन्होंने पिता से अपने कर्तव्य का उपदेश करने की प्रार्थना की। तब आचार्य ने खड़िया से तीन श्लोक शिला पर लिखे जो सम्प्रदाय में शिक्षा श्लोक के नाम से प्रसिद्ध हैं। इसके पश्चात् आचार्य ने गंगाजी में प्रवेश किया और नाभिमात्र जल में नेत्र बन्द कर परमानन्द विग्रह श्रीकृष्ण का अपने से अभिन्नरूप में चिन्तन करते हुए सम्वत् १५८७ वि० आषाढ़ शुक्ल तृतीया के मध्याह्नकाल में ज्वालापुंज मार्ग से व्यापिवैकुण्ठ को प्रस्थान किया। जिस जगह वल्लभ ने जलसमाधि ली थी, वहां गंगा के जल से आकाश के शिरोबिन्दु तक एक ज्योतिस्तम्भ लगभग तीन घंटे तक स्थिर रहा।

आचार्य ने अपनी साधना से लोकोत्तर सामर्थ्य प्राप्त कर ली थी और इसमें कुछ आश्चर्य भी नहीं है। पुरुषोत्तम के मुखावतार तो वे माने ही जाते थे।

उनके द्वारा किये गये अनेक चमत्कारों की कथाएं प्रसिद्ध हैं।

एक दिन किसी व्यक्ति के मनमें इस सन्देह पर कि क्या आचार्यश्री वास्तव में अग्नि-स्वरूप हैं, आचार्य श्री ने 'मेरे उदर में व्यथा हुई' इस प्रकार कहकर कुछ औषधि मंगवाई और उसे सामने प्रज्ज्वलित अग्नि में डाल दिया। ऐसा करने से आचार्य के उदर की पीड़ा शान्त हो गई और व्यक्ति का संशय भी मिट गया।

इसी प्रकार आचार्यश्री ब्रजयात्रा करते हुए कुरुक्षेत्र पधारे। मार्ग में अनेक व्यक्तियों को शरण में लेते हुए आप गुजरात के देशाधिपति के गांव में आ पहुंचे। उस देशाधिपति ने आज्ञा दे रखी थी कि कोई व्यक्ति किसी सवारी में बैठकर उसके महल के नीचे से न जाये। सेवकों ने यह बात आचार्य श्री से निवेदित की। आचार्य ने अपनी सवारी को महल के नीचे से ले जाने का आदेश दिया। लोगों ने हाकिम के पास इस बात की शिकायत की, किन्तु देशाधिपति को आचार्यश्री के दर्शन एक तेजपुंज के रूप में हुए। उसने कहा कि मैं मनुष्य के साथ लड़ सकता हूं, किन्तु अग्नि के साथ नहीं।

एक बहुचर्चित घटना सिकन्दरलोदी के राजत्वकाल की है। उन दिनों मथुरा में बहुत से हिन्दू मुसलमान बनाये जा रहे थे। आचार्यश्री व्रजयात्रा करते हुए मथुरा पधारे। वहां गोकुल के काज़ी ने बादशाह की आज्ञा से विश्रान्त घाट पर एक ऐसा यन्त्र लगा दिया था कि जो हिन्दू उसके नीचे से निकल जाय उसकी शिखा नष्ट होकर दाढ़ी हो जाती थी। इससे सभी को यमुना - स्नान में बहुत बाधा पड़ती थी। सभी वैष्णवों ने आचार्य जी से विनती की और कहा कि हम लोगों की यह कठिनाई दूर करें। तब आचार्य ने एक मंत्र कागज़ पर लिखकर दिया कि जो यवन इस मंत्र के नीचे से जायेगा, उसकी दाढ़ी नष्टहोकर शिखा उत्पन्न हो जायेगी। श्री केशवभट्ट ने दिल्ली दरवाज़े पर यह मंत्र टांग दिया और घोषणा करवा दी। सिकन्दर लोदी ने केशव भट्ट को बुलाकर पूछा तथा उनसे आचार्य श्रीकी महत्ता सुनकर बहुत प्रसन्न हुआ और विश्रान्त घाट से यन्त्र उठवा लिया।

श्री नटवरलाल गोकुलदास शाह ने अपने अंग्रेजी में लिखे "श्री वल्लभाचार्य जी का संक्षिप्त जीवन चरित्र" नामक ग्रन्थ के ११ वें अध्याय में (A Short Biographical Sketch of Shrimad Vallabhacharya's Life). वल्लभाचार्य जी के एक पुराने चित्र का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि वल्लभाचार्य जी का समकालीन दिल्ली का बादशाह सिकन्दर लोदी उनका बहुत सम्मान सम्मान करता था। बादशाह ने उस समय के एक प्रसिद्ध चित्रकार होनहार से उनका एक चित्र बनवाया था। श्री शाह ने इस चित्र के निर्माण का समय सम्वत् १५६७ दिया है। सिकंदर लोदी से यह चित्र मुगल बादशाहों के अधिकार में आया और शाहजहां ने उसे कृष्णगढ़ राज्य के निर्माता श्रीरूप सिंह जी को पुरस्कार में दिया। अभी तक यह चित्र कृष्णगढ़ में वर्तमान है।

मथुरा में यंत्र लगाने की घटना का समय तथा इस चित्र का निर्माण काल दोनों लगभग एक ही है। इससे दोनों ही घटनाओं की सत्यता प्रमाणित होती है।

महाप्रभु के दर्शन या चरणोदकपान से रोगमुक्ति और वैकुण्ठप्राप्ति की तो अनेक घटनाएं प्रसिद्ध हैं। जो भी हो, महाप्रभु एक तेजोमय व्यक्तित्व और लोकोत्तर सामर्थ्य के स्वामी थे इसमें कोई सन्देह नहीं।

वल्लभाचार्य अत्यन्त उदार मनोवृत्ति के थे। उन्होंने अपने सिद्धान्त को भगवत्प्राप्ति का सर्वाधिक सरल उपाय बताते हुए उसका प्रतिपादन श्रेष्ठ मार्ग कहकर अवश्य ही किया, किन्तु अन्य सिद्धान्तों से उनका द्वेष नहीं था। उनकी यह सहिष्णुता उनकी रचनाओं में जगह-जगह पर प्रमाणित होती है।

अपने जीवन-काल में उन्होंने अनेकों शास्त्रार्थ किये, वादों में अनेक पण्डितों को पराजित किया, किन्तु विजय भावना कभी दर्प में नहीं बदली और शास्त्रार्थ कभी मनोमालिन्य

का कारण नहीं बना, कम-से-कम उनकी ओर से तो नहीं ।

अपने समय के विद्वानों से उनका अच्छा परिचय था । पण्डित समाज में वे अत्यन्त समादरणीय माने जाते थे । चैतन्य महाप्रभु से उनका विशेष सौमनस्य था । एक बार वल्लभाचार्य जगदीश जी के दर्शन करने गये । वहां उनकी भेंट चैतन्य महाप्रभु से हुई तथा धर्म चर्चा हुई । दोनों काफी दिनों तक साथ रहे थे ।

एक समय चैतन्य महाप्रभु बंगाल से वृन्दावन जाते समय अड़ैल भी आये थे । आचार्य ने उनका उचित अतिथि-सत्कार किया । उस समय तक राजभोग हो गया था, किन्तु उन्होंने श्रीचैतन्य को अनिवेदित सामग्री में से ही भोजन कराया । लोगों के शंका करने पर बताया कि श्री चैतन्य के हृदय में साक्षात् श्रीकृष्ण निवास करते हैं, अत: उन्हें एक बार की निवेदित सामग्री में से भोजन कैसे कराया जाता । यह उनकी उदारता का परिचायक है, अन्यथा वल्लभ उन्हें सहजता से अपना प्रतिद्वन्द्वी मान सकते थे ।

आचार्य अपने सौजन्य और स्नेहशील स्वभाव के कारण बहुत लोकप्रिय थे । वे इस बात का साक्षात् उदाहरण थे कि भगवद्भक्त किसी से द्वेष नहीं करता । हिन्दू तथा यवन दोनों समानरूप से उनका आदर करते थे । अलीखान पठान आचार्य पर बहुत स्नेह रखते थे । आचार्य ने उन्हें शरण लिया था । दो सौ बावन वैष्णवों की वार्ता में अलीखान पठान कुलसीदास जी के शिष्य कहे गये हैं, किन्तु वास्तव में वे वल्लभाचार्य के शिष्य हैं । इससे संकेत मिलता है कि वल्लभाचार्य भी ईश्वर की भक्ति में प्रत्येक ~~धर्म~~ वर्ग, प्रत्येक जाति के व्यक्ति का समान अधिकार स्वीकार करते थे ।

वल्लभाचार्य हमारे समक्ष एक साथ, आचार्य, भक्त और धर्मप्रचारक के रूप में आते हैं । उनके आचार्यत्व की गरिमा उनके सिद्धान्तों में प्रभूतमात्रा में वर्तमान है । उनके भक्त-हृदय की मृदुता और सरसता उनके द्वारा रचित स्तुतियों और श्लोकमालाओं में निर्बाध बहती है ।

धर्मप्रचारक के रूप में उनका योगदान अन्यतम है । कृष्णभक्ति के प्रचार और प्रसार के लिये उन्होंने जीवन भर यत्न किये । १८ वर्ष लगाकर उन्होंने भारतवर्ष की जो तीन परिक्रमाएं कीं, उनका एकमात्र उद्देश्य कृष्णभक्ति का प्रचार ही था । इस उद्देश्य में उन्हें पूरी सफलता भी मिली । उन्होंने स्थान-स्थान पर श्रीमद्भागवत का पाठ किया, जनता को कृष्णभक्ति का उपदेश दिया और देवालय स्थापित किये । उनके प्रयत्नों से लोग कृष्णभक्ति की ओर विशेषरूप से आकृष्ट हुए । ब्रजक्षेत्र में तो निम्बार्क तथा माध्व सम्प्रदायों के प्रभाव से कृष्णभक्ति की स्थिति पर्याप्त सम्पन्न थी, किन्तु दक्षिणांचल, काठियावाड़-गुजरात, तथा मारवाड़ आदि प्रदेशों में कृष्णोपासना के प्रति जनता की आस्था और श्रद्धाभाव जगाने का श्रेय आचार्य वल्लभ को ही है । वल्लभाचार्य

ने अपने मत को भक्तिप्रवण भावोच्छ्वास तक ही सीमित नहीं रखा, अपितु उसे शास्त्रीय और सैद्धान्तिक आधार भी दिये। १४ वर्ष की अल्पायु से ही उन्होंने पण्डितों तथा विद्वज्जनों के समक्ष अपने दार्शनिक सिद्धान्त विशुद्धाद्वैत की व तर्कप्रवण प्रस्तुति और पुष्टि प्रारम्भ कर दी थी। इस प्रकार कृष्णोपासना परक अपने सम्प्रदाय पुष्टिमार्ग को उन्होंने 'विशुद्धाद्वैत' के रूप में एक दार्शनिक आधार और पूरक सिद्धान्त भी दिया।

वल्लभाचार्य ने प्रचुर मात्रा में ग्रन्थ-रचना की। उनकी रचनाएं संस्कृत में ही हैं। भाषा में उन्होंने काव्यरचना नहीं की। किन्तु अपने शिष्यों को उन्होंने भाषा में रचना करने की आज्ञा दी थी। उनके सम्प्रदाय के शिष्यों ने संस्कृत और भाषा दोनों में ही रचनाएं की हैं। प्राय: सिद्धान्त सम्बन्धी ग्रन्थ संस्कृत में तथा भक्तिपरक रचनाएं ब्रजभाषा में की गई हैं। स्वयं भाषा में रचना न करते हुए भी वल्लभाचार्य ने अपने शिष्यों को ब्रजभाषा में रचना करने की प्रेरणा दी। अष्टछाप के कवि इसका प्रमाण हैं। इन कवियों ने साहित्य में कृष्ण-भक्ति को लोकप्रियता के जो विस्तार दिये वे भक्ति के इतिहास में अन्यतम हैं। अष्टछाप के कवियों में से सूरदास, कुम्भनदास, कृष्णदास तथा परमानन्ददास वल्लभाचार्य के शिष्य थे तथा नन्ददास, चतुर्भुजदास, गोविन्दस्वामी, छीतस्वामी विट्ठल के शिष्य थे। इन्हें 'अष्टछाप' यह नाम भी विट्ठल ने ही दिया था। वल्लभाचार्य के शिष्यों में से सूरदास तो कृष्णलीला के अन्यतम गायक हैं।

परिशिष्ट सं० -१-
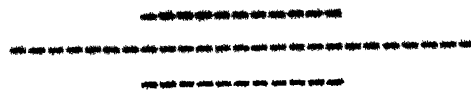
वल्लभाचार्य -- कृतिपरिचय

वल्लभाचार्य हमारे समदा विशुद्धाद्वैत के प्रवर्तक और पुष्टिमार्ग के संस्थापक के रूप में आते हैं। अपने सिद्धान्तों और मान्यताओं का स्वरूप स्पष्ट करने के लिये उन्होंने अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। उनके बहुत से ग्रन्थ इस समय उपलब्ध नहीं हैं,किन्तु जो भी मिलते हैं, उनसे उनके सिद्धान्त का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। डा० एस०एन० दासगुप्त ने अपनी पुस्तक `ए हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी` के चौथे भाग में वल्लभाचार्य के ५१ ग्रन्थों की सूची दी है। इनमें से बहुत से ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हें `ग्रन्थ` कहना ही उपयुक्त नहीं है। अधिकांश रचनाएं स्तुतिपरक हैं, अथवा साम्प्रदायिक मान्यताओं और रीतियों का ही विवेचन करती हैं।

सिद्धान्त की दृष्टि से जो ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं,उनके नाम इस प्रकार हैं--

(१) अणुभाष्य

(२) तत्वदीपनिबन्ध

(३) भागवतसुबोधिनी व्याख्या तथा

(४) षोडशग्रन्थ

इनमें से अणुभाष्य ब्रह्मसूत्रों का व्याख्यान है,तत्वदीपनिबन्ध उनके सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाला स्वतंत्र ग्रन्थ है,`भागवतसुबोधिनी` श्रीमद्भागवत पर उनकी टीका है, तथा षोडशग्रन्थ उनके सोलह प्रकरण ग्रन्थ हैं जो सिद्धान्त और सम्प्रदाय की विविध मान्यताओं का विवेचन करते हैं। यहां इनका संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है--

अणुभाष्य

यह वल्लभकृत ब्रह्मसूत्रों की व्याख्या है, जिसमें उन्होंने अन्य सभी भाष्यकारों से स्वतंत्र अर्थ का प्रतिपादन किया है। इस भाष्य की रचना कर उन्होंने अपने सिद्धान्त को दर्शन के क्षेत्र में मान्यता और प्रतिष्ठा दिलाने की चेष्टा की है।

ब्रह्मसूत्र या अणुभाष्य हमें आज जिस रूप में प्राप्त है, वह पूरा वल्लभ के द्वारा नहीं लिखा गयाहै। अन्तिम डेढ़ अध्याय उनके पुत्र विट्ठलनाथ के द्वारा पूरे किये गये हैं। बहुत सम्भव है कि आज अणुभाष्य का जो रूप हमारे सामने है, इस रूप में वह वल्लभ के द्वारा न लिखा गया रहा हो। `वेदस्तुति सुबोधिनी` में वे कहते हैं--`भाष्ये विस्तरस्योक्तत्वात्` --परन्तु यह विस्तार अणुभाष्य में हमें कहीं प्राप्त नहीं होता। भागवत में तृतीय स्कन्ध के चतुर्थ अध्याय के सातवें श्लोक की व्याख्या करते हुए वल्लभ लिखते हैं --`एतान्येव गुणोपसंहारे षोडशाधिकरण्या प्रतिपादितानि`। गुणोपसंहारपाद ब्रह्मसूत्र के तृतीय अध्याय का तृतीयपाद है। सोलह विशेषणों के सन्दर्भ में वल्लभ ने

जिन सोलह अधिकरणों का उल्लेख किया है, उसके आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि भागवत के तृतीय स्कन्ध पर भाष्य लिखने के पूर्व वे गुणोपसंहारपाद पर अपना भाष्य लिख चुके थे; परन्तु अणुभाष्य में हम इन सोलह विशेषणों का कोई भी उल्लेख नहीं पाते हैं। इसी प्रकार ईक्षत्यधिकरण में सांख्य का कोई उल्लेख नहीं है, जब कि प्रथम अध्याय के चतुर्थपाद में कहा गया है कि सांख्य का खण्डन ईक्षत्यधिकरण में किया जा चुका है।

कुछ विद्वानों का मत है कि वल्लभ ने ब्रह्मसूत्र पर एक विशाल और विशद् भाष्य लिखा होगा, किन्तु दुर्भाग्य से वह या तो नष्ट हो चुका है या अप्राप्य है। आज जो अणुभाष्य हमें मिलता है, वह उस बृहत् भाष्य का एक संक्षिप्त संस्करण है। एक पारिवारिक घटना भी इस तथ्य की पुष्टि करती है। सम्वत् १६२० में जगन्नाथपुरी में श्री गोपीनाथ जी का देहावसान हुआ। इसके कुछ ही समय बाद उनके एकमात्र पुत्र पुरुषोत्तम की मृत्यु हो गई। गोपीनाथ की पत्नी का जीवन इससे बहुत ही विषाक्त हो गया। विट्ठल और उनकी भाभी में मनोमालिन्य हो गया था, इसी आक्रोश में उन्होंने वल्लभाचार्य के सारे ग्रन्थ हस्तगत कर लिये। वल्लभ के ग्रन्थों को प्राप्त करने की भरसक चेष्टा विट्ठल ने की, पर वे उनका कुछ अंश मात्र ही पा सके। इस प्रकार बृहत् ब्रह्मसूत्र भाष्य के कुछ अंश से ही सन्तोष करना पड़ा और अन्त के लगभग दो अध्याय स्वयं ही पूरे करने पड़े। यह तो ठीक है कि विट्ठलनाथ ने अणुभाष्य के अन्तिम दो अध्याय पूरे किये हैं, किन्तु यह कल्पना असंगत-सी लगती है कि यह किसी बृहत् अणुभाष्य का लघु संस्करण है। अन्तिम दो अध्याय यद्यपि विट्ठल ने लिखे हैं, तथापि सामान्यत: इस बात का अनुमान लगाना कठिन होता है,क्योंकि विट्ठल ने वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों और शैली का बहुत ही सफलतापूर्वक अनुसरण किया है। वल्लभ के सिद्धांतों में कहीं कोई अन्तर नहीं आता है। इसीलिये अणुभाष्य को पूरा वल्लभ का ही ग्रन्थ मानकर विषय-विवेचन किया जाता है।

विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त की दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण ग्रन्थ है, इसलिये इसपर अनेक विद्वत्ता-पूर्ण टीकाओं की रचना हुई है। अणुभाष्य के सबसे यशस्वी टीकाकार गोस्वामी श्री पुरुषोत्तम हैं। ये सम्प्रदाय के अत्यन्त ख्यातिलब्ध विद्वान् हैं तथा इन्होंने वल्लभ के सभी प्रमुख ग्रन्थों पर टीकाओं की रचना की है। अणुभाष्य पर इनकी व्याख्या का नाम है`भाष्य प्रकाश' । इसके पश्चात् अणुभाष्य और भाष्यप्रकाश का अत्यन्त गम्भीर और सटीक अध्ययन प्रस्तुत करने वाली एक और टीका है--`रश्मि' । इसके लेखक गोस्वामी श्री गोपेश्वर महाराज हैं। `रश्मि' में गोपेश्वर जी ने न केवल भाष्यप्रकाश को समझाया है, अपितु उसके एक बहुत बड़े अभाव की भी पूर्ति की है। भाष्यप्रकाशकार ने सर्वत्र अणुभाष्य का श शाब्दिक अर्थ नहीं किया है। गोपेश्वर जी ने अणुभाष्य को शब्दत: भी अनूदित किया है। इनके अतिरिक्त अणुभाष्य पर विभिन्न दृष्टियों से और भी

अनेक टीकाओं की रचना हुई है । उन सब का परिचय यहां देना सम्भव नहीं है ।

तत्त्वदीपनिबन्ध

`तत्त्वदीपनिबन्ध` वल्लभाचार्य का स्वतन्त्र ग्रन्थ है । यह `निबन्ध` के नाम से अधिक प्रसिद्ध है । इसमें उन्होंने विशुद्धाद्वैत सिद्धान्त का बड़ा ही विशद् और विस्तृत वर्णन किया है । यह ग्रन्थ तीन भागों में बंटा है, जिनमें श्लोकों में विषय-विवेचन किया गया है । पहिले भाग का नाम `शास्त्रार्थप्रकरण` या `प्रमेयप्रकरण` है । इस प्रकरण में विशुद्धाद्वैत के सिद्धांतों का विस्तृत विवेचन है । दूसरे भाग का नाम `सर्वनिर्णयप्रकरण` है । इसमें पूर्वपक्षियों का निरसन किया गया है । भक्ति तथा ज्ञान,सांख्य,योग आदि के प्रामाण्य का भी विवेचन किया गया है । पुष्टिमार्ग,मर्यादामार्ग तथा ज्ञानमार्ग के स्वरूप और उनकी आचारपद्धतियों पर भी विस्तारपूर्वक प्रकाश डाला गया है ।तीसरे भाग का नाम `भागवतार्थप्रकरण` है । इसमें भागवत के प्रत्येक स्कन्ध के वर्ण्यविषय का सार प्रस्तुत किया गया है ।

`तत्त्वदीपनिबन्ध` की कारिकाओं पर वल्लभ ने स्वयं `प्रकाश` नामक टीका की रचना की है । इस ग्रन्थ पर पुरुषोत्तम की `आवरणभंग` नाम की बहुत सुन्दर टीका भी उपलब्ध है ।

भागवत सुबोधिनी

यह श्रीमद्भागवत पर वल्लभ की टीका है । यह टीका प्रथम,द्वितीय,तृतीय,दशम तथा एकादश स्कन्धों पर मिलती है । एकादश स्कन्ध की टीका पूरी नहीं है । `सुबोधिनी` श्रीमद्भागवत के सर्वाधिक सुन्दर व्याख्यानों में से है । वल्लभ ने भागवत के कथ्य को बहुत स्पष्ट रीति से प्रस्तुत किया है । तृतीय स्कन्ध की सुबोधिनी इस दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण है कि इसमें वल्लभ ने निर्गुण -भक्तियोग का विशद विवेचन किया है । दशम स्कन्ध के रासपंचाध्यायी प्रकरण की भी बहुत सुन्दर व्याख्या वल्लभ ने की है । भागवत सुबोधिनी वल्लभ के सर्वाधिक यशस्वी और विद्वत्पूर्ण ग्रन्थों में से है, तथा एक भाष्यकार के रूप में भी वल्लभ के असाधारण सामर्थ्य की परिचायिका है । सुबोधिनी पर पुरुषोत्तम ने `सुबोधिनी प्रकाश` नाम की सुन्दर टीका लिखी है ।

इन तीन ग्रन्थों के अतिरिक्त वल्लभ के सोलह प्रकरण ग्रन्थ भी महत्त्वपूर्ण हैं :--

यमुनाष्टकम्

इसमें वल्लभ ने बड़े ही सुन्दर और लालित्यपूर्ण श्लोकों में यमुनाजी की स्तुति की है । इस ग्रन्थ में आठ श्लोक हैं ।

बालबोध

इसमें बीस श्लोक हैं, जिसमें से बीसवां अपूर्ण है । इस ग्रन्थ पर पुरुषोत्तम की `विवृति` नामक टीका भी है । इस ग्रन्थ में अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष ~~का~~ इन चार पुरुषार्थों का विवेचन है । भक्ति मार्ग में जीवकृत प्रयत्नों की अपेक्षा भगवदिच्छा और भगवदनुग्रह की ही अर्थवत्ता है । वल्लभ कहते हैं कि जो जीव भगवान् की सेवा नहीं करते, और उनके श्रीचरणों में प्रीति नहीं रखते, वे `दुष्ट` जीव होते हैं; किन्तु भगवदंश होने के कारण जीव स्वभावत: दुष्ट नहीं हो सकते । ऐसे जीव ~~क~~ भी यदि भगवान् की भक्ति करें, उनके लीलाश्रवणादि में प्रवृत्त हों तो उनका `दुष्टत्व` नष्ट हो जायेगा । निरन्तर भगवच्छ्रवण आदि से ऐसे जीवों का भी तदीयत्व सम्पादित हो जाता है । इस ग्रन्थ में वल्लभ ने शरणागति, आत्मनिवेदन तथा अहन्ता-ममतानिवृत्ति की उपयोगिता पर बल दिया है ।

सिद्धान्त मुक्तावली

इस ग्रन्थ का सिद्धान्त की दृष्टि से विशेष महत्त्व है । इसमें वल्लभ ने सेवा के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । उनके अनुसार मानसी सेवा ही भक्ति है; तथा तनुजा और वित्तजा सेवाएं मानसी सेवा की पूर्वभूमिका हैं । इसी में वल्लभ ने ब्रह्म के पुरुषोत्तम और अक्षरस्वरूप की भी विवेचना की है । पुष्टिमार्गीय ,मर्यादामार्गीय ~~तथा~~ तथा ज्ञानमार्गीय साधकों की स्थिति और उपलब्धि पर भी विचार किया गया है ।

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद

यह ग्रन्थ वल्लभ के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रकरण ग्रन्थों में से है । जीव सम्बन्धी सिद्धान्तों पर यह विशेष प्रकाश डालता है । वल्लभ ने इसमें जीवों के वर्गीकरण पर विचार किया है । सर्वप्रथम वल्लभ ने पुष्टि, मर्यादा और प्रवाह मार्गों के स्वरूप का विवेचन किया है । तत्पश्चात् इन साधनामार्गों ~~क~~ में अभिरुचि की दृष्टि से जीवों का पुष्टि जीव, मर्यादाजीव, तथा प्रवाहजीव के रूप में वर्गीकरण किया है । इस वर्गीकरण के अनुसार जीवों की विशिष्ट प्रकृति और प्रवृत्तियों की भी समीक्षा की गई है । यह ग्रन्थ अपूर्ण है । अन्त के तीन चार श्लोक उपलब्ध नहीं होते । इस ग्रन्थ में सत्रह श्लोक हैं ।

सिद्धान्तरहस्यम्

इस प्रकरण ग्रन्थ में पुष्टिमार्ग की साधना पद्धति से सम्बद्ध कुछ महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार किया गया है । इस ग्रन्थ में पुष्टिमार्ग की दीक्षा पद्धति और आत्मनिवेदन की रीति

समझाई गई है । साथ ही पुष्टिमार्ग में दीक्षित साधक के आचार-व्यवहार सम्बन्धी नियमों का विवेचन तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्य का भी निर्णय किया गया है । इसमें साढ़े आठ श्लोक हैं ।

नवरत्नम्

इसके नौ श्लोकों में वल्लभ ने यह बात समझाई है कि पुष्टिमार्गीय व्यक्ति को चिन्ता से सदैव दूर ही रहना चाहिए । जब एक बार श्रीकृष्ण के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया, तब चिन्ता कैसी ? जीव दास है, श्री कृष्ण ईश्वर हैं, वे स्वयं ही निवेदितात्मा जीव के योग-क्षेम का वहन् करते हैं ।

अन्त:करण प्रबोध

इसमें ग्यारह श्लोक हैं । वल्लभ अपने अन्त:करण को उपदेश देते हैं कि कभी चिन्ता नहीं करनी चाहिये । इस बात का सतत् चिन्तन करते रहना चाहिए कि श्रीकृष्ण ही विश्व में एकमात्र सर्वदोष विनिर्मुक्त सत्ता हैं; वे ही प्रभु हैं तथा जीव को सदैव उनका आज्ञानुवर्ती ही रहना चाहिए । कष्ट होने पर केवल श्रीकृष्ण की ही शरण ग्रहण करनी चाहिए,क्योंकि वे सर्वशक्तिमान् हैं ।

विवेक धैर्याश्रय:

इसप्रकरण ग्रन्थ में १७ श्लोक हैं । इसमें वल्लभ ने `विवेक` और `धैर्य` की स्वरूप व्याख्या की है । विवेक का अर्थ है यह जानना कि ईश्वर की इच्छा ही बलवती है । जीव को वे ही वस्तुएं प्राप्त होती हैं,जो भगवान् उसे देना चाहते हैं । जीव को किसी वस्तु के प्रति लालसा या आकांक्षा रखना उचित नहीं है । जो कुछ भगवान् दें उसे सादर ग्रहण करना चाहिये, वही उनका प्रसाद है । धैर्य का अर्थ है त्रिविध तापों और सर्वविध दु:खों को अनुद्विग्नभाव से सहन करना । जीवकी नियति भगवान् की इच्छा है , उसका आदर करना जीव का कर्त्तव्य है ।

श्रीकृष्णाश्रय:

इसमें ग्यारह श्लोक हैं । इसमें वल्लभ ने कलियुग का चित्र खींचा है । इस कलियुग में काल,व प्रदेश,विद,धर्म,व्यक्ति और समाज सभी कुछ भ्रष्ट और दोषग्रस्त हो गये हैं । किसी क्रिया, किसी अनुष्ठान की पवित्रता सुरक्षित नहीं रही । इस दुर्दशा में एकमात्र श्रीकृष्ण ही सर्वदोष विनिर्मुक्त और प्रभु होने से जीव के एकमात्र आश्रय हैं ।

चतु:श्लोकी

इसमें चार श्लोक हैं । वल्लभ कहते हैं कि सर्वात्मना आत्मसमर्पण के साथ श्रीकृष्ण

की भक्ति ही जीव का एकमात्र कर्तव्य है । अन्य सभी साधनानुष्ठान व्यर्थ हैं,क्योंकि वे जिन फलों की प्राप्ति कराते हैं, वे नायिष्णु हैं ।

भक्तिवर्द्धिनी

इस प्रकरणग्रन्थ में ग्यारह श्लोक हैं । सिद्धान्त विवेचन की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण ग्रन्थ है । इसमें वल्लभ ने भक्ति के स्वरूप पर विचार किया है । इस ग्रन्थ में भक्ति के विकास का बड़ा स्पष्ट और मनोवैज्ञानिक निरूपण किया गया है । भक्ति की बुद्धावस्था से प्रारम्भ कर प्रेम,आसक्ति और व्यसन की स्थितियों तक भक्ति की क्रमश: परिपक्व होते हुए स्वरूप का विवेचन किया गया है ।

जलभेद:

इसमें इक्कीस श्लोक हैं । इस ग्रन्थ में वल्लभने जल के भेदों के आधार पर साधकों के भेद और उनकी प्रकृति पर विचार किया है ।

पंचपद्यानि

इसमें पांच श्लोक हैं । इसमें वल्लभ ने व्यक्तिगत सामर्थ्य के आधार पर श्रोताओं के भेदों का निरूपण किया है ।

सन्यासनिर्णय:

इसमें बाइस श्लोक हैं । इस ग्रन्थ का पुष्टिमार्ग की साधनापद्धति स्वरूप स्पष्ट करने में विशेष उपयोगिता है ।इसमें वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय सन्यास के स्वरूप पर प्रकाश डाला है । वास्तविक सन्यास तो मन का सन्यास है,जो भगवान् में अनन्य आसक्ति होने पर स्वत: ही सिद्ध हो जाता है । इसके लिए किसी बाह्य क्रिया-अनुष्ठान या शास्त्रीय औपचारिकता की आवश्यकता नहीं होती । पुष्टिमार्ग में इसी सन्यास की उपयोगिता है ।

निरोध लक्षणम्

इस प्रकरण ग्रन्थ में बीस श्लोकहैं । इसमें `निरोध` की स्वरूप समीक्षा की गई है । निरोध का लक्षण करते हुए वल्लभ कहते हैं कि सांसारिक विषयों और व्यक्तियों से अपनी आसक्ति और अभिनिवेश हटाकर उसे श्रीकृष्ण में केन्द्रित करने का नाम ही निरोध है । चित्त को समस्त बाह्य विषयों से पराङ्मुख होकर श्रीकृष्णस्वरूप में ही `निरुद्ध` हो जाना चाहिए । इस ग्रन्थ के द्वारा पुष्टिमार्ग के मनोविज्ञान की रूपरेखा स्पष्ट होती है ।

सेवाफलम्

इस प्रकरणग्रन्थ में साढ़े सात श्लोक हैं। इसमें वल्लभ ने पुष्टिमार्गीय तथा मर्यादामार्गीय जीवों को प्राप्त होने वाले फलों का विवेचन किया है। पुष्टिमार्गीयों का फल अलौकिक-सामर्थ्य या लीलाप्रवेश है; तथा मर्यादामार्गियों के कृष्णसायुज्य और वैकुण्ठ में सेवोपयोगी देहेन्द्रियादि की प्राप्ति ये दोनों फल कहे गये हैं।

वल्लभ के ये ग्रन्थ उनके सिद्धान्त का स्वरूप स्थिर करने में विशेष सहायक है। उनके अन्य ग्रन्थ सामान्यत: पूजाविधिपरक या स्तोत्र संकलनमात्र हैं; सिद्धान्त का स्वरूप स्थिर करने में उनका कोई विशेष योगदान नहीं है, अत:यहां उनका परिचय देना विषय का अनावश्यक विस्तार ही होगा।

=
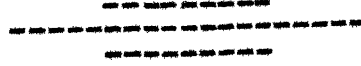
परिशिष्ट संख्या- (३)
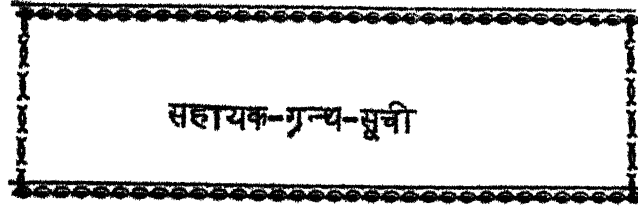
सहायक-ग्रन्थ-सूची

अणुभाष्यम्(प्रथम व द्वितीय खण्ड) -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; विद्याविलास प्रेस, बनारस

श्रीमदणुभाष्यम् -- श्रीमद्वल्लभाचार्य;, गवर्नमैण्ट सैण्ट्रल प्रेस, बम्बई
(पाठकोपाह्नश्रीधरशर्मा विरचितया --
बालबोधिन्याख्यटीकया समेतम्)

अणुभाष्यम् पंचटीकासहितम् -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
(त्रिसूत्रीपरिमितोभाग:)

श्रीसुबोधिनी -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस
(दशमस्कन्ध, जन्मप्रकरण पर्यन्त)

श्रीमद्भागवतमहापुराणम् -- सम्पा० कृष्णशंकर शास्त्री; आचार्य मुद्रणालय,
(अनेकव्याख्यासमलङ्कृतम्) कर्णघण्टा, वाराणसी ।

तत्त्वदीपनिबन्ध -- श्रीमद्वल्लभाचार्य

षोडशग्रन्थ -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई

षोडशग्रन्थ -- गुजराती प्रेस, बम्बई
(गोस्वामिश्रीनृसिंहलालजी महाराज-
विरचित व्रजभाषाटीकासहित)

सिद्धान्तरहस्यम् -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
(एकादशविवरणसमेतम्)

बालबोध: -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
(पुरुषोत्तमप्रणीतया विवृत्या समनुगत:)

पुष्टिप्रवाहमर्यादाभेद: -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
(पीताम्बरप्रणीतव्याख्योपेन:)

सिद्धान्तमुक्तावली -- श्रीमद्वल्लभाचार्य; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई
(लालूभट्टप्रणीतया योजनया समनुगता)

भावप्रकाशिका -- श्रीकृष्णचन्द्र; कर्णाटक मुद्रणालय, बम्बई

भक्तिमार्तण्ड -- गोपेश्वरजी महाराज, चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय,
वाराणसी ।

सम्प्रदायकल्पद्रुम	--	विट्ठलनाथ भट्ट; लक्ष्मीवेंकटेश्वर प्रेस,कल्याण,बम्बई
विद्वन्मण्डनम्	--	श्री विट्ठलनाथ; विद्याविलास प्रेस,बनारस
भक्तिहंस:	--	श्री विट्ठलनाथ; निर्णयसागर प्रेस,बम्बई
शुद्धाद्वैतमार्तण्ड (वल्लभवेदांत ग्रन्थमाला)	--	गोस्वामी गिरिधर महाराज;वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय,वाराणसी ।
प्रस्थानरत्नाकर	--	गोस्वामी श्रीपुरुषोत्तम महाराज; चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो, बनारस ।
वादावलि:	--	सम्पा० रमानाथ शर्मा;निर्णयसागर प्रेस,बम्बई
प्रमेयरत्नार्णव	--	लालूभट्ट; वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
सात्वत तंत्रम्	--	पं० अनन्तशास्त्री फड्के; चौखम्बासंस्कृत सिरीज, वाराणसी ।
ब्रह्मवाद	--	श्रीहरिराय; वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी ।
निर्णयार्णव:	--	श्रीबालकृष्ण भट्ट; निर्णयसागर प्रेस,बम्बई
शाण्डिल्यभक्तिसूत्र	--	श्रीनारायण तीर्थ; गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी,बनारस
व्याख्यारत्नावलि: (भाग१)	--	श्री बलभद्र शर्मा; निर्णयसागर प्रेस,बम्बई
ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्यम्	--	श्रीमच्छंकराचार्य; मोतीलाल बनारसीदास
ईशादिदशोपनिषद: (शांकरभाष्यसमेतम्)	--	श्रीमच्छंकराचार्य; मोतीलाल बनारसीदास
ब्रह्मसूत्रभाष्यम्	--	श्रीभास्कराचार्य विरचितम्; चौखम्बा संस्कृत बुक डिपो,बनारस ।

श्रीभाष्यम् -- श्रीमद्रामानुजाचार्यप्रणीतम्; निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।

वेदान्तप्रक्रियाप्रत्यभिज्ञा -- श्रीसच्चिदानन्देन्द्रसरस्वती; अध्यात्मप्रकाशकार्यालय, होलेनरसीपुरम्, मैसूर

श्वेताश्वतरोपनिषद् -- श्रीमच्छंकरचार्यभाष्यसमेतम्, गीताप्रेस, गोरखपुर

महाप्रभु श्रीमद्वल्लभाचार्य और पुष्टिमार्ग -- आचार्य पं० सीताराम चतुर्वेदी; हिन्दी साहित्य कुटीर, वाराणसी ।

अष्टछाप और वल्लभसम्प्रदाय (भाग १ तथा २) -- डा० दीनदयालु गुप्त; हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग ।

हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास -- डा० रामकुमार वर्मा; रामनारायणलाल बेनीमाधव इलाहाबाद ।

मध्ययुगीन हिन्दी कृष्ण भक्तिधारा और चैतन्य सम्प्रदाय । -- डा० मीरा श्रीवास्तव; हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद

कविवर परमानन्ददास और वल्लभसंप्रदाय -- डा०गोवर्द्धननाथ शुक्ल; भारत प्रकाशन मंदिर, अलीगढ़

हिन्दी साहित्य कोश -- सम्पा०धीरेन्द्र वर्मा; ज्ञानमण्डल लिमिटेड, बनारस

ब्रजभूमि के वैष्णव-माध्वों का तुलनात्मक अध्ययन । -- डा० रामकृष्ण आचार्य, विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा

भागवतदर्शन -- डा० हरवंशलाल शर्मा; भारतप्रकाशन मंदिर, अलीगढ़

मध्ययुगीन भक्ति-आंदोलन में संतों का योगदान । -- रामरूपशुक्ल; इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल० उपाधि के लिए स्वीकृत शोधप्रबन्ध ।

जगद्गुरु श्री वल्लभाचार्य -- श्रीकृष्णप्रिया बेटी जी

इण्डियन फ़िलॉसफ़ी (भाग १ व २) -- डा० राधाकृष्णन्; लण्डन: जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड

आउटलाइन्स ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी । -- एम० हिरियण्णा; जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड

अ हिस्ट्री ऑफ़ इण्डियन फ़िलॉसफ़ी -- (भाग३ व ४). डा० सुरेन्द्रनाथ दास गुप्त; केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस

द फ़िलॉसफ़ी ऑफ भेदाभेद -- पी०एन० श्रीनिवासाचारी; द अड्यार लायब्रेरी अड्यार ।

द फ़िलॉसफ़ी ऑफ विशिष्टाद्वैत -- पी०एन० श्रीनिवासाचारी; द अड्यार लाइब्रेरी अड्यार ।

वैष्णविज़्म, शैविज़्म एण्ड माइनर रिलीजस सिस्टम्स । -- सर आर०जी० भण्डारकर; इण्डोलॉजिकल बुक हाउस, वाराणसी ।

द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ वल्लभाचार्य -- डा० श्रीमती मृदुला मारफ़तिया; मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली ।

अ क्रिटिकल स्टडी ऑफ़ द फ़िलॉसफ़ी ऑफ़ रामानुज । -- डा० अणिमासेन गुप्त, चौखम्बा संस्कृत सीरीज़, वाराणसी ।

डेवलेपमेण्ट ऑफ मारल फ़िलॉसफ़ी इन इण्डिया । -- डा० सुरमादास गुप्त; ओरियण्ट लांग्मैन्स, बम्बई ।

द डेवलेपमेण्ट एण्ड प्लेस ऑफ़ भक्ति इन शांकर वेदान्त । -- डा० आद्याप्रसाद मिश्र, लीडर प्रेस, इलाहाबाद